हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी-माला-पुष्प—१३.

भारतकी साम्पत्तिक अवस्था

अध्यापक यदुनाथ सरकार एम. ए., पी. आर. एस., आई. ई. एस. की
लिखी भूमिका सहित।

लेखक

"भारतशासन पद्धति" "भारतमें अङ्गरेज" के
रचयिता

प्रो० राधाकृष्ण झा एम० ए०

पटना कालेज

ङ्कारकी छ..

मार नहीं है। बल्कि जानने ..

है; यह पाठकोंकी अरुचि र

एजेन्सी,
कलकत्ता।

इसका दूसरा गुण यह है कि
नीति सम्बन्धी सब विषय मौजूद
भाइयोंको मालूम होगा कि देश
है,—कौन कौन सी चीजें कहां का १
कृषि और कारीगरीकी हालत ७७ वि०

मूल्य
३॥)

भूमिका।

मैंने भारतीय अर्थनैतिक अवस्थाके सम्बन्धमें एक ग्रन्थ लिखा है जिसके चार संस्करण हो चुके हैं। हिन्दी भाषामें भी इस ढङ्गकी एक पुस्तककी बड़ी जरूरत है, यह मैं बहुत दिनोंसे समझ रहा हूं, और बहुतसे सज्जनोंसे विदित भी कर चुका हूं।

खुशीकी बात है कि अध्यापक राधाकृष्ण झा जीने 'भारतकी साम्पत्तिक अवस्था' नामका एक वृहद्, शिक्षाप्रद, उपयोगी और सुरचित ग्रन्थ लिखा है। इसका सबसे पहला गुण यह है कि इसकी भाषा बहुत ही सरल और संक्षिप्त है। हरेक विषयको ऐसे सहज और प्रचलित शब्दोंमें बयान किया गया है कि छोटेसे छोटे लड़कों और निपढ़ देहाती लोगोंको भी समझनेमें किसी तरहकी मुश्किल नहीं होगी। पुस्तकमें झा जीने 'मुन्शियाना' अथवा अलङ्कारको छटा नहीं दिखाई है। यहां बेफायदा शब्दों-की भरमार नहीं है। बल्कि जानने लायकी प्यार [illegible] किताब भरी हुई है; यह पाठकोंकी अरुचि [illegible] इसके लिये देशप्रेम[illegible]।

इसका दूसरा गुण यह है कि [illegible]तकी साम्पत्तिक अवस्थाका नीति सम्बन्धी सब विषय मौजूद हाल नहीं जाननेसे भारतसेवा भाइयोंको मालूम होगा कि देशप्रेम या स्वदेशकी चेष्टा केवल है,—कौन कौन सी चीजें कहां ही जाकर खतम हो जायगी। कृषि और कारीगरीकी हालत

यदुनाथ सरकार

नहीं,—किसान और कारीगरोंकी क्या अवस्था है,—उनकी उन्नतिकी चेष्टा कैसे की जाय,—सरकार कौन कौन सा काम कर रही है,—इत्यादि।

आजकल बहुत सी सभाओंमें देशके विषयमें व्याख्यान हुआ करते हैं, तरह तरहके मत प्रकाशित होते रहते हैं। लेकिन देशकी असली हालत जाने विना, सिर्फ बातचीत सुनने या पढ़ने से ही सच्ची बात नहीं मालूम हो सकती—ऐसे कोरे व्याख्यान या लिखावट कुछ भी कामकी नहीं होती। इस लिये भारतसे सम्बन्ध रखनेवाले राजनैतिक, सामाजिक और अर्थनैतिक विषयोंकी चिन्ता, आलोचना और आन्दोलनको उपकारी बनानेके लिये सबसे पहले आवश्यक है कि देशके आदमियों और दौलत की असली हकीकतका हिसाब ठीक ठीक ब्यौरेवार लिखा जाय। [illegible]जीकी किताबमें उन सब बातोंका जिक्र है। इस ग्रन्थका प्रचार बढ़नेसे देशका बड़ा उपकार होगा। क्योंकि जो मसाले [illegible] तरहकी आलोचनाकी जड़ हैं वे सब इस ग्रन्थमें मौजूद हैं। [illegible] इस खूबीके साथ रखे गये हैं कि सब [illegible] [illegible]से, थोड़े ही समयमें समझ सकेंगे। [illegible]गों और दौलतकी असली हालत [illegible] और नकशे मौजूद हैं। यह इस [illegible] है। क्योंकि भारतमें इतनी जल्दीसे [illegible] छ वर्षोंके अन्दर ही अर्थनीति- [illegible]र हो जाती है। इस किताबमें [illegible] मिलेंगी।

झाजीने प्रत्येक विषयमें सर्व्वश्रेष्ठ, तथा प्रामाणिक लेखकों-की युक्ति, मत और उनके दिये हिसाबोंका उल्लेख किया है, बड़े बड़े ग्रन्थों, अखबारों और वक्ताओंका मत उद्धृत किया है—इससे उनके पाण्डित्य, परिश्रम, साहित्यिक साधुता तथा ग्रन्थ रचनामें एकाग्रता प्रमाणित होती है। इसी कारणसे उनके ग्रन्थकी उपकारिता भी बढ़ गयी है। भारतकी किसी भी भाषामें ऐसा उत्कृष्ट और उपकारी ग्रन्थ अबतक नहीं छपा।

मैं अपने हिन्दीभाषी भाइयोंसे कहता हूं कि आप इस ग्रन्थको पढ़कर, इसका प्रचारकर देशकी अज्ञानताको नाश कीजिये—राजनैतिक और अर्थनैतिक उन्नतिका सच्चा आरम्भ कीजिये। जैसे हवा पीकर आदमी नहीं जी सकता वैसे ही केवल वक्तृता और वाक्यपूर्ण लेखोंसे जातीय जीवन ताजा नहीं रह सकता। इस ग्रन्थका भिन्न भिन्न भारतीय भाषाओंमें अनुवाद होकर देश भरमें प्रचार होना चाहिये। भगिनी निवेदिताकी एक महत् उक्ति है कि देशको प्यार करनेके पहले देशको पहिचानना चाहिये—और इसके लिये देशभ्रमणकी आवश्यकता है। उसी तरह भारतकी साम्पत्तिक अवस्थाका सच्चा, पूरा पूरा तथा नयेसे नया हाल नहीं जाननेसे भारतसेवा फलदायी नहीं होगी; बल्कि स्वदेशप्रेम या स्वदेशकी चेष्टा केवल बातफरोशी (वाक्य विक्रय) में ही जाकर खतम हो जायगी।

पटना, १७ मार्च, १९२० } यदुनाथ सरकार

ग्रन्थकारका वक्तव्य

'भारतकी साम्पत्तिक अवस्था' पाठकोंके सामने उपस्थित है; अपना गुणदोष यह आप कहेगी। मैं यहां सिर्फ अपने उन मित्रों और शुभचिन्तकोंको धन्यवाद देना चाहता हूं जिन्होंने इस काममें मेरी सहायता की है। मित्रवर पं० पद्मसिंह शर्म्माजीका मैं बहुत ही कृतज्ञ हूं, उन्होंने बड़े परिश्रमसे इसकी भाषा सम्बन्धी त्रुटियोंका सुधार किया है तथा पुस्तक प्रकाशित करनेके लिये बार बार उत्तेजना दी है। मित्रवर बाबू बनारसी प्रसाद झुंझनूंवाला, एम० ए०, बी० एल०, वकील, पटना हाईकोर्टने भी पुस्तक प्रकाशित करानेमें मेरी सहायता की है, जिसके लिये अनेक धन्यवाद। सबसे अधिक कृतज्ञ तो हिन्दी पुस्तक एजेन्सीके संचालक महाशयका हूं कि जिनके उत्साह उद्यम और कृपासे यह पुस्तक इस रूपमें प्रकाशित हो सकी है। अन्तमें मैं उन ग्रन्थकारों, लेखकों और समाचार पत्र सम्पादकोंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूं जिनके ग्रन्थों और लेखोंसे किताबका मसाला तैयार किया गया है।

पुस्तकका विषय कठिन है, रोज रोज बदलता रहता है, कुछ न कुछ जानने लायक नई बातें रोज उपस्थित होती रहती हैं। जहां तक सम्भव था इन नई बातोंका समावेश किया

गया है। पुस्तक छपते छपते जो कई उल्लेख योग्य बातें आयी हैं है उनमें दो तीनका यहां जिक्र कर देता हूं। पहली बात श्रमजीवियोंसे सम्बन्ध रखती है। हड़ताल अब मामूली बात हो गयी है; हर किस्मके पेशेवाले अब हड़ताल करने लगे हैं; अब इन लोगोंमें संगठनकी भी कमी नहीं रही है। शीघ्र ही यहां भी श्रमजीवियोंके बड़ेसे बड़े देशव्यापी संगठन कायम हो जायंगे। दूसरी बात इम्पीरियल बंककी है। इसके लिये एक कमिटी बैठ गयी, शीघ्र ही कानून बना कर सम्पूर्ण भारतके लिये एक इम्पीरियल बङ्क खोल दिया जायगा। तीसरी बात ब्रिटिश साम्राज्य और भारतके बीच परस्परके व्यापारकी नीतिसे सम्बन्ध रखती है। इसपर एक कमिटी विचार करेगी।

आशा है हिन्दीप्रेमी इस पुस्तकसे लाभ उठाकर मेरा परिश्रम सफल करेंगे।

पटना-चैत्र शुक्का १
सं० १९७७ वि०

विनीत—
राधाकृष्ण झा

प्रकाशक-निवेदन

आज इस नये वर्षमें हम सहर्ष हिन्दी पुस्तक एजेन्सी माला-की १३ वीं पुस्तक—**भारतकी साम्पत्तिक अवस्था**—हिन्दी संसारको भेंट करते हैं। वङ्गभाषा तथा अङ्गरेजीके सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार, लेखक, इतिहासवेत्ता, अर्थशास्त्रज्ञ श्रीमान् यदुनाथ सरकारकी लिखी हुई भूमिकाको एक बार पढ़ जाने मात्रसे आपको पुस्तककी उपयोगिताका पता चल जायगा। हिन्दी पुस्तक एजेन्सी इस पुस्तकको प्रकाशित कर अपनेको गौरवान्वित समझती है।

इस शीघ्रही और कई नवीन और महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित करनेका उद्योग कर रहे हैं। अपने हृदयमें बहुत अधिक काम करनेका विश्वास लेकर हम नये वर्षमें प्रवेश कर रहे हैं। आप हिन्दी पुस्तक एजेन्सी मालाके कुछ स्थायी ग्राहक बढ़ाकर इस काममें हमारी मदद कर सकते हैं। इसमें दोनों ओरका लाभ है। ग्राहक संख्या अधिक हो जानेपर हमें बहुत जल्दी जल्दी नयी पुस्तकें सुलभ मूल्यमें भेंट करनेमें बड़ी सुविधा हो जायगी।

किसी काममें कहीं भूल देख पड़े तो सूचित करनेकी कृपा करें। समझदारोंके सत्परामर्शसे सदा लाभ उठानेकी इच्छा रहती है।

विषय सूची

विषय　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　पृष्ठ

प्रथम खण्ड

पांचवां अध्याय–मेहनत––

छठा अध्याय–पूंजी––

सातवां अध्याय–संगठन––

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड

शुद्धपत्र

पृष्ठ	लाइन	
७	१७	सालाना मूल्यके बाद '१९१३-१४' पढ़िये ।
१०	११	मारवाड़ की जगह मेरवाड़ा ।
१३	२०	K. L. Datta's Report—जोड़िये ।
२१	१०	'रोमांठियोंमें' की जगह 'घर घर' ।
३१	१८	'फिल्लम्' की जगह 'फिल्टम्' ।
६१	१६	Hoiland की जगह Holland ।
७७	२२	1911—12 पढ़िये ।
११८	१८	Bngal की जगह Bengal ।
१४०	२२	Coference की जगह Conference ।
१४३	१७	Craftomen की जगह Craftsmen ।
१५५	१६	करने है की जगह करती है ।
२०३	६	'10' हटा दीजिये ।
२२४	११	Shallac की जगह Shellac ।
२५६	१५	Rosin की जगह Resin ।
३८७	२०	Rondsei की जगह Rondst ।
३८६	२२	Mercirized की जगह Mercerized ।
४०३		ऊनी मीलें की जगह ऊनी मिलें ।
४२४	२४	७४८'६ पढ़िये ।
४२४	२५	७०'१ पढ़िये ।
४६०	२	Geological पढ़िये ।
४६१	१७	Orloff पढ़िये ।
४६१	१६	Wooden Spoon पढ़िये ।
४८६	२१	Report की जगह Ind. Com. Report

पुस्तकमें आये हुए अंगरेजी हिसाबका हिन्दी अर्थ

२० शिलिंग=१ पा० (सिक्का)=१५ रु०

१ एकड़=४८४० वर्ग गज=तीन बीघासे कुछ बेशी

१ मिलियन=१० लाख

१ पा० (वजन)=आध सेर (प्रायः)

११२ पा० („)=१ हण्ड्रेड वेट (ह०)

२० हण्ड्रेडवेट=१ टन

१ टन=२७।० मन

भारतकी साम्पत्तिक अवस्था

प्रथम खण्ड

पहला अध्याय

सम्पत्ति

सम्पत्तिका रूप—सम्पत्तिकी उत्पत्ति

सम्पत्तिका रूप—सम्पत्तिका रूप क्या है? सम्पत्तिकी उत्पत्ति किन साधनोंसे होती है? पहले इसका उल्लेख करना बहुत आवश्यक है। क्योंकि सम्पत्तिशास्त्रमें व्यवहृत शब्दोंका अर्थ साधारणतः व्यवहृत अर्थोंसे भिन्न होता है। सम्पत्तिका रूप-निर्णय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीने इन शब्दोंमें किया है :—

"विनिमयसाध्य वस्तुओंका नाम सम्पत्ति है।" "जो चीज़ें मूल्यवान् हैं, जो प्रचुर परिमाणमें पड़ी हुई नहीं मिलतीं, जिनके प्राप्त करनेमें परिश्रम पड़ता है वही विनिमयसाध्य हैं। और विनिमयसाध्य होना ही सम्पत्तिका प्रधान लक्षण है।"

"किसी किसीकी समझमें रुपया-पैसा और सोना-चांदी हीका नाम सम्पत्ति है। यह भ्रम है। सम्पत्तिका बदला करने उसका विनिमय करनेमें सुभीता हो, सिर्फ इतनेहीके लिये रुपये-पैसेकी सृष्टि हुई है। क्योंकि रुपया-पैसा न होता तो विनिमयमें बड़ा झंझट होता और लोगोंको बहुत तकलीफ़ उठानी पड़ती। मान लीजिये कि एक आदमीके पास अनाज है। उसके बदलेमें वह कपड़ा चाहता है। अब उसे कोई ऐसा आदमी तलाश करना पड़ेगा जिसके पास कपड़ा हो। कल्पना कीजिए कि उसे ऐसा आदमी मिल गया; पर वह अपना कपड़ा दे कर बदलेमें अनाज नहीं चाहता, बर्त्तन चाहता है। इससे उन दोनोंको अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये और आदमी तलाश करने पड़ेंगे। इसी बखेड़ेको दूर करनेके लिए रुपये पैसेका चलन चला है। वह सम्पत्तिका चिन्ह मात्र है। वह सम्पत्तिके परिमाणका सूचक मात्र है।......इसीसे यह कहनेकी चाल पड़ गई है कि अमुक आदमी इतने हज़ार या इतने लाखका मालिक है। यह उसकी सम्पत्तिकी सिर्फ माप हुई। इससे यह सूचित हुआ कि सम्पत्तिका वजन या तौल बतानेके लिये रुपया बाँटका काम देता है।"* वह स्वयं सम्पत्ति नहीं है।

सम्पत्ति उसे कहते हैं जिससे, व्यवहारकी दृष्टिसे, मनुष्योंको लाभ पहुंचता है; जिससे मनुष्यकी जिन्दगीसे सम्बन्ध रखनेवाली जरूरतें पूरी हो सकती हैं। परन्तु इन जरूरतोंको

* सम्पत्तिशास्त्र-द्विवेदीकृत पृ० १०—१३

पूरा करनेके लिये कुछ ऐसी चीजें भी मिलती हैं जिनके उपार्जनमें किसी प्रकारका श्रम नहीं करना पड़ता और तथा जिनका परिमाण अपरिमित है। जैसे-वायु, जल, रोशनी इत्यादि। यद्यपि ये बड़ी लाभदायक वस्तुयें हैं; इनके बिना जीना भी असम्भव है; तो भी, ये इस प्रचुर परिमाणमें मिलती हैं कि जो जितना चाहे बिना प्रयासके ही पा सकता है। पर, ये ही चीज़ें जब परिमित हो जाती हैं, जब जरूरतसे कम मिलती हैं, तब सम्पत्तिका रूप धारण करती हैं। जैसे गोताखोरोंके लिये समुद्रतलमें स्वच्छ वायु। यह वहां उनके लिये सम्पत्ति हो जाती है। जब वस्तुओंमें मनुष्योंकी व्यावहारिक आवश्यकता दूर करनेकी शक्ति (सिफत) रहती है; जब उनकी तादाद जरूरतसे कम रहती है; तभी वे सम्पत्ति कहलाती हैं और विनिमय-साध्य हो जाती हैं। जब यह मालूम हो जाय कि किसी चीज़से लोगोंकी आवश्यकता पूरी होगी और वैसी चीजें कुछ लोगोंके पास हों और कुछके पास न हों, तब लोग उसके प्राप्त करनेकी चेष्टा करेंगे; तभी एक आदमी दूसरेके साथ उसका अदला-बदला करेगा। सारांश यह कि वैसी चीज़ोंकी गिनती सम्पत्तिमें है जिनसे मनुष्योंकी व्यावहारिक आवश्यकतायें दूर होती हैं, जो परिमित हैं, जिनके प्राप्त करनेमें परिश्रम करना पड़ता है, जिनका प्राप्त करना असम्भव नहीं है और जो विनिमयसाध्य हैं।

सम्पत्तिकी उत्पत्ति—इससे यह न समझना चाहिये कि सम्पत्तिकी उत्पत्तिका अर्थ किसी नये पदार्थकी सृष्टि करना है।

यह मनुष्यशक्तिके बाहर है, मनुष्य न किसी अणुपरमाणुका विनाश ही कर सकता है और न किसी वस्तुकी नयी सृष्टि ही। असलमें बात यह है कि "देश, काल और पात्र" के संयोगसे पदार्थोंमें विशेषताकी उत्पत्ति या वृद्धि होती है। इसी विशेषता अथवा उपयोगिता (Utility) की उत्पत्ति तथा वृद्धिको सम्पत्तिकी उत्पत्ति कहते हैं। इसके तीन प्रधान साधन हैं:—जमीन, मेहनत, और पूंजी। सब प्रकारकी सम्पत्तिकी उत्पत्तिके प्रधान साधन ये ही हैं। इनके बिना धनकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। परन्तु 'संगठन' से भी इनको बड़ी मदद मिलती है। इस कारण, आजकल, इसे साधनका चौथा स्थान दिया जाता है और इसकी भी गणना उन तीनों साधनोंके साथ ही होती है।

भारतवर्षकी साम्पत्तिक अवस्थाका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेके लिये इन चारों साधनों तथा परिश्रम, पूंजी और संगठनके संयोगसे प्राकृतिक पदार्थोंके वर्तमान व्यवहारोंपर विचार करना पड़ेगा। यहां कितने प्रकारके पदार्थ उपजते हैं, या खानोंसे निकलते हैं; उनका किस रूपमें उपयोग होता है;—कच्चे माल ही व्यवहृत होते हैं या उनसे माल तैयारकर या दूसरोंके तैयार किये हुए मालसे बदलकर काममें लाये जाते हैं—इन बातोंका भी विचार करना पड़ेगा। जानना होगा कि यहां कितने प्रकारके व्यवसाय चल रहे हैं, उनकी कैसी अवस्था है, उनके संगठनके दोष-गुण क्या क्या हैं। व्यवसायजात द्रव्योंको लोगोंके घरों तक पहुंचानेके लिए वाणिज्यव्यापारने कहां तक उन्नति

की है ; देशी तथा विदेशी वाणिज्य कहां तक फैल सका है, यह भी जानना जरूरी होगा। इस वाणिज्यके आवश्यक अङ्गोंकी—रेल, स्टीमर, सड़क, सिक्के, हुंडी पुर्जे (अर्थात् बैंकिंग)—कैसी अवस्था है, उसका भी ज्ञान प्राप्त करना होगा। यह सब होनेपर भारतवर्षकी साम्पत्तिक अवस्थाका पूरा पूरा परिचय मिलेगा।

दूसरा अध्याय

जमीन—कृषिकार्य

जमीनका मतलब-भारतमें कृषि-जनसंख्याकी वृद्धि और भूमि-क्या उपज घट रही है ? उद्योगधन्धे और कृषि-सारांश

जमीनका मतलब—सम्पत्तिशास्त्रमें 'जमीन' शब्दका प्रयोगक्षेत्र साधारण बोलचालके प्रयोगक्षेत्रसे अधिक विस्तृत है। सम्पत्तिशास्त्रमें जमीन कहनेसे ज़मीनके ऊपर, जमीनके भीतर, नदी, समुद्रगर्भ इत्यादि धनोत्पत्तिके प्राकृतिक साधनोंका ज्ञान होगा। "जमीन कहनेसे जमीनके ऊपर और उसके भीतर अर्थात् भूगर्भ, दोनोंसे मतलब है। उद्भिज्जोंसे खाने, पीने और व्यवहार की जो चीजें हमें प्राप्त होती हैं वे पृथ्वीके ऊपर ही हमें मिल जाती हैं। पर खनिज पदार्थ पृथ्वीके पेटसे प्राप्त होते हैं।

उन्हें खोदकर बाहर निकालना पड़ता है। जब तक वे बाहर नहीं निकाले जाते तब तक प्राप्त नहीं होते। तथापि आश्रय दोनोंका ज़मीन ही है। नदी और समुद्रसे प्राप्त होनेवाली व्यावहारिक चीज़ोंकी उत्पत्तिका आश्रय भी ज़मीन ही है; क्योंकि नदियाँ और समुद्र भी पृथ्वी ही पर हैं।"*

अतएव भारत की साम्पत्तिक अवस्थाका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये 'ज़मीन'से सम्बन्ध रखनेवाले व्यवसायोंकी अवस्थाका अध्ययन करना पड़ेगा। ये व्यवसाय दो भागोंमें—कृषि और खनिज,—विभक्त किये जा सकते हैं। इन दोनोंमें कृषि ही प्रधान है। ज़मीनकी पैदावारपर विचार करते समय कृषिको ही महत्व दिया जाता है। सम्पत्तिशास्त्रमें उसी पर अधिक बहस की जाती है। इससे यहां भी कृषि सम्बन्धी व्यवसायोंका ही प्रथम उल्लेख होगा।

भारतमें कृषि—भारत एक सुविस्तृत महादेश है। यहां सब तरहकी आब हवा और सर्दी गर्मी पायी जाती है। इसकी धरतीकी बनावट भी तरह तरह की है। कहीं तो बड़ी बड़ी नदियां अपने जलसे आसपासकी धरतीको सींच सींचकर और नयी मिट्टी डालकर उर्वरा बनाती हैं—इनमें कोई कोई नदी तो वाणिज्य व्यापारके प्रसारमें भी प्रशस्त मार्गका काम देती है—और कहीं नदीका नाम तक नहीं। कहींकी ज़मीन बहुत

* सम्पत्तिशास्त्र-द्विवेदीकृत पृष्ठ २०

उपजाऊ है तो कहींकी बिलकुल ऊसर। फिर वर्षाका भी वही हाल है। कहां तो चेरापुंजीमें इतनी वर्षा होती है कि उतनी सारी पृथ्वीमें कहीं नहीं होती और कहां सिन्ध प्रान्तमें सालभरमें केवल दो इञ्च! कई इलाकोंमें इतनी वर्षा होती है कि वहां अन्न खूब पैदा होता है। वहां अकालका नाम नहीं; और कहीं हज़ार कोशिश करनेपर भी दुर्भिक्ष पीछा नहीं छोड़ता। सर्दी गर्मीकी भी वही हालत है। कहीं तो वह रेगिस्तान है जहां गर्मीके मारे घास तक नहीं जमने पाती और कहीं इतनी सर्दी है कि वर्फ गलती तक नहीं। इस प्रकार भारतवर्षमें अनेक प्रकारके प्राकृतिक दृश्य प्रकृति देवीके प्रसादसे प्रादुर्भूत होते हैं।

प्रकृतिकी अनुकूल उदारताके कारण भारतमें कृषिका बड़ा महत्व है। सब दिनसे यहां कृषिका ही सर्वप्रथम आसन रहा है। 'उत्तम खेती मध्यम बान' वाली कहावत प्रसिद्ध है। आजकल भी कृषिकी ही प्रधानता है। इस उद्योगधन्धे, कल पुतलीघरोंके जमानेमें भी ब्रिटिश भारतमें सैकड़े पीछे ७२ आदमी सीधे कृषि-कार्यमें ही लगे हुए हैं। ब्रिटिश भारतकी कृषिका सालाना मूल्य प्रायः १५०० करोड़ रुपया अनुमान किया गया है। इसीसे पता लगा सकते हैं कि हम लोगोंके लिए यह व्यवसाय कैसे महत्वका है।

हम लोगोंके उद्योगधन्धे जिस तरह पट पड़ गये हैं और उनकी ओर हमलोगोंकी जैसी उदासीनता है, यदि यही भविष्यमें भी बनी रही तो कृषिकार्यमें लगे हुए लोगोंकी संख्या और

भी बढ़ जायगी। देखिये इधर बीस वर्षोंमें ही कृषकोंकी संख्या कितनी बढ़ गयी है। १८९१ की मनुष्यगणनाके अनुसार ब्रिटिश-भारतमें सैकड़े ६२ कृषक थे। १९०१ में इनकी संख्या बढ़कर ६८ हो गयी; १९११ में वह सैकड़े ७२ हो गयी! देखें १९२१ में कहांतक जाती है। बहुतोंका अनुमान है कि आजकल जितने आदमी यहां कृषि-कार्यमें प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूपसे लगे हुए हैं उनमें प्रत्येक आदमीके बांटे खेतीके लायक एक एकड़से अधिक जमीन नहीं पड़ती है। यदि आबादी बढ़ती गयी, लोगोंके लिए नये नये धन्धे न खुले और सब कोई कृषिकी ओर ही झुकते गये तो आदमी पीछे वह एक एकड़ भी जमीन न रह जायगी। फिर वह अवस्था आजकलसे भी हीनतर हो जायगी।

१९११ की मनुष्यगणनाके समय हिसाब लगा कर देखा गया था कि भारतका—अंडमन, निकोबार और अदनको छोड़ कर—क्षेत्रफल प्रायः अठारह लाख वर्ग मील वा ११५·१४ करोड़ एकड़ है और वहांके मनुष्योंकी संख्या ३१·५ करोड़से कुछ अधिक है। इसमेंसे यदि देशी राज्योंको अलग कर दें तो सिर्फ ब्रिटिश भारतका क्षेत्रफल ६१·९४ करोड़ एकड़के लगभग होगा और मनुष्यसंख्या २४·४ करोड़से कुछ अधिक।

हम लोगोंकी (ब्रिटिशभारतकी) जो जमीन है उसमेंसे फी सदी १४ तो जंगल ही जंगल है। सैकड़े २३ ऐसी जमीन है जिसमें कोई चीज पैदा हो नहीं सकती। कहनेका अभिप्राय यह है कि ऐसी जमीनपर या तो घर बने हुए हैं, या नदी

नाले हैं, या सड़कें निकली हैं, या उनका कृषिसे भिन्न भिन्न कामोंमें उपयोग हो रहा है। शेष सैकड़े ६३ ऐसी जमीन है जिसपर या तो खेती होती है या कोशिश करनेसे हो सकती है। यह जमीन ३६ करोड़ एकड़के लगभग होगी। इसमेंसे जितनी जमीन १९१६-१७ में जोती बोई गयी थी वह २३ करोड़ एकड़के लगभग थी। इतनी जमीनकी खेतीमें लगे हुए या सिर्फ उसी पर भरोसा रखनेवाले लोगोंकी संख्या भी प्रायः १८ करोड़ है। सबसे अधिक जंगल बर्मामें, फिर मध्यप्रदेश तथा बरारमें और उसके बाद मद्रास और बम्बईके इलाकोंमें पाये जाते हैं। ऊसर जमीन भी सबसे अधिक बर्मामें ही पायी जाती है। उसके बाद मद्रास, सिन्ध और पञ्जाबका क्रमशः स्थान है। नयी जमीन जो आबाद हो सकती है उसका भी अधिकांश बर्मामें ही पाया जाता है। उसके बाद क्रमशः पंजाब, आसाम, मध्यप्रदेश और मद्रासका नम्बर है।

किस प्रान्तमें कितनी जमीन जोती बोयी जाती है; आदमी पीछे कितनी जमीन पड़ती है—इत्यादि बातें नीचे दिये नक्शेसे स्पष्ट हो जायंगी। ये अङ्क १९१६—१७ की रिपोर्टसे लिये गये हैं :—

नाम प्रदेश		कुल जमीनका कितना हिस्सा आबाद होता है	प्रत्येक सौ एकड़ आबाद जमीनपर कितने आदमी पड़ते हैं
दिल्ली	...	६० फी सैकड़ा	१८६
बम्बई	...	५६ „ „	५५
युक्त प्रान्त	...	५४ „ „	१२८
बंगाल	...	४९ „ „	१८०
बिहार उड़ीसा	...	४६ „ „	१३२
पंजाब	...	४४ „ „	७३
मध्यप्रदेश बरार	...	४० „ „	५५
मद्रास	...	३८ „ „	१२१
पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त	...	२९ „ „	९२
अजमेर मारवाड़	...	२४ „ „	११९
मानपुर	...	२३ „ „	९२
आसाम	...	१९ „ „	११४
सिन्ध	...	१५ „ „	७६
कुर्ग	...	१४ „ „	१२३
बर्म्मा	...	१३ „ „	७३
कुल ब्रिटिश भारतका औसत	...	३७ „ „	१०५

इससे स्पष्ट होता है कि भारतवर्षमें जमीनसे बहुत काम लिया जा रहा है। सम्पूर्ण भारतका औसत लगानेसे आदमी पीछे एक एकड़ आबादी जमीन भी नहीं पड़ती। कहीं कहीं तो—जैसा कि दिल्ली प्रान्तमें है—प्रायः आधी एकड़ जमीन पड़ेगी। यदि इसमेंसे वैसी जमीन निकाल दी जाय जिसमें जूट, कपास, पोस्त जैसे अखाद्य द्रव्य उपजाये जाते हैं तो सम्पूर्ण भारतमें आदमी पीछे पौन एकड़ जमीन भी नहीं पड़ेगी। इतने पर भी बहुतसा खाद्यद्रव्य बाहर भेजा जाता है। यही देख कर सर होल्डरनेसने लिखा है कि शायद ही दुनियांमें कोई ऐसा देश होगा जहाँ सिर्फ ज़मीनसे ही इतना अधिक काम लिया जाता हो।* यदि खेतीसे अप्रत्यक्ष रूपसे जीविका निर्वाह करने वालोंको अलग कर दें और सिर्फ खेतिहरों (Cultivators) का हिसाब लगावें तो भी ब्रिटिश भारतमें किसान पीछे औसत २'६ एकड़से अधिक जमीन नहीं पड़ेगी। पर लड़ाईके पहले ग्रेट-ब्रिटेनमें किसान पीछे १७'३ तथा जर्मनीमें ५'४ एकड़ जमीन पड़ती थी। इतनी कम जमीन लेकर भारतका किसान कुटुम्ब-समेत कैसे सुख-स्वच्छन्दतासे रह सकता है?

जनसंख्याकी वृद्धि और भूमि—भारतकी जनसंख्याके साथ साथ जैसे लोगोंकी जरूरतें भी बढ़ती जाती हैं वैसे ही देशसे बाहर जानेवाले मालका परिमाण भी बढ़ता जाता है। यहाँकी रफ्तनीका अधिकांश कच्चा माल खेतकी उपज है।

* Peoples and Problems of India by Sir T. W. Holderness.

और, देशोंकी तरह इन्हें कलकारखानोंमें ले जाकर व्यवहारोपयोगी बनानेकी व्यवस्था यहां नहीं है। बाहर जानेवाले मालका कुछ अंश तो जूट, कपास जैसे अखाद्य द्रव्योंका है और कुछ अंश चावल, गेहूं, तेलहन इत्यादिका है। हमलोग देख ही चुके हैं कि जमीनकी क्या अवस्था है। जितनी जमीन काममें लायी जा सकती है उतनी तो प्रायः आ चुकी है। कुछ और थोड़ीसी जमीन है जो परिश्रम करनेसे व्यवहारोपयोगी बनायी जा सकती है। यह सबकी सब अच्छी ही जमीन नहीं निकलेगी। इसमेंसे बहुतसी खराब जमीन भी निकल आवेगी। लोग पहले अच्छी चीजें ही इस्तेमाल करते हैं। लेकिन अकाल या बुरे दिन आने पर बुरी चीजोंको भी व्यवहार करना पड़ जाता है। आजकाल जब कपड़े महंगे हो गये हैं तब बड़े बड़े फैशनेबिल भलेमानस भी फटे पुराने कपड़े पहनकर काम चला रहे हैं। उसी तरह जमीनकी भी हालत है। अच्छी उपजाऊ जमीन जहां तक आबाद हो सकती थी, हो चुकी है। जहां जमीन अच्छी है, पर खेती करनेमें अधिक खर्च पड़ता है, या आबहवा खराब है, या जंगल है, वहींकी अच्छी जमीन छूट गयी है, नहीं तो, भरसक, अच्छी जमीनपर खेती करनेसे लोग बाज नहीं आये हैं। अब अगर मनुष्य-संख्या बढ़ती ही गयी तथा लोग दूसरी ओर न जाकर खेतीपर ही भरोसा करते रहे तो पेट-पूजाके लिये लाचारी दोमें से एक, या दोनों काम अवश्य करने होंगे। या तो जिस जमीनपर खेती हो रही है

उससे ही अधिक शस्य पैदा करनेका प्रयत्न करना पड़ेगा अथवा नयी जमीनपर खेती करनी होगी। जहां खेती हो रही है उस जमीनमें ही खाद डालकर, पानी सींचकर, ज्यादा हल बैल लगा-कर, अच्छे २ औजारोंसे काम लेकर, उपज बढ़ानेका यत्न किया जायगा। इन सब उपायोंसे कुछ अधिक उपज तो अवश्य होगी, पर इसकी भी सीमा है। कुछ दिनोंके बाद लाभ से खर्च अधिक पड़ने लगेगा और लोगोंको लाचार होकर अधिक खर्च करनेका साहस न पड़ेगा। यह कृषिका एक बहुत बड़ा नियम है। इसको सम्पत्तिशास्त्रवाले 'क्रमागत-ह्रास' का नियम कहते हैं। अनुभवी विद्वानोंकी राय है कि भारतकी ज़मीन उस अवस्थाको पहुंच गयी है जिससे पुरानी जमीनमें उपज बढ़ानेकी शक्ति अब बहुत कम रह गयी है। इस-लिये खाद्यद्रव्योंकी अधिक मांग होनेसे भारतवासियोंको अब नयी जमीनकी ओर ही झुकना पड़ता है। पर नयी जमीन सब-की सब अच्छी ही नहीं है—कुछ अच्छी है तो बहुत खराब भी है। क्योंकि, अच्छी जमीन तो कबकी आबाद हो चुकी, खराब जमीन ही पड़ती पड़ी है। इस प्रकार जब जब खेती बढ़ानेकी जरूरत हुई है तब तब—विशेष कर घनी बस्ती वाले प्रदेशोंमें—खराब जमीनको ही आबाद करना पड़ा है।* जमीन उपजाऊ न रहनेके कारण खर्च अधिक करना पड़ा है और खाद्यद्रव्योंका

---

* Cf. Inquiry into the Rise of Prices in India Vol, I. p. 66.

मूल्य बढ़ाना पड़ा है। पर फिर यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि ऐसी जमीन भी तो इफरात—बेइन्तहा नहीं है।

इधर तो जमीनकी यह हालत है और उधर जनसंख्या तथा मालकी रफ्तनी बढ़ रही है। इन सबोंका एक साथ मिलान करनेसे अवस्था और भी भयानक मालूम पड़ने लगेगी। भारत-वर्षके लोग अकाल तथा नयी २ बीमारियोंसे मरते हैं; हैजा, मलेरिया, इनफ्लुएनजा, प्लेगके प्रकोपसे हजारों लाखोंका वारा न्यारा हो जाता है। १८९६ में पहले पहल बम्बईमें प्लेगका दर्शन हुआ था। अब तो इस नरनाशक पिशाचका राज्य भारत-भरमें फैला हुआ है। तबसे १९१४ तक सिर्फ प्लेगमें ८५॥ लाखके लगभग मनुष्य मर चुके हैं। इस पर भी भारतकी जन-संख्या बराबर बढ़ती ही गयी है। १८९१ की मर्दुमशुमारीमें सम्पूर्ण भारतमें (देशीराज्यों तथा बर्म्मा, अदन, अंडमन इत्यादि समेत) २८.७ करोड़ लोग बसते थे; १९०१ में इनकी संख्या २९.४ करोड़; तथा १९११ में ३१.५ करोड़ हो गयी। सिर्फ ब्रिटिशभारत (बर्म्मा, अदन, अंडमनको छोड़) की जनसंख्या इन शुमारियोंके समयमें इस प्रकार थी :—२१.३, २२.०, २३.८ करोड़। इस हिसाबसे सैकड़े ७.६ की वृद्धि हुई।

इन्हीं बीस वर्षोंमें खेतीका रकबा और पैदावारकी तादाद भी बढ़ी है। पर मनुष्यसंख्याकी तरह नहीं। कुछ दिन हुए, सरकारने मि० के० एल० दत्तकी अध्यक्षतामें एक कमीशन बैठाया था। उसे उन बातोंका पता लगानेको कहा गया था

जिनके कारण भारतवर्षमें खाद्यद्रव्योंका मूल्य बढ़ गया था। इस कमिशनकी रिपोर्टमें दत्त महाशयने लिखा है * कि जनसंख्या जिस तरह बढ़ रही है उस तरह खाद्यद्रव्योंकी उपज नहीं बढ़ रही है। बीस वर्षोंके हिसाबका औसत निकालकर उन्होंने इस बातको प्रमाणित किया है। उन्होंने कहा है कि ब्रिटिश भारतमें (बर्म्मा, अंडमन, इत्यादिको छोड़) इन बीस वर्षोंमें (१८६०—१६१० तक) सैकड़े ५.७ के हिसाबसे जनसंख्याकी वृद्धि हुई है। उस अवधिके भीतर खेतीका क्षेत्रफल सैकड़े ५ के हिसाबसे ही बढ़ा। फिर यह सब कोई जानते हैं कि सब खेतोंमें खाद्यद्रव्योंकी ही खेती नहीं होती। बहुतसी जगहमें जूट, कपास इत्यादिकी खेती अधिकतासे होती है और उसकी इन दिनों बहुत बढ़ती भी है। क्योंकि, जूट, कपासका भाव चढ़ा हुआ है। इस कारण इन बीस वर्षोंमें वैसे खेतोंका क्षेत्रफल जिनमें खानेकी चीजें बोयी गयी थीं, सैकड़े पीछे लगभग दो के हिसाबसे बढ़ा। आप लोगोंको यह भी मालूम होगा कि अधिक लाभ होनेके कारण लोग अच्छे खेतमें कपास, जूट, महंगा तेलहन (तीसी इत्यादि) बोया करते हैं। और धान, गेहूं, चना, जुआर बाजड़ा इत्यादिके लिये घटिया जमीन छोड़ रखते हैं। इस कारण यद्यपि इन खेतोंका क्षेत्रफल सैकड़े दो बढ़ गया पर उपजे हुए अन्नका तौल बढ़नेके बदले कम हो गया। वह १०० से कम होकर ९९ हो गया! इस ह्रासके और भी दो

* K. L. Datta's Report Vol. 1, pp. 56—61.

कारण बताये जा सकते हैं। एक तो यह कि यहां नयी जमीनमें उपजाऊ जमीन बहुत कम रह गयी है और खेतीका रकबा बढ़ानेसे खराब जमीनको ही आबाद करना पड़ा है जिससे जैसी चाहिये वैसी उपज नहीं होती। और दूसरा कारण यह है कि यहांकी जमीनकी उपज जहां तक बढ़ सकती थी वह बढ़ चुकी, इससे और अधिक नहीं बढ़ सकती। सारांश यह कि जहां खानेवालोंकी संख्या १०० से बढ़ कर १०५·७ हो गयी, वहां खानेके द्रव्योंका परिमाण १०० से घट कर ९९ हो गया! इस हालतमें एक ही उपाय किया जा सकता है—बाहरसे माल मंगाना। यह हो रहा है, और खूब हो रहा है।

हमारे सौभाग्यसे इन्हीं बीस वर्षोंमें बर्मामें खाद्य द्रव्योंकी उपज बढ़ गयी है, वह ड्योढ़ेसे भी अधिक हो गयी है। इसीसे बर्मासे चावलकी आमदनी दिनों दिन बढ़ रही है। इस साल भी (१९१९) बर्मासे लाखों टन चावल भारतके अकाल पीड़ितोंके लिये मंगाया जा रहा है। अब यदि बर्माको भी इस हिसाबमें शामिल कर लें और तब बर्मा और ब्रिटिश भारतकी जनसंख्या और खाद्य द्रव्योंकी उपजका एक साथ मिलान करें तो पहले सिद्धान्तमें सिर्फ थोड़ा ही हेरफेर होगा। इस हिसाबसे ब्रिटिश भारत और बर्माकी जनसंख्या इन बीस वर्षोंमें औसत १०० पीछे ६·३ बढ़ेगी, पर खाद्य द्रव्योंकी उपज सैकड़े ३ ही बढ़ेगी। यह हिसाब भी यही बताता है कि खाद्य द्रव्योंकी अपेक्षा खानेवाले ही अधिक बढ़ रहे हैं।

हमारी अवस्थाका वर्णन यहीं समाप्त नहीं होता। हमारे यहांसे खाद्य द्रव्योंकी रफ्तनी भी होती है। हर साल बहुतसा चावल गेहूं, जौ इत्यादि अनाज विदेशोंमें भेजा जाता है और इस रफ्तनीकी रक़म साल-साल बढ़ती ही जाती है। फल यह होता है कि हमलोगोंको अपने लिये बाहरसे खानेकी चीजें मंगानी पड़ती हैं। रंगूनका चावल तो आता ही है, अब दूसरे दूसरे देशोंसे भी गेहूं, मकई इत्यादि मंगानी पड़ती है। इस साल आस्ट्रेलियासे गेहूं आ रहा है। भारतवर्षसे जितना अनाज बाहर जाता है और बाहरसे जितना अनाज यहां आता है उसका मिलान करनेसे मालूम होता है कि भारतवर्ष ही अधिक अन्न बाहर भेजता है।

इन सब बातोंपर विचारकर दत्त महाशयने स्थिर किया है कि भारतवर्षमें खानेवालोंकी संख्या तथा यहांसे बाहर जानेवाले खाद्य द्रव्योंका परिमाण जिस रूपमें बढ़ रहा है उस रूपमें देशके खाद्य द्रव्योंकी उपज नहीं बढ़ रही है। इससे खाद्य द्रव्योंका मूल्य बढ़ जानेमें कोई सन्देह नहीं है। यहां यह भी लिख देना उचित है कि तेलहनकी उपज थोड़ी बढ़ी है, ईखकी खेती कम हो गयी है, जूट और कपासने सबसे अधिक उन्नति की है।

दत्त महाशयकी रिपोर्टकी आलोचना करते हुए सरकारने कहा था कि यह बात सच नहीं है कि खाद्य द्रव्योंकी अपेक्षा मनुष्य संख्याकी अधिक वृद्धि हुई है। नहरों और रेलोंने खाद्य द्रव्योंकी उपज और उपयोगिता बढ़ायी है। सरकारके मतसे मनुष्य संख्याकी जितनी वृद्धि हुई है, खाद्य द्रव्योंकी भी उतनी

ही वृद्धि हुई है। यदि यह मान लिया जाय तो भी यह कहना कि बीस वर्षोंमें हम लोगोंने साम्पत्तिक अवस्थामें कोई उन्नति नहीं की, जैसेके तैसे बने रहे, सन्तोषकी बात नहीं है। क्योंकि यदि दिखानेको हमलोगोंकी आर्थिक अवस्था बीस वर्ष पहले जैसी थी वैसी ही आज भी हो तो भी असली अवस्थामें फर्क पड़ ही जायगा। तब और अबमें बहुत अन्तर हो गया है। तब जो द्रव्य काफी थे अब वे काफी नहीं हैं। मनुष्योंकी आवश्यकतायें बढ़ गयी हैं, जीवनके आदर्श बदल गये हैं। बीस वर्ष पहले जितनी चीज़ोंसे काम चल जाता था उतनी चीजोंसे आज सब काम नहीं चलते। उन सब वस्तुओंका मूल्य भी बढ़ गया है। २० वर्ष पहले एक रुपयेका जितना सामान मोल ले सकते थे उतना सामान आज आप कभी न पायँगे। उसके लिये एक रुपयेसे अधिक खर्च करना पड़ेगा। इससे अनाज बेचकर किसान यदि अधिक रुपये पाता है तो उसे अपनी जरूरतकी चीज़ोंके लिये भी अधिक खर्च करना पड़ता है। उसकी जरूरतें इतनी बढ़ गयी हैं कि उनके लिये उसे बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है। इससे गल्ला बेचकर अधिक रुपया पैदा करना उसे कुछ भी फायदा नहीं पहुंचाता। यदि रिपोर्टकी बातें दूर कर दी जायं, हिसाब किताब अलग कर दिये जायं तो भी यह कहना ही पड़ेगा कि आजसे ३०।४० वर्ष पहले लोगोंको जिस परिमाणमें खानेकी चीजें—चावल, आटा, दाल—मिलती थी आज, उस परिमाणमें, वे किसी को कभी नहीं मिल सकतीं। कोई कोई उत्तरमें कहा करते हैं

कि यदि सब कोई खानेको काफी नहीं पाते तो बाहरसे अनाज क्यों नहीं मंगाते। इसका उत्तर यही है कि मंगावें तो कहांसे ? उतना अधिक दाम देकर खरीदनेकी शक्ति हो तब तो मंगावें। विचारनेकी असल बात यह है कि लोगोंकी आवश्यक वस्तुयें खरीदनेकी शक्ति कहां तक बढ़ी है, उससे वे कितना, कौनसा आवश्यक पदार्थ खरीद सकते हैं और कौन सा पदार्थ नहीं खरीद सकते। यहांके विदेशीव्यापार (Foreign Trade) को बढ़ता देखकर लोग कहा करते हैं कि भारत धनी हो रहा है ; आवश्यक वस्तुओंको खरीदनेकी उसकी शक्ति बढ़ रही है। पर इसके साथ लोग इस बातपर ध्यान देना भूल जाते हैं कि जनसंख्या कितनी बढ़ गयी है, आवश्यक द्रव्योंकी सूची कितनी लम्बी हो गयी है, और खर्च कितना बढ़ गया है। यदि दोनोंका मिलान करके देखें तो अवस्था आशाजनक नहीं देख पड़ेगी।

क्या उपज घट रही है ?—साधारण किसानोंकी यह धारणा है कि उपज—पृथ्वीकी उर्वराशक्ति—दिनोंदिन घटती जा रही है। यदि आप कृषकोंसे बातें करें तो वे अवश्य कहेंगे कि बहुत बुरे दिन आ गये हैं। अब वैसी उपज नहीं होती जैसी बापदादेके जमानेमें होती थी,—इत्यादि। यह बात कहांतक सच है इसमें मतभेद अवश्य है। कोई कोई तो कहते हैं कि इसमें अत्युक्तिकी मात्रा ही विशेष है और कोई कोई कहते हैं कि उपज घटनेके बदले बढ़ी है। इसमें सन्देह नहीं कि नहर इत्यादिके प्रचारसे कुछ इलाकोंमें अधिक उपज होने लगी है, जहां सूखा

पड़ जाता था वहां अब जलका अभाव नहीं होने पाता। पर साथ ही यह भी सच है कि नदीके मुहानेकी तरफ इसी कारणसे कुछ नुकसान भी पहुंचा है। क्योंकि वहां अब यथेष्ट परिमाणमें जल नहीं मिलता; आसपासकी जमीनमें नदीके बाढ़के अभावसे नयी मिट्टी नहीं बैठने पाती; जल कम हो जानेके कारण व्यापारमें कठिनता होती है। यह भी सच है कि बहुत सी जगहोंमें उपज घटी है, पर कहा नहीं जा सकता कि भूमिका शक्तिनाश ही इसका एकमात्र कारण है या और कुछ।

जमीनकी मांग बढ़ रही है—बहुतसे इलाकोंमें प्रायः सारी अच्छी जमीन काममें लायी जा चुकी है। अब नयी खेतीके लिये पड़ती और ऊसर जमीन ही जोतनी पड़ती है, जिससे उपजका औसत घटने लगा है। इसके अतिरिक्त जबसे जूट, कपास, तम्बाकू, तेलहन इत्यादिका मूल्य बढ़ गया है तबसे लोग अच्छी जमीनमें धान, गेहूंके बदले जूट, कपास इत्यादि ही बोने लगे हैं। जहां पिछले बीस वर्षोंमें खाद्यद्रव्योंकी खेतीमें कुल सैकड़े १५ की वृद्धि हुई है वहां अखाद्य द्रव्योंमें सैकड़े ४७ की बढ़ती हुई है। इससे भी खाद्य द्रव्योंका औसत कम पड़ने लगा है। नये इलाकोंमें जहां पूरी आबादी नहीं है वहां सम्भव है कि नयी उपजाऊ जमीन मिल जाय। परन्तु पुराने इलाकोंमें जहां पूरी आबादी हो चुकी है वहां अच्छी जमीन ढूंढ ढूंढकर जोती जा चुकी है। वहांसे उपज बढ़ानेकी बहुत आशा नहीं की जा सकती। वहां तो वृद्धि प्रायः पूर्ण मात्रातक पहुंच चुकी है। क्योंकि

भारतके बड़े परिश्रमी और कुशल कृषक इस दशामें यथाशक्ति फल लिये बिना चैन लेनेवाले नहीं। ऐसे इलाकोंमें उपज बढ़ानेकी बहुत बड़ी आशा नहीं की जा सकती। पर हां, जहां किसान लोग अविद्या वा गरीबीके कारण खादका व्यवहार वा पटानेका प्रबन्ध अथवा गहरी जुताईका इन्तजाम नहीं कर सकते वहां उन्नति की जा सकती है। जो हो, इतना अवश्य सत्य है कि पुराने इलाकोंके किसानोंको यह पूरी धारणा हो गयी है कि उपज दिनपर दिन घटती ही जाती है।

उद्योगधन्धे—पुराने जमानेसे ही भारतके उद्योगधन्धोंका प्रबन्ध झोपड़ियोंमें होता आया है। उस समय जब जुलाहा कपड़ा बुनता था तो वह प्रायः सब सामान अपना लगाता था। पूंजी या तो अपनी होती थी या किसी महाजनके यहांसे कर्ज लेकर लगायी जाती थी। करघा वगैरह सब सामान उसका निजका होता था। सूत कातनेसे लेकर कपड़ा बुनने तकका सब काम वह जुलाहा अपने घरके सब आदमियों-बालबच्चों समेत करता था। इससे उसके कुटुम्बभरको रोजगार मिलजाता था। परन्तु जबसे विदेशके कलकारखानों तथा देशी पुतलीघरोंके बने कपड़े बाजारमें बिकने लगे हैं तबसे इनके कपड़ोंकी क़द्र कम हो गयी है, जुलाहोंका रोजगार बैठ गया है। यही हालत और दूसरे पेशेवरों, बढ़ई, लुहार, चमार, सुनार इत्यादिकी भी हुई है। अब पुराने व्यवसायसे उनका पेट नहीं भरता। उन्हें या तो घर-बार छोड़ 'पूरब कमाने' को जाना पड़ा है, पुतलीघरोंमें नौकरी

करनी पड़ी है, या रोजाना काम करनेवाले मजदूरोंकी श्रेणीमें मिल जाना पड़ा है। जहां कहीं वे लोग पुराने पेशेमें ही लगे हुए हैं वहां उन्हें पेशेके साथ साथ खेती भी करनी पड़ी है। जिन्हें सौभाग्यसे काफी जमीन मिल गयी है वे तो पूरे खेतिहर बन गये हैं, और जिन्हें ऐसा सौभाग्य न हुआ है उन्हें सावन भादोंमें अथवा खेतीसे छुट्टी पानेपर थोड़ा बहुत अपना पुराना पेशा भी कर लेना पड़ता है, नहीं तो उतनी थोड़ी जमीनकी उपजसे उनकी उदरपूर्त्ति नहीं हो सकती। १९११ वाली मर्दुमशुमारीकी रिपोर्टमें लिखा गया है कि देशी विदेशी पुतलीघरोंके बने सस्ते मालके कारण पुराने पेशेवालोंका लाभ कम हो गया है, इससे वे अपने पेशेको छोड़ रहे हैं। जहां तक बन पड़ा है उन्होंने पुश्तैनी रोजगारको छोड़कर खेती करना शुरू कर दिया है। इससे खेती करनेवालोंकी संख्या बढ़ती जाती है, जमीनकी मांग बढ़ती जाती है और उसपर बोझ भी बढ़ता जाता है।

एक और दूसरे कारणसे जमीनकी मांग बढ़ रही है। जमीनसे सम्बन्ध जोड़नेकी इच्छा हर देशमें, हर जगह है। पर यहां इसमें कुछ विशेषता है। यहां समाजमें जमींदारोंकी बड़ी इज्जत है। देशमें हर किसीकी इच्छा रहती है कि कुछ न कुछ खेती करें। जहां कुछ संचय किया या अपने रोजगारसे छुट्टी ली कि झट यही इच्छा होती है कि कुछ जमीन खरीदें या ठेका लें और खेती—चाहे जैसी भद्दी रीतिसे ही क्यों न हो—करें। फिर ऐसा न करें तो और क्या करें। यहां पर अपनी कमाई—अपने संचित

धनको दूसरे ढंगपर व्यवहारमें लानेके उपाय भी तो बहुत कम हैं। यहां बंकोंमें रुपया जमा करनेकी चाल बिलकुल नयी है। यह लोगोंको अबतक पसन्द नहीं आयी है। नये व्यवसायोंपर भरोसा कम है, इनमें अपनी पूंजी नहीं लगा सकते। इस कारण यहां जमीनपर रुपया लगाना ही सबसे अच्छा और बिना जोखिमका काम समझा जाता है।

अधिकांश लोग खेतीसे ही जीते हैं, पर उत्तम रीतिसे खेती नहीं कर सकते। यदि वृष्टि हुई तो फसल हुई, नहीं मारी गयी। जब अकाल पड़ा तब खेतीवालोंको कुछ उपाय नहीं सूझता। उनके पास संचित धन नहीं रहता कि दुर्भिक्षके दिनोंमें भी किसी तरह दिन काटें। इससे अकालमें उनकी तबाही आ जाती है, वे भूखों मरने लगते हैं। जबसे रोजगार बैठ गये तबसे अकालके कारण तबाह होनेवाले खेतिहरोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है। यह देखकर दुर्भिक्ष कमिशनने सलाह दी थी कि लोगोंको रोजगार धन्धोंमें लग जाना चाहिये और सब किसीको खेतीसे जीविका निर्वाह करनेकी आदत न डालनी चाहिये। यदि लोग रोजगार धन्धे भी करते रहेंगे तो अकालसे उतना कष्ट न पहुंचेगा।

यह सलाह बहुत ही अच्छी है। पर सिर्फ रोजगारोंकी ओर जानेसे ही दुःख दूर न हो जायगा। मान लिया कि देशमें दुर्भिक्ष पड़ गया और खेतिहरोंको भूखों मरनेकी नौबत आयी। उस हालतमें पेशेवालोंकी भी हालत खराब हो जायगी। मिल,

पुतलीघरोंको भी काम बन्द करना पड़ेगा, कमसे कम काम कम करना पड़ेगा। क्योंकि, जब खेतिहरोंको खानेको ही नहीं मिलता तब पुतलीघरोंकी चीजें कौन खरीदेगा? पेशेवालोंके माल यों ही रक्खे रह जायंगे। जब खेतोंमें जूट, कपास न उपजेगी तो पुतलीघरोंमें कच्चे माल कहांसे आवेंगे? इसलिये कहा जाता है कि सिर्फ रोजगारोंमें लग जानेसे ही दुःख-दरिद्रता दूर न होगी। साथ ही साथ खेतीकी भी उन्नति करनी पड़ेगी। नये औजारोंसे, नयी रीतिसे, खेत जोतकर, खाद डालकर, पानी पटाकर खेतीकी तरक्की करनी पड़ेगी। इससे दो लाभ होंगे। एक तो इन औजारोंकी मांग बढ़ जायगी, जिससे देशमें इनके लिये बहुतसे कारखाने खुल पड़ेंगे और दूसरा यह कि उपज बढ़ जानेसे खेतिहरोंके पास खाने पीनेके अतिरिक्त अन्य आवश्यक द्रव्योंको खरीदनेके लिये यथेष्ट धन बच जायगा। इस धनसे वे लोग कपड़े लत्ते, जूते, छाते इत्यादि सामान खरीद सकेंगे। इससे भी उद्योग धन्धोंके फैलनेमें बड़ी सुगमता होगी। यदि उपज आजसे दूनी हो जाय तो कपड़े-लत्ते, छाते, जूते इत्यादि आवश्यक द्रव्योंकी मांग चौगुनेसे भी अधिक हो जाय। कारण यह है कि उपज दूनी होनेसे भी किसान खाने पीनेमें—चावल, आटा दालमें—जितना पहले खर्च करता था उतना ही या उससे कुछ ही अधिक खर्च करेगा। उपज दूनी होनेसे उसका पेट तो दूना नहीं हो सकता। इसलिये उसकी जो बचत होगी वह कपड़े लत्तेकी सी जरूरी चीजोंमें लग जायगी, इससे इनकी

खपत बहुत बढ़ जायगी। और यदि किसान लोग अपने मालको थोड़ा बहुत तैयार करना सीखें, यदि धानके बदले चावल, गेहूंके बदले आंटा बेचना शुरू करें तो औजारोंकी मांग और भी बढ़ जाय। औद्योगिक कमीशनने हिसाब लगा कर देखा है कि यदि देशमें कलोंसे पानी पटाने और ईख पेरनेकी चाल चल जाय तो सिर्फ इन्हीं दो मदोंमें ८० करोड़ रुपयोंकी पूंजीके कलपुर्जे लग जायंगे। फिर इनमें सालाना मरम्मतके लिये भी कुछ लगेगा। इस तरह आप देख सकते हैं कि खेतीकी तरक्की करनेसे धन्धोंके बढ़ जानेका कितना बड़ा मौका है। लोगोंको सिर्फ रोजगारमें ही भेजनेसे काम न चलेगा। साथ ही साथ खेतीकी उपज भी बढ़ानी पड़ेगी।

खेतीकी उपज बढ़ायी जा सकती है। दूसरे देशोंमें परिश्रम करके, औजारोंकी सहायतासे अधिक अन्न उपजाया जाता है, इसको औद्योगिक कमिशनने दर्शाया है। उसने लिखा है कि भारतवर्ष और इङ्गलैंड दोनों जगहोंमें जौ और गेहूं बोये जाते हैं पर जहां इंगलैंडमें एकड़ पीछे १९१६ पाउण्ड (वजन) गेहूं होता है वहां भारतमें ८१४ पाउण्ड। जहां विलायतमें १६४५ पाउण्ड जौ होता है, वहां भारतमें सिर्फ ८७७ पाउण्ड! जहां भारतमें एकड़ पीछे ६० पाउण्ड काती हुई रुई होती है वहां अमरिकाके संयुक्त राज्यमें २००, और मिसरमें ४५०। जब इस प्रकार अन्यान्य देशोंमें उपज बढ़ायी जाती है तो भारतमें उन्हीं उपायोंको काममें लाकर उपज क्यों नहीं बढ़ायी जा सकती?

सारांश—भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है। जहां सैकड़े पीछे ७२ आदमी कृषि-कार्यमें परोक्ष वा अपरोक्ष रूपसे लगे हुए हैं। यहां कल-कारकारखानोंकी चाल तो चल पड़ी है, पर तो भी कृषिकी ही प्रधानता है। ब्रिटिश भारतकी जितनी जमीन जोती बोयी जा सकती है और जोती बोयी जा रही है वह कुल क्षेत्रफलका सैकड़े ६३ भाग है। इसमेंसे ४४ सैकड़ेके हिसाबसे किसी तरह जोता बोया जा रहा है; कहीं कहीं सैकड़े ५६ के हिसाबसे भी आबाद हो चुका है। यदि सम्पूर्ण ब्रिटिशभारत और बर्माका हिसाब लगाया जाय तो सिर्फ सैकड़े १६ और ऐसी जमीन मिलेगी जो किसी तरह खेतीबारीके काममें लायी जा सकती है। किन्तु इसका अधिकांश बर्मामें ही है। इससे स्पष्ट है कि खेती बढ़ानेकी गुंजाइश कम है। नये नये उपायोंसे सम्भव है कि कहीं कहींपर उपज बढ़े। पर इधर खाद्य द्रव्योंकी रफ्तनी भी तो बढ़ रही है।

खेती, उसके रकबे और उपजकी तो यह हालत है। उधर खेतीपर भरोसा करनेवाले, उसकी उपजसे पलनेवाले मनुष्योंकी संख्यापर ध्यान दीजिये। प्लेग, मलेरिया, हैजा, इन्फ्लुएन्जा, अकालके रहते हुए भी जनसंख्या बढ़ रही है। खानेवालोंकी जितनी वृद्धि होती है उतनी वृद्धि नये खेतों और उसकी उपजमें नहीं होती। इस कारण खाद्य द्रव्योंकी मांग और मूल्य बढ़ता जाता है। इसीसे बाहरसे भी खाद्यद्रव्य मंगाने पड़ते हैं।

कलके बने अच्छे मालके सस्ते पड़नेके कारण हाथोंके बने

अच्छे मालको कोई नहीं पूछता। इससे देशी पेशेवाले गरीब हो गये हैं। उनने या तो पेशा छोड़कर रोजाना मजदूरी कमाना और कलोंमें काम करना शुरू कर दिया है, या वे खेती करके दिन काटने लगे हैं। इससे भी खेती करनेवालोंकी संख्या बढ़ रही है।

देशमें उत्तम सुरक्षित वंकोंके खूब प्रचार न होनेके कारण, नये व्यवसायोंपर भरोसा न कर सकनेके कारण भी लोगोंको अपनी पूंजी खेतीमें ही लगानी पड़ती है। इससे आजकल जरूरतसे ज्यादा लोग खेतीवारीमें लगे हुए हैं।

इससे छुटकारा पानेके दो उपाय है। एक तो उपज वढ़ाने-का प्रयत्न करना और दूसरे लोगोंका धन्धोंमें लग जाना। दोनों एक साथ हों, नहीं तो पूरा फल न मिलेगा। खेतीकी अवस्था सुधारनेके लिये नये औजारों, नये आविष्कारोंसे सहायता लेनी पड़ेगी। खेतिहरोंको चावल तैयार करने, आटा पीसनेके रोज-गारों जैसे साधारण उद्योग-धन्धोंमें लगा देना होगा। अन्तमें हम लोगोंको देशकी मर्यादा रक्षा करते हुए, विदेशी उपनिवेशोंमें, विशेषकर जर्मनोंसे जीते हुए अफ्रिकन उपनिवेशोंमें तथा वर्म्मा, शानराज्य इत्यादि ऐसे प्रान्तोंमें जा वसनेके लिये तैयार होना होगा जहां अव भी खेतीके लायक वहुत सी जमीन पड़ी हुई है।

तीसरा अध्याय
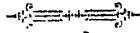
सरकार और कृषि

कृषि विभागका इतिहास—कृषिविभागकी वर्त्तमान अवस्था—कृषि विभाग क्या कर रहा है—फसल और उसका रकबा-कपास-गेहूं-धान-ऊख-जूट—नील—तम्बाकू-तेलहन—चाय—काफी, रबर, फल, और रेशम—कृषि और पशुपालन—घी-मक्खनका कारखाना—मछलियां—जंगल।

कृषि विभागका इतिहास—कृषिकी व्यापकता और महत्त्व देखकर सरकारने भी इसकी उन्नतिके अनेक उपाय किये हैं। १८६६ ई० में बंगाल और उड़ीसाके अकालके अनन्तर कृषि विभाग स्थापित करने और कृषिकी उन्नति करनेकी बात उठी पर फल कुछ न हुआ। उस समय अधिकारियोंकी रायमें नहरोंकी संख्या बढ़ाकर कृषिकी उन्नति करना उचित समझा गया। फिर १८६६ ई० लार्ड मेयोकी सरकारने कृषिविभाग स्थापित करनेका अभिप्राय प्रकट किया। इस समय मैनचेस्टरकी 'रूईकी संस्था' ने भी इस बात पर जोर दिया था, क्योंकि उन लोगोंको रूई कमी मिलती थी। उन्हें आशा थी कि कृषिविभाग खुलनेसे रूई बहुतायतसे मिलने लगेगी। एक कृषि विभाग कायम

तो हुआ, परन्तु १८७६ ई० में रुपयेकी तंगीके कारण वह स्वराष्ट्र-विभागमें मिला दिया गया। १८८० के अकालमें फिर कमिश्नरोंने कृषिविभाग स्थापित करनेकी बात छेड़ी। अबकी प्रान्तीय कृषि-डाइरेक्टर स्थापित किये गये। वे अपने अपने प्रान्तकी कृषि-सम्बन्धी बातोंका अनुसन्धान करने तथा भविष्यके कार्यके लिये मसाला तैयार करने लगे। १८८१ ई० में सरकारने अपना मन्तव्य प्रकट किया कि अभी उचित है कि कृषिके सम्बन्धकी पूरी पूरी जानकारी हासिलकी जाय, उसकी बातोंका पूरा पूरा पता लगाया जाय। यह काम खतम होनेपर कृषिकी उन्नतिपर ध्यान दिया जायगा। १८८१-१८८६ तक इन बातों पर विचार होता रहा कि भारतमें कृषिके लिये कैसे २ अफसर बहाल किये जायं। इसी बीचमें भारत सचिवने अपनी इच्छासे डा० भीलकर नामक एक प्रसिद्ध विद्वानको १८८६ में भारतवर्ष भेजा। इन्होंने घूम घूमकर भारतवर्षकी खेतीका पता लगाया। लौटते समय अपने अनुभवोंपर एक पुस्तक लिखी जिसमें आपने इन बातोंपर जोर दिया कि लोग ऐसा न समझें कि भारतवासी कृषि-विद्यासे अनभिज्ञ हैं। उन्हें कृषिविषयक पूरा २ ज्ञान और अनुभव है। बहुत जगह तो कृषिकी अवस्था ऐसी अच्छी है कि वहां उन्नतिकी आवश्यकता या गुंजाइश नहीं, जहाँ आवश्यकता है वहाँके लोग भी कृषिविद्यासे परिचित हैं। परन्तु, उन्हें साधनोंकी कमी है। इसलिये उन्होंने परामर्श दिया कि सरकारको उचित है कि वह पहले पूरा पूरा अनुसन्धान करावे, पूरी पूरी बातें

जान लेवे तब आवश्यकतानुसार सुधारकी चेष्टा करे। बहुत बहस करनेके बाद निश्चय हुआ कि कृषिविभागमें दो किस्मके कर्मचारी रखे जायं। एकमें वैसे आदमी हों जो कृषिकी शिक्षा दिया करें, स्कूल कालेजमें पढ़ाया करें। और दूसरेमें वैसे अफसर हों जिनका काम वैज्ञानिक अनुसन्धान हो। पहले तो ऐसे वैज्ञानिकोंकी बड़ी कमी थी। यहां तक कि विलायतमें भी ऐसे वैज्ञानिक मुश्किलसे मिलते थे। परन्तु उधर धीरे धीरे, बीसवीं सदीके आरम्भमें ऐसे आदमी मिलने लगे। अन्तमें भारत-सरकारने इस वैज्ञानिक अनुसन्धानके महत्त्वको मान लिया।

इधर प्रान्तीय डाइरेक्टरोंने शुरूमें बड़ी गलतियां कीं। उन्हें न तो अपने शास्त्रका ही पूरा ज्ञान था और न भारतकी कृषिका ही पूरा परिचय था! शुरू शुरूमें उन्होंने मान लिया था कि हिन्दुस्तानी किसान खेती जानते ही नहीं। उन्हें सब कुछ क, ख, ग, घ, से ही सिखलाना पड़ेगा। उन्होंने यह भी साथ ही साथ मान लिया था कि पाश्चात्य देशोंकी जितनी बातें हैं सभी अच्छी हैं। बस फिर क्या कहना था। उन लोगों ने एक एक कर विलायती चीजें यहां मंगानी शुरू कर दीं। विलायती हल-फाल-मंगाये जाने लगे। विलायती खादकी आमदनी होने लगी। हिन्दुस्तानी अनाजको चिदाकर विलायती कपास गेहूं वगैरह बोया जाने लगा। उन्हें यह नहीं मालूम था कि इन परिवर्त्तनोंका क्या फल होगा। बहुत धोखा खाने पर

गलतियां सूझने लगीं। धीरे धीरे उन्होंने कबूल किया कि भारतीय किसानोंसे भी बहुत कुछ शिक्षा मिल सकती है। हिन्दुस्तानमें भी अच्छी चीजें हैं—केवल उन्हें देखनेके लिये आंखें चाहियें, और उन्हें स्वीकार करनेके लिये उदारता।

अन्तको यही निश्चय हुआ कि हिन्दुस्तानी किसानको विलायती आदतोंके सिखानेकी जरूरत नहीं है; वह अपना काम चलानेके लिये काफी तजरवा और हुनर रखता है। जरूरत इस बातकी है कि देशी चीजोंमें कौन कौन अच्छी हैं और कौन २ खराब हैं वे छांटकर अलग २ निकाली जायं। जो देशी चीजें खराब हों उनकी खराबी किस तरह दूर हो सकती है उन्हें किस उपायसे अच्छा किया जा सकता है, इन बातोंको ढूंढ़ निकालना चाहिये और फिर किसानोंको उन बातोंका पता बता देना चाहिये। हां, जहां हवा पानी अनुकूल हो वहां विदेशी अच्छी चीजें भी पैदा की जा सकती हैं, और किसानोंको उनकी शिक्षा भी दी जा सकती है। इतने दिनोंके अनुभवसे अन्तको बीसवीं सदीके आरम्भमें सब बातोंका निश्चय हुआ।

कृषिविभागकी वर्त्तमान अवस्था—बड़े सुदिनमें शिकागोके दानी मि० हेनरी फिलपस्‌ने ३०००० पा० लाट कर्जनको भारतकी भलाईके किसी काममें खर्च करनेको दिये थे। लाट कर्जनने उसे कृषि कालेज खोलनेमें लगा दिया। उसीसे पूसाका प्रधान कृषि कालेज बना। वहां आजकल किसी विशेष कक्षाकी पढ़ाई नहीं होती है। वहांके अध्यापक अपने अपने विषय-

का अनुसन्धान करते रहते हैं। उसके लिये बड़े बड़े प्रयोग-क्षेत्र, प्रयोगशाला और पुस्तकालय प्रस्तुत कर दिये गये हैं। यदि किसी विद्यार्थीको किसी विषयका विशेष ज्ञान लाभ करना होता है तो वह पूसा जाकर इन पण्डितोंकी देखरेखमें अध्ययन करता है। पूसाका विशेष लक्ष्य वैज्ञानिक अनुसन्धान करने और उसको व्यावहारिक रूप देनेपर है।

यह काम तभीसे सम्भव हुआ है जबसे (१९०५-६) भारत सरकारने सालाना २० लाख (अब २४ लाख कर दिया गया है) रुपया कृषि शिक्षामें खर्च करना निश्चय किया है। इन रुपयोंसे प्रान्तीय कृषिविद्यालय खोले गये हैं। उनके साथ साथ पुस्त-कालय प्रयोगशाला, और प्रयोगक्षेत्र (Farms) भी बनाये गये हैं। वहां पर पढ़ाईके साथ प्रान्तीय कृषिके विषयका अनुसन्धान भी किया जाता है। किस प्रान्तमें किस चीजका उपजाना सरल और लाभदायक है, कहां कौनसा अनाज बहुतायतसे उपजता है, उसकी किस तरह उन्नति की जा सकती है इत्यादि काम उन प्रान्तीय विद्यालयोंके अध्यापकों और उनके सहायकों द्वारा हो रहे हैं।

कृषिविद्याके प्रचारकी आवश्यकता है सही, परन्तु साथ साथ इस बातकी भी जरूरत है कि अच्छे अच्छे विद्वान खोज करनेमें लगाये जायं। ऐसा होनेसे ही कृषिकी बुराइयां दूर हो सकती हैं। परन्तु क्लासमें पढ़ाना और खोज करना दोनों काम हमेशा साथ साथ नहीं चल सकता। मान लिया कि खोज

करके कोई नयी बात निकली भी। पर इतना ही बस न होगा। साथ ही यह भी देखना पड़ेगा कि व्यावहारिक दृष्टिसे वह कहांतक लाभदायक है। उसके बाद किसानोंके घरतक उस नयी बातको पहुंचाना पड़ेगा, और देखना पड़ेगा कि किसान ठीक ठीक उससे लाभ उठा रहे हैं या नहीं। इन कामोंके लिये बहुत से सहायकोंकी जरूरत है। इसी लिये यह निश्चय किया गया है कि कुछ लोग तो अनुसन्धानमें लगे रहें और कुछ लोग कृषि विषयक ज्ञानके प्रचारमें। इस लिये भारतीय कृषिविभाग (Imperial Agriculture Department) के अतिरिक्त प्रत्येक प्रान्तमें भी कृषिविभाग हैं। प्रान्तीय कृषिडाइरेक्टरोंकी सहायता करनेके लिये सहायक डाइरेक्टर बहाल किये गये हैं जिन्हें छोटे छोटे इलाकोंका काम दिया गया है।

कृषिविभाग क्या कर रहा है?—इस विभागका उद्देश कृषिकी उन्नति करना है। उस उन्नतिका मूल मन्त्र अनुसन्धान है। वह अनुसन्धान प्रयोगशाला और प्रयोगक्षेत्रकी सहायतासे हो सकता है। उसके बाद यह देखनेकी जरूरत पड़ती है कि नये नियमके अनुसार चलनेसे व्यावहारिक लाभ होगा वा नहीं। इसका निश्चय हो जानेपर लोगोंमें उस नियमके प्रचारकी जरूरत पड़ती है। लोगोंको नये नियमपर चलनेमें सहायता देनी पड़ती है, और बार बार देखना पड़ता है

कि लोग भूल तो नहीं कर रहे हैं। इसी रास्तेपर कृषि विभाग चल रहा है।

कृषिविभागने जब काम शुरू किया तो देखा कि कोई अन्न बिना मिलावटका नहीं है। दो चार किस्मके तो दाने मिले हुए हैं ही, पर उन्हें भी यदि साफ किया जाय तो देखा जायगा कि एक किस्मके अनाजमें कई तरहके दाने मिले हुए हैं। गेहूंके साथ जौ, चनेका मिलना तो साधारण बात है, और लोग ऐसा करते भी हैं। परन्तु यदि खालिस गेहूं ही लिया जाय तो उसमें भी कई तरहके गेहूंके दाने मिलेंगे। किसीका दाना पुष्ट है तो किसीका सूखा, किसीका आंटा मुलायम और सफेद होता है तो किसीका लाली लिए हुए और किसीका चिमड़ा। कृषिविभागने धीरे धीरे यथा सम्भव इन दानोंकी जाति और स्वभावका पता लगाया। फिर बीन बीनकर अच्छे अच्छे दानोंको एक साथ किया, उन्हें एक साथ बोया और उनकी उपज, स्वाद इत्यादि-का पता लगाया। ऐसा करनेपर देशी बाजारमें अच्छा दाम तो मिलने लगा परन्तु विदेशी बाजारमें जैसा चाहिये वैसा दाम नहीं मिला। तब विद्वानोंने यह पता लगाया कि किन गुणोंसे विदेशमें इनकी मांग बढ़ेगी और वे गुण उन अनाजोंमें कैसे आवेंगे। ऐसा ही करनेका उन्होंने यत्न किया। धीरे धीरे मनमाना फल भी मिल गया। यदि यहीं उद्योगका अन्त कर दिया जाता तो उससे अभीष्ट लाभ न होता। जिस किस्मके नये अनाज पैदा किये गये थे उनकी खबर लोगोंमें पहुंचानी थी। यह काम जगह

जगहके नुमाइशी फार्मों (Demonstration Farms) के जरिये किया जाने लगा। किसानोंने भी इस नये अनाजको बोना स्वीकार किया। अब उन्हें बोनेके लिये वैसे बीजकी जरूरत पड़ी। यह काम भी कृषिविभागको ही करना पड़ा। दूसरे देशोंमें अच्छे चुने हुए बीज विश्वासी कम्पनियों या किसानोंके यहांसे मिला करते हैं। इनका काम ही बीजकी तिजारत करना है। परन्तु यहां भारतमें वैसे रोजगारी नहीं हैं। किसान अपनी जरूरतके बीज अपने यहां ही रख लिया करते हैं। इसमें उन्हें बीनने या चुननेका मौका नहीं मिलता। फिर गरीब किसानोंको कभी कभी अकालके समय यह घरका बीज भी नहीं मिलता। इसके लिये उन्हें अपने पड़ोसके किसी बड़े गृहस्थके यहांसे सवाये ड्योढ़े या दुगुनेके करारपर बीज लाना पड़ता है या कभी बाजारके महाजनोंके यहांसे, जैसा मिला, खरीदना पड़ता है। पर इन लोगोंको अच्छे चुने हुए पुष्ट दाने बेचनेकी न तो गरज ही है और न वैसा उनका धर्म ही है। इन्हें तो गला सड़ा, घुना बीझा, जरूरतमन्दोंको देकर अपने दाम खड़े करनेसे मतलब। इससे जो अनाज उपजता है उससे अनाज की जाति दिनोंदिन खराब ही होती जाती है। इन सब मुश्किलोंसे बचनेके लिए कृषिविभागको बीज बेचनेवालों (Seedsmen) का भी काम करना पड़ता है। ऐसे बीजका पसार को-आपरेटिव सुसाइटी, प्रतिष्ठित जमींदार वा किसान वा कृषि विभागके द्वारा हुआ करता है।

अब रही खाद, हलफाल इत्यादि उपकरणोंकी बात। इन विषयोंमें भी कृषकोंको अच्छी सलाह देनी पड़ेगी। सलाह देते हुए किसानोंकी अवस्था, उनकी पूंजी, बैल या भैंसेकी ताकत और सामाजिक बन्धनों और प्रबन्धोंका ध्यान रखना पड़ेगा।

कृषि विभागकी ओरसे रासायनिक खादके अतिरिक्त जान-वरोंके मलमूत्र, कूड़ा कर्कट, राख, तलाव पोखरेकी सड़ी मिट्टी, खली, सड़ी मछली इत्यादि अनेक प्रकारकी खादोंको बरतने-की रीति सिखाई जा रही है। खेतीके लिये यथेष्ट जल मिलता रहे इसके लिये नये ढंगके कूंए और पम्पोंका प्रचार बढ़ाया जा रहा है। खेतीके उपकरणोंमें वैसे औजारोंका प्रचार बढ़ाया जा रहा है जो हल्के, कम कीमतके हैं तथा जिनको मामूलीसे मामूली किसान भी चला सकता है और जिनको देहाती बढ़ई, लुहार भी सुगमतासे मरम्मत कर सकते हैं। कीमती और महीन कलोंके प्रचारकी गुंजाइश नहीं है।

कौन २ फसल कितने २ रकबेमें होती है?-जितने किस्मकी फसलें हिन्दुस्तानमें होती हैं उन सभोंको दो हिस्सोंमें बांट सकते हैं। एक फसल तो ऐसी है जो खानेके काम आती है और दूसरी ऐसी है जो खानेके काममें नहीं आती; जैसे रुई, जूट, नील इत्यादि। नीचे दिये नक्शोंसे पता लगेगा कि कौन २ फसल कितनी कितनी जमीनमें होती है।

जिस जमीनमें खानेकी चीजें बोयी जाती हैं

हजार एकड़

	१९०५-६	१९१०-११	१९१४-१५
धान	७३,४००	७८५२४	७७६६९
गेहूं	२२,४०२	३४३९८	२५४५१
जुआर	२०७४२	२११८४	२१२२३
बाजरा	११५३१	१५५४०	१६०४२
चना	११०२४	१३९४६	१४३६४
सब प्रकारके खाने के अनाजका जोड़	१८३६५५	२०४१०३	२०४५०५
ऊख	२४१५	२५४०	२४५९
कुल जोड़	१९३०८३	२१४११०	२१५१६४

जहां खानेके अनाज नहीं बोये जाते हैं

हजार एकड़

	१९०५-६	१९१०-११	१९१४-१५
तेलहन	१२५०१	१४५३४	१५३३३
कपास	१३०९९	१४४४८	१५२२२
जूट	३१४१	२८२९	३३०९
नील	४०१	२८२	१४६
पोस्त	६५४	३८३	१७९
चाय	५०८	५३३	५८४
इस जातिकी फसलका जोड़	३७८७८	४१९९८	४५००७

सरकार और कृषि

ऊपर जो अङ्क दिये गये हैं वे सब ब्रिटिश भारत और बर्म्मा-के हैं, इनमें देशी रजवाड़ोंका हिसाब शामिल नहीं है।

(कृषि विभागने क्या काम किया है, फसलकी तरक्की करनेमें कितनी मदद की है, इसका थोड़ासा परिचय यहां दिया जायगा।)

कपास—कपास बहुत ही जरूरी चीज है। सभ्य असभ्य सब किसीको इसकी सहायता लेनी पड़ती है। इसी कारण इसकी मांग सर्वत्र है। जबसे कृषि विभागका आरम्भ हुआ है तबसे उसका ध्यान विशेषरूपसे इस ओर गया है। शुरूमें कृषि विभागने विलायती बीज ला कर पैदा करनेकी चेष्टा की पर सब के सब प्रयत्न निष्फल हुए। संयोगवश दो जगह अमेरिकन बीज से कुछ कुछ लाभ हुआ है। इनको आज कल 'कानपुर अमेरि-कन' और 'धारवार अमेरिकन' के नामसे पुकारते हैं। विदेशी कपासके बीज यहां अच्छे नहीं उठते, उनसे विशेष लाभ नहीं होता।

कुल खेतीके सैकड़े ६ में कपास बोयी जाती है। और, पिछले बीस वर्षों में इस कपासकी खेती सैकड़े ६७ बढ़ गयी है। देशमें कपासकी मांग प्रायः दूनी हो गयी है, साथ ही साथ जापान, चीन, आफ्रिका और मध्य एशियावाले भी अधिक माल खरीदने लगे हैं। १९१३-१४ में १'५८ करोड़ और १९१६-१७ में १'३८ करोड़ एकड़ जमीनमें कपासकी खेती हुई थी। पिछले बीस वर्षों में, मद्रासमें कोई १० लाख, बम्बईमें १५ लाख और पंजाबमें

६ लाख और मध्यप्रदेश वरारमें प्राय: १५ लाख एकड़की वृद्धि हुई है।

इसमें कृषिविभागवालोंने भी वड़ी मदद की है। उन लोगोंके इसमें दो उद्देश्य रहे हैं:— एक तो देशी कपासमेंसे सवसे अच्छे नमूनेकी कपासको ढूँढ़ निकालना और उसकी खासियत और सिफतको वचाये रखना। दूसरा काम विदेशी कपासके नमूनेको यहां उपजानेकी कोशिश करना या देशी विदेशी नमूनोंको मिला कर एक नयी जातिकी अच्छी कपास पैदा करना।

देशमें कपासके वहुतसे अच्छे नमूने थे। परन्तु वे वेतरह मिले जुले थे। अच्छी और खराव, सव कपास एक साथ मिलाकर ओटी जाती थी जिससे वाजारमें दाम भी कम मिलता था और देशी कपासकी वदनामी भी होती थी। धीरे धीरे इन नमूनोंको अलगकर मिलावटसे वचाया गया। इसका फल यह हुआ कि वम्वई, मध्यप्रदेश, युक्तप्रदेश, मद्रास इत्यादि इलाकोंमें अच्छे अच्छे नमूने मिलने लगे जो आजकल वाजारमें ऊंचे दामों पर विकते हैं, और खरीदनेवाले भी वड़ी चाहसे खरीदते हैं। क्योंकि उनमें अव मिलावट नहीं है। जैसे वम्वईका 'भरोंच', मध्यप्रदेशका 'रोजियम', युक्तप्रदेशका 'अलीगढ़ सफेद फूल', मद्रासका 'करुनगानी'—इत्यादि।

देशी कपासकी तरक्कीके साथ साथ विदेशी नमूनेकी कपास भी वोयी गयी है। उनमेंसे 'इजिपशियन', 'नार्थ अमेरिकन', और 'कम्वोडियन' ने अच्छा फल दिखाया है। सिन्ध, वम्वई,

पंजाब, युक्तप्रान्त और मद्रासमें इससे अच्छा फल मिला है। पर सिर्फ विलायती नमूनोंपर ही पूरी शक्ति खर्च करनेकी जरूरत नहीं है। किसी किसीका कहना है कि हिन्दुस्तानमें सिर्फ लम्बे धागेकी कपासको उपजानेका यत्न करना चाहिये, और छोटे धागे वाली कपासपर ध्यान ही नहीं देना चाहिये। यह उनकी बड़ी भूल है। देशी मोटे धागेकी कपासकी जहां तक हो, तरक्की करनी चाहिये, क्योंकि देशको तथा हमारे यहांसे खरीदने वाले दूसरे बाजारोंको—चीन, जापान, अमरीका इत्यादि—मोटे धागेकी बड़ी जरूरत है। जहां तक हो सके इसकी तरक्की करनी चाहिये। फिर उसके बाद लम्बे और महीन धागेकी कपास उपजानेका यत्न किया जाय। क्योंकि उसकी भी बहुत जरूरत है। परन्तु लम्बे धागेकी कपासका उपजाना भारतमें वैसा सहज नहीं है जैसा कि मोटे धागेकी कपासका। हम लोग अपने मोटे धागेवाली कपासको बेचकर अच्छी कपास खरीद लिया करेंगे। साथ ही साथ इस बातपर खूब जोर देना चाहिये कि मिलावटी माल न बिके। क्योंकि एक तो वह बुरा होता है और दूसरे यह कि बेचनेवाली कम्पनी और देशको भी सब दिनके लिये बदनाम कर देता है।

गेहूं—पश्चिमोत्तर भारतका प्रधान खाद्यद्रव्य है। इस कारण पंजाब, युक्तप्रदेश, मध्यप्रदेशमें इसकी बहुत खेती होती होती है। कुल खेतीका कोई सैकड़े १० हिस्सा तो गेहूंके लिये ही छोड़ दिया जाता है। इधर आठ वर्षोंमें प्रायः ८० लाख एकड़

में गेहूंकी खेती बढ़ी है। उपजका सैकड़े ७०।८० तो देशमें ही रह जाता है और शेष बाहर चला जाता है। बाहरवालोंमें इंगलैण्ड, बेलजियम, फ्रान्स, मिसर, इटलीवाले हमारा गेहूं खरीदते हैं।

यहां भी वही विदेशी नमूने लाकर गेहूंकी तरक्की करनेका यत्न किया गया था। आस्ट्रेलियन और अमेरिकन गेहूं बोये गये, पर फल कुछ अच्छा न हुआ। देशी गेहूंकी भी, कपास-की तरह बुरी हालत थी। मिलावट तो हदसे ज्यादा थी। हावर्ड दम्पत्ति (Mrs. & Mr. Howard) जबसे भारत आयी तबसे गेहूंकी उन्नतिका समय आया। इस बातका पहले ही पता लग गया था कि भारतमें बढ़ियासे बढ़िया गेहूं पैदा हो सकता है। यह भी देखा जा चुका था कि विदेशी नमूनेके गेहूं हिन्दुस्तानमें ठीक नहीं रहते। इस लिये उन लोगोंने देशी गेहूंके नमूने इकट्ठे किये और उनमेंसे बढ़ियासे बढ़िया नमूने चुन डाले। तब यह पता लगाया कि किन किन गुणोंके रहने पर गेहूंकी मांग देश-विदेश, सब जगह होगी। क्योंकि इसका सबसे ज्यादा हिस्सा तो देशमें ही खपता था। परन्तु साथ ही साथ विदेशमें इसकी मांग बढ़े इसकी भी जरूरत थी। जांच करनेपर मालूम हुआ कि अंगरेज आटे और रोटीवाले सौदा-गर 'कड़े' (Strong) गेहूंकी तलाश करते हैं क्योंकि वे अपने देशके उपजे 'नरम' (Weak) गेहूंके साथ मिलाकर रोटी तैयार करना चाहते हैं। 'नरम' गेहूंकी बनी रोटी भद्दी वजनदार

होती है। वह खूब फूलती नहीं। परन्तु 'कड़े' गेहूंमें ये अवगुण नहीं होते। यही गुण हिन्दुस्तानी भी पसन्द करते हैं। बस अब ऐसे ही नमूनेके गेहूं उपजानेकी जरूरत पड़ी। गेहूं उपजाते हुए देखा गया कि देशी गेहूंके पेड़ कमजोर होते हैं, उसके डंठल हवाके झोंकेको संभाल नहीं सकते। फागुन चैतकी जोरदार हवामें पेड़ टूट जाते हैं और दाने झड़ पड़ते हैं। फिर गेहूंकी फसल पकनेमें देर होती है। यदि जल्दी पकने लगे तो फूलनेके समय जो 'पीरो' और 'हरदा' लग जाया करते हैं तथा कोड़े लगने लगते हैं और फागुन चैतकी तेज हवासे पेड़ सूखने लगते हैं ये सब बातें भी दूर हो जायं। हावर्ड दम्पत्तिने बहुत अनुसन्धानकर, वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा ऐसी जातिका गेहूं तैयार किया है जिसमें वे सब गुण पाये जाते हैं। इसमें जो सबसे प्रसिद्ध हैं उनका नाम पड़ा है 'पूसाके गेहूं नं० ४ और १२' (Pusa Nos. 4 & 12)। ये नमूने विलायत भेजे गये थे और वहांसे भी पास हो आये हैं। अब इनके प्रचारका काम शुरू हुआ है। सरकारी अफसरों और देहाती बंकों द्वारा इनकी खेती बढ़ाई जा रही है। सरकारी फार्मोंमें इसके बीज बोये और तैयार किये जा रहे हैं। अब सिर्फ यही देखना है कि किसान कहीं लालच और अज्ञानतासे इनमें भी मिलावट न शुरू कर दें। हावर्ड दम्पत्तिने इस आविष्कारसे भारतका कितना बड़ा उपकार किया है उसका पूरा अन्दाजा तो भविष्यमें मिलेगा पर; इतना तो अब भी कहा जा सकता है कि 'पूसा नं० १२' के बोनेपर एकड़ पीछे कोई १५ रु० अधिक की आमदनी होगी।

धान-गेहूंकी तरह चावल भी पूर्वी देशोंका प्रधान खाद्य है इसी कारण इसकी खेती भी वहां अधिक होती है। कोई आठ करोड़ एकड़ जमीनमें इसकी खेती होती है। यह कुल खेतीका सैकड़े पीछे ३५ हिस्सा है। आसामकी कुल खेतीका सैकड़े ८०, वर्म्मामें सैकड़े ७४ और बंगालमें सैकड़े ७० सिर्फ धानकी खेती है। १९१३।१४ में धानकी खेती सम्पूर्ण ब्रिटिश भारतमें ७'६६ करोड़में थी। उपजका दसवां हिस्सा विदेश जाता है। और शेष देशमें ही खर्च होता है। धानकी अनगिनत किस्में हैं। अभी कृषिविभाग उस जातिके धानको ढूंढ़ निकालने या पैदा करनेका यत्न कर रहा है जिसको बोनेसे अधिक धान पैदा होता है। 'इन्द्रशैल' नामके एक नये धानमें यह गुण पाया जाता है। फिर धान बोनेमें भी सुधार किया गया है। छत्तिसगढ़में अबतक धान छींटकर बोया जाता था, अब वहां खेतोंमें धानके छोटे छोटे पौधे लगाये जाते हैं। इस तरह बीजमें कम खर्च पड़ता है, तथा उपज भी अधिक होती है।

ऊख-विलायती चीनीकी आमदनीने देशी चीनीको नीचा दिखाया है। देशी चीनीका रोजगार बहुत इलाकोंसे उठ गया है। विदेशी चीनी विशेषकर जावाकी चीनीने, देशी चीनीका बाजार चौपट कर दिया है। इधर २५ वर्षोंमें जावाकी चीनी-की आमदनी सत्तर हजार टनसे बढ़ते बढ़ते आठ लाख टनतक पहुंच गयी है। बंगाल, वम्बई और मध्यप्रदेशमें ईखकी खेती बहुत घट गयी है। परन्तु मद्रास, आसाम और युक्त प्रान्तमें

वहाँ है। १९१६।१७ में कुल २४ लाख एकड़में ऊखकी खेती हुई थी। युक्तप्रान्तमें सबसे अधिक ऊख बोयी जाती है।

कृपिविभागने ऊखमें देने लायक खादका निश्चय तथा ऊख पेरनेकी अच्छी कलोंका प्रचार किया है। गुड़, शक्कर और चीनी बनानेके अच्छे, सरल तरीके खोज निकालनेका भी यत्न किया है। ऊख गर्म देशका पौधा होनेके कारण दक्षिण भारतकी ऊख मोटी और रसदार होती है परन्तु उत्तर भारतकी पतली और कम रसवाली होती है। परन्तु यदि भारतको अपने खर्चके लायक चीनी बनानेकी इच्छा है तो उसे उत्तर भारतकी खेतीमें अच्छी जातिकी ऊखका अधिक प्रचार करना पड़ेगा क्योंकि जलके अभावसे दक्षिणमें इसकी खेती नहीं बढ़ सकती। दक्षिणकी मोटी मोटी ऊख उत्तरमें नहीं लग सकती इसलिये समलकोटा (मद्रास) के फार्मसे एक नयी जातिकी ऊखका प्रचार किया जा रहा है जो उत्तरमें बोयी जा सकती है।

जावाचीनीकी उन्नति देखकर १९११ से लोगोंका ध्यान इधर जाने लगा है। ऊख पैदा करने, गुड़ बनाने और चीनी तैयार करने इन्हीं बातोंका निश्चय करना जरूरी है। देखा जाता है कि यहांके पेड़ बहुत ही पतले मुर्दार और रोगी होते हैं। उनमें लाल लाल दाग (Red Rot) होते हैं जिससे वे सड़ने लगते हैं। फिर ऊख पेरने, रस पकाने और गुड़ चीनी बनानेका ढंग भी अच्छा नहीं है। पेरनेमें बहुत सा रस रह जाता है। और पकानेमें बहुत सा रस जल जाता है। इन दोषोंको दूर करने

तथा खेती करनेके अच्छे तरीके निकालनेके लिये मद्रास और युक्तप्रान्तमें खास अफसर रखे गये हैं। वे इस जांचमें हैं कि एक सस्ती ऊख पेरनेकी बढ़िया कल बने तथा गुड़ और चीनी तैयार करनेका सरल उपाय भी मिल जाय। जहां ऊखकी खेती अधिक होती है वहां कलोंमें ऊख पेरी जाने लगी है, तथा 'पूनाके चूल्हे' (Poona Furnace) का प्रचार बढ़ाया जा रहा है क्योंकि उसमें रस औंटनेमें सुभीता होता है। अच्छे नमूनेके पेड़ खोज निकालनेका यत्न हो रहा है। विदेशी पेड़ कुछ समयके बाद जरूर रोगी हो जाते हैं। हवा पानीका कुछ न कुछ असर अवश्य हो जाता है। एक ऐसे नमूनेके पेड़की जांच हो रही है जो उत्तर भारतमें लगाया जा सके, ज्यादा दिन तक ठहरे और रस भी अधिक दे।

जूट—जितने रेशेदार पदार्थ हैं उन सबोंमें जूटकी ही ज्यादा तिजारत है। अभी बंगाल और आसामकी ही यह खास फसल है। हिन्दुस्तानके बराबर और कहीं जूट पैदा नहीं होता। हां, कई देशोंमें इसकी कोशिश की जा रही है। यदि वे सफल हो गये तो बंगालकी यह तिजारत जाती रहेगी। दूसरी बात यह है कि जबतक यह सस्ता पड़ता है तबतक इसकी मांग है, अगर यह बहुत महंगा हो गया तो लोग इसको नहीं पूछेंगे। आज-कल कोई तीस लाख एकड़में इसकी खेती होती है।

बहुत दिनोंसे इस बातकी जाँच हो रही थी कि बाजारमें घटिया जूट क्यों आने लगा है, उसमें मिलावट क्यों हो रही है।

पीछे पता लगा कि जूटकी मांग तो बढ़ती जाती है, लेकिन उपज नहीं बढ़ती। इस कारण बुरा भला सौदा बाजारमें बिकने लगा है। इसको दूर करनेके लिये इसकी खेती बढ़ानेका यत्न किया जा रहा है। उत्तर बिहार और बर्म्मामें इसकी खेती मजेमें हो सकती है। अच्छे जूटके लिये उस नमूनेके पेड़की जरूरत है जिसमेंसे लम्बेसे लम्बा जूट निकले, वजन भी अधिकसे अधिक हो और फिर उसका रेशा मजबूत भी हो। अभीतक ऐसा पेड़ मिला नहीं है, पर इसका यत्न हो रहा है। इसमें खाद डालना भी बहुत जरूरी है। गोबर बहुत अच्छी और सस्ती खाद है। पर इसे पहले बंगालमें लोग यों ही बरबाद कर दिया करते थे। अब इसको व्यवहारमें लानेकी शिक्षा दी जा रही है। खली और सब्ज पत्तोंसे भी यह काम हो सकता है, पर उनमें खर्च पड़ता है।

नील—कुछ दिन पहले इसकी बड़ी इज्जत थी, पर अब तो इसके बुरे दिन आये हैं। हां, लड़ाईने बरस दो बरससे इसमें नयी जान डाल दी है। परन्तु, नकली रंगके सामने इसका ठहरना मुश्किल है। कोई बीस बरस पहले २०।२२ लाख एकड़में इसकी खेती होती थी, परन्तु लड़ाईके समय तो कोई डेढ़ लाखसे भी कम हो गयी थी। हां, नकली रंगकी आमद बन्द हो जानेके कारण अलबत्ता आज कल इसकी खेती फिर साढ़े सात लाख एकड़से भी ज्यादा हो गयी है। यद्यपि मद्रास और बिहार दोनों जगह इसकी खेती होती आयी है परन्तु बिहारका ही माल

सबसे बढ़िया समझा जाता है। कुछ दिनोंतक सुमात्राका नील यहां बोया जाता था, पर उससे रंग कम निकलता था, इसलिये, १६१० से, उसके बदलेमें जावाका बीज बोया जाने लगा है। परन्तु इसके पौधोंमें कीड़े लग जाते हैं तथा फल नहीं लगने पाते। इस रोगको दूर करनेका प्रयत्न हो रहा है। आशा है शीघ्र ही यह प्रश्न हल हो जायगा।

तम्बाकू--तम्बाकू पीनेकी चाल बहुत फैली हुई है, इसलिये बाहरसे बहुत सा सिगरेट, सिगार आया करता है। कुछ दिनोंसे यह आमद घट रही है क्योंकि अब देशी तम्बाकूकी उपज बढ़ती जाती है। इसमें दो बातोंकी जरूरत है—एक तो बढ़िया देशी तम्बाकू पैदा करने, उसे साफ करने और उससे सिगरेट बनानेमें तरक्की करना, और दूसरे बाहरसे बढ़िया बढ़िया तम्बाकू लाकर उपजाना और देशी विलायती मिलाकर एक नये ढंगका पौधा तैयार करना। बंगाल और बम्बईमें विलायती पत्तोंके बोनेका यत्न किया जा रहा है। पूसामें देशी पत्तोंको ही बढ़िया बनानेका उपाय किया जा रहा है। मद्रास और बर्म्मामें इस ओर ध्यान देनेकी बड़ी जरूरत है।

तेलहन—कोई २५ करोड़ रुपयेका तेलहन और तेल हर साल बाहर जाता है। और उसी तरह कितने करोड़का तेल देशमें खाने, लगाने और जलानेके लिये आता है। परन्तु अबतक इस ओर बहुत कम ध्यान गया है। बर्म्मामें तिलकी जाति इत्यादिका कुछ अनुसन्धान किया गया है क्योंकि वहां तो दस

लाख एकड़ जमीनमें इसका पसार है। हां मूंगफलीके प्रचारमें अलबत्ता कुछ मदद दी गयी है।

चाय—१८३६ से आसाममें इसकी खेती शुरू हुई। और तब से इसकी दिनों दिन तरक्की होती आयी है। १९०० से आसाम और बङ्गालकी चाय की उन्नतिका विषय चायकी एक संस्थाके हाथ है। जिसको सरकारसे भी कुछ सहायता मिलती है। यही संस्था चाय सम्बन्धी सारी बातोंकी जांच करती है। दक्षिण भारतमें नीलगिरि, वयनाद और त्रावंकोर राज्यमें भी चायकी खेती है।

१८८६-१९१० के भीतर चायकी खेती दूनी हो गयी है। और उपज तिगुनी बढ़ गयी है। इधर तो उपज और भी बढ़ गयी है।

काफी, रबर, फल और रेशम—काफीके बगीचे मद्रास इलाकेमें ही हैं। जबसे ब्राजिलकी सस्ती काफी बाजारमें बिकने लगी है तबसे इसका बाजार मन्दा पड़ गया है। रबर धीरे धीरे बढ़ रही है। बर्म्मा और मद्रासमें इसके बगीचे अधिक हैं। १९१३-१४में कोई ८० लाखका माल विदेश गया था। क्वेटा और पेशावरमें फलकी उन्नतिका थोड़ा बहुत प्रयत्न किया गया है। इसके सम्बन्धमें ये बातें विशेष ध्यान रखने योग्य हैं कि फलको किस तरह सड़नेसे बचाया और दूर दूर देशोंमें पहुंचाया जा सकता है, और इसको किस तरह पैक किया जाय कि न सड़े न गले और न बीचमें चोरी ही हो। इधर लड़ाईके जमानेमें

शाक भाजीको धूपमें सुखाकर, पैककर दूर देशमें भेजनेकी नयी रीति निकाली गयी है। इससे मसोपोटेमियामें हिन्दुस्तानी फौजको अच्छी सब्जी मिलती रही थी। पूसा, बंगाल, बर्म्मा और आसाममें रेशमकी उन्नतिका प्रयत्न किया जा रहा है कुछ लोगोंने कीड़े पालने, कोयोंसे सूत निकालने तथा रंगनेकी शिक्षा भी पूसामें पायी है।

कृषि और पशुपालन--भारतवर्षमें कृषि और पशुओंसे घनिष्ट सम्बन्ध रहा है और रहेगा। बैल, भैंसेके बिना तो यहांकी खेती हो ही नहीं सकती। हल जोतनेके सिवा ये बोझ ढोते हैं और सवारी पहुंचाते हैं। देहातों और शहरोंमें बहुत-सा उपयोगी कार्य इन्हींके द्वारा हुआ करता है। इनकी उन्नतिके बिना कृषिकी उन्नति हो ही नहीं सकती। आजकल पशुओंकी उन्नतिके लिये दो सरकारी विभाग हैं:— एक तो सिविल वेटरीनरी और 'दूसरा आर्मी रीमाउण्ट'। आर्मीवाले (फौजवाले) सिर्फ उन पशुओंके पालने, नस्ल ठीक करनेका काम करते हैं जो फौजी रिसालेमें लिये जाते हैं। सिविल विभाग साधारणतः गाय बैल, भैंस, भेंड़, घोड़ा, खच्चर इत्यादि इत्यादि उपयोगी पशुओंकी उन्नति, चिकित्साका प्रबन्ध करता है। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, लाहौर, रंगूनमें ऐसे डाक्टरों और कर्मचारियोंको शिक्षा दी जाती है। मुक्तेसर (नैनीताल) और बरेलीमें सरकारी प्रयोगशालायें हैं, जहां पशुओंके रोग और उनकी चिकित्साका अनुसन्धान होता है। पशुओंके मुंह फूलने, पैर फूलने तथा

अन्य संक्रामक बीमारियोंकी दवायें तैयार हुई हैं और भारतभर-में इस्तेमाल की जाती है। ये दवायें ऐसी अच्छी निकली हैं कि स्टेटसेटलमेण्ट, मिस्र, रोडेशिया इत्यादिकी सरकारोंने भी यहींसे दवा लेना शुरू किया है। बड़ी मुश्किलोंसे यहांके किसानोंमें पशुओंकी चिकित्सा करानेकी आदत डाली जा रही है। धीरे धीरे पशुचिकित्सकोंकी संख्या भी बढ़ रही है। जिला बोर्डकी तरफसे हर सब-डिविजनमें ऐसे डाक्टर रखे जा रहे हैं। जब सब जगह ऐसे चिकित्सक मिलने लगेंगे तभी पशु जातिका उप-कार होगा।

इतना होते हुए भी पशु जातिकी बड़ी हीन दशा है। यद्यपि भारतमें मांसाहारी लोगोंकी संख्या और देशोंकी अपेक्षा कम है और दूध, घी खानेवाले सब कोई हैं तथापि यहां पशुओंकी रक्षाका कोई अच्छा प्रबन्ध नहीं किया जा रहा है, गाय बैल दुबलेपतले और मरीज़ हो रहे हैं। उन्हें पेटभर खानेको नहीं मिलता, और न कभी उनके रोगोंकी चिकित्सा ही होती है। इनकी जाति बढ़ने नहीं पाती। गाय, भैंस पूरा दूध नहीं देती, बैल या भैंसे पूरा बोझ नहीं उठा सकते। देहाती टट्टुओं, लद्दू घोड़ोंकी भी यही दुर्दशा है। भेड़, बकरी, इत्यादि की भी हीन दशा है। इनकी नस्ल बढ़ाने, इन्हें अधिक उपयोगी बनाने, इनके दूध या मांसकी वृद्धि करनेका कोई विशेष वैज्ञानिक प्रयत्न नहीं हो रहा हैं। अभी कुछ दिन हुए कृषिबोर्डके सभ्यों-को सम्बोधन करते हुए बम्बईके गवर्नर लार्ड विलिंगडनने इसी

आशयकी बातें कही थीं। लाट साहबने 'गणेशखिंड' की अपनी खास गोशालामें दिखा दिया था कि वैज्ञानिक रीतिसे पशु पालनेके क्या क्या लाभ हैं।

कृषिवोर्डने निश्चय किया है कि यहां एक ऐसी जातिकी गायका प्रचार किया जाय कि जिसके बछड़े तो मजबूत बोझ ढोनेवाले और तेज हों तथा बछिया दूध देनेवाली हों। विलायती पशु यहां ज्यादा दिन ठहर नहीं सकते, उनमें बीमारी (विशेषकर लोहूके दस्त Rinderpest) फैलनेका बड़ा डर रहता है। इससे देशी नस्लोंकी तरक्कीका ही प्रयत्न हो रहा है। हिसार (पंजाब) और छरोढ़ी (अहमदाबाद) के सरकारी फार्मोंमें सांढ़ पालने और वहांसे दूर दूर भेजनेका काम जारी है। परन्तु जरूरत है कि यह काम खूब विस्तार-पूर्वक किया जाय। सरकारी दूध मक्खनके कारखाने और फार्मोंमें अच्छी अच्छी नस्लें हैं; वहांके अच्छे सांड़, हवा पानी और घास चारेका ख्याल रखते हुए प्रदेश प्रदेशमें बांट दिये जायं और देहाती बड्डोंकी सभा द्वारा उन पर निगरानी रखी जाय तो धीरे धीरे अवश्य उन्नति होती जायगी।

देशमें कहीं कहीं बहुत ही अच्छी गायें मिलती हैं। बङ्गाल, विहार या युक्तप्रदेशके बैल गाय अच्छे नहीं होते। पञ्जाब, सिन्ध, मालवा, गुजरात, मैसूर, और मद्रासके कई इलाकोंमें बहुत अच्छी गाय मिला करती है। यहां अच्छे बैल, गाय पालने और उनकी तिजारत करनेकी चाल भी है। मैसूर-अमृत महाल-

के पशु बहुत अच्छे होते हैं। एक जोड़े बैलका दाम तीन चार सौ रुपया होता है। मद्रास—नेल्लौरकी भी नस्ल अच्छी होती है। मालवा और खेरीकी जाति सारे मध्यभारतमें फैली हुई है। यहांके बैल मज़बूत और तेज होते है। गाड़ी, हल वगैरह सब काममें आते हैं। काठियावाड़–गिरनारकी गायें अधिक दूध देती हैं। गुजरातके बैल कृषिकर्ममें भारतभरमें मशहूर हैं पर गायें ज्यादा दूध नहीं देतीं। हांसी-हिसारकी गायें बहुत दूध देती हैं। यहांके बैल भी मजबूत होते हैं। यहांके सरकारी फार्मसे सांढ़ दूर दूर भेजे जाते हैं, और यहांके बैल फौजी रसद विभागमें बोझ ढोनेके लिये जाते हैं। सिन्धके मुसलमान भी अच्छी गायें पालते हैं। पञ्जाब-मांटगुमरीकी गायें हांसी हिसारकी तरह दूधवाली होती हैं और सारे हिन्दुस्तानमें मशहूर हैं।

बैलोंकी तरह भैंसे भी बङ्गालमें हल खींचते हैं। दक्षिण भारतके भैंसे वैसे मज़बूत नहीं होते। जाफराबादी या काठिया-वाड़की भैंसें बहुत दूध देती हैं। दिल्ली रोहतककी भैंस भी दूध देनेमें मशहूर है।

कई जातिकी भेंडें भी यहां मिलती हैं पर किसी कामका नहीं। न उनके रोयेंसे ही यथेष्ट लाभ होता है और न उनका मांस ही दामी होता है। यही हालत बकरोंकी है। इसमें कोई शक नहीं कि यहां और देशोंकी तरह मांस खानेकी उतनी चाल नहीं है। यहां हिंसा बुरी चीज समझी जाती है। पर, तौ भी मांसाहारी भारतवासियोंकी संख्या कुछ कम नहीं है। जिस

जाति और धर्मके लोगोंको इस कामसे परहेज नहीं है उन्हें उचित है कि पश्चिमीय देशोंकी तरह ऐसे पशुओंके मांस और रोंयेकी वृद्धिका उपाय करें ; इससे खासी आमदनी होगी। यहां तक कि अगर माल अच्छा हुआ तो गोरे पलटनोंकी छावनियोंके अलावा विदेशमें भी इसकी मांग बढ़ेगी। इधर लोगोंका ध्यान बहुत कम गया है। कहीं कहीं देशी भेड़ों और काबुली दुम्बेके संयोगसे एक नई नस्ल पैदा करनेका प्रयत्न किया जा रहा है जिसका मांस अच्छा हो और रोयां भी दामी निकले।

घोड़ोंकी तरक्कीका काम कुछ दिनोंसे जारी है। आजकल फौजी रिसाले और पुलिसके लिये जिन घोड़ोंकी जरूरत होती है उनके पालनेका प्रबन्ध फौजी मवेशी महकमेवाले करते हैं। पञ्जाब और युक्तप्रान्तमें यह काम होता है। इसके अतिरिक्त बलुचिस्तान, सिन्ध और बम्बईमें भी थोड़ा बहुत काम जारी है। मेले और उत्सवोंके समय भी अच्छे अच्छे घोड़े दिखाये जाते हैं, पालनेवालोंको ईनाम दिया जाता है। अच्छे नमूनेके घोड़े सरकारी कामोंके लिये खरीदे भी जाते हैं। इससे घोड़ेके व्यापारियोंको बड़ा उत्साह मिलता है। बोझ ढोनेके लिये टट्टू खच्चर भी पाले जाते हैं। पञ्जाब, युक्तप्रान्त, सिन्ध और पेशावरके इलाकोंमें यह काम हो रहा है। पञ्जाब, सिन्ध और राजपुतानेमें ऊंटकी उन्नतिका प्रयत्न किया जाता है।

पशुओंकी उन्नतिके साथ चारे पानीका बहुत बड़ा सम्बन्ध है। यहांके किसान उनके खिलाने पिलाने, और रखनेका अच्छा

स्वास्थ्यप्रद प्रबन्ध बहुधा नहीं करते। इसमें दरिद्रता प्रधान कारण है। बहुतसे इलाकोंमें जहां घनी बस्ती है वहां तो पशुओंके चरागाहतक जोत डाले जाते हैं, वहांके गाड़ी और हलके पशु भी भरपेट खानेको नहीं पाते। जब चारेकी कमी हो जाती है तब उन्हें बड़ी तकलीफ होती है। यहां पशुओंके चारे घासको बचाकर रखनेकी बहुत कम चाल है। जिस साल पानी नहीं पड़ता और घास जल जाती है, उस साल पशुरक्षक अपना जानमाल बेचकर गौओंकी रक्षा करनेको उद्यत होते हैं सही, परन्तु उससे विशेष फल नहीं होता। जंगलोंमें बहुतसी घास बरबाद हो जाती है उसके संचयका कोई प्रबन्ध नहीं करता। सरकारी फार्मोंमें घोड़े, बैलोंके लिये घासकी खेती होती है। परन्तु वह सब फौजी कामोंमें खर्च हो जाती है। जानवरोंके खाने लायक घास उपजाने और संचय करनेकी चाल चलानी चाहिये। अब सरकारी फार्मोंमें खत्तोंमें (Silage) चाराघास रखनेकी चाल बढ़ रही है। उसी तरह विलायती शलजम (मैंगोल्ड) और बरसीमकी खेतीका भी प्रचार किया जा रहा है क्योंकि इनसे चारेघासकी कमी बहुत कुछ दूर हो जाती है।

घी मक्खनका कारखाना— घी, दूध, और मक्खन हम हिन्दुओंका प्रधान आहार है। पर इनमें जैसी मिलावट होती है वैसी शायद अन्य किसी खाद्यद्रव्यमें नहीं होती होगी। धर्मकी डींग भरनेवाले हिन्दूव्यवसायियोंके हाथसे जैसे घृणित और धर्म-विरुद्ध कार्य होते हैं उससे हिन्दुओंकी निन्दा किये बिना नहीं रहा

जाता। अभी हालमें समाजकी आंखें खुली हैं। घीका कानून बना है। पर क्या यही यथेष्ट होगा? उचित है कि देशमें हर जगह हर शहरमें दूध मक्खनके कारखाने खुलें और वहां वैज्ञानिक रीतिसे गायोंको रखने तथा पालनेका प्रवन्ध किया जाय। शुद्धता और ईमानदारीसे काम किया जाय और लोगोंके पास सच्चा माल पहुंचाया जाय। साथ ही साथ कुछ युवकोंको इस विषयकी शिक्षा भी दी जाय कि समय पाकर यहां भी डेनमार्क और स्वीडनकी तरह दूध मक्खनके कारखाने खुल जायं। इस विषयमें अलीगढ़की डेयरीने बड़ा नाम कमाया है। अब अखिल भारतवर्षीय 'गो महासभा' का आरम्भ हुआ है, देखें इससे वस्तुतः कोई उपयोगी कार्य होता है या नहीं। गोप जातिकी जो सभायें हैं वे क्यों नहीं इस कामको अपने हाथ लेती हैं और इसका रोजगार शुरू करती हैं? उनका तो इसपर विशेष स्वत्व है और उनका पीढ़ियोंका जो अनुभव है वह दूसरे लोगोंको अभी होना सम्भव नहीं। देशमें जो 'गोशालायें' और 'पिंजरापोल' हैं वहां बुड्ढे, मरीज पशुओंको पालनेके अतिरिक्त यदि दूध-मक्खनका रोजगार शुरू कर दिया जाय तो बड़ा उपकार हो।

मछलियां—बंगाल, आसाम, विहार, बर्मा इत्यादि प्रदेशोंमें मछलीका बहुत व्यवहार होता है और इसका अच्छा रोजगार भी है। परन्तु पुराने तरीकेसे मछली पकड़नेमें बहुत सी मछलियां यों ही नष्ट हो जाती हैं, बहुतोंका वंशनाश हो जाता है। वर्षामें बाढ़के समय बहुतसी मछलियां बह जाती हैं और गर्मीके

दिनोंमें पानी घट जानेसे बहुतोंकी जान चली जाती है। बंगालमें मछली पालनेकी थोड़ी बहुत चाल है। परन्तु उसमें सुधारकी जरूरत है। कुछ दिन हुए कि मद्रासमें (१९०७) सर फ्रेडरिक निकलसनने मछलियोंके सम्बन्धमें जांच शुरू की थी। धीरे धीरे वहां एक मछलीका महकमा ही कायम हो गया। समुद्रमें मछली पकड़ने और मोती निकालनेका काम शुरू कर दिया गया। मीठे पानीमें भी नयी नयी मछलियां पाली जाने लगीं। मछलियोंसे तेल तैयार कर बाजारमें बेचनेका भी इन्तजाम किया गया।

बंगाल बिहारमें भी मछलीका एक विभाग खोला गया है। समुद्रकी मछलियां कलकत्तेके बाजारोंमें बेची जाती थीं, पर वह काम इस समय बन्द है। इधर नदियोंकी मछलियोंकी आदतोंका पता लगाया जा रहा है, उनके पालनेका प्रबन्ध किया जा रहा है। कई जगह तालाबोंमें उनके बच्चे पाले जा रहे हैं और दूर दूर तालाबोंमें पालनेके लिये मछुओं या जमीन्दारोंको बांटे जा रहे हैं। पञ्जाबमें भी नदियों और नहरोंमें मछली पालने, उनको नाश होनेसे बचानेका प्रबन्ध किया जा रहा है।

जंगल—जङ्गलोंसे देशको बड़ा लाभ है। सरकारको भी खासी आमदनी है। जङ्गलोंके रहनेसे वर्षा होती है। वहां पशुओंका चारा उगता है और गरीबोंको अपनी झोपड़ीके लिये घास फूस मिलता है। इसके अतिरिक्त लकड़ी होती है जो देश विदेशमें काम आती है। हर साल बहुत रुपयोंकी लकड़ी विदेश भेजी जाती है। जंगली फल-मूलसे भी कुछ २ आमदनी है। दवा-

दारूके अतिरिक्त जंगली फलों—हररे, वहेड़ा, आंवलासे चमड़ा तैयार करनेमें भी वड़ी सहायता मिलती है।

जंगलको आगसे वचाने, छोटे छोटे पेड़ोंको काटनेसे रोकने इत्यादि कार्योंके लिये जंगलात विभाग है। इस विभागने इन कामोंके अलावा विदेशी उपयोगी पेड़ोंके लगानेका भी प्रवन्ध किया है। जांच करनेसे पता लगा है कि "पारा रवर" का पेड़ वर्मामें लग सकता है। मद्रास और वर्म्मामें काफूरके पेड़ लगानेमें सफलता हुई है। महागनी और इयुकैलिप्टसके पेड़ोंको लगानेका भी कई प्रदेशोंमें यत्न हो रहा है। 'लाख' उपजानेकी ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। वर्म्मा और दक्षिण भारतमें सागवान, उत्तरमें साल, सीसम, मैसूरमें चन्दन और हिमालयमें वांझ, चीड़की लकड़ियां पायी जाती हैं।

चौथा अध्याय

खनिजधन

खानोंका व्यवसाय–कोयला–पेट्रोलियम–सोना–लोहा–मंगनीज–अबरक–सीसा–जस्ता–चांदी–टुंगसटन–टीन–शोरा–नमक–सारांश।

खानोंका व्यवसाय—ऊपर लिख आये हैं कि "जमीन कहनेसे जमीनके ऊपर, और उसके भीतर अर्थात् भूगर्भ, दोनोंसे मतलब है।" यहां इसी भूगर्भसे निकले पदार्थोंका परिचय दिया जायगा।

भारतके खनिज धन और उससे सम्बन्ध रखनेवाले व्यवसायों पर दृष्टि डालनेसे दो बातोंका पता लगता है। पहली बात तो यह है कि खानोंसे सिर्फ वैसे पदार्थ ही निकाले जाते हैं जिनका देशमें सहज ही उपयोग हो सकता है। उधर खानसे निकाला और इधर जरूरत हुई तो मामूली तरहसे साफ करके–खाद निकालकर–काममें लगा दिया। जैसे, कोयला, पेट्रोलियम, नमक इत्यादि। कुछ ऐसे खनिज पदार्थ भी निकाले जाते हैं जिनकी देशमें तो मांग नहीं है परन्तु विदेशमें बड़ी चाह है। वैसे पदार्थोंको खानसे निकालकर जैसेका तैसा विदेश भेज

देते हैं। वहां वाले उसको साफ कर, भिन्न भिन्न मिश्रित पदार्थोंको अलग अलगकर काममें लाते हैं। अगर जरूरतसे वह ज्यादा हुआ तो फिर साफ किया हुआ वही माल भारतको भी अधिक दामपर भेज देते हैं। जैसा कि मध्यप्रदेशका मंगनीज और बिहारका अवरख। दूसरी बात यह है कि अब तक वैसे मिश्रितखनिज द्रव्योंकी ओर भारतवासियोंका ध्यान नहीं गया है, जिनसे निकले हुए द्रव्योंका व्यवहार रासायनिक पदार्थोंके बनाने वा अन्य किसी दूसरे खनिज द्रव्यके शुद्ध करनेमें होता है। खानसे बहुतसे ऐसे पदार्थ निकलते हैं जिनमें कई धातुओंका मिश्रण होता है। अब यदि एकको निकालें तो दूसरा भी उसके साथ निकल आवेगा। अगर उस दूसरे धातुका उपयोग न हुआ तो वह बरबाद गया और कुल खर्चा एकही धातुपर जाकर पड़ा। पर यदि मिश्रित द्रव्यसे निकले हुए सब प्रकारके धातुओंका उपयोग किया जा सके तो खर्च बंट जाय और सब धातु सस्ते दर पर पड़े और बिकें। उदाहरणके लिये 'कापर सलफाइड'—ताम्बा और गन्धक मिले हुए खनिज पदार्थके कच्चे धातुको ही लीजिये। खानोंमें तांबा प्रायः गन्धकके साथ मिला हुआ रहता है और ऐसी खानें ही बहुतायतसे पायी जाती हैं। यदि देशमें सिर्फ ताम्बेकी मांग हो, उसके साथ साथ गन्धकको कोई न पूछे तो मिली हुई कच्ची धातसे ताम्बा तो साफ करके निकाल लिया जायगा और गन्धक यों ही पड़ा रह जायगा। खर्च अधिक पड़ने और माल (ताम्बा) कम निकलनेसे

ताम्बेकी दर चढ़ जायगी। पर यदि गन्धक निकालने और गन्धकसे बने हुए अन्य पदार्थों के उपयोगका प्रबन्ध हो जाय तो ताम्बा और गन्धक दोनों ही काममें आ जायं और सस्ते पड़ें। दुनियांकी बड़ी बड़ी ताम्बेकी खानें बन्द हो जातीं अगर गन्धककी मांग भी साथ साथ न होती। पर गन्धककी मांग तभी हो सकती है जब कि देशमें गन्धकके तेजाबके और उससे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य अन्य रासायनिक व्यवसाय स्थापित हों। आजकल गन्धकका तेजाब ही रासायनिक तथा धातु-सम्बन्धी व्यवसायोंकी कुंजी है। इसी तेजाबके जरिये बहुतसे धातु खनिज तेल वगैरह साफ किये जाते हैं, इसके बिना सज्जी खार तैयार ही नहीं हो सकता, और इसी सज्जीकी मददसे फिर साबुन, कांच, कागज, तेल, रंग इत्यादि सैकड़ों पदार्थ बनते हैं। फिर इसी तेजाबकी मांग रहनेकी वजहसे ताम्बे जैसे धातु भी बाजारमें सस्ते पड़ते हैं। इंगलैंडमें इधर एक सौ वर्षके भीतर एक टन गन्धकके तेजाबका दाम जो उससमय ४५०) से भी अधिक था घटकर ३०) रु० से भी कम हो गया है। इसका अर्थ यह है कि तेजाब बहुत ज्यादा बनता है और रासायनिक प्रयोगसे बनाये जानेवाले अन्य अन्य पदार्थों के बनानेमें खर्च होता है। इस तरह दूसरी जगहोंके रासायनिक व्यवसायोंके बढ़ जानेसे तथा रेल, स्टीमरके सस्ते हो जानेसे भारतका पुराना रोजगार कई अंशोंमें मारा गया है। अब यहां फिटकिरी, तूतिया, हीरा कसीस, सज्जी, खारका रोजगार प्रायः

बैठ सा गया है। और शोरेकी रफ्तनी बढ़नेके बदले घट गयी है। ताम्बेके जैसे खनिज पदार्थ अब खानोंसे निकालकर गलाये नहीं जाते। *

आज भारत ऐसे देशमें जहां रासायनिक प्रयोगोंका प्रचार नहीं है, जहां रासायनिक प्रक्रियासे बननेवाली वस्तुओंका कोई भी कल कारखाना नहीं है, वहां ताम्बेकी तरह मिश्रित रूपमें मिलनेवाले धातुकी खानें काममें नहीं लायी जा सकतीं। वहांके लोगोंको या तो घटी सहकर अपनी चीजें खानसे निकालकर विदेश भेजनी पड़ेंगी, या उन्हें योंहीं रख छोड़ना पड़ेगा। तथा रासायनिक प्रयोगसे बननेवाली दूसरी चीजें विदेशसे मंगानी पड़ेंगी। जबतक व्यावहारिक रसायनशास्त्रका प्रचार देशमें न होगा तबतक वैसे धन्धे खुल नहीं सकते और तब तक विदेशसे माल मंगाना ही पड़ेगा। इसीलिये उस दिन लाहौरमें सर टामस हालैंडने रसायनके प्रचार पर इतना जोर दिया था। † रेलका जिस तरह प्रचार हो रहा है, कपास, जूट, कागजके कल कारखाने जिस तरह बढ़ रहे हैं, जिस प्रकार बिजलीकी शक्तिका उत्तरोत्तर प्रसार होता जा रहा है, उससे आशा की जा सकती है कि भारतमें भी शीघ्र ही ऐसा दिन आ जायगा कि

---

* Records of the Geological Survey of India. Hollond & Fermor Vol. XXXIX p. 278.

† Speech of Sir T. Holland before the Science Congress held in Jan. 1918 at Lahore.

जब देशमें ही रासायनिक प्रयोगसे उत्पन्न वस्तुओंकी मांग बढ़ जायगी।

कोयला--खानोंसे जितने द्रव्य निकाले जा रहे हैं उनमें कोयला ही सबसे अधिक महत्वका है। १९१६ में ३८'७८ लाख पाउण्डका १७२'५ लाख टन कोयला निकला। इसमें यदि साढ़े तीन लाख टन वह कोयला जोड़ दें जो कोयला खानवाली कम्पनियोंने स्वयं खर्च किया था, तो कुल कोयलेका वजन १७६ लाख टन हो जायगा।

खानोंसे कुछ कोयले अच्छे और कुछ खराब निकलते हैं। इधर अच्छे कोयलोंकी मांग तो बढ़ गयी है, पर खराब कोयलोंकी कम हो गयी है। लड़ाईके समय अच्छे कोयलोंकी इतनी जरूरत हुई कि खान खोदनेवालोंको यथेष्ट कुली मिलने मुश्किल हो गये। इसलिये सरकारने हुक्म दिया कि तबतक तीसरे दर्जेकी खानें बन्दकर दी जावें। जिससे कि वहांके कुली अच्छी अच्छी खानोंमें आकर काम करसकें। इसमें सन्देह नहीं कि सरकारके इस हुक्मसे छोटे छोटे कारखानोंको बहुत हानि पहुंची थी।

रानीगंज और झरियाकी कोयलेकी खानें दामोदर नदीकी उपत्यकामें पड़ती हैं। भारतमें सैकड़े ८५'५ कोयला यहींसे निकाला जाता है। १९०५ तक रानीगंजसे ही सबसे ज्यादा कोयला निकलता था, पर अब उसका दूसरा नम्बर है। यहांकी खानें प्रायः ५०० वर्गमीलमें फैली हुई हैं, इनका ज्यादा हिस्सा वर्द्धमान (बंगाल) जिलेमें पड़ता है। परन्तु कुछ कुछ हिस्सा

बांकुरा (बंगाल) और मानभूम तथा सन्थाल परगना (विहार) में भी पाया जाता है। झरिया का इलाका जो विहारमें है सबसे ज्यादा कोयला देता है। १९१५ में यहांसे प्रायः ९१॥ लाख टन कोयला निकाला गया था, जो भारतवर्षकी कुल उपजका आधेसे भी ज्यादा हिस्सा था। १९१६ में यहांसे कुछ कम कोयला निकला। विहारमें 'गिरीडीह' का भी एक छोटा इलाका है जो सब से अलग है। यहांसे १९१५ में पौने नौलाख टन कोयला निकला। 'डालटनगंज' (पलामू, विहार) से, जहां १९०१ से कोयला निकाला जा रहा है, १९१५ में ८६ हजार टन कोयला निकला। 'राजमहल' के पहाड़ोंसे अब कोयला निकलना बन्द हो गया है, परन्तु गिरीडीहके पास 'जैंती' नामक जगहसे हालमें कोयला निकालना शुरू किया गया है। यहां से १९१५ में ४० हजार टन और १९१६ में ७५ हजार टन कोयला निकला। रामगढ़-बोखारोसे, जो झरियासे पच्छिम है, १० हजार टन कोयला मिला था (१९१५)। १९१६में इसकी बड़ी तरक्की हुई; इस साल कोई दो लाख टन कोयला निकाला गया। सम्बलपुरकी खानोंसे, जहां १९०९ में पहले पहल काम जारी हुआथा ५९ हजार टन कोयला (१९१५) निकाला गया।

१९१६ में कुल जितना कोयला निकला था उसका सैकड़े ९१'३५ तो इन्हीं सातों खानोंसे आया था। ये खानें बहुत दूर दूर तक फैली हुई हैं; इनका माल भी अच्छा है और ये कलकत्ते या अन्य समुद्री बन्दरगाहोंके बहुत ही नजदीक हैं। इससे

कहा जा सकता है कि ये खानें ही भविष्यत्में खूब चलती रहेंगी।

बंगाल, बिहारके बाहर निजाम राज्यके सिंगरेनी (यलंदा) की खान सबसे अच्छी है। १९१६ में यहांसे ६·१५ लाख टन कोयला निकला। रीवां राज्यकी 'ऊमरिया' खानसे १९१६ में दो लाख टन कोयला निकला था। १९०३ तक इसकी अच्छी उन्नति रही, परन्तु उस समयसे इसकी अवनति हो रही है। मध्यप्रदेशमें चान्दा जिलेकी बल्लारपुर खानसे १९१६ में प्रायः ८५ हजार टन कोयला निकला। मोहपानीकी नई खानसे जो नरसिंहगढ़ जिलेमें नर्मदाकी उपत्यकामें पाई जाती है, कोई ४८ हजार टन कोयला निकला। जिस तरह गिरीडीहकी खान ईस्टइंडियन रेलवे कम्पनीके हाथमें है उसी तरह यह खान ग्रेट इंडियन पेनिनसुलर रेलवे कम्पनीके इलाकेमें है। छिंदवाड़ा जिलेकी पेंच नामक खानसे १९१६ में डेढ़ लाख टन कोयला निकला।

आसाममें, माकुमकी खानसे एक दूसरे क़िस्मका कोयला निकलता है। इसके जलानेसे राख भी कम निकलती है और ताप भी अधिक मिलता है। १९१६में यहांसे २·८४ लाख टन माल निकला। इसके अतिरिक्त पंजाबमें नमकके पहाड़के इलाकों तथा बलुचिस्तानके खोस्तके इलाकेसे भी कोयला निकलता है। १९१६ में पंजाबसे ४७ हजार टन और बलुचिस्तानसे ४२ हजार टन कोयला निकला। बीकानेरके पालाना नामक स्थानमें भी कोयला

पाया जाता है। परन्तु यह 'लिगनाईट' जातिका है। इसकी खानमें आग लगनेका बहुत डर रहा करता है। इसलिये बड़ी मुश्किलोंसे काम किया जाता है। १९१६ में कुल १४ हज़ार टन कोयला निकाला जा सका।

पिछले चार वर्षोंमें भारतकी खानोंसे सब मिलाकर इतना कोयला निकाला गया :—

१९१५ में	कुल १७१०३९३२ टन
१९१६ में	„ १७२५४३०९ टन
१९१७ में	„ १७३२६३८४ टन
१९१८ में	„ २०७२२००० टन

१९१७ का ब्योरा इस प्रकार है :—

(१) आसाम	३०१,३०५
(२) बलुचिस्तान	४०७८५
(३) बंगाल	४६३१५७१
(४) बिहार उड़ीसा	११९३११४१
(५) मध्यप्रदेश	३७१४९८
(६) पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त	२१५
(७) पंजाब	४९८६९
कुल जोड़	१७३२६३८४

पेट्रोलियम—भारतवर्षकी पूर्व और पश्चिम सीमाओंपर पेट्रोलियमकी खानें हैं। पूर्वमें यह आसाम, आराकान और बर्म्मा

तक फैली हुई हैं। यही श्रेणी बढ़ती बढ़ती सुमात्रा, जावा और बोरनियोंके टापुओं तक चली गयी है। पश्चिममें पंजाब और बलुचिस्तानमें यह तेल पाया जाता है। इन्हीं खानोंकी श्रेणी फैलती हुई भारतकी सीमाको पारकर ईरानतक चली गयी है।

तेलकी खानोंमें सबसे बढ़िया बर्म्माकी खानें हैं। ये इरावती नदीकी उपत्यकामें पाई जाती हैं। यहां कुएं खोद कर तेल निकालनेकी चाल बहुत पुरानी है। परन्तु इस व्यवसायकी उन्नति इधर हालमें हुई है। बर्म्मामें जिन कई जगहोंमें तेल पाया जाता है उनके नाम ये हैं :—मंगवे (यनंगयांग) यह सबसे पुरानी और सबसे अधिक तेल देनेवाली खान है। उसके बाद मिगंयान (सिंगू), पोकूकू (यनंगयाट), मिनवू नामक खानोंका नम्बर है। थीयेटमीयोमें भी थोड़ा थोड़ा तेल पाया जाता है। और भी कई जगह तेलकी खानोंके चिन्ह पाये गये हैं, परन्तु उधर विशेष कार्य नहीं हुआ है। अपर-बर्म्माके अतिरिक्त आराकानके समुद्री किनारोंमें भी तेल पाया जाता है। अकयाब और रामड़ीके द्वीपोंमें तेल निकालनेका उद्योग किया गया है। परन्तु बर्म्माकी तरह फल नहीं मिला। यहां दो जगहोंसे, अकयाब और क्युकफ्यू-तेल निकाला जाता है। परन्तु हरसाल माल घटता ही जाता है।

बर्म्मामें 'बर्म्मा आयल कम्पनी' के अतिरिक्त और कई कम्पनियां तेलका व्यवसाय कर रही हैं। नई कम्पनियां धीरे धीरे खड़ी की जा रही हैं। आपसकी चढ़ाऊपरी बढ़ती जाती है।

इससे तेलकी आमदनी तो बढ़ती है, परन्तु डर है कि कहीं इस चढ़ाऊपरी से भविष्यमें लाभके बदले हानि न हो, लोभवश कम्पनियां खानोंको बरबाद न कर डालें।

बर्म्माके जिन तीन प्रधान इलाकोंमें तेल पाया जाता है वहांसे रंगून तक ६, ८, तथा १० इंची पाइप बैठा दिये गये हैं। और बराबर इसी राह रंगूनतक तेल पहुंचाया जाता है। दिन रात इसी तरह तेल बिना रोक टोक रंगून पहुंचता रहता है।

नीचे लिखे नक्शेमें बर्म्माकी खानोंसे निकले तेलका हिसाब दिया गया है।

	१९१४	१९१५	१९१६
बर्म्मा	गैलन	गैलन	गैलन
अकयान	१२,९४८	१२०४५	११८८२
क्युकफ्यू	२५९८७	२३२२०	८८४६३
संगवे (यनंगयांग और सिंगु)	१७४९८१७९९	१९८८०९३१५	२४०१९४०६३
निंगयान (सिंगु)	७३४०९५१८	७७००५८८०	४६१०५०१३
पकोक्कू (यनंगयाट)	४५१६६८५	४०९९३४५	५३१०७४०
मिनबु	१६८३१९०	२३१६२०७	२०४३५४२
थीयेटमीयो	२८३६	२५९२०	३५०००
कुल जोड़	२५४६५२९६३	२८२२९१९३२	३०३७६४०८३

वर्माके बाद आसामकी तेल-खानोंका नम्बर है। ये खानें खासी और जैंतिया पहाड़ोंकी तराई तथा लखीमपुर जिलेके कोयलेकी खानोंके इलाकेमें पाई जाती हैं। सबसे अधिक और अच्छा माल लखीमपुर-डिगबोई से आता है। यहां 'आसाम आयल कम्पनी' सब से बड़ी कम्पनी है। डिगबोई से डिबरू-गढ़तक रेलकी लाइन चली गयी है। वहांसे ब्रह्मपुत्र तथा आसाम बंगाल रेलके सहारे यह तेल पूर्व बंगाल तथा दूर दूर-तक पहुंचाया जाता है। आसाम के 'चाय बागान' वाले भी इसका बहुत सा माल खरीदते हैं। १८६६ में डिगबोईसे सवा छ लाख गैलन अपरिष्कृत तेल निकला था; और १६१६ में ५२·४ लाख। इसीसे पता लग जायगा कि इस खानकी कैसी उन्नति हो रही है। यहांसे जितने किस्मके माल बाजारमें बेचे जाते हैं, उनमेंसे इंजनोंमें जलाया जानेवाला अपरिष्कृत तेल, किरोसिन तेल, पेट्रोल, मोमकी बत्तियां, तथा कल पुर्जोंमें चिकनाहट लानेवाला तेल इत्यादि प्रधान हैं।

पंजाब रावलपिंडीके जिलेमें तेलके चश्मे बहुत दिनोंसे पाये जाते हैं, पर उनसे कुछ अधिक माल नहीं निकलता। बलुचिस्तानमें भी तेल पाया जाता है। परन्तु उसे निकालनेका सुभीता नहीं है। अभी तक यहां कोई विशेष फल नहीं हुआ है। पंजाबके अटक और मियांवालीके इलाकोंमें भी तेल पाया जाता है। १६१५ में अटकसे अढ़ाई लाख गैलन और मियां-वालीसे डेढ़ हजार गैलन तेल निकाला गया था। भारत

और वर्म्मामें १६१६ में, कुल २६'७ करोड़ गैलन तेल निकाला गया ।

सोना--भारतवर्षमें कई जगहोंमें सोनेकी खानें हैं, और कहीं कहीं नदियोंकी बालू धोनेसे भी सोना निकलता है। दुनियांमें आज कल प्रति वर्ष जितना सोना निकलता है उसका सैकड़े पीछे तीनसे भी कम हिस्सा भारतवर्षमें पाया जाता है। सोनेमें सबसे पहला नम्बर ट्रान्सवालका है। उसके बाद अमरीकाके संयुक्त राज्य और आस्ट्रेलियाका है।

भारतमें जो सोना निकलता है उसका सबसे बड़ा हिस्सा (सैकड़े ६४ प्रायः) तो मैसूर राज्यके 'कोलर गोल्ड फील्ड' से आता है। उसके बाद निजाम राज्यका नम्बर है। ब्रिटिश भारतमें भी कई जगहोंसे सोना निकाला जाता है। इनमेंसे वर्म्मा और मद्रास ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

१६०५ तक मैसूरकी कोलर खानकी बड़ी तरक्की रही; उस साल कुछ कम ६,१६, ७५८ औंस सोना निकाला गया। तबसे इधर माल कुछ कम निकलने लगा है। १६१६ में कुल ५'५४ लाख औंस माल मिला। इन खानोंमें काम करनेके लिये बिजलीकी रोशनी और बिजलीकी शक्तिका व्यवहार होता है। मैसूर दरबारकी तरफसे कावेरी नदीके जलप्रपातसे बिजली तैयारकी जाती है और वहींसे बिजलीकी शक्ति खानोंमें भेजी जाती है। इसका काम १६०२से आरम्भ हुआ है। तबसे इस बिजलीके कारखानेकी बड़ी तरक्की गयी है, और खर्च भी बहुत कम हो गया है।

मैसूरके बाद निजाम राज्यका नम्बर है। यहां 'लिंगसागर' जिलेके 'हट्टी' नामक स्थानमें सोनेकी खान है जहां १९१६ में १७'६ हजार औंस माल मिला।

कुछ दिनोंतक बम्बई अहातेके धारवार और सांगली जिलों-की खानोंसे भी सोना निकलता था, परन्तु १९१२ से यहांका काम बन्द कर दिया गया है। मद्रास प्रान्तमें भी जहां तहां थोड़ा बहुत सोना मिलता है।

खानोंको छोड़ नदियोंकी बालूको धोकर सोना निकालने-की चाल बहुत जगह प्रचलित है। बिहारके सिंहभूम और मानभूम जिलोंमें 'सुवर्णरेखा' तथा उसकी सहायक नदियोंको बालू धोनेसे सोना निकलता है। इस तरह १९१५ में सिंहभूम-से कोई ४५० और १९१६ में ८६४ औंस सोना निकाला गया था। बर्म्मामें इरावती तथा उसकी सहायक नदियोंकी बालूमें सोना पाया जाता है। पानीकी बाढ़ आनेसे कभी कभी हानि पहुँचती है सही, परन्तु इस उपायसे अच्छा सोना निकाला जाता है। १९०२ में एक कम्पनी खड़ी की गयी थी जो बालू धोकर सोना इकट्ठा करती थी। १९०० तक इसकी बड़ी उन्नति हुई; उस साल ८४४५ औंस सोना निकला पर उसके बादसे कुछ अवनति हुई है। १९१३ में कुल ५३९३ औंस सोना मिला था। कुछ दिनोंतक रंगूनमें इस सोनेके व्यवसाय-के लिये लोग पागलसे हो गये थे, पर अब वह उत्साह ठंढा हो गया है। १९१५ में सम्पूर्ण बर्म्मासे कोई ३२०० औंस सोना

निकला था। पंजाब, संयुक्त प्रान्त और मध्यप्रदेशमें भी थोड़ा बहुत सोना बालू धोकर पाया जाता है। पर उनका इतना कुछ महत्व नहीं है। इसी तरह बिहारके 'मोतिहारी' जिलेमें भी सोना पाया गया है, यह नैपाल राज्यसे फैलता हुआ आया है। १९१६ में भारत तथा बर्म्मामें कुल ५'९८ लाख औंस सोना निकाला गया।

लोहा—भारतमें लोहेकी बहुत सी खानें हैं, और खनिज लोहेको साफकर इस्पात बनानेकी चाल यहां बहुत जमानेसे चली आती है। हजारों वर्षोंसे यहांकी तलवार, कटारी देश विदेशमें आदर पाती आयी है। परन्तु जबसे विदेशी लोहे और इस्पातकी बनी सस्ती चीजें यहां आने लगी हैं तबसे भारतका लोहेका रोजगार मिट्टी हो गया है। अब भी बहुतसे जिलोंमें पुराने ढंगपर खनिज लोहा साफ किया जाता है। आज कल भी बिहार उड़ीसामें, संथाल परगना, मुंगेर, सम्बलपुरके जिलोंमें, तथा कुमाऊँ, मैसूर, हैदराबाद मध्यभारत और राजपुतानेके बहुतसे स्थानोंमें देशी लुहार पुराने ढंगसे लोहा बनाते हैं। मद्रासमें भी मलाबार, सालेम, त्रिचिनापल्लीके जिलोंमें इसकी चाल है। मध्यप्रदेशमें तो इसका खासा रोजगार है। वहां कोई आठ दस जिलोंमें—जैसे जब्बलपुर, रायपुर, मंडला इत्यादि—ऐसे व्यापारी पाये जाते हैं। हिमालयकी तराईमें गढ़वालमें भी इसकी चाल है। वहांका लुहार बांझ, चीड, ऐंशकी लकड़ियोंके कोयलेसे खनिज

लोहा साफ करता है और उसीसे गृहस्थीका सामान—दाव, फाल, कुदाल, खुखड़ी इत्यादि—तैयार करता है।

विलायती ढंगपर लोहा बनानेके लिये बहुत दिनोंसे चेष्टा की जा रही थी। पर अबतक कुछ विशेष सफलता नहीं होती थी। ईस्ट इंडिया कम्पनीके जमानेमें १८३० ई० में मि० मार्शल हीथ नामक उक्त कम्पनीके एक नौकरने मद्रासमें लोहेका कारखाना खोला था, पर वह बहुत दिनों तक नहीं चल सका। कम्पनीकी सहायता मिलते रहनेपर भी यह कारखाना तथा और भी दो कारखाने १८६७ तक बन्द हो चुके थे। उसी तरह वीरभूम (बंगाल), तथा कलधुंगी (कुमाऊं) के कारखाने भी बन्द करने पड़े। 'बराकर' में जो बड़ी कम्पनी खड़ी की गयी थी वह भी बहुत दिनोंतक डगमगाती रही। तब १८८९ ई०में मार्टिन कम्पनीने उसका प्रबन्ध अपने हाथमें लिया और अब वह "बंगाल आइरन और स्टील कम्पनी, बराकर" (Bengal Iron and Steel Company, Barakar) के नामसे काम करती है। उसी तरह ताता एण्ड सन्सने एक दूसरी बहुत बड़ी कम्पनी कायम की है जो साकची—जमशेदपुर (सिंहभूम) में काम करती है। लोहा बनानेमें इन तीन चीजों—खनिज लोहा, कोयला और पत्थर चूना—की विशेष जरूरत पड़ती है। और ये तीनों चीजें सिंहभूम या बराकरके आसपास ही पायी जाती हैं। इसी कारण भारतकी दोनों बड़ी बड़ी लोहेकी कम्पनियां इन्हीं इलाकोंमें खोली गयी हैं। बराकरकी कम्पनी हाल तक बराकर

और रानीगंजमें पाये जानेवाले खनिज लोहे तथा निजकी कोयले-की खानों और रानीगंजके कोयले और सतना (रीवां) के चूनेसे काम चलाती थीं। अब कम्पनीने सिंहभूमकी खानोंसे लोहा लाना शुरू किया है। कालीमाटी—(बंगाल नागपुर रेलवे) के पास ही दो बड़ी बड़ी खानें हैं, ये धोवाकी पहाड़ियों-से विभक्त की जाती है। इन खानोंके नाम ये हैं—तुरमाडीह और हाकी गोड़ा। बराकर कम्पनीकी दूसरी खानें मनहारपुर (बंगाल नागपुर रेलवे) के आसपास हैं, इन पहाड़ियोंके ये नाम हैं—नाट्ट और बुड्ढा पहाड़। इन खानोंसे निकले लोहेमें से सैकड़े ६० से ६५ अंश तक विशुद्ध लोहा निकल सकता है। अनुमान किया जाता है कि यहां बहुत सा लोहा निकलेगा। ताता कम्पनीकी खानें जो मयूरभंज राज्यमें पायी जाती हैं, बरा-कर कम्पनीकी खानोंसे भी बड़ी हैं। इस राज्यकी लोहेकी खानों-का पता पहले पहल मि० पी० एन० बसुने लगाया था। उसके बाद ताता कम्पनीकी ओरसे भी बहुत कुछ अनुसन्धान हुआ था। मयूरभंज राज्यमें कोई १०।१२ बड़ी बड़ी खानोंका पता लगा है। इनमेंसे गुरुमैशिनी, ओकामपद, और बदम पहाड़की खानें सब-से बड़ी और अच्छी हैं। यहांसे लाखों करोड़ों टन लोहा निकाला जा सकता है। साकची-जमशेदपुरसे गुरुमैशिनी तक एक रेल लाइन खोली गयी है, और वहींसे खनिज लोहा लाकर साकचीके कारखानेमें गलाया जाता है। ताता कम्पनीकी एक और दूसरी खान मध्यप्रदेशके रायपुर और दुर्गके जिलोंमें है।

ये खानें अच्छा लोहा देती हैं, पर इनको अभी काममें नहीं लाया गया है। क्योंकि ये खानें कारखानेसे दूर पड़ती हैं।

इन खानोंके अतिरिक्त जब्बलपुरके जिलेमें भी लोहा पाया जाता है। इसी तरह मैसूर राज्यके मलवल्ली और 'वावावूदम' नामक स्थानोंमें बहुत अधिक लोहा पाया जाता है। पर अभी तक वहां कोई लोहेका कारखाना नहीं खोला गया है।

१६१६ में एक लाख बावन हजार टन कच्चा लोहा खानोंसे आया। कहा जाता है कि देशी कारखानोंमें आजकल यथेष्ट लोहा (Pig Iron) तैयार होने लगा है। ये अब आस्ट्रेलिया तथा सुदूरपूर्व देशों (चीन, जापान) के बाजारोंमें भी अपना माल भेजने लगे हैं और वहां इनकी अच्छी मांग भी होने लगी है। पर अब इस्पात और सामान कल पुर्जे इत्यादि—बनानेकी बड़ी जरूरत है।

मंगनीज—आजकल मंगनीज भारतके कई प्रदेशों—विहार, बम्बई, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, मद्रास और मैसोरमें पाया जाता है। इन सबमेंसे मध्यप्रदेश (बालाघाट, भण्डारा, छिंदवाड़ा, नागपुर, जब्बलपुर) की खानें सबसे अच्छी और बड़ी हैं। बम्बई पंचमहालके इलाकेसे भी बहुत सा मंगनीज निकलता है। मैसोरमें भी यह धातु पाया जाता है। इधर कुछ दिनोंसे विहारके सिंहभूम और गंगपुर नामक स्थानोंसे भी मंगनीज निकलने लगा है।

१८६२ ई० में पहले पहल विजिगापट्टमकी खानोंसे मंगनीज

निकाला गया। उस समय कुल ६७४ टन यह धात निकली थी। बढ़ते बढ़ते १६०० में यह ६२ हजार टन तक पहुंच गयी। उसी समय मध्यप्रदेशकी खानोंका पता लगा। तबसे इसकी बहुत ही तरक्की हुई। फलतः सारी दुनियांमें भारतके मंगनीजका पहला या दूसरा नम्बर रहने लगा। रूसके काकेश प्रान्तसे ही सबसे अधिक मंगनीज आता था, पर अब तो कभी रूसका और कभी भारतका पहला नम्बर रहता है। इसके बाद दक्षिण अमरीकाके ब्राजिलका नम्बर है। १६०४ में भारतकी खानोंसे कुल ड़ेढ़ लाख टन मंगनीज निकला। विलायत और अमरिकामें इसकी बड़ी मांग रहनेके कारण यह रकम बढ़ती ही गयी। १६०७ में नौ लाख टनसे भी अधिक माल निकला। १६०६ में दाम घट जानेके कारण कुछ कम माल निकाला गया, पर १६१० में यह प्रायः पहली अवस्थाको पहुंच गया, परन्तु फिर भी इसकी अवस्था खराब हो गयी और ६।७ लाख टनके अन्दर ही माल निकलने लगा। १६१३ में फिर अधिक माल निकला था, परन्तु लड़ाई छिड़ जानेके कारण बाहरकी रफतनी बहुत कुछ बन्द हो गयी। १६१६ में कुछ मांग बढ़ जानेके कारण प्रायः ६॥ लाख टन माल निकाला गया।

भारतका मंगनीज योरप और अमरिका जाता है। योरपमें विशेषकर इंगलैंड जर्मनी और बेलजियमवाले माल लिया करते थे, और अमरिकामें संयुक्त राज्य। मंगनीजका व्यवहार बहुत से कामोंमें होता है। इससे शीशोंमेंसे हरे रंगको दूर करनेमें

मदद मिलती है, गट्टा पारचाकी चीजें रंगी और पालिशकी जाती हैं। और सबसे अधिक व्यवहार इस्पात तैयार करने में होता है। खानसे निकले मंगनीजको साफ करलेसे फेरो-मंगनीज (Ferro-manganese) नामक एक धातु बन जाता है और उसीकी सहायतासे इस्पात तैयार किया जाता है। इधर दस पांच वर्षोंसे दुनियामें इस्पात अधिक परिमाणमें तैयार होने लगा है, और तबसे मंगनीजकी मांग भी बहुत बढ़ गयी है। इंगलैंड, जर्मनी, बेलजियम और संयुक्तराज्यमें लोहेके कारखाने वाले मंगनीज बड़े चावसे खरीदते थे। परन्तु लड़ाई छिड़ जानेके कारण जर्मनीमें कोई माल नहीं भेजा जाता था। आजकल जो कुछ मंगनीज निकलता है वह सब मित्र राज्योंको ही भेजा जाता है। देशी लोहेके कारखानोंमें भी अब इसका व्यवहार होने लगा है।

इस मंगनीजके इतिहासको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे मालूम हो जायगा कि भारतकी क्या अवस्था है। और इस अवस्थामें अपने खनिज धनको बाजारमें बेचकर भारत कितना नुकसान उठा रहा है। ऊपर कहा गया है कि खानसे निकले हुए मंगनीजको साफ करनेसे फेरोमंगनीज तैयार होता है और वही फिर इस्पात-में व्यवहृत होता है। भारतको इस्पातकी जरूरत है, और यह जरूरत दिन दिन बढ़ती जाती है। १९१३।१४ में हमलोगोंने कोई २५ करोड़ रुपयोंका लोहा-इस्पात बाहरसे मंगाया। भारतमें लोहा भी मिलता है, साथही साथ 'फेरोमंगनीज' तैयार करनेके

लिए खानसे निकला मंगनीज भी मौजूद है। पर तौ भी यहां जैसा चाहिये वैसा इस्पात बनानेका कारखाना नहीं है, इसी कारण खानसे निकला हुआ, अपरिष्कृत मंगनीज हरसाल विदेश भेजना पड़ता है और वहांसे इस्पात खरीदना पड़ता है। इसमें आम-दरफ्तका भाड़ा मुफ्त लग जाता है। और वैसा मंगनीज, जिसमेंसे बढ़िया माल नहीं निकल सकता है, और जिसको विदेशके व्यापारी किराया अधिक लग जाने और असल माल कम निकलनेके ख्यालसे खरीदना लाभदायक नहीं समझते हैं, पड़ा पड़ा भारतमें बरबाद हुआ करता है। यदि देशमें ही इस्पातका कार-खाना होता या फेरोमंगनीज बनाया जाता तो यह खराब मंग-नीज भी बरबाद न होने पाता। पर यह न होनेके कारण भारत-को अपना बहुत सा माल नुकसान करना पड़ता है, दोतरफा किराया देना पड़ता है और इस्पात महंगा खरीदना पड़ता है जिसके कारण देशमें उद्योग धन्धोंकी पूरी तरक्की नहीं हो सकती। क्योंकि आजकल जितने उद्योग धन्धे हैं सब इस्पातसे बने कल पुर्जों और औजारोंपर ही चलते हैं। सरकारी रिपोर्टमें भी इसी आशयके मन्तव्य प्रकट किये गये हैं। * खुशीकी बात है कि उद्योगी ताता कम्पनीने देशमें फेरोमंगनीज बनानेकी ओर ध्यान दिया है। १९१५से एक भट्टी फेरोमंगनीजके लिये अलग करा दी गयी है। उससे कोई तीन महीनोंमें २६५८ टन माल बना।

* Moral and Material Progress of India. (1901-1912) p. 268.

अबरक-पृथ्वीभरमें खानोंसे जितना अबरक निकाला जाता है उसका आधेसे भी अधिक भाग भारतकी खानोंमें मिलता है। यह अबरक विहार, मद्रास, राजपुताना और मैसूरसे आता है। सबसे अधिक परिमाणमें विहारसे ही अबरक निकलता है। लड़ाईके पहले जर्मनी ही अधिक अबरक खरीदता था, इस कारण लड़ाईके बादसे इसका रोजगार मन्दा पड़ गया है। १९१३ में कुल ४३६५० (हंड्रेडवेट) अबरक निकला था। १९१६ में ४३४०० हंड्रेडवेट अबरक निकला।

सीसा, जस्ता, चांदी-बर्मा बाडविन की खानमें सीसा, जस्ता और चांदी एक साथ मिला हुआ पाया जाता है। हाल तक खानोंके ऊपरका ही माल काममें लाया जाता था, परन्तु अब नीचेसे माल निकाला जाता है। इधर दो वर्षोंसे इसकी बडी उन्नति हुई हैं। १९१६ में ६ हजार टन मिश्रित माल खानोंके भीतरसे खोदकर निकाला गया। परन्तु ऊपरका माल जो अबतक काममें लाया जाता था, कम हो रहा है। सब तरहसे १९१६ में प्रायः ७·६ लाख औंस चांदी और १३·८ हजार टन सीसा निकाला गया। लड़ाई छिड़नेके पहले तक जस्ता मिला हुआ खनिज अंश बेलजियम और जर्मनी भेजा जाता था। पर अब वह बन्द है। इधर जापानने कुछ थोड़ा बहुत जस्ता मोल लेना शुरू किया है। अबतक इस जस्तेको परिष्कार करनेका काम हिन्दुस्तानमें जारी नहीं हुआ है। यदि यह हो जाय तो साथ साथ गन्धकका तेजाब भी सस्तेमें बनने लगे।

वर्म्माके अतिरिक्त मद्रास–अनन्तपुरकी खानोंसे चांदी निकलती है। १९१६ में कोई १४०० औंस चांदी यहांसे निकली।

टुंगसटन–नामक धातु एक विशेष प्रकारके इस्पात बनानेमें बड़ा उपयोगी समझा जाता है। वैसा इस्पात अस्त्र, शस्त्र बनानेमें बड़ा काम देता है। दुनियांके टुंगुसटनका चतुर्थांश भारत—वर्म्मामें ही पाया जाता है। लड़ाई छिड़नेके समयतक जर्मनी भारतका आधा माल खरीदता था, और अपने व्यवहारमें लाता था। परन्तु अब तो भारतरक्षा कानूनके अनुसार इसका बिना आज्ञा विदेश भेजना रोक दिया गया है। आजकल सब माल सरकार खरीदती है। यह धातु वर्म्माके टिवाय और मरगुई जिलोंमें पाया जाता है। अब नागपुर—अगरगांव और विहार—सिंहभूममें भी इसका पता लगा है। १९१५ में कुल २६५० टन माल निकला था, परन्तु १९१६ में बढ़कर ३८०० टनके करीब पहुँच गया।

टीन—वर्म्मा-शान राज्य, मरगुई, टिवायके इलाकोंमें टीन पाया जाता है। निम्न वर्म्माके थाटन इलाकेमें भी टीनका पता लगा है, आशा है कि यहांसे बहुतसा टीन भविष्यमें मिलेगा। १९१६ में कोई ७· हजार पौण्ड से भी ऊपरका माल निकला।

शोरा–लड़ाईके बादसे शोरेका रोजगार फिर चमक उठा है। आशा है कि भविष्यमें इसकी और उन्नति होगी। आजकल येह शोरा लङ्का, चीन, मोरिशश, विलायत और संयुक्तराज्य (अमरिका) जाया करता है। यह शोरा युक्तप्रदेश, पंजाब और

विहारमें विशेषकर बनता है। १९१५ में कुल १८ हजार टन माल तैयार हुआ था, परन्तु १९१६ में यह बढ़कर २५ हजार टन हो गया।

नमक—१९१५ में कुल प्रायः १७॥ लाख टन नमक तैयार हुआ था, परन्तु १९१६ में यह घटकर प्रायः १५ लाख टन हो गया। परन्तु पहाड़ोंसे निकले नमकमें कुछ तरक्की हुई। १९१५ में १ लाख ८० हजार टन निकला था, वह १९१६ में बढ़कर १ लाख ८५ हजार टनके करीब हो गया।

इन सब खनिज पदार्थोंके अतिरिक्त भारतकी खानोंमें हीरा, चुन्नी, पुखराज, नीलम इत्यादि कीमती पत्थर भी पाये जाते हैं। कहीं कहीं पिचब्लैंड, युरेनियम इत्यादि उपयोगी धातुओंका भी पता लगा है। परन्तु इन सबका रोजगार वैसा मार्केका नहीं है।

सारांश—भारतके खनिज धनपर दृष्टि डालनेसे पता लगता है कि आजकल उद्योग धन्धोंके खोलनेके लिये जिन धातुओं और अन्य पदार्थोंकी जरूरत होती है वे प्रायः सब थोड़े बहुत भारतमें मिल जाते हैं। आजकल कलकारखानेके जमानेमें लोहा, इस्पात, कोयला, चूना, मंगनीज, पेट्रोलियम इत्यादि द्रव्योंकी बड़ी आवश्यकता है। इनके बिना कोई उद्योग सफल ही नहीं हो सकता। भारतमें ये सब चीजें मिल जाती हैं, अभी तो इनमेंसे बहुतोंका केवल आंशिक उपयोग ही हो रहा है। यदि इनका पूरा पूरा उपयोग कियाजाय तो बहुतसे धन्धे खुल सकेंगे, और वे चीजें जो अभीतक बाहरसे आती हैं यहीं बनने लगेंगी।

भारतमें यथेष्ट खनिज धन है, परन्तु इसका उचित उपयोग नहीं हो रहा है। आजकल जो खनिज व्यापार है वह केवल इतना ही भर है कि धातुओंको खानोंसे निकालें, उन्हें रेल, स्टीमर पर चढ़ाकर विदेश भेज देवें, फिर उन्हींको परिष्कृत रूपमें व्यवहारोपयोगी बनाकर विदेशसे लौटा लावें। इस प्रक्रियासे भारतका कितना नुकसान हो रहा है उसका कुछ कुछ परिचय पहले दिया जा चुका है। आजकल जैसी हालत है वह कोई स्वाभाविक नहीं है। उचित तो यह होगा कि भारतकी खानोंसे निकले धातुओंको साफकर उनसे अपनी जरूरतकी चीजोंको यहीं बना लेवें। इससे एक और लाभ यह होगा कि वे पदार्थ जो आजकल बेकाम समझे जाते हैं वे भी उस समय काममें आने लगेंगे। तथा तरह तरहके उद्योग धन्धे भारतमें खुलने लगेंगे। इधर कुछ दिनोंसे अधिक खनिज पदार्थ निकाले जा रहे हैं, परन्तु यह एक उद्योग धन्धेवाले देशके लिये कुछ भी नहीं है। इंगलैंड, जर्मनी और संयुक्तराज्य (अमरिका) के खनिज व्यापारके सामने भारतका खनिज व्यापार कहां पड़ा रह जायगा उसका पूरा आभास नीचे लिखे विवरणसे मिल जायगा।

जब कि १९११ में युनाइटेड किंगडम (इंगलैंड, स्काटलैंड और आयरलैंड) ने २७'२ करोड़ टन, संयुक्तराज्य (अमरिका) ने ४४'३ करोड़ टन और जर्मनीने २३'१ करोड़ टन कोयला अपनी खानोंसे निकाला था उस समय भारतने कुल १'२७१ करोड़ टन कोयला निकाला, यद्यपि भारत इन देशोंसे बड़ा है।

उसी तरह जब कि १९१२ में इंगलैंडने ८८ लाख टन, संयुक्त-राज्य (अमरिका) ने २·९७ करोड़ टन और जर्मनीने १·७६ करोड़ टन लोहा (पिग आयरन) बनाया था उस समय भारतमें चार लाख टनसे भी कम खानोंसे अपरिष्कृत कच्चा लोहा निकला था, जिसमेंसे अधिकसे अधिक २।० लाख टन पिग आयरन बन सकता था। अब आप समझ गये होंगे कि खानोंसे निकले मालकी तरक्की होनेपर भी बढ़े चढ़े उद्योग धन्धेवाले देशोंकी तुलनामें भारतकी क्या अवस्था है।

पिछले दो वर्षों में भारतकी खानोंसे निकले कुछ प्रधान धातुओंका परिमाण—

धातु	३१ दिसम्बर, १९१७	३१ दिसम्बर, १९१८
संगनीज टन	४१५३५७	४९७०५२
ताम्बा "	२०१०८	३६१९
अबरख हण्ड्रेडवेट	३५८९६	५१५७२
टुंगसंटन "	७९३१२	७२१८९
सोना औंस	२२९९१	१९९१६

पांचवां अध्याय

मेहनत

मेहनत और सम्पत्तिकी उत्पत्ति—मेहनत किसे कहते हैं? भारतवासियोंके रोजगारपेशे-ग्रामसंस्थाकी आर्थिकव्यवस्था—ग्रामसंस्थाकी वर्तमान अवस्था—शहर या गांवमें रहनेकी आदत-भारतके श्रमजीवियोंकी कमजोरियां—देशी कारीगरोंकी वर्त्तमान अवस्था—जाति भेदका श्रमजीवियोंपर प्रभाव—जाति बन्धनपर समय और शिक्षाका प्रभाव-देशी और विलायती कारीगरोंका मिलान-क्या देशीकारीगर सचमुच निकम्मे है?—श्रमजीवियोंकी उपयोगिता बढानेके उपाय—उनके वासस्थान, स्वास्थ्य तथा चरित्र सुधारका प्रबन्ध—इनके रहनेका वर्त्तमान प्रबन्ध—कुलियोंका मकान कैसा हो?—स्वास्थ्य तथा चरित्र सम्बन्धी सुधार—व्यावहारिक शिक्षाकी भूत और वर्तमान अवस्था—औद्योगिक शिक्षा कैसी हो? मजदूरोंकी कमी और उसकी दशा—मजदूरोंका संगठन—सारांश।

मेहनत और सम्पत्तिकी उत्पत्ति—"सम्पत्तिकी उत्पत्तिके लिये जिस तरह जमीनकी जरूरत है उसी तरह श्रम अर्थात् मेहनतकी भी जरूरत है। यदि श्रम न किया जाय तो सम्पत्तिकी उत्पत्तिही न हो। विनिमयसाध्य होना ही सम्पत्तिका प्रधान

लक्षण है। पर विना श्रमके पदार्थोंमें विनियमसाध्यता नहीं आती। यह गुण श्रमके ही संयोगसे पैदा होता है। जंगलोंमें सैकड़ों वनस्पतियां आप ही आप उगती हैं। वे वड़े वड़े रोग दूर करनेमें दवाका काम देती हैं, अर्थात् वहुत उपयोगी होती हैं, तथापि जंगलमें उनकी कुछ भी कीमत नहीं। वही जड़ी वूटियां जव शहरों और वाजारोंमें परिश्रमपूर्वक लाई जाती हैं तव विनिमयसाध्य होकर सम्पत्ति हो जाती हैं। इसका एक मात्र कारण श्रम है।"*

ईश्वरने तो मनुष्योंके लिये वहुतसी चीज़ें पैदा की हैं। नदी नालोंमें जल भरा पड़ा है, खानोंमें वहुतसा द्रव्य गड़ा है। जंगलमें वड़े कामकी लकड़ियां उग रही हैं; ईश्वरने यह सव कुछ हमलोगोंके लिये कर रखा है। पर उनको व्यवहारमें लाना वा व्यवहारोपयोगी वनाना मनुष्योंका काम है। नदी नालोंसे जल लाकर सूखी जमीनको तर करना होगा तव उसमें अन्न पैदा होगा; खानोंसे खनिज द्रव्योंको निकालना होगा तव सोने चांदीके गहने तैयार होंगे। जंगलकी लकड़ियोंको काटना होगा तव कहीं वे कामकी होंगी। ये सव काम मेहनत (श्रम) से ही हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसीसे कहा जाता है कि धनोत्पादनमें मेहनत भी एक अनिवार्य कारण है।

मेहनत किसे कहते हैं—सम्पत्ति शास्त्रवालोंने श्रमके कई लक्षण वताये हैं। पर सवका मुख्य आशय एक ही है।

---

* द्विवेदी—सम्पत्ति शास्त्र पृष्ठ २६।२७

जितने जड़ पदार्थ हैं श्रम उनको गति देता है। "उदाहरणके लिये लकड़ीके तख्तेको लीजिये। वह किस तरह बना है? पेड़ काटनेमें कुल्हाड़ीको गति देनेसे और पेड़ गिर जानेपर आरेको गति देकर उसके तनेके भीतर चलानेसे। ....इस गति देने हीका नाम श्रम है।"

कभी कभी आलसीकी तरह बैठे बैठे भी दुःख प्रतीत होता है। उस समय परिश्रम करनेसे एक प्रकारका विचित्र आनन्द बोध होता है। इस आनन्दके अतिरिक्त भी बहुत सा लाभ परिश्रमसे होता है। जो शारीरिक वा मानसिक श्रम (हरकत)—सिर्फ इसी आलस दूर करनेके ख्यालसे हो, या इसके अतिरिक्त और भी किसी दूसरे लाभके ख्यालसे हो;—किया जाता है उसे सम्पत्ति शास्त्रमें परिश्रम कहते हैं।

श्रम, धनोत्पादनका एक साधन है। पर कुछ श्रम ऐसे भी हैं जो उपयोगी होनेपर भी प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रीतिसे कोई स्थायी सम्पत्ति नहीं पैदा करते। उदाहरणतः बढ़ई, लुहार इत्यादिका श्रम उत्पादक श्रम है, यह श्रम लगातार सम्पत्ति उत्पन्न करता है। पर आतशबाजी बनानेवालेका श्रम वैसा उत्पादक नहीं। इससे लगातार सम्पत्ति पैदा नहीं होती। इसी तरह क्षणिक सुख देनेवाली चीजोंको बनानेका श्रम अनुत्पादक श्रम कहा जा सकता है। परन्तु यह ठीक ठीक कहना कि कौनसा श्रम अनुत्पादक है और कौन उत्पादक, कौन सा पदार्थ आवश्यक है और कौन सा क्षणिक सुख देने

वाला है, कठिन है। इतना अवश्य निश्चित है कि देशका कल्याण वैसे श्रमसे नहीं होता जो श्रमके ऐसे ऐश व आराम के सामान तैयार करनेमें खर्च होता है।

यह श्रम सर्वदा एक सा उत्पादक नहीं होता। कभी कम और कभी अधिक। कोई तो स्वभावसे ही अधिक परिश्रमी होते हैं, कोई खाने पीने, हवा पानीके कारण; कोई मिताचरण के कारण—शराब, गांजा भांग नहीं पीनेके कारण, और कोई अच्छी शिक्षाके कारण अधिक श्रम करते हैं।

श्रम जीवियोंके जिन गुणों वा अवगुणोंका यहां उल्लेख हुआ है, उनमेंसे कुछ तो स्वाभाविक हैं और कुछ अस्वाभाविक। स्वाभाविक अवगुण दूर नहीं हो सकते, परन्तु अस्वाभाविक गुण शिक्षाके प्रसादसे दूर हो सकते हैं। श्रमको उत्पादिका शक्तिसे सम्बन्ध रखनेवाली एक और दूसरी बात है जिसे सम्पत्तिशास्त्रमें 'श्रम विभाग' कहते हैं। इस श्रमविभागसे धनोत्पादनमें बहुत बड़ी सहायता मिलती है। इससे कारी-गरोंको काम सीखनेमें आसानी होती है, उनकी कार्यदक्षता बढ़ती है। इसी श्रमविभागने आरम्भ कालमें आर्योंमें श्रेणी बनाई थी, जो फिर जाति विभागमें परिणत हो गयी।

भारतवासियोंके रोजगार और पेशे—१९११ में जो मनुष्यगणना हुई थी उसके अनुसार ब्रिटिशभारत तथा देशी राज्यों, बर्मा, बलुचिस्तानके अधिवासियोंके रोजगार और पेशेका

नीचे लिखे अनुसार लेखा लगाया गया था। इससे यह मालूम होगा कि कितने आदमी कैसे पेशेमें लगे हुए थे।

किस धन्धेमें कितने आदमी लगे हुए हैं उसमें से कुछका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

ब्रिटिश भारत, देशीराज्यों, बर्म्मा, अदन, अंडमन, निकोवार द्वीपपुंज इत्यादि की जन संख्या	३१'५१ करोड़
जिनके पेशेका पता लगाया जा सका ...	३१'३४ ,,
जिनके पेशेका पता नहीं लगा	०'१६ ,,
खेतीवाड़ी इत्यादि कृषिकर्ममें	२२'७० ,,
उद्योग धन्धोंमें	३'५३ ,,
माल ढालने, उतारने, पहुंचानेके पेशोंमें	०'५० ,,
व्यापार वाणिज्यमें	१'७८ ,,
देशरक्षा और शासन कार्यमें	०'५० ,,
अमीरी पेशे और ललित कलामें	०'५३ ,,
घरेलू कामोंमें	०'४६ ,,
भिखमंगे, आवारे, रंडियां इत्यादि ...	०'३३ ,,

इससे स्पष्ट है कि सबसे अधिक संख्या कृषिसे सम्बन्ध रखनेवाले लोगोंकी है। ये सैकड़े ७२ से भी अधिक हैं। इनमें खानोंमें काम करनेवालोंकी भी गिनती की गयी है, ये गिनतीमें कोई सवा पांच लाख हैं। शेष सैकड़े २८में उद्योग धन्धे, वनिज व्यापार, पेशे रोजगार, सरकारी नौकरी चाकरी, सूदखोरी

वा बेकारीवाले सब किस्मके लोग शामिल हैं। इसी एक बातसे पता लगेगा कि भारतमें कृषिकी कैसी प्रधानता है, यहांके कितने लोग प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूपसे कृषिपर निर्भर करते हैं; एक साल अतिवृष्टि वा अनावृष्टिके कारण देशमें अकाल पड़नेसे कितने लोगोंको प्रत्यक्ष रूपसे कष्ट होगा, और कृषि शिक्षा के प्रचारसे तथा कृषिकी उन्नतिसे भारतके कितने बड़े अंशकी उन्नति होनेकी संभावना है। इसीसे यह भी जान पड़ेगा कि देशमें कृषिसे सम्बन्ध रखनेवाले रोजगारोंको फैलानेकी कितनी गुंजाइश है। आजकल भी भारतमें अधिकांशलोग देहातोंमें ही रहते हैं, शहरोंमें नहीं; यहां शहरोंकी संख्या बहुत कम है और गांवोंकी बहुत ज्यादा—इसका भी कारण कृषिकी प्रधानता ही है। भारतमें सैकड़े ९.५ आदमी शहरोंमें रहते हैं, और शेष कुल देहातोंमें। अब जरा इसकी तुलना इंगलैंड जैसे देशसे कीजिये, जहां उद्योग धन्धोंकी प्रधानता है। इंगलैंडमें सैकड़े ७८.१ और जर्मनीमें सैकड़े ४५.६ नरनारी शहरोंमें पाये जाते हैं।

भारतमें सैकड़े ११.२७ उद्योग धन्धोंमें, और सैकड़े ५.६ व्यापारमें लगे हुए हैं। और कोइ तैंतीस लाखसे भी अधिक स्त्री पुरुष भीख मांगने, साधु फकीरी करने या वेश्यावृत्तिमें लगे हुए हैं! इसीके साथ साथ एक धनी उद्योगी देशपर भी नजर डालिये तो अपना पूरा पूरा हाल मालूम हो जायगा इंगलैंडमें १९०१ की मनुष्यगणनाके अनुसार प्रत्येक १०० श्रमजीवियोंमेंसे ५८ उद्योग धन्धोंमें, १४ घरेलू कामोंमें, १३ व्यापारमें और कुल ८

कृषिमें लगे हुए थे। तभी तो इंगलैंडके उद्योग धन्धों और व्यापारने सारी दुनियाको छा लिया है !

ग्रामसंस्थाकी आर्थिक व्यवस्था—भारतवर्ष गांवोंका बना देश है।* यहांकी जितनी संस्थाएं हैं, जितने प्रबन्ध हैं सब इसी ग्रामसंस्थापर निर्भर है। और यह ग्रामसंस्था एक ऐसी चीज है कि जिसपर समयका प्रभाव बहुत कम पड़ा है; वेदोंके समयमें गांवोंकी जैसी कुछ अवस्था थी, आजकल भी बहुत जगह प्रायः वैसी ही व्यवस्था और प्रबन्ध मिलेंगे। यही ग्रामसंस्था मानो भारतके सामाजिक जीवनका हृदयपिण्ड है, यहां भारतका प्राण बसता है, जब तक इस पिण्डमें कोई बीमारी नहीं पहुंची थी तबतक समाजके प्रबन्धोंमें कोई गड़बड़ नहीं हुई

---

* १९११ में ब्रिटिश भारतमें २७५ जिले, १४५२ कसबे और ५३७३५७ बस्तियां थीं। उसी तरह देशी राज्योंमें ७०१ कसबे और १८२९८५ बस्तियां थीं। कुल मिलाकर २१५३ कसबे और ७२०३४२ बस्तियां हुईं। सम्पूर्ण भारतमें २९७४८२२८ स्त्रीपुरुष शहरोंमें और २८५४०८१६८ देहातोंमें रहते थे।

Statistical Abstract

1901-2—1911-12

भारतकी आबादीका सैकड़े ९·५ शहरों में (जहां ५ हजारसे ज्यादाकी बस्ती है) पाया जाता है, परन्तु इंगलैंडमें सैकड़े ७८·१ और जर्मनीमें सैकड़े ४५·६। भारतमें शहरोंमें रहनेवालोंमें सबसे अधिक लोग बम्बईमें पाये जाते हैं, जहां सैकड़े १८ आदमी शहरोंमें रहते हैं। उसी तरह पूर्वोत्तर प्रान्तोंमें सबसे अधिक देहाती पाये जाते हैं, आसाममें कुल सैकड़े २ आदमी शहरोंमें मिलेंगे।

Indian Year Book 1917 p. 370

थी। बाहरसे आक्रमणके बाद आक्रमण होते रहे, पर उनका प्रभाव इन गांवोंपर कुछ भी न पड़ा। कुछ थोड़े समयके लिये भले ही गांवका प्रबन्ध गड़बड़ा जाय, समूचा गांवका गांव जला दिया जाय वा उजाड़ दिया जाय, या गांवका गांव आफ-तसे बचनेके लिये भाग जाय। पर ज्योंही इन अस्वाभाविक वा आकस्मातिक घटनाओंका अन्त हुआ कि पुरानी चाल चल पड़ी; फिर गांव उसी तरह बस गये, सब लोग, सब परिवार अपने अपने स्थानपर आ जमे और अपना अपना व्यवसाय करने लगे। थोड़े ही दिनोंमें लोग भूलसे गये कि कोई अस्वाभाविक घटना भी कभी हुई थी। ये घटनायें मानो पानीपर पड़े हुए एक आघातकी तरह केवल क्षणिक प्रभाव डाल सकती थीं। उनका स्थायी प्रभाव कभी नहीं पड़ सकता था।

ये ग्रामसंस्थायें सब अंगोंसे पूरी थीं। गांवोंकी शासन, समाज और अर्थ सम्बन्धी व्यवस्थाओंपर इनका पूरा अधिकार था। सचमुचमें ये संस्थाएं छोटे मोटे राष्ट्रोंसे मुकाबला करती थीं। परन्तु धीरे धीरे इनकी ये विशेषतायें जा रही हैं। कम्पनीने जब राज्य आरम्भ किया तो इन ग्रामसंस्थाओंका महत्व बिलकुल नहीं समझा। गांवोंसे शासन सम्बन्धी अधिकार ले लिये गये। उनकी जगहपर जिला, सबडिविजन इत्यादि संस्थाएं कायम की गयीं। पर यह विभाजन बिलकुल ही अस्वा-भाविक था। जिस तरह केवल ईंटोंका ढेर कर देनेसे मकान नहीं बन जाता, उसी तरह इन गांवोंको एक जगह एक जिलेमें

इकट्ठाकर देनेसे शासनरूपी मकान न बन सका। इस प्रबन्धमें बहुत सी त्रुटियां रह गयीं। इसने सबसे बड़ा नुकसान तो यह पहुंचाया कि प्रत्येक भारतवासीको शासन सम्बन्धी कार्योंसे बहुत दूर ले जाकर फेंक दिया। अपने अपने गांवोंकी व्यवस्था करते रहनेसे उन लोगोंमें जो शक्ति बनी रहती थी वह शक्ति अनुपयोगसे—बिना इस्तेमालके—जाती रही। इससे दोनों पक्षकी हानि हुई। भारतवासियोंकी मानुषिक योग्यतामें तो कमी पड़ ही गयी; शासकोंको भी शासन सम्बन्धी कठिनाइयां झेलनी पड़ीं। विशेषकर शान्तिरक्षामें इस कमीका और भी विशद रूपसे अनुभव हुआ है। लाट कर्जनके समय जो पुलिस कमीशन बैठा था उसने इस ग्रामसंस्थासे शासनमें जो सहायता मिलती थी उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। उसी समय शान्ति-रक्षाके लिये—पुलिसके कामोंको भलीभांति चलानेके लिये—ग्राम-संस्थाओंके पुनरुद्धारकी सलाह दी गयी थी। हालमें एक सिविलियन लेखकने भी ग्रामसंस्थाओंके लिये दुःख प्रकट किया है।*

सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओंमें भी गड़बड़ी पड़ गयी है। अब समाजमें कुछ जान बाकी नहीं है। उसका बन्धन ढीला पड़ गया है। लोग मनमाना व्यवहार कर सकते हैं। उच्छृङ्खलताका अर्थ व्यक्तिगत स्वाधीनता मान लिया गया है। आर्थिक व्यवस्थाओंकी भी कुछ वैसी ही अवस्था हो रही है।

* Rungapore To-day by J. N. Gupta, I. C. S. देखो

पुराने जमानेमें सरल गार्हस्थ जीवनके लिये जिन वस्तुओंकी जरूरत होती थी गांवोंका समाज उन वस्तुओंको आप ही आप बना लेता था ; उसे दूसरे गांवों या शहरोंसे बहुत ही कम सहायता लेनी पड़ती थी। गांवोंकी "नौसाख पंचायत" सब आवश्यक द्रव्य जुटा देती थी। गृहस्थ अपने खाद्यद्रव्योंको तो आप ही खेतोंमें उपजा लिया करते थे, शेष द्रव्य व्यवसायी बनाया करते थे। बढ़ई, लुहार, हल फाल कुदाली फावड़े बनाया करते थे। चमार खाल 'कमाता' था और जूते बनाकर दिया करता था। 'कपड़ा' बुनता था जुलाहा उसीतरह नाई धोबी कुम्हार इत्यादि भी अपने २ पेशेसे गांवोंकी सेवा करते थे। दुसाध बहेलिया गांवोंकी पहराचौकी करता था। नोनियार नमक बनाता था, बनिया रुपया कर्ज लगाता था और सौदा भी बेचता था। जितने पेशेवर थे सब अपनी अपनी जगहपर मौजूद थे, पुश्त दर पुश्त अपना काम करते जाते थे। उन्हें इस बातकी फिक्र नहीं थी कि गाहक कहांसे आवेंगे, चीज खरीदनेवाला कौन होगा। क्योंकि जिस तरह चीजोंका बनाना इन पेशेवालोंका काम था उसी तरह उनकी बनाई चीजोंका खरीदना भी गांववालोंका धर्म था। न सहज ही में कोई नया पेशेवाला आकर वहां बस सकता था और न गांववालोंहीको दूसरी जगहसे चीजें मंगानेकी चाह रहती थी। नये नये फैशन और तर्जका जमाना ही नहीं था कि गांववाले फैशनके लिये दूकान, बाजार छान डालें।

जो चीज गांवमें नहीं मिल सकती थी वह हाट या पैंठके समय मिल जाती थी। ऐसी हाट सप्ताहमें एक या दो वार लगती थी, और वहीं दो चार वस्तियोंके लोग इकट्ठे होकर मनमानी खरीदविक्री किया करते थे। फिर तीर्थोंपर सालमें एक दो वार मेले लगते थे, जहां दूर दूरके व्यापारी और व्यवसायी इकट्ठे होकर खरीद विक्री करते थे। अब भी हरिहरक्षेत्र, वटेश्वरनाथ इत्यादि के मेले प्रसिद्ध हैं। इन वड़े वड़े मेलों की अब उतनी आवश्यकता नहीं रही, वाजारों और रेलोंसे उनकी कमी पूरी हो जाती है। परन्तु हाटोंकी अब भी देहातोंमें वड़ी जरूरत है, और उन्हीं हाटोंसे वहां की जरूरत पूरी होती है।

ग्रामसंस्थाकी वर्त्तमान अवस्था—अब यह देखना चाहिये कि इस कल कारखाने और रेल स्टीमरके जमानेमें गावों-की आर्थिक व्यवस्थापर क्या असर पड़ा है। नई शिक्षाके कारण व्यक्तिगत स्वाधीनताकी ओर लोग अधिक ध्यान देरहे हैं, लोग गांवोंमें रहकर अपनी पुरानी पुश्तैनी चालपर चलना और पुराना रोजगार करना निन्दनीय समझने लगे हैं। ये भाव केवल छोटी जातिवालों या मामूली पेशेवालोंही में नहीं पाये जाते वरन् छोटे वड़े सव किसीमें ये लक्षण दीख पड़ते हैं। ब्राह्मणसन्तान अब अपनी पुरानी चाल छोड़ रही है, जिनके यहां पुश्तोंसे पण्डिताई या पुरोहितीका रोजगार चला आता है उनके यहांके वच्चे अब अंग्रेजी पढ़कर क्लर्कीकी तलाशमें आकाश पाताल एक किये देते हैं। क्षत्रीका लड़का भी गांवसे वाहर जाकर

नौकरी खोजता है, वैश्यके अंग्रेजी पढ़े लड़केको दूकानपर बैठते और पैसे अधेलेका नमक बेचते हुए शरम आती है। अब बढ़ई, लोहारके पास भी यदि चार पैसे हुए तो झट अपने लड़केको मिडिल वा हाईस्कूलमें बैठानेका यत्न करता है और आशा करता है कि उसका लड़का पढ़ लिखकर किसी आफिसका बाबू बन जाय। बंगालमें तो धोबी चमारके लड़के भी पढ़ते हुए और नौकरियां खोजते हुए पाये जाते हैं। इसमें इतना तो जरूर ही अच्छा है कि लोगोंमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके भाव आ रहे हैं, तरक्कीके ख्यालात पैदा होने लगे हैं, तथा बन्धन तोड़नेकी आत्मशक्ति आने लगी है। परन्तु इसके साथ साथ दो एक बातोंकी कमी रह गयी है, जिनकी बड़ी आवश्यकता है और जिसके नहीं होनेसे समाज वा देशकी किसी तरह भी भलाई नहीं हो सकती। जातिके कठिन बन्धनमें सदा सर्वदा, पुश्त दरपुश्त बना किसी प्रकारके अदल बदल किये हुए, बिना किसी प्रकारकी उन्नतिकी आशा रखते हुए बंधे रहना उचित नहीं। प्रत्येक व्यक्तिको अपनी योग्यता, क्षमता और शिक्षाके अनुसार अपनी जाति और श्रेणी गढ़ लेनेका स्वतन्त्र अधिकार है। परन्तु इसके साथ ही साथ समाजको भी अधिकार है कि वह अपने अंग-प्रत्यंगको पूरा पूरा बनाये रखे, कहीं किसी अंगमें किसी प्रकारकी कमी नहीं होने दे। कहनेका मतलब यह है कि समाजको आवश्यकताओंके लिये भिन्न भिन्न अंगों, भिन्न भिन्न श्रेणिओंकी जरूरत है। समाजके लिये पण्डितकी वैसी ही दरकार है

जैसा कि आवश्यकता विशेषके लिये मोची वा चमार। यदि शासकों तथा रक्षकोंकी जरूरत है तो वैसे ही कृषकों, गोपालकोंकी भी आवश्यकता है। इसमें कोई छोटा बड़ा नहीं है, सब बराबर हैं। सब समाजके अंग हैं। जिस तरह आप यह नहीं कह सकते कि शरीरमें आंखें अच्छी और पैर खराब, हाथ अच्छे और अंगुलियां बेकाम, उसी तरह समाजमें चमार खराब और ब्राह्मण अच्छे नहीं कहे जा सकते। परन्तु इसके विरुद्ध लोग कुछ व्यवसायोंको नीचा देखने लगें, और उस ओर न जाकर सबके सब एक ही व्यवसायकी ओर दौड़ें तो समाजपर बहुत बुरा असर पड़ेगा। कुछ अंग तो बहुत ही पुष्ट हुए रहेंगे और कुछ अकालपीड़ितोंकी तरह क्षीणहीन बन जायंगे। वैसी अवस्थामें समाजको उचित होगा कि यत्नपूर्वक सब अंगोंको पूरा बनाये रखे। आजकल नई शिक्षाके प्रभावसे यह सामाजिक व्यवस्था अवश्य ही गड़बड़ा रही है। व्यक्तिगत स्वाधीनताके भावोंका उदय होना बहुत अच्छा है, सब किसीका अपनी योग्यताके अनुसार मनमानी तरक्की करनेका प्रयत्न करना अच्छा है। पर इसके साथ साथ व्यक्तियोंको अपने समाजको—जिसका वे अंग मात्र हैं—नहीं भूलना चाहिये। पर हमलोग आजकल समाजके अंग प्रत्यंगों के सम्बन्धको तोड़ से रहे हैं। अपने पुराने व्यवसायको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं; उसे छोड़ सब कोई एक ही ओर झुकते हैं। पढ़े लिखे यह कभी नहीं चाहते कि स्कूल कालेजोंसे लौटकर अपने पैतृक व्यवसायमें लग जायं और उसीके द्वारा

अपनी और अपने समाजकी तरक्की करें। बढ़ईका "मैट्रिकुलेशन फेल" लड़का लौटकर गांव या शहरोंमें लकड़ी काटनेका कभी ख्याल नहीं करता। उसे यदि १५) महीनेपर एक छोटीसी नौकरी–क्लर्की या मास्टरी—मिल जाय तो झट मंजूर कर लेगा। वह भूखों मरेगा, रोज अखबारोंके विज्ञापनोंकी देख देख दरखास्तें भेजा करेगा, पर तौभी उसे वसूला पकड़ते हुए शरम आयेगी। सम्भव है उसे १५) महीनेकी नौकरी मिल जाय और वह क्लर्क बन जाय पर उसके साथ साथ उसका हजारों वर्षों वाला हुनर जो उसकी नसोंमें भरा था, जाता रहेगा और समाजका एक अमूल्य धन नष्ट हो जायगा।

यही अवस्था हर किसीकी है। इसका एक कारण तो यह है कि लोगोंमें नई रोशनीके प्रभावसे एक ऐसा भाव सा उत्पन्न हो गया है जिससे वे देशकी पुरानी चीजोंको निकम्मी, भद्दी और बेकाम तथा असभ्यताके नमूने समझने लगे हैं। दूसरी बात यह है कि स्कूल कालेजोंमें पढ़ते हुए लड़कोंके दिमाग बहुत ऊंचे हो जाते हैं, उनके मनमें बड़ी बड़ी आशायें उठती रहती हैं। पर जब पढ़ाई खतमकर लौटते हैं तो देखते क्या हैं कि स्कूली दुनिया और असल दुनियांमें जमीन आसमानका फर्क है। बस बेचारों-को जन्मभर भाग्यको कोसते कोसते दिन काटना पड़ता है। जब वह पढ़ता रहता है तब उसे इस बातकी शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिये कि हाथ पैरसे परिश्रम करनेमें किसी प्रकारकी लज्जा नहीं है, जो अपनी अक्लकी कमाई खाता है और जो अपने

हाथके परिश्रमसे रोटी पैदा करता है दोनों ही आदरणीय हैं, दोनों ही समाजके आवश्यक अंग हैं। इस भावका हर किसीके दिलमें स्थान जमाना जरूरी है। पर इसी बातकी भारतमें बड़ी कमी है। अब भी हमारे समाजमें वह दिन आना बाकी है जब मजदूरी करनेवाले और वकालत पेशेवालेकी बराबर इज्जत होगी; जब कीरहार्डोंकी तरह मजदूरोंकी इज़्ज़त एक बड़ेसे बड़े जमीन्दारके बराबर होगी।

इन परिवर्त्तित विचारोंका परिणाम क्या हो रहा है? गांवोंकी सामाजिक अवस्थामें अन्तर पड़ गया है। उसकी सम्पूर्णता जाती रही है, लोग अपना पुश्तैनी व्यवसाय छोड़ या तो शहरोंमें जाकर बस जाते हैं या नौकरी करते हैं। और अवसर मिलनेपर गांवोंपर लौट आते हैं। साम्पत्तिक व्यवस्था भी बदल गयी है। अब तो गांवोंके बढ़ई, लुहार, सुनार, चमार तेली, जुलाहे इत्यादि पेशेवालोंकी रोजी प्रायः जाती रही है। कल कारखानों और रेल स्टीमरोंके प्रभावसे सारी दुनियांका बाजार एक हो गया है। पुराने जमानेमें हर गांवमें, हर इलाकेमें प्रायः सब प्रकारके मामूली पेशेके लोग पाये जाते थे। गांव वा इलाकेका बना कपड़ा गांववालोंको मिल जाता था, वहींके मोचियोंका बनाया देशी जूता लोग पहनते थे, वहींके नोनियोंका बनाया नमक, तेलियोंका पेरा हुआ तेल लोग व्यवहार करते थे, इसी तरह प्रत्येक गांव वा इलाका जीवनकी पूरी पूरी सामग्री तैयार कर लिया करता था और हाट बाजारमें जा बेचकर एक दूसरेके पास अभिलषित द्रव्य पहुंचा

देता था। पर अब क्या होता है? हाथोंकी जगहपर कलपुर्जोंसे काम लिया जाता है, दस बीस जुलाहोंका काम एक कलका करघा करता है। एक ही कारखानेसे लाखों आदमियोंके बरतने लायक सामान तैयार होकर निकलता है। फिर वही सामान रेल स्टीमरके जरिये दूर दूरतक भेज दिया जाता है। अब जुलाहोंकी जरूरत नहीं रही, हजार दसहजार बस्तियोंके लायक कपड़ा अब बम्बई वा अहमदाबादकी सिर्फ एक मिलमें बन जाता है। जहां जिस प्रकारके व्यवसायका सुभीता मिला है वहीं उस व्यवसायके सैकड़ों कारखाने खुल गये हैं; जैसे बम्बई, अहमदाबाद, मञ्चेस्टर वा लिवरपुलमें सूतके कारखाने। रेल स्टीमरोंसे यह माल दुनियाके कोने कोनेमें पहुंचाया जाता है। इसीके प्रभावसे आज भारतके गली कूचोंमें, गांव गंवईमें भी सात समुद्रपारका बना माल दीख पड़ने लगा है। जहां जाओ वहीं विदेशी कपड़े, दियासलाई, नमक, किरोसिन तेल, चुरुट नजर आवेंगे। गांव रेलके किनारे हो वा दूर, कुछ न कुछ कलोंका बना माल अवश्य मिलेगा।

ज्यों ज्यों गांवोंके पेशेवरोंका रोजगार उनके हाथोंसे छिनता गया त्यों त्यों गांवोंकी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाका परिवर्त्तन होता गया। जब अपनी रोजीसे पेट नहीं भरता तब लाचार हो लोग या तो गांव छोड़कर शहरोंमें नौकरी तलाश करते हैं या वहीं गांवमें रहकर कुछ पुश्तैनी व्यवसायसे और कुछ खेतीसे जीवन निर्वाह करते हैं। पर क्या उस व्यवसायीकी, जो

आप अपना सामान खरीदता था, अपने हुनरसे माल तैयारकर अपने गाहकोंके हाथ बेचता और जो कुछ थोड़ा बहुत नफा होता था सब बालबच्चे मिल सुख - स्वच्छन्दतासे खातापीता था, एक मजदूरेसे तुलना की जा सकती है, जो मजदूरीके लिये काम करता है, चाहे वह काम उसके मनमाफिक हो या न हो और जिसे उस कामके नफे नुकसानसे कोई भी सरोकार नहीं है ? नहीं; दोनोंकी कभी तुलना नहीं हो सकती।

नई व्यवस्थाने गांवोंको सम्पूर्णता नष्ट कर दी है। व्यवसायियोंकी अवस्था हीनतर कर दी है। उन्हें या तो अपना पुश्तोंका हासिल किया हुनर मिट्टीमें मिला देना पड़ा है या खेती या मजदूरीमें लग जाना पड़ा है। कहीं कहीं उन्हें देश छोड़ शर्त्तबन्धे कुलियोंका काम भी करना पड़ा है। इन कारणोंसे इन लोगोंके चरित्रपर, स्वभाव और आत्माभिमानपर, कैसा बुरा असर पड़ता है उसका वही अन्दाज कर सकता है जिसे दरिद्रताके दिन देखने पड़े हैं और अपने पेटके लिये अपना जीवन बेचना पड़ा है। इसमें क्या ताज्जुब है कि ये अभागे सद्गुणोंसे वंचित रहें, इनमें सफाईके ख्यालात न हों, उच्चाभिलाषकी कमी हो और फिर निराश, नाउम्मेद होकर नशेबाज, शराबखोर बन जायं, जुआरी बन जायं, निकम्मे, कमजोर और रोगी बच्चोंका अनगिनत ढेर लगा दें ! ये तो ऐसी अवस्थाके स्वाभाविक फल ही होंगे।

शहर या गांवोंमें रहनेकी आदत—भारतमें कहीं तो घनी वस्ती है और कहीं वीरान है। सम्पूर्ण भारतवर्षमें फी

वर्ग मीलपर औसत १७५ मनुष्य पड़ेंगे, जो योरपके प्रायः बराबर है। खास ब्रिटिश भारतका औसत २२३ और देशी राज्योंका १०० फी वर्गमील है। ब्रिटिश भारतके किसी किसी प्रान्तमें तो फी वर्गमील ५०० आदमी भी पाये जाते हैं। भारत कृषिप्रधान देश है इसलिये भूमिकी उर्वरा शक्तिके अनुसार ही बस्तियां घनी वा छीदी होती गयी हैं। जहां खेतीवाड़ीका अच्छा सुयोग है वहां एक एक इंच आवाद कर दिया गया है। वहां बहुत घनी बस्तियां बस गयी हैं। बंगाल, बिहार और युक्तप्रान्तके पुर्वीय भागकी यह अवस्था है। इसके बाद दक्षिण भारतके समुद्री किनारोंकी भी वही हालत है। इसीसे भारतके अधिकांश लोग देहातोंहीमें रहते हैं। वहीं खेतीवारी कर अपना दिन विताते हैं।

हां, जबसे कलकारखानोंका जमाना आया है और गांवोंके व्यवसायोंकी कमर टूटी है तबसे देहातियोंकी भी आदतें बदलने लगी हैं। वे भी अब धीरे धीरे अपनी पुरानी वस्ती छोड़, बाहर 'पूरब कमानेको' जाने लगे हैं। बंगालकी जितनी जूट मिलें और चटकलें हैं, प्रायः सब कलकत्तेके पास हुगली नदीके किनारे हैं। कपड़ेकी मिलें बम्बई, अहमदाबादमें पाई जाती हैं। कानपुर और दिल्लीमें सूत, ऊन और चमड़ेके कारखाने खड़े किये गये हैं। देशभरके मजदूर दूर दूरसे आकर इन इलाकोंमें जाने लगे हैं। जिन इलाकोंमें अच्छा व्यापार होता है, जहांसे मालकी आमदनी रफ्तनी निरन्तर होती रहती है। वहां भी दूर

दूरके लोग आकर बसे हैं। जिन बन्दरगाहोंमें माल डालने, उतारनेके सुभीते हैं वहांकी आबादी दिनों दिन बढ़ती जाती है। उदाहरणके लिये रंगून, करांची, हवड़ा, मदुरा जैसे नये शहरोंको लीजिये, उसके साथ साथ वैसे पुराने शहरोंकी आबादीका जहां अगले जमानेमें राजधानी थी या अच्छा वनिजव्यवसाय था पर अब कुछ भी नहीं है, दिनों दिन ह्रास है। मंडालेकी आबादी कुछ ही दिनोंमें एक चौथाई कम हो गयी।

प्लेगके कारण पूरा पूरा पता नहीं लगाया जा सकता है कि शहरोंमें रहनेवालोंकी संख्या घटती है या बढ़ती है। यों तो मनुष्यगणनाके हिसावोंसे पता लगता है कि शहरोंमें रहनेवालों-की संख्या घट रही है, क्योंकि १९०१ में फी सै० ९.९ शहरोंमें रहते थे, पर १९११ में घट कर ९.५ हो गये। इस घटतीका एक कारण यह भी हो सकता है कि शहरोंमें प्लेगका प्रकोप अधिक होनेसे कहीं कहींकी आबादी घट गयी है। पर दरअस्ल शहरोंमें रहनेवालोंकी संख्या बढ़ रही है। गांवोंको छोड़कर बाहर नौकरीकी तलाशमें जानेवालोंकी संख्या अवश्य बढ़ रही है। उदाहरणके लिये कलकत्तेकी बात लीजिये। १९११ में यहांके वाशिन्दोंमें सैकड़े २९ से भी कम ऐसे आदमी थे जिनका जन्म कलकत्तेमें हुआ था, और शेष दूसरी जगह पैदा हुए थे लेकिन रोजगार या और किसी कारणसे कलकत्तेमें जा बसे थे। इन परदेशियोंमें दो लाखसे भी अधिक बिहार, उड़ीसाके रहनेवाले थे, और प्रायः एक लाख युक्तप्रान्तके। इसी तरह बम्बईमें भी
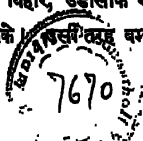
सैकड़े ८० से भी अधिक ऐसे आदमी हैं जिनका जन्म बम्बईके बाहर हुआ था। वहां कोई ५० हजार सुदूर युक्तप्रान्तके और १२ हजारसे भी अधिक राजपुतानेके रहनेवाले थे। हां, इन लोगोंमें बहुतसे ऐसे आदमी भी हैं जो रोजगारके ख्यालसे शहरोंमें रहते हैं। पर छुट्टियोंमें या कुछ कमा लेनेपर देहातोंमें अपने घर लौट आते हैं। कभी कभी ये लोग हर साल दो चार महीने देहातमें और शेष समय शहरोंमें ही बिताते हैं।

इसी सम्बन्धमें देशान्तराधिवासकी बातका जिक्र करदेना उचित होगा। इसे दो अंशोंमें बांट सकते हैं—पहला तो भारतके ही एक हिस्सेसे दूसरे हिस्सेमें जाकर बसना। दूसरा भारत छोड़ दूसरे राज्यमें जाकर मजदूरी करना या वहीं हमेशाके लिये बस जाना। भारतीय प्रदेशोंमें बंगाल, आसाम और बर्म्मामें सबसे अधिक प्रवासी पाये जाते हैं। जबसे बर्म्मा अंगरेजोंके हाथ आया है तबसे उसकी आबादी प्रायः ड्योढ़ी हो गयी है। आसाम, बंगालकी भी बहुत तरक्की हुई है। बंगालके खेतों, विशेषकर चटकलोंमें काम करनेको दूसरे प्रदेशोंके मजदूरोंकी बड़ी आवश्यकता रहती है। दार्जिलिंग और जलपाईगोड़ी या आसामके चायबगानोंमें भी बहुतसे कुलियोंकी जरूरत पड़ती है। और ये सब कुली बिहार, युक्तप्रांत (पूर्वीय भाग) और उड़ीसासे आते हैं। बर्म्मामें खेतीबाड़ी फैलानेके लिये, वहांके चावलकी मिलों या किरोसिन तेलकी खानों और कारखानोंमें काम करनेके लिये बहुत से कुलियोंकी जरूरत रहती

है। हिसाव लगाकर देखा गया है कि कोई ५१ हजार कुली या उनके आश्रित हरसाल आसामके चायबगानोंमें जाया करते हैं। जिस तरह विहार और युक्तप्रांतसे लोग बंगाल या आसाम जाते हैं उसी तरह मद्रासले आदमी वर्म्मा जाया करते हैं। मद्रासमें कोई बड़ा रोजगार नहीं है। फिर वहां छूतछातकी बड़ी कठिन समस्या है। इस कारण उधरके लोग (ब्राह्मणेतर) जाति वाहर जानेसे जरा भी नहीं हिचकते। राजपुतानेके लोग भी (जिन्हें आजकल मारवाड़ी की संज्ञा दिया करते हैं) व्यापारके नाते सारे भारतमें फैले हुए हैं। भारतका कोई अंश इनसे बचा हुआ नहीं है। अभी हालमें अधिकारमें लाये गये ज्ञानसी (तिब्बतकी सीमापर)के इलाकेमें भी मारवाड़ी पाये जायंगे। देशके बाहर लंकामें बहुत से मद्रासी मैसूरिये और त्रावंकोरी रहते हैं। कुछ दिनोंसे इन भारतीयों तथा पंजावियोंकी संख्या मलाया और स्टेट सेटलमेंट, हांगकांगमें भी बढ़ रही है। इनके अलावे मोरिशस (मरिच टापू, फीजी, दक्षिण अफ्रिका, नेटाल (ट्रिनिडाट) चीनी डाड और सुरिनम (श्रीराम) उत्तर अमेरिका इत्यादि स्थानोंमें भी बहुतसे भारतवासी पाये जाते हैं। कुछ तो सव दिनके लिये वहां बस गये हैं और कुछ रुपया पैसा कमाकर अपनी जन्मभूमिको लौट आये हैं। इन देशान्तराधिवास करनेवालोंमें सैकड़े ८५ तो मद्रासी हैं, शेषमें बंगाल, विहार, युक्तप्रान्त और पंजावके लोग हैं।

भारतके श्रमजीवियोंकी कमजोरियां—इस अध्यायके

आरम्भमें लिखा जा चुका है कि श्रमजीवियोंके गुण और अवगुण कुछ तो स्वाभाविक होते हैं और कुछ अस्वाभाविक। स्वाभाविक अवगुणोंका दूर करना सहज नहीं है, परन्तु अस्वाभाविक अवगुण शिक्षा या परिश्रमसे दूर हो सकते हैं। शीत प्रधान देशका रहनेवाला व्यक्ति स्वभावसे ही परिश्रमी होता है, वहां श्रमजीवियोंको घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखते। परन्तु उष्ण-प्रधान देशवाले खूब परिश्रम नहीं कर सकते, यहां श्रमजीवियों-पर उतनी श्रद्धा भी नहीं होती। राष्ट्रका कर्त्तव्य है कि अपने कानूनों और उपदेशोंसे इस भावको दूर करनेका यत्न करे। इसमें समय लगेगा, अध्यवसायकी जरूरत होगी।

हिन्दुस्तानी मजदूरों—'कामदारों'—की आलोचना करते हुए लोग प्रायः कहा करते हैं कि भारतके मजदूर आलसी, निकम्मे होते हैं। उनमें संयम तथा दृढ़ता नहीं होती। ये पुरानी चालके गुलाम होते हैं, उन्हें किसी नई चीज या रीतिको कबूल करनेकी हिम्मत नहीं होती।

हिन्दुस्तानी मजदूरोंके प्रति ये आक्षेप बहुत कुछ सच भी हैं। साधारणतः यहांके लोग आलसी जरूर हैं। यहीं पर ऐसी २ कहावतें प्रसिद्ध हैं:—"आज खाय और कलको झंखे। उसको गोरख संग न रक्खे।" "अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम। दास मलूका कह गये, सबके दाता राम।" यहीं लोग कहते हैं कि 'धन, दुनिया, दौलत माल खजाना' सब बेकाम है, अस्थायी है, क्षणभंगुर है। संसार अनित्य है। इससे अधिक

मोह बढ़ाना उचित नहीं। यहांके भिखमंगे ऐसी ही बातें कहकर लोगोंके ऐसे भाव जागृत रखते हैं। (वे क्यों न करें, उन्हें तो ऐसे भावों हीसे लाभ है।) आपने देहातोंमें देखा होगा कि जब खेती काटनेके दिनोंमें बेलदारोंके पास अनाजकी पूंजी यथेष्ट हो जाती है—दो चार दिन तकके खानेकी सामग्री पूरी रहती है, तब वे लोग बड़े आरामतलब हो जाते हैं। जबतक उनके पास कुछ खानेका सामान रहा तबतक वे कमानेको जल्दी घरसे नहीं निकलेंगे। उन दिनों देहातोंमें आप जायं तो देखेंगे कि ये बेलदार आठ नौ बजे दिनतक अपनी झोंपड़ियोंमें सोये हुए हैं। नीचे पोआल और ऊपर पोआल, अगल बगलमें पोआल—चारों तरफ इसीकी गद्दी लगाये आरामसे अपनी झोपड़ियोंमें पड़े हुए हैं। जब देखा कि दिन चढ़ गया, धूप निकल आयी, तब धीरे धीरे उठकर, रातका बनाया भात खाकर, अगर हो सका तो तम्बाकू भी पीकर, बाहर कामको निकले। इस बीचमें मालिकके यहांसे हजार तकाजे क्यों न आ गये हों, उन्हें इसकी कुछ परवाह नहीं।

पर इसी बेलदारकी जीवनीका एक दूसरा अंश भी है। वहीं बेलदार जेठ बैसाखकी धूपमें नंगे सिर, नंगे पैर, देह नंगी—सिर्फ लज्जानिवारणके लिये एक लंगोटी पहने हुए—अपने बालबच्चोंके साथ डिस्ट्रिक्ट वा लोकल बोर्डकी सड़कोंके किनारे या तो मिट्टी काटता है या सड़कोंपर पत्थरके ढेरपर बैठा बैठा रोड़े तोड़ता है। उसे न धूपकी परवाह है और न तपे पत्थरकी। सवेरेसे

शामतक इसी तरह काम करता रहता है। वही देहातोंमें जेठ वैसाखकी धूपमें, या कार्त्तिकके महीनेमें सवेरे तड़के ही उठकर हल जोतना शुरू करता है और शामको घर लौटकर खाता है। फिर खाने पीनेके बाद बैलोंकी सेवा शुश्रूषामें लग जाता है। एक ही वेलदारकी आदतोंमें समय समयपर इतना अन्तर क्यों ? वही मजदूर कभी तो अत्यन्त परिश्रमी और कभी अत्यन्त आलसी क्यों बन जाता है ? इसका सिर्फ एक कारण है—वह है जीवनके ऊंचे आदर्शोंकी कमी ; सुख भोगके भावोंकी दरिद्रता।

उसी तरह यह कहा जाता है कि देशी मजदूरे दृढ़ नहीं होते। उनपर भरोसा नहीं किया जा सकता। ये अकसर ग़ैरहाज़िर रहा करते हैं। और जब काम करते हैं तब पूरे मनसे नहीं। मज-दूरे मन लगाकर काम नहीं करते या किसी प्रकार समय टालना चाहते हैं—यह बहुत कुछ सच है। घरामी यदि रोजपर काम करता हो तो समय बितानेके फिक्रमें लगा रहेगा और फिर वही काम यदि उसके ठेकेमें हो तो वह सिर तोड़कर, जी जान लगा, भूख प्यासकी परवाह न कर शीघ्र पूरा कर देगा। क्योंकि वह जानता है कि समय ही धन है, जितने कम समयमें काम पूरा हो जाय उतना अच्छा। इसके लिये वह दोषी नहीं ठहराया जा सकता। सस्तेमें खरीदना और अधिक मूल्यपर बेचना, कम खर्च और ज्यादा नफा—ये तो सारे संसारके प्रचलित नियम हैं। पर हिन्दुस्तानी मजदूरोंका एक दोष अवश्य है—वे अपने भविष्यका ख्याल न करके ठगनेकी चेष्टा बहुत करते

हैं। वे यह नहीं जानते कि यदि आज खराब काम करके किसी-को ठग लिया तो फिर दूसरे दिन वे किसी प्रकारकी सहायता-की आशा नहीं कर सकते। जो लोग कलकारखानोंमें काम करते हैं उनमें भी जी चुरानेकी आदत रहती है। अभी तम्बाकू पीनेको बाहर गयें, तो दूसरो दफा किसी हाजतको रफा करने गये, तीसरी दफा खाने या पानी पीनेके बहाने बाहर निकले—इत्यादि हरकतोंसे वे समय काटना चाहते हैं। कल कारखानोंमें कई घंटोंतक लगातार एक किस्मका—एक तानसे, एक मनो-योगसे—काम करना पड़ता है। तभी कलोंसे अधिकसे अधिक लाभ मिल सकता है। परन्तु इसमें विलायतमें काम करनेवाले मजदूरे जैसे दक्ष हैं वैसे अपने देशवाले नहीं। क्योंकि यहांके जल वायुमें, यहांकी गर्मीमें लगातार इतनी देरतक परिश्रम करना सम्भव नहीं है। इसी कारण यहांके मजदूरोंकी आदतें भीं ऐसी हो गयी हैं कि वे लगातार घंटे दो घंटेसे अधिक देरतक पूर्ण मनोयोग पूर्वक काम नहीं कर सकते। उन्हें पेशाव करने या तम्बाकू पीनेके बहाने आराम करना जरूरी हो जाता है। फिर भी उन्हें बेञ्च टूलपर बैठकर या लगातार खड़े रहकर काम करनेकी आदत भी नहीं है। इसीसे ये मजदूरे शुरू शुरूमें कल कारखानोंमें महज बेकाम साबित होते हैं। पर ये सब बातें ऐसी नहीं हैं जो दूर न हो सकें।

आप लोगोंने देखा होगा कि इन मजदूरोंपर बहुत कुछ भरोसा भी नहीं किया जा सकता। मान लीजिये कि आपने कुछ

जुलाहोंके बच्चोंको लेकर नये ढंगके करघोंमें काम सिखलाना शुरू किया। आपने उन्हें शिक्षा देनी शुरू कर दी। खानेको पैसे भी दिये। पर तौ भी आप यह नहीं कह सकते कि ये बच्चे रोज आकर, मन लगा कर, काम सीख जायंगे। दो चार दिन आये तो फिर १० दिन गायब; फिर आये और शुरूसे सीखना शुरू किया तो फिर कुछ दिनके बाद गायब। यह तो मैंने स्वयं अनुभव किया है। बच्चोंकी कौन कहे बड़े बड़े जवान जुलाहे भी रोज कामपर आनेकी तकलीफ नहीं उठावेंगे। खास कर ताड़ीके दिनोंमें (बैसाख, जेठमें) आप यह निश्चय जान लें कि मजदूरी बंटनेके दूसरे और तीसरे दिन ये जरूर ही गायब रहेंगे।

यहांके मजदूरों या कारीगरोंको यदि नई चीज या नये पुर्जेको व्यवहारमें लाने को कहिये तो कदापि नहीं करेंगे। नई चीज़से हजार लाभ क्यों न हों, पर तौ भी नई है कहकर हिचकेंगे और अविश्वासकी दृष्टिसे देखेंगे। जब जुलाहोंको नये करघोंसे (Fly-Shuttle Looms) काम करनेको कहा गया तो उन्होंने नामंजूर किया। उसपर काम सीखनेसे साफ इन्कार किया, जिस किसीने साहस दिखाया उसे जातिसे खारिज तक कर दिया। यह आरम्भकी बात है। पर धीरे धीरे यह भाव अवश्य ही बदल गया।

देशी कारीगरोंकी वर्त्तमान अवस्था–ऊपर जो बातें कही गयी हैं तो मामूली मजदूरों और कारीगरों दोनोंसे सम्बन्ध रखती हैं। अब कुछ देरके लिये कारीगरों (Skilled

workers) की ओर ध्यान दीजिये। आपने राजमिस्त्री, बढ़ई, लुहार, रंगसाज, शीशावाले, पाइप बैठानेवाले, बिजलीबत्ती और तार लगानेवाले कारीगरोंको शहरोंमें अवश्य ही देखा होगा। अगर उनके बनाये कामोंपर ध्यान दें तो वहां भी वही अज्ञानता, असावधानी, आलस और अपने अवगुण छिपाने और दूसरोंकी आंखोंमें धूल झोंकनेकी चेष्टा पायेंगे। इनकी बनाई किसी इमारतको देखें कि दीवालकी ईंटे एक लाइन-में नहीं हैं, कहीं कोई बाहरको निकली हुई हैं तो कोई भीतरको धंसी। दीवार सीधी नहीं, कितनी चौड़ाईपर कितना बोझ आ सकता है उसका तो ज्ञान ही नहीं है। मिट्टीकी दीवारोंका तो कहना ही क्या है। काठके दरवाजे चौखट भी वैसे ही बने हैं। कोनियोंका जोड़ किसी तरह काटकूट, छीलछालकर मिला दिया गया है। पल्लों और चौखटोंमें कोई सम्बन्ध नहीं। कोई पल्ला लगता ही नहीं, और कोई लगता है तो उसमें एक इंचका फर्क रह जाता है। झिलमिलियोंकी भी वही हालत है। रंगसाजने रंग क्या लगाया है, किसी फटे पुराने चिथड़ेसे थोड़ासा रंग लीप दिया है। रंग कहीं अधिक और कहीं कम पड़ा हुआ है। अगर शीशेके किवाड़ रंगने पड़े तो लकड़ी और शीशा सब रंग दिया, और फिर बालूकागजसे शीशेपरका रंग उठाया और साथ साथ शीशेकी चिकनाहटका भी सत्यानाश कर डाला। इसी दर्जे के कारीगरोंकी बनाये मेज़ कुर्सियोंको लीजिये। किसीकी तीन टांगे बैठती हैं तो किसीकी बैठती ही नहीं। लकड़ी जैसे तैसे

जोड़ दी गयी है, और जहां जोड़ते हुए छेद रह गया है वहां थोड़ा सा पोटीन घुसाकर ऊपरसे रंग दिया गया है। लकड़ियोंके ऐब भी इसी रीतिसे छिपाये गये हैं। सारांश यह है कि इन लोगों-को अपने रोजगारका कुछ भी ज्ञान नहीं होता। किस तरह कौन सा काम अच्छा होगा वे जानते नहीं। और न अपनी जानकारी बढ़ानेकी चेष्टा ही करते हैं। उनके पास औजार भी अच्छे नहीं कि बढ़िया काम कर सकें। यदि भाग्यवश कहीं दो एक अच्छे औजार मिल भी गये तो अपनी अज्ञानतासे उन्होंने उनकी भी दुर्दशा कर दी, जो औजार बरस दिन काम देता वह छ महीनोंमें ही निकम्मा हो गया। कहनेका यह मतलब नहीं कि देशमें अच्छे कारीगर हैं ही नहीं, हैं सही, पर उनकी संख्या नहींके बराबर है। हां, इधर रेलवे या पुतलीघरोंके कारखानोंमें काम करते २ कुछ कारीगरोंने बड़ी दक्षता प्राप्त की है और अच्छी तनखाह भी पाने लगे हैं पर उससे देशके लाखों करोड़ों अन्य अनपढ़ कारीगरों पर कुछ भी असर नहीं पड़ा है। फिर भी कहना पड़ता है कि मूर्खतासे 'अशिक्षासे, और उचित-शिक्षाके अभावसे ही देशकी हानि हो रही है। इन बेचारोंकी रोजी धीरे धीरे छिनती जा रही है।

जाति भेदका श्रमजीवियोंपर प्रभाव—हिन्दुस्तानमें जाति पातिका बड़ा बखेड़ा है। आरम्भ तो हुआ था इसका समाजकी सहायता करनेको, पर आगे चलकर यह समाजका बाधक हो गया। कहा गया है कि उत्पादिका शक्तिकी

वृद्धिके लिये श्रमविभागकी जरूरत है। जातिविभाग सच-मुचमें श्रमविभाग है। पर आजकल वंशपरम्परागत हो जानेके कारण बुरा फल दे रहा है। वंशपरम्परासे कभी कभी तो बहुत ही लाभ होता है और कभी कभी हानि। एक पुश्तैनी लुहारका लड़का दूसरे लड़केसे जो पुश्तैनी लुहार नहीं है किसी किसी अंशमें अवश्य अच्छा होगा। पर इसके साथ साथ यह नियम कभी न रहे कि वह लुहार यदि चाहे तौभी-यदि उसमें योग्यता हो तौभी— कभी सुनार न बन सके। फिर भी यह ख्याल कि एक पेशा अच्छा और दूसरा बुरा—सुनार लुहार अच्छे और चमार डोम बुरे, कभी उचित नहीं। इस विषयमें सब किसीको पूरी स्वच्छन्दता होनी चाहिए। अपनी योग्यता-नुसार सब कोई अपनी जाति बना लें, और एक जातिसे दूसरी जातिमें जा सकें तथा सब पेशे बराबर दर्जेके समझे जायं। ऐसा न होने से भारतका नुकसान हो रहा है। बहुत ही अच्छा सा-मान बरबाद चला जा रहा है। अच्छे अच्छे कारीगर या तो क्लर्की कर अपना हुनर बरबाद कर रहे हैं, या जातिकी बंधनमें बंधे रहनेके कारण उसका उचित व्यवहार करनेसे लाचार हो रहे हैं। इसी जाति बन्धनके कारण घरके बाहर बस्ती छोड़कर विदेश जाना भी उनको बुरा मालूम होता है। और कहीं साहस भी हुआ तो जाति जानेके डरसे नहीं गये, या गये तो चूल्हा चौका साथ लेते गये; यदि यह सब कुछ न किया तो विदेशसे घर लौटनेपर प्रायः जाति से निकाल दिये गये, या बड़ी बड़ी मुश्किलोंसे रुपया खर्च

कर बेटे बेटियोंका ब्याह कर सके। इस अवस्थामें भला कोई अपनी औलादको ऐसा उपदेश क्यों कर दे।

जातिबन्धनपर समय और शिक्षाका प्रभाव—पूर्वीय देशोंमें भी जहां रस्म रिवाजका बड़ा प्रभाव माना जाता था, अब समय अपनां प्रभाव दिखा रहा है। यहां भी अब जातिके बन्धन ढीले पड़ते जाते हैं। जिन्होंने विदेशमें शिक्षा पाई है या विलायतकी हवा खाई है उनकी बात जाने दीजिये। वे यदि जातिपांतिके बन्धनोंको न मानें तो आश्चर्य्य नहीं। पर आश्चर्य्य तो यह है कि जिन्होंने कभी देशके बाहर पैर नहीं रखे वे भी समयके प्रभावसे नहीं बचे। अच्छे पेशोंसे जाति विभाग तो बिलकुल ही उठ गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सबकोई बराबर ही नौकरीके लिये मारे मारे फिरते हैं। और नौकर हो जानेपर सब नौकरी पेशेवालेकी एक जाति हो जाती है। उसी तरह वकालतमें भी कोई भेद नहीं है। ब्राह्मण वकीलकी शूद्र वकीलसे ज्यादा इज्जत नहीं है। एक ब्राह्मण जूनियर वकील एक शूद्र सीनियर वकीलकी इज्जत करते हुए, उससे शिक्षा लेते हुए कभी नहीं हिचकता। दूकानदारीमें भी जातिपांतिका बखेड़ा उठता जाता है। बनिज व्यापार सिर्फ वैश्योंके हाथका काम था, पर अब तो सब कोई इसमें आ सकते है। ब्राह्मण कुमारके हाथका बनाया पवित्र साबुन भी बिकता है; चटर्जी बनर्जी मिलकर किताबकी दूकान भी खोल सकते हैं; शर्म्मा कम्पनीकी कपड़ेकी दूकान भी पायी जाती है। त्रिपाठीजी की दूकानमें विशुद्ध घी

चावल आंटा दाल मिलती है। कायस्थोंकी ट्रेडिंग कम्पनी भी मिलती है। आप चाहें तो ब्राह्मण दर्जीकी दूकानसे कपड़े सिला सकते हैं। इस प्रकारके अच्छे अच्छे रोजगार अब सब कोई कर सकते हैं। पर धीरे धीरे ऐसे रोजगारोंकी ओर भी उच्च जातिवालोंका ध्यान जाने लगा है जिससे अबतक लोगोंकी जाति जाती थी। अब तो भले घरके लड़के बम्बई, कलकत्तेमें कपड़ा धोने और रंगनेकी दूकानें खोलते हैं। शराब बेचनेकी कम्पनीका साझीदार होते हुए बड़े बड़े ब्राह्मण पण्डित भी नहीं हिचकते। कलकत्तेमें कायस्थोंकी जूतेकी दूकान वा चमड़ेके कारखाने मिलते हैं। मैं ऐसे ब्राह्मणोंको जानता हूं जो चमड़ा बेचनेकी एजेन्सी रखते हैं, और जो चमड़ेका बड़ेसे बड़ा कारखाना भी चलाते हैं। और तिसपर भी ये लोग कभी विलायत नहीं गये, इन्होंने बराबर यहीं शिक्षा पायी। कपड़ेकी मिलोंमें करघा चलाना अब किसी जातिवालेको बुरा नहीं मालूम होता। सिरामपुरके पास विये (Serampur Weaving College) लड़कोंमें ब्राह्मण कायस्थ सब जातिके लोग पाये जाते हैं और ये दूर दूरतक कपड़ोंके कारखानोंमें काम करनेको जाते हैं। मद्रास ऐसे कट्टर प्रान्तमें भी जहां ब्राह्मण और अब्राह्मणमें बड़ा भारी भेद है, ब्राह्मण भलामानुस करघा चलानेमें कोई लाजकी बात नहीं समझता।

कृषिकर्म यद्यपि वैश्योंका स्वाभाविक कर्म था पर अब तो सब कोई यह काम करते हैं। हां, ऊंची जातिवाले हल नहीं चलाते थे।

पर अब कृपिकालेजोंमें यह काम भी होने लगा है। कालेजोंके बाहर भी भलेमानुस हल जोतनेका प्रयत्न कर रहे हैं। दो वर्ष हुए अमृतबाजारपत्रिकाने छापा था कि मेदनीपुर (बंगाल) के भले-आदमियोंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंने, वकील मुख्तारोंने सभास-मिति करके लोगोंको बुलाकर सबके सामने हल जोतनेका साहस दिखाया था। उन लोगोंकी इच्छा है कि यह चाल चल पड़े, और कोई इसे बुरा न समझे।

यह तो हुई पढ़ेलिखे लोगों और अच्छे रोजगारोंकी बात। अब अनपढ़ों और वैसे रोजगारोंकी बात लीजिये जिसमें हाथ पैर-से परिश्रम करना पड़ता है। यहां भी समयका वही प्रभाव दृष्टि-गोचर होगा। अब कोई ब्राह्मण रसोई या दरवानी करनेमें नहीं शर्माता। मोटिये हर जातिके मिलते हैं। गाड़ी, इक्के, मोटर वाले भी सब जातिके हैं। मजदूरों, घरामियोंमें भी उच्च जातिके लोग पाये जाते हैं। ईंट ढोने, मिट्टी काटने, सुरखी कूटनेमें सब जातिके लोग मिलते हैं। आसामके चायबागानोंमें हर जातिके कुली मिलते हैं। कल कारखानों-मिलों पुतलीघरोंमें और खानों-में हजारों लाखों कुली घरसे दूर एक साथ रहकर काम करते हैं, इससे भी जातिका बन्धन बहुत कुछ ढीला पड़ता है। बर्म्मा, लंका, 'मरिचटापू', नेटाल प्रति देशोंमें जो लोग जाते हैं वे सब जातिके होते हैं। अब तक देश विदेश जानेमें, रोजगार करनेमें जो कुछ बन्धन था वह भी लड़ाईके कारण बहुत कुछ दूर हो गया। अबतक पढ़े लिखे लोग ही बाहर विदेश जाते थे और

घर लौटकर या तो जातिसे अलग रहते थे या प्रायश्चित्तकर जातिमें मिल जाते थे। पर इस लड़ाईके समयमें लाखों हिन्दुस्तानी,—सिपाही, डाक्टर, कुली, मजदूर, रेलवाले इत्यादि—विलायतकी हवा खा आये हैं। उन अपढ़, अर्द्ध शिक्षितों और शिक्षितोंके कारण समाजमें कितना बड़ा परिवर्त्तन हो जायगा इसका अन्दाज करना कुछ कठिन नहीं है। यकायक देशके समाजकी काया पलट जायगी। उन प्रांतोंका, जहांसे अधिक लोग गये हैं तो कहना ही फजूल है। उनके संसर्गसे दूसरे दूसरे प्रान्त भी बदल जायंगे।

जिस किसी भावुकने देशकी इस अवस्थापर ध्यान दिया है उसे यह अवश्य स्पष्ट हो गया होगा कि देश बदल रहा है, वह अपनी पुरानी आदतोंको छोड़ बड़ी शीघ्रतासे आगे कदम बढ़ा रहा है। जातिपांति रस्मरिवाजके बन्धन बहुत ढीले पड़ने लगे हैं। इसमें यहांके श्रमजीवियोंने उन्नतिकी सच्ची चेष्टा और इच्छा दिखाई है सही, पर जैसा चाहिए वैसी सफलता नहीं हुई है। उनकी उन्नतिके मार्गमें दो बड़े बड़े कांटे हैं—एक तो उनकी अविद्या और अज्ञान, दूसरा उनकी दरिद्रता तथा जीवनके उच्च आदर्श और [illegible] भावोंकी कमी। उन्हें शिक्षा द्वारा योग्य बनाना पड़ेगा, [illegible]की कार्यकुशलता बढ़ानी पड़ेगी। उनके मनमें जीवनके उच्च [illegible]वोंका उदय कराना होगा। सुख स्वच्छन्दतासे रहना सिख[illegible]ा होगा। तभी तो हमारा बेलदार फसल काटनेके दिनोंमें भी आलस छोड़ मन लगाकर परिश्रम

करेगा। तभी वह 'आज खाने'पर भी कलके लिये 'झंखेगा' और यथारीति परिश्रम करेगा। रोज कुछ न कुछ बचानेकी कोशिश करेगा। पेट भरनेके बाद सुखी जीवनकी अन्य सामग्रियों—घर कपड़े लत्ते मन बहलाव इत्यादि—की फिक्र करेगा। तभी वह अपने तथा अपने बालबच्चोंके जीवनको मूल्यवान समझेगा, उन्हें सुखी करनेका प्रयासी होगा। यदि जरूरत हुई तो अनर्थक रोगी, निकम्मे, भूखे बच्चे पैदा करने और समाजकी अवस्था हीनतर बनानेसे हिचकेगा। मैं तो समझता हूं कि इस आदर्श-के अभावने ही हम लोगोंकी अधिक दुरवस्था की है।

देशी और विलायती कारीगरोंका मिलान—विलायती कारीगरों या मजदूरोंकी बराबरीमें देशी कारीगर या मजदूर काम नहीं कर सकते हैं। दोनोंके कामका मिलान करनेसे पता लगता है कि विलायती कारीगर बहुत दक्ष हैं। कानपुर वणिक सभाके सभापति मि० एस० एम० जानसनने १९०५ ईस्वीमें अपने एक लेखमें लंकाशायर और हिन्दुस्तानकी कपड़ेकी मिलों-में काम करनेवालोंकी तुलना करते हुए बहुत सी लाभदायक बातें कही थीं, उनका यहां उल्लेख किया जायगा।* लंकाशायरमें कपड़ेकी मिलोंमें एक 'काम[illegible]' अकेला ४ से ६ करघोंको चलाता और संभालता है। वह [illegible] हफ्ते ५५ घंटे काम करके हर करघेसे हरदर ७८ पौ० (प्रायः ३[illegible] सेर) वजनका मोटा कपड़ा तैयार करता है। उसका ६ करघों[illegible] काम सब मिलाकर हर

---

* Indian Industrial Conference [illegible]port, 1905.

हफ्तेमें ४६८ पौ० वजनमें होता है। परन्तु हिन्दुस्तानकी मिलों-में काम करनेवाला 'कामदार' सिर्फ एक करघेको संभालता है, एकसे अधिक करघा वह नहीं चला सकता। वह उस एक करघेसे हफ्तेमें अधिकसे अधिक ६० पौ० मोटा कपड़ा तैयार कर सकता है। नये ढंगके हाथके करघोंमें काम करनेवाला जुलाहा एक हफ्तेमें अधिकसे अधिक ६० पौ० मोटा कपड़ा तैयार कर सकता है। इससे आप समझ सकते हैं कि लंका-शायरका एक जुलाहा हिन्दुस्तानी ६ (मिलवाले) या ८ (हाथके करघावाले) जुलाहोंके बराबर है। आपको यह भी जान लेना चाहिये कि यहां और लंकाशायरकी मिलोंमें कलपुर्जोंमें कोई अन्तर नहीं है, दोनों प्रायः बराबर ही हैं। इसी विषयका एक और उदाहरण लीजिये। हिन्दुस्तानकी कलोंमें काम करनेवाले जुलाहे बड़े सस्ते हैं, विलायती जुलाहोंकी मजदूरीसे उनकी तुलना नहीं हो सकती। पर तो भी विलायतमें कपड़ा बुननेका खर्च कम पड़ता है। एक पाउण्ड (प्रायः आध सेर) मोटा कपड़ा बुननेमें (इसमें रूई वा सूतका दाम शामिल नहीं है, यह सिर्फ बुनावटका खर्च है—प्रायः १४ पाई खर्च होता है; पर उतने ही कामके लिये—मजदूरी सस्ती होने पर भी—भारतमें १७ पाई लगेगी! क्यों? इस लिये कि भारतके मजदूर दक्ष नहीं!

यहांके मजदूरोंकी अयोग्यताका एक और उदाहरण लीजिये। कोयलेकी खानोंमें काम करनेवाले हिन्दुस्तानी कुलियोंके विषयमें एक साहब यों लिखते हैं:—

पश्चिमी देशोंका कुली जितना काम करता है उसका केवल पांचवां हिस्सा यहांका कुली काम करता है।* इंगलैंडमें कोयलेकी खानोंका मलकट्टा हर रोज प्रायः २॥ टन माल काटता है। उसी तरह अमेरिकाका 'मलकट्टा" अच्छे अच्छे औजारोंकी सहायतासे रोज ५ टन माल काटता है और हिन्दुस्तानी मलकट्टा केवल आधाटन माल काट सकता है। इसमें कोई शक नहीं कि अच्छे औजारोंकी कमी भी इन मजदूरोंकी अयोग्यताका एक प्रधान कारण है। पर तौ भी यहांका "मलकट्टा" विलायत वालोंकी अपेक्षा कम माल निकालता है। बंगाल विहारकी कोयलेकी खानोंमें कुलियोंको धीरे धीरे अच्छें औजार मिलने लगे हैं, और उन कुलियोंने भी यूरोपियन अभिभावकोंकी सहायतासे इन औजारोंका बहुत ही अच्छा उपयोग करना शुरू† कर दिया है। १९१६ को सरकारी रिपोर्टमें लिखा गया है कि मलकट्टोंकी संख्या कम करनेपर भी आदमी पीछे अधिक मालका हिस्सा पड़ा था। १९१५ में आदमी पीछे १०६'८४ टन माल पड़ा था, पर १९१६ में वह चढ़कर ११०'२१ टन हो गया।‡

---

* The Coal Mining Industry of India by H..H. Macleod Esqr; Chairman of The Bngal Coal Co. Ltd.. Calcutta. (A paper written for the Industrial Conference held at Surat 1907).

† Mr. J. R. R. Wilson, Chief Inspector of Mines. Quoted in the Quin. Review of Mineral Production of India (1904-1908) p. 75.

‡ Mineral Production of India, 1916.

लोगोंका यह अनुमान करना गलत है कि कम मजदूरी पाने-वाले मजदूर सस्ते पड़ते हैं। नहीं, ऐसा होना सम्भव नहीं है। क्योंकि सस्ता मजदूरा नाकारा भी निकल सकता है। अच्छी मजदूरी पानेवाला दक्ष कारीगर एक घंटेमें जितना काम निका-लेगा उतना काम कम मजदूरी पानेवाला और बेकाम कारीगर नहीं कर सकता है। यदि फलके हिसाबसे दोनों कारीगरोंकी तुलना की जाय तो मंहगे कारीगरका बनाया माल ही अन्तमें सस्ता पड़ेगा। उद्योगधन्धोंकी यह बहुत मानी हुई बात है। इसीसे आपने देखा होगा कि कलकत्तेके अंगरेज व्यापारी सौदा-गर या धन्धेवाले विलायत स्काटलैंडसे नवयुवकोंको बुलाकर रखते हैं और हिन्दुस्तानी बाबुओंसे तिगुना चौगुना महीना देते हैं। फिलिपिन टापुओंमें ठेकेदारोंको महगे चीनी मजदूरोंको रखने-पर भी काम सस्ता पड़ता है क्योंकि वहांके देशी मजदूरे सस्ते मिलनेपर भी काम सस्ता नहीं पड़ता।

क्या देशी कारीगर सचमुच निकम्मे हैं?—विलायत-का एक कारीगर देशी छ कारीगरोंके बराबर है—इत्यादि बातें जो ऊपर लिखी गयी हैं, उनसे भ्रम हो सकता है कि ये बातें सर्वथा सत्य हैं, देशी कारीगरोंमें विलायती कारीगरोंकी बराबरी करनेका माद्दा ही नहीं है। पर सचमुच ऐसी कोई बात नहीं है। आजकल जो हीनता है उसका कारण भारतकी उष्णप्रधा-नता तो अवश्य है, यहांकी गर्मीके कारण मजदूरे देरतक मनो-योग पूर्वक काम नहीं कर सकते। इस एक विषयमें वे ठंढे मुल्क-

के कारीगरोंसे अवश्य कमजोर रहेंगे। पर इसके अतिरिक्त और जो कमजोरियां हैं वे दूर की जा सकती हैं। यहांके कुली यदि अच्छे घरोंमें रहें, अच्छे अन्नवस्त्र पायें, जीवनके आदर्श ऊंचे करें, शिक्षा द्वारा अपनी योग्यता बढ़ाने पायें और अच्छे अच्छे औजारोंसे काम करने लगें तो उनकी हीनता बहुत कुछ दूर हो जाय और वे विलायतके अच्छेसे अच्छे मजदूरों या कारीगरोंकी बराबरी करने लगें।

अच्छे सुयोग और शिक्षा मिलनेसे देशी कारीगर भी अच्छे हो सकते हैं इसका जिन लोगोंने अनुभव किया है उनकी राय यहां देता हूं :—

सर टामस हालैंड, जो भूगर्भ विभागके अध्यक्ष थे और उद्योग धन्धोंकी जांच करनेको जो कमीशन बैठा था उसके अध्यक्ष थे तथा म्युनिशन बोर्डके प्रेसीडेंट हैं, उन्होंने हालमें मद्रासमें व्याख्यान देते हुए निम्न लिखित आशयकी बातें कहीं थीं—"मुझे इस बातका पूरा निश्चय हो गया है कि भारतमें हर किस्मके कुशल कारीगर पाये जा सकते हैं। जिस किसीने ताता कम्पनीके साकचीवाले लोहेके कारखानेको देखा है उसको यह अवश्य विश्वास हो गया होगा कि देशमें जितने व्यवसाय धंधे सम्भव हैं सब केवल देशी कारीगरोंसे ही बखूबी चलाये जा सकते हैं। जो कोल, सन्थाल अभी हालतक जंगलोंमें रहते थे वे अब, साकचीके कारखानेमें खासे अंगरेज मजदूरोंकी तरह लोहे गलाते हैं, रेल तैयार करते हैं। उनकी योग्यताका इससे और क्या

अधिक प्रमाण मिल सकता है ? अगर यहांके श्रमजीवियोंको उचित शिक्षा तथा यथोचित भोजन वस्त्र मिले और साथ ही साथ यदि वे उचितरूपमें संगठित हों तो देशके किसी भी उद्योग-धन्धेको चलानेके लायक हो जायं । *

अब उसी ताता कम्पनीके जेनरल मि० टटचिलरकी राय सुनिये । उन्होंने उद्योगधन्धोंकी जांच करनेवाले कमिशन (१९१६-१८)के सामने इजहार देते हुए अपने अनुभवका वर्णन किया था । यह साहब कोई पांच छ वर्षोंसे ताता कम्पनीमें काम कर रहे हैं, इन्होंने अपने इस समयका अधिक अंश देशी कारीगरोंके निरीक्षण और शिक्षणमें ही विताया है । साक्ची (जमशेदपुर) कारखानेमें जो काम होता है वह भारतवर्षके लिये बिलकुल नया है, यहांके करीगरोंको पहले पहल वहीं वैसा काम करना पड़ा था । इतना होते हुए भी इन्होंने जिस योग्यताका परिचय दिया है उसको मनेजर साहबने स्वीकार करते हुए कहा था कि— "मेरी रायमें भारतके कारीगर बड़े तीक्ष्ण—और जल्दीसे काम सीखने वाले होते हैं । उचित शिक्षा मिलनेपर अन्तमें ये बड़े अच्छे निकलते हैं । जब जब उन्हें सुयोग और उत्साह मिला है तब तब उन्होंने युरोपियन कारीगरोंकी तरह ही मनोयोग पूर्वक काम किया है । गर्मियोंके दिनमें तो ये कारीगर विलायतसे आये हुए कारीगरोंसे कहीं अधिक काम कर सकते हैं, क्योंकि यहांका जलवायु तो उनको सह्य हो गया है । विलायत-

---

* Kale—Indian Economics, P. 58–59.

से आये हुए कारीगरोंके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता। इन्हीं मनेजर साहबने अन्यत्र अपने इजहारमें कहा है कि "लड़ाई-के कारण कारखानेके बहुतसे युरोपियन कारीगर चले गये हैं। इनकी जगहोंपर जिन जिन भारतीयोंको काम दिया गया है उन्होंने उसे बड़ी योग्यतासे निबाहा है, उनकी बनाई चीजें किसी हालतमें घटिया नहीं हैं।

उन्होंने और भी कहा है:—"देशी कारीगर सहज ही वशमें रखा जा सकता है। पर जो विदेशी कारीगर शर्त्तनामेके अनुसार यहां काम करने आते हैं, वे कभी कभी ऐसा भी समझने लगते हैं कि उनके बिना किसी प्रकार काम चल ही नहीं सकता। इस कारण उन्हें अहंकार भी हो जाता है।

उसी तरह स्वर्गीय मि० आयरनसाइडने भी जो बर्ड कम्पनी-के हिस्सेदार और बंगाल वणिक सभाके सभापति थे। उस कमिशनके सामने कहा था कि विलायती व्यापारियों और कारखानेके मालिकोंको उचित है कि देशी मजदूरोंकी उन्नतिकी ओर ध्यान दें। देशमें इन कामोंके लायक यथेष्ट मजदूर मिल सकते हैं। परन्तु इस ओर अबतक मालिकोंका विशेष ध्यान नहीं गया है। वे लोग सीधे विलायतसे कारीगर मंगा लेते हैं, परन्तु लड़ाईके बाद यह हालत नहीं रहेगी, उस वक्त देशी श्रम-जीवियोंपर ही भरोसा करना पड़ेगा।

श्रमजीवियोंकी उपयोगिता बढ़ानेके उपाय—जिन्हें दिनरात इन मजदूरोंसे काम पड़ता है उन्होंने इसके कई उपाय

बताये हैं। (१) कुछ तो उनके रहनसहन, सफाई, घरबार तथा स्वास्थ्यसे सम्बन्ध रखते हैं (२) कुछ उनकी शिक्षासे सम्बन्ध रखते हैं।

इनके वासस्थान, स्वास्थ्य, तथा चरित्र सुधारके प्रबन्धके विषयमें "शावालेस" कम्पनी (कलकत्तेके) मि० जे० बी०लायड-ने उद्योग कमीशनके सामने इजहार देते हुए कहा था कि "मेरी समझमें श्रमजीवियोंकी उपयोगिता बढ़ानेका सबसे उत्तम उपाय उनके रहनसहन घरबार और स्वास्थ्य रक्षाका उत्तम प्रबन्ध करना है।"

साकचीके मनेजर मि० टटविलरने उसी कमिशनके सामनें कहा था कि यदि देशी कारीगरोंकी उपयोगिता बढ़ानी हो तो उन्हें (क) यथेष्ट मजदूरी दो जिसमें वे खानेपीनेकी यथेष्ट सामग्री इकट्ठी कर सकें। (ख) उन्हें रहनेको अच्छे, स्वास्थ्य-कर मकान दो। (ग) उनके जीबहलावके लिये खेल कूद, व्यायामशाला इत्यादि सामग्रियोंका प्रबन्ध करो। यदि देशी मजदूरोंको यथेष्ट पुष्टिकारक भोजन मिले तो वे अवश्य दृढ़ और योग्य काम करनेवाले निकलेंगे।

उसी तरह इंजिनियर टारल्टनने कमिशनके सामने अपने इजहारमें कहा था कि "मजदूरोंकी कुशलता और योग्यता बढ़ा-नेके लिये सबसे पहले उचित है कि उनके रहनेके घरों और आसपासकी जमीनकी सफाईपर पूरा ध्यान दिया जाय। उसके बाद उन्हें यह बताया जाय कि सफाई किस तरह होती है,

बीमारियां किस तरह फैलती हैं। उन्हें ऐसी शिक्षा और उपदेश मिले कि जिससे वे मादकद्रव्योंका सेवन छोड़ कर पुष्टिकर खाद्यद्रव्य और अच्छे साफ सुथरे कपड़े पहननेकी आदत लगावें। साथ ही उन्हें अपने जीवनके आदर्शोंको ऊंचा बनानेका उपदेश दिया जाना चाहिये।

क्या बम्बई, अहमदाबादकी कपड़ेकी मिलें, क्या कलकत्तेकी जूट मिलें और क्या बंगाल बिहारकी कोयलेकी खानें—कहीं भी मजदूरों या कारीगरोंकी आवश्यकताओं पर यथोचित ध्यान नहीं दिया जाता है। भारतसरकारके बनाये 'फैक्टरी ऐक्ट' के प्रभावसे कल कारखाने वालोंको अपनी मशीनोंको सुरक्षित रखना पड़ता है ताकि उनमें उलझकर किसी मजदूरेकी जान न चली जाय; वे अब कम उम्र लड़के लड़कियोंको कामपर बहाल नहीं कर सकते; कारखानोंमें काम करते समय मजदूरोंकी स्वास्थ्य रक्षाका प्रबन्ध करना पड़ता है; निश्चित समयसे अधिक देरतक कोई काम नहीं ले सकते; इत्यादि। इन बन्धनोंसे मजदूरोंकी थोड़ बहुत स्वास्थ्य-रक्षा तो हो जाती है, पर तौ भी इसमें बड़ी उन्नतिकी आवश्यकता है। अब भी पुतलीघरोंमें काम करनेवाले मजदूरोंको रोज मीलोंका सफर तय करना पड़ता है; जब सारी दुनिया सोई रहती है तभी वे उठकर जैसे तैसे दो चार ग्रास भोजनकर अपने निश्चित स्थानको रवाना हो जाते हैं। कारखाने पहुँचते पहुँचते उनकी बहुतसी शक्ति जाती रहती है। वे जिन झोपड़ियोंमें रहते हैं वहां भी उनकी जिन्दगी पशुओंसे

हीनतर होती है। श्रीमानोंके कुत्ते उनसे अधिक सुखी रहते हैं। तब इसमें क्या आश्चर्य है कि ये प्लेग, हैजा, विशूचिका, मलेरियाके शिकार बनें?

इनके रहनेका प्रबन्ध मकान किराये देनेवालोंपर नहीं छोड़ना चाहिये। उन्हें तो पैसेसे काम है, वे किरायेदारोंके स्वास्थ्यपर क्यों ध्यान देने लगे। यह काम सरकार तथा परोपकारियों और पुतलीघरोंके मालिकों या इन्हीं कुली मजदूरोंका है। परोपकारी व्यक्ति अवश्य ही रास्ता दिखा सकते हैं; कुलियोंके साथ रहकर सफाईसे रहने, जीवन सुखसे बितानेकी शिक्षा दे सकते हैं। पर सचमुचमें यह काम पुतलीघरोंके मालिकों और सरकारका है। मजदूरोंकी उन्नतिसे ही उनकी उन्नति होगी। आजकल मालिकोंको जो अकसर शिकायत रहा करती है कि मजदूरे किसी एक जगह टिकते नहीं; आज यहां, तो कल वहां इसी तरह कारखानेकी हवा खाया करते हैं। उन्हें हमेशा नये कुलियोंको बहाल करना और काम सिखाना पड़ता है। यह अवश्य उनके ख्यालसे बुरा है। पर यदि वे मजदूरोंके आराम और सुभीते पर ध्यान दें तो ये शिकायतें कभी न करनी पड़ें। यदि वे अपने कारखानोंके पास ही मजदूरोंके रहने लायक हवादार, साफ, सूखा मकान बना दें; पीनेको साफ पानी दें; सफाईका पूरा प्रबन्ध कर दें, मन बहलाव, खेलकूद, आमोद प्रमोदका इन्तजाम करें तो मज़दूरे आपसे आप इन कारखानोंमें टूट पड़ेंगे; उन्हें छोड़कर कभी दूसरी जगह नहीं जायंगे। उसी प्रकार

यदि धीरे धीरे कारखानेकी ओरसे डाक्टरोंकी सहायता मिलने लगे, दवादारूका प्रबन्ध हो जाय तो और भी अच्छा। प्रायः यह भी कहा जाता है कि पुतली घरोंमें काम करनेवाले खेती-बाड़ीके दिनोंमें काम छोड़कर घर लौट आते हैं इससे कारखाने-वालोंकी बड़ी हानि होती है। यह बात बहुत ही सच्ची है। इसमें कोई शक नहीं कि कारखानोंमें काम करनेवालोंका एक बहुत बड़ा हिस्सा वैसे लोगोंका है जो सचमुचमें कृषक हैं, पर छुट्टीके दिनोंमें, या अनावृष्टिके समयमें लाचार हो घरबार छोड़ कर कारखानोंमें मजदूरी करते हैं। यदि कारखानेवाले जरा सावधान हो जायं, यदि वे इन मजदूरोंके प्रति सहानुभूति दिखावें तो शीघ्र ही कृषकोंकी तरह, कारखानेवालोंकी भी एक श्रेणी बन जाय। आवश्यकता सिर्फ इसी बातकी है कि इनको रहनेको स्वास्थ्यकर घर मिले, यदि सम्भव हो तो बालबच्चोंके भी साथ रहनेका प्रबन्ध हो। उनके बाल बच्चों-की शिक्षाका इन्तजाम रहे। बापमां जिस रोजगारसे सुखी रहेंगे सम्भव है कि वे अपने बच्चोंको भी उसी रोजगारमें लगा-यंगे। मजदूरे यदि सुखी रहेंगे तो सदैव उस कारखानेका भला मनायेंगे, उसकी उन्नतिके प्रयासी होंगे। यह तो सब किसीकी मानी हुई बात है कि भारतवासियोंके जैसा कृतज्ञता स्वीकार करने वाला पृथ्वीपर और कहीं नहीं मिलेगा। ये कृतज्ञ मजदूरे झटपट अपने पुराने मालिकोंको छोड़कर कभी दूसरी जगह जानेका विचार नहीं करेंगे। उधर मालिकोंकी

भी एक बहुत बड़ी जरूरत पूरी हो जायगी। उन्हें मनसे काम करने वाले मजदूरे मिल जायंगे, यदि वे चाहें तो इनके बालबच्चोंको भी तालीम देकर अपने काममें लगा सकते हैं। रोज रोज नये गंवार कुलियोंके भर्त्ती करने और तालीम देनेकी तकलीफोंसे बच सकते हैं। धीरे धीरे मालिकों और कामदारोंका एक बड़ासा परिवार बन जायगा, निरन्तर एक दूसरेकी भलाईकी चेष्टा करता रहेगा।*

इनके रहनेका वर्त्तमान प्रवन्ध—भारतवर्षमें बड़े बड़े कारखाने तीन प्रकारकी जगहोंमें पाये जाते हैं। (१) कुछ कारखाने शहरोंसे दूर हैं। यहां आसपासके गांवोंसे कुली आते हैं। इन कारखानोंमें जब अधिक कुलियोंकी जरूरत हुई है तब मालिकोंको झोपड़ियां बनानी पड़ी हैं। इन छोटी छोटी झोपड़ियोंमें प्रायः गांवोंका सा प्रवन्ध रहता है; कुली पीछे एक छोटी कोठरी और कुछ थोड़ीसी घिरी हुई जमीन मिल जाती है। यह प्रवन्ध सन्तोषदायक कहा जा सकता है। यहां सिर्फ सफाई, कूड़े मैलेके फेंकने, तथा स्वच्छ जलका प्रवन्ध करा देनेसे यथेष्ट हो जायगा।

---

* इस विषयका यह अंश प्रिन्सपल दवारके एक लेखके आधारपर लिखा गया है। जिसके लिये मैं प्रिन्सपल साहबका कृतज्ञ हूं।

From the paper on Efficiency of Labor—a problem of our industries—by S. R. Davar Esqr., Bar-at law; Principal Davar's College Bombay, (written for the Econ. conference, 1917).

(२) मद्रास, कानपुर, नागपुर, अहमदाबाद, जैसे शहरोंमें, तथा कलकत्तेके निकटवर्त्ती स्थानोंकी अवस्था भिन्न है। पहली श्रेणीके कारखानोंसे इन स्थानोंकी अवस्था भिन्न है, पर तो भी यहां खास कलकत्ते बम्बई जैसे बड़े शहरोंकी अपेक्षा जमीन बड़ी सस्ती है। इस कारण इन कारखानोंके आसपास ही छोटी छोटी झोपड़ियोंकी बस्तियां बन गयी हैं। इन झोपड़ियोंके समूहको अङ्गरेजी पढ़े लिखे लोग अब 'बस्ती' की संज्ञा देने लगे हैं। ये झोपड़ियां प्रायः ठेकेदारोंकी होती हैं कारखाने वालोंकी नहीं। कुली उनसे कियायेपर लिया करते हैं। बर्म्मामें रंगून तथा और कई स्थानोंमें मालिकोंकी तरफसे कभी कभी बारक बना दिये जाते हैं, जिनमें एक बड़ी कोठरीमें १०, २०, ३० जवान कुली मुफ्त रहा करते हैं। पर जो हो, इन सब जगहोंमें कुलियोंको घरका सुख नहीं मिलता, गांवोंकी स्वच्छन्दता नहीं मिलती। सफाई बहुत ही कम रहती है, मालिकों वा म्युनिसिपलिटियोंकी कड़ी निगरानीकी जरूरत रहती है। ऐसे शहरोंमें भी भले मालिकोंने कुलियोंके रहनेका बहुत कुछ प्रबन्ध किया है। इन शहरोंमें जहां कुली रहने भी पाते हैं बड़ी खुशीसे भर्ती होते हैं। कानपुरके दो बड़ी योरोपियन फेक्टरियोंने, कलकत्तेके आसपासकी जूट मिलोंने तथा अहमदाबादकी काटनमिलोंने 'कुली लाइन' बनाये हैं और बनानेका प्रयत्न कर रही हैं। कहीं एक मंजिले और कहीं २ दो मंजिले मकान बना दिये गये हैं जिनकी कोठरियोंमें मुफ्त या किराया देकर कुली रहते हैं। इन शहरोंमें कारखाने

वाले कुलियोंके लिये मकान बना सकते हैं, क्योंकि उन्हें जमीन-पर कलकत्ते, बम्बईकी भांति बहुत रुपया नहीं लगाना पड़ता। इन कारखानोंमें पहलेसे ही बहुतसी जमीन लेकर रखी हुई है, नई जमीन खरीदनेमें भी इन्हें बहुत अधिक धन व्यय नहीं करना पड़ता। एक दूसरी बात और है जिससे मकान बनानेसे उन्हें लाभ ही रहता है। इन स्थानोंके कारखाने इतने सटे हुए नहीं हैं कि एक कारखानेके कुली दूसरे कारखानेमें सहज ही भर्त्ती हो जायं। इन सब कारणोंसे जब मालिक कुछ व्यय करके रहनेका घर बना देता है तब पूरी आशा करता है कि कुली शीघ्र ही उसे छोड़कर चले न जायंगे। पर बम्बईकी अवस्था बिलकुल न्यारी है।

साकची-जमशेदपुरकी ताता कम्पनीने अपने नौकरोंके रहने-का बड़ा अच्छा प्रबन्ध किया है। इधर दिसम्बर, १९१६ में बिहार सरकारने एक कमिटी बैठाई थी जिसने बिहारके कोयलेकी खानोंमें काम करनेवाले कुलियोंके रहनेकी अवस्थाकी जांच की थी। कमिटीकी रिपोर्टपर सरकारने निश्चय किया है कि ऐसा नियम बना दिया जाय कि अब खानोंके मालिक इन कुलियोंके रहनेका मकान, पीनेका पानी और सफाईका प्रबन्ध करनेके लिये बाध्य हों। कलकत्तेके आसपासकी जूटमिलोंको कुलियोंके लिये घर बनानेकी जमीन खरीदनेमें सहायता देनेका वचन भी दिया है।

बहुत जगह देखा गया है कि कारखानेवाले कोशिश करने-पर भी जमीन नहीं खरीद सकते और खरीदनेपर भी कानूनी

झगड़ोंसे नहीं वचते। ऐसे स्थानोंमें उचित होगा कि सरकार ज़मीन खरीद दे। यह ज़मीन कारखानेवालोंके रुपयोंसे सरकार खरीद दे; और जहां इनपर भार देनेसे कुलियोंके घर वनते वनते युग लगते देख पड़ें वहां उचित है कि सरकार अपने रुपयेसे जमीन खरीदकर कारखानेको पट्टा दे दे या किश्तपर वेच डाले। पर हर हालतमें सरकार इतना अवश्य देखे कि जमीन किसी और काममें तो नहीं लगाई जा रही है तथा जो घर वनाये जाते है वे रहने लायक हैं या नहीं। उद्योग यहीं खतम नहीं होना चाहिये, म्युनिसिपलटियोंको भी इसमें सहायता करनी पड़ेगी। अगर कारखानेवालोंके दो चार अच्छे घर वन गये और आसपास की वस्तियोंमें गन्दगीका ढेर लगा ही रहा तो स्वास्थ्य रक्षा न हो सकेगी। इसलिये म्युनिसिपलटियोंको भी उचित है कि साथ साथ इन इलाकोंमें सफाई, जल इत्यादि का प्रवन्ध करें।

(३) वम्वई की अवस्था न्यारी है। पर कानपुर, कलकत्तेकी दशा भी शीघ्र वैसी ही हो जायगी। इसलिये अभीसे सावधान होना उचित है। वम्वईमें मजदूरोंकी संख्या वहुत है, वहांकी वहु-संख्यक काटनमिलोंके अतिरिक्त रेलवेवर्कशाप, डक, गुदाम, मिएट इत्यादिमें भी वहुतसे मजदूरे काम करते हैं। इन सवकी अवस्था प्रायः एक सी है।

ये मजदूरे 'चाल' में रहा करते हैं। म्युनिसिपल कारपोरे-शन, 'इम्प्रूवमेंटट्रस्ट' और खास आदमियोंने 'चाल' वना रखे हैं।

चाल दो मंजिले, तिमञ्जिले, चौमंजिले तक बनाये जाते हैं। इनकी कोठरियां प्रायः अंधेरी रहती हैं, हवाका प्रवेश बहुत कम होने पाता है। निचली कोठरियां तो हमेशा सर्द बनी रहती हैं। आंगनोंमें, जो बहुत ही तङ्ग हैं, कूड़े कतवारका ढेर लगा रहता है। वहां स्वच्छ जलका पूरा प्रबन्ध नहीं है, पाखानोंकी संख्या बहुत ही कम है। मकानोंमें एक प्रकारकी सड़ी बू हमेशा बनी रहती है। ऐसी जगहोंमें १० फीट लम्बी और १० ही फीट चौड़ी कोठरियोंका तीनसे सात रुपये महीनेतक किराया देकर मजदूरे रहा करते हैं। जिसमें किराया कम लगे इसलिये कभी कभी तीन चार परिवारके लोग एक ही कोठरीमें रहा करते हैं। यह सच है कि ये कुली दिनभर बाहर कामपर ही रहा करते हैं, रातको भी प्रायः खुली छतपर ही सोते हैं, पर तो भी जरूरतसे अधिक आदमी एक कोठरीमें रहते हैं इसमें सन्देह नहीं।

म्युनिसिपल और इम्प्रूवमेंटट्रस्टकी ओरसे जो 'चाल' बनाये गये हैं उनमें हवा, पानी और पाखानेका अच्छा प्रबन्ध है। पर वहां भी एक कोठरीमें जरूरतसे अधिक आदमी रहते हैं, और आंगनमें कूड़ा-कतवार पड़ा रहता है। इस हालतमें एक महला या नितान्त दो महला मकान बनाना ही उचित होगा।

कहा जाता है कि प्रत्येक मिलवालेको मजदूरोंके लिये घर बनानेको बाध्य किया जाय। पर यह उचित न होगा। एक तो यह कि बम्बई जैसी जगहमें इतने लोगोंके लिये मकान बना देना

कुछ सहज नहीं है। और यदि मकान बना दिये गये तो फिर कब सम्भव है कि आपके मकानमें रहनेवाला कुली सब दिन आपके यहां ही काम करे। यदि यह कहा जाय कि दूसरी जगह काम करनेवाले कुली यहां नहीं रहने पायंगे तो कुलियोंकी स्वतन्त्रता बहुत कुछ जाती रहेगी। और मिलवालोंको छोड़ और भी तो बहुतलोग कुली, मजदूर रखते हैं, फिर उन्हें मकान बनानेको क्यों न बाध्य किया जाय?

इन सब बातोंको सोच विचारकर औद्योगिक कमिशनने राय दी है कि इस प्रबन्धका सबसे अधिक भार बम्बईके कारपोरेशन और इम्प्रूवमेंटट्रस्टपर रहना चाहिये। फिर वहांकी सरकारको भी इसमें सहायता करनी चाहिये। देखना होगा कि भविष्यमें फिर वैसी मुश्किलें न हों। इसलिये अब जितने नये कारखाने खुलें सब ऐसी जगहमें हों जहां जगह खूब मिलती हो। म्युनि-सिपलको उचित है कि वहां सड़क खोलकर, पानीका नल बैठा-कर, मोरी बनाकर, ट्राम लाइन खोलकर नये कारखाने वालोंकी सहायता करे। शहरमें जो बड़े बड़े रेलवे वर्कशाप हैं उनको धीरे धीरे उठाकर बाहर ले जाना चाहिये। ट्राम लाइनें बढ़ाई जायं, शहरके आस पाससे बिजलीकी रेलगाड़ियां आती जाती रहें।

यह तो हुई नये कारखानोंकी बात। जो पुराने कारखाने शहरके अन्दर हैं उनके आसपास कुलियोंके मकान बनवाये जायं। इसका खर्च म्युनिसिपल, और 'ट्रस्ट' वाले दें और मकानोंका किराया वसूल करें। इसमें सरकार उनकी सहायता

करे; यदि यह सब यथेष्ट न हो, तो म्युनिसिपलकी ओरसे कार-खानोंपर टैक्स लगाया जाय। बम्बई क्यों, कलकत्ते, कानपुर-में भी इस प्रश्नको हल करनेके लिये इन्हीं उपायोंका अवलम्बन करना चाहिये।

कुलियोंके मकान कैसे हों?—आज कल जिस फैशनके कुली लाइन शहरोंमें पाये जाते हैं वे कदापि सन्तोषजनक नहीं। कारखानोंके मालिक या किरायेवाले, खर्चके ख्यालसे दोमंजिला तिमंजिला बना दिया करते हैं। कभी कभी ये मकान गन्दी गलियोंके बीच बनाये जाते हैं। इनमें रोशनी या हवाका आना मुश्किल हो जाता है। सफाईका भी प्रबन्ध बड़ा ढीला रहता है। जहां किरायेकी 'बस्तियों' में कुली रहते हैं वहां भी वही हालत रहती है। कभी कभी एक छोटीसी कोठरीमें १०।२० आदमी ठूंसठांसकर भरे रहते हैं। ये कुली—मर्द औरत—जिस तरह रहते हैं वहां चरित्रभ्रष्ट हो जाना, शराब कबाबकी आदत लगा लेना कुछ असम्भव नहीं है। कलकत्ते हवड़ेके आसपास कुलीबस्ति-योंमें चरित्रकी कमजोरीके अनेक चिन्ह पाये जाते हैं।

ये कुली देहातोंके रहनेवाले हैं; इन्हें अपनी २ झोपड़ियोंमें रहने तथा खुले मैदानमें काम करनेकी आदत है। प्रत्येक परिवार अपनी झोपड़ीमें सुख स्वच्छन्दतासे रहता है, उसे साफ रखता है और जहां तक बन पड़ता है स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करता है। घरके पासकी जमीनमें फूलपत्ती या शाक सब्जी भी लगा-कर रखता है। जबतक अपनी बस्तीमें रहता है समाजके

बन्धन उसे चरित्रवान बनाये रखनेमें सहायता देते हैं। पर वह जब शहरोंमें आता है तब ये सब बातें बदल जाती हैं। शहरोंका यह जीवन उसे कभी पसन्द नहीं हो सकता। यही कारण है कि कुली हमेशा घर लौट जानेका दिन गिनते रहते हैं। जहां थोड़ी पूंजी हो गयी, ज़मीनदारकी मालगुजारी देने या कपड़ेलत्ते खरीदनेभर को १०।५ रुपये हो गये कि वह घर लौट आया। कुलियोंके स्वास्थ्य तथा चरित्र भ्रष्ट करनेके ये सामान जब तक इसी प्रचुरतासे मिलते रहेंगे तबतक कारखानेवालोंको कुलियोंकी कमी बनी ही रहेगी, उन्हें नित नये मजदूर तलाश करने पड़ेंगे।

सबसे अच्छा प्रबन्ध तो यह होता जिसमें गांवोंकी तरह सब चीजें मिलती। 'गिरीडीहके' कोयलेकी खानोंमें ऐसा ही कुछ प्रबन्ध किया गया है। वहां कुलियोंको जमीन मिली है, वहां ये लोग झोपड़ोंमें रहते हैं। झोपड़ोंके आसपासकी जमीनमें शाकशब्जी भी उपजाते हैं। प्रत्येक परिवार सुख-स्वच्छन्दतासे रहता है। इसलिये वहांके कुली भागते नहीं; वहांकी खानोंमें मजदूरोंकी कभी कमी नहीं होती। जहां जहां ऐसा प्रबन्ध हो सकता है वहां यह करना नितान्त वांछनीय है। पर कलकत्ते या दूसरे बड़े शहरमें यह करना सम्भव नहीं। वहां उचित है कि शहरके बाहर ऐसी बस्तियां बनाई जायं, वहांसे शहरतक आनेजानेके लिये अच्छी सड़कें, सस्ती ट्राम और बिजलीकी रेलगाड़ियोंका प्रबन्ध किया जाय। यह काम कारपोरेशन और इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट-

का है। इससे दो लाभ होंगे—शहर परिष्कार हो जायंगे, तथा मिलोंकी दिक्कतें दूर हो जायंगी।

स्वास्थ्य तथा चरित्र सम्बन्धी सुधार—आजकल औजारोंका जमाना है सही पर तो भी मजदूरों—जिन्हे औजारोंके विना काम नहीं चल सकता। पर ये लोग हैजा, मलेरिया, इत्यादि बीमारियोंसे अपनी शक्ति नाश कर रहे हैं, प्राण गंवा रहे हैं। यदि भारतवर्षमें सर्वसाधारणके स्वास्थ्यपर विशेष ध्यान दिया जाय, देश भरमें रोगोंसे लड़ाई ठान दी जाय, मच्छड़ों जैसे दुश्मनोंपर चारों ओरसे चढ़ाई की जाय तो बड़ा उपकार हो। सम्पत्तिकी उन्नति बहुत कुछ बढ़ जाय।

यह तो सम्पूर्ण देशसे सम्बन्ध रखनेवाली बात है। कारखानेके लिये भी उचित है कि कुलियोंके लिये जीवहलाव, खेल कूदका प्रबन्ध किया जाय। इससे मजदूरोंका स्वास्थ्य अच्छा होगा और मालिकोंका अधिक काम निकलेगा। रोगियोंके लिये दवाखाना, बुढ़ापेके लिये 'प्राविडंट फंड' खोलना चाहिये। सहयोगकी—मिलजुलकर काम करनेकी शिक्षा देनी चाहिये। पढ़ने लिखनेके लिये वाचनालय, पुस्तकालय भी जरूरी होंगे। कभी कभी इन्हें यह भी बताना पड़ेगा कि जूआ नहीं खेलना चाहिये, मादकद्रव्योंका सेवन करना बुरा है; साफ सुथरा रहना तन्दुरुस्तीको बढ़ाता है। इत्यादि।

सरकार, मिलवालों तथा परोपकारिणी सभाओं द्वारा ये सब काम हो रहे हैं। बम्बईकी 'सोशल सर्विस लीग' तथा

पूनाकी 'सर्वेंटआफ इंडिया सुसाइटी' नामक परोपकारिणी संस्थाओंने बड़ा अच्छा काम कर दिखलाया है। मालिकोंने भी बहुत कुछ किया है। अभी हालमें करीमभाई इब्राहिमकी ओरसे एक भवन खुला है जहां पुस्तकालय, वाचनालय, व्यायामशालाके अतिरिक्त पढ़ाना लिखाना, सीने पिरोनेका भी काम चलता है। ताता कम्पनीकी ओरसे र,ाकचीमें इसका विशद रूपसे प्रवन्ध किया जा रहा है। वहां नौकरोंके लड़के लड़कियोंके लिये स्कूल हैं, अस्पतालका प्रवन्ध है। खेलकूदका पूरा इन्तजाम है। अभी हालमें दो लाख रुपये इस प्रकारकी उन्नतिके कामोंके लिये अलग कर दिये गये हैं। कहीं अकालसे दुःखी न हों, इसलिये गल्ला वगैरह खरीदकर पड़ते दरपर वेचनेका इन्तजाम किया गया है। पूना सुसाइटीके श्रीयुक्त ठक्कर यह कामकर रहे हैं। पूनाके परोपकारी प्रि० डाक्टर हारोल्ड मानकी सहायता ली जा रही है। विलायतमें भी सिडनी वेव दम्पत्ति, अध्यापक हावहाउस और अरविक इस कम्पनीकी सहायता कर रहे हैं।

कभी कभी कहा जाता है कि ये सब काम परोपकारिणी सभाओं या स्वयं मजदूरोंपर ही छोड़ दिये जायं। पर यह भूल है। मजदूरोंकी स्वास्थ्यरक्षा करना, उनका चरित्र वनाये रखना सरकार और मालिकोंका काम है।

व्यावहारिक शिक्षाकी भूत और वर्त्तमान अवस्था— कहा गया है कि श्रमजीवियोंकी उन्नतिका दूसरा उपाय शिक्षा प्रचार है। अवतक इस विपयमें क्या क्या किया गया है इसका

दिग्दर्शन करा देना अनुचित न होगा। ब्रिटिशसरकारकी ओरसे जब शिक्षाका प्रारम्भ हुआ तब उसका प्रधान उद्देश्य क्लर्क तैयार करने और निम्न श्रेणीके शासक बनानेका था। इसलिये 'किताबी शिक्षा' ही दी जाती थी। कुछ दिनोंतक तो इसका खूब मान रहा, पर जब इस तरहके 'बस्ता एडुकेशन' पाये हुए युवकोंकी संख्या जरूरतसे अधिक हो गयी तब उनका मान और दाम दोनों कम हो गये। उनीसवीं सदी तक व्यापार-धन्धोंसे सरकारकी उदासीनता ही रही, सिर्फ रेल और नहर सरकारकी ओरसे बनीं। जो थोड़े बहुत कल कारखाने खुले वे सब गैर सरकारी चेष्टासे। इसमें योरोपियनोंका ही अधिक श्रेय था। देशी युवकोंको इन कारखानोंको चलानेकी अभिज्ञता मिल ही नहीं सकती थी, इसलिये कारखाना चलानेवाले कर्मचारी सीधे विलायतसे ही आते रहे। वे लोग यहां आकर देशी मजदूरोंको सिखाकर किसी तरह काम चलाते रहे। परन्तु देशमें सर्व-साधारणमें व्यापार व्यवसायकी शिक्षा फैलानेका क्या महत्व है यह अबतक किसीको मालूम नहीं था।

इधर १८८० के 'दुर्भिक्ष-कमिशन'ने बताया कि केवल कृषिपर सैकड़े ७२ आदमियोंका निर्भर रहना उचित नहीं, देशमें धन्धे खड़े किये जायं। उधर रायल कमिशन (१८८५) ने कहा कि कलके बने सस्ते मालने देशी कारीगरोंका रोजगार मिट्टीमें मिला दिया है। सरकारको उचित है कि देशकी साम्पत्तिक अवस्था सुधारनेके लिये इन कारीगरोंकी सहायता करे। सर-

कारने व्यावहारिक शिक्षाका महत्व स्वीकार किया, पर इतने पर भी फल कुछ विशेष न हुआ। हां, सर्वसाधारणके उद्योगसे बम्बईका विक्टोरिया जुबिली कलाभवन (१८८७) खुला। और सरकारने विश्वविद्यालयोंमें विज्ञान (सायन्स) पढ़ाना शुरू करा दिया। लार्ड कर्जनके समयमें फिर विचार हुआ, जिससे सायन्सकी पढ़ाई बढ़ी तथा स्कालरशिप (वृत्ति) देकर विद्यार्थियोंको कलाकौशलकी शिक्षाके लिये योरप, अमरिका भेजनेकी व्यवस्था हुई। इधर कलकत्तेमें भी, गैरसरकारी तरीकेसे, 'साइन्टिफिक एशोसियेशनकी ओरसे, कलाकौशलकी शिक्षाके लिये विद्यार्थियोंको विदेश भेजनेका प्रबन्ध किया गया।

दुर्भाग्यसे 'सरकारकी वृत्ति' वाली प्रथाके कई दोष निकल आये। एक तो जिन लोगोंको वृत्तियां मिलती थीं उन्हें अपने व्यवसायका प्रारंभिक ज्ञान मात्र भी नहीं रहता था जिसके कारण उनका बहुत सा समय मामूली बातोंको सीखनेमें ही नष्ट हो जाता था। फिर विलायतमें व्यवसाय-धन्धेकी किताबी शिक्षा तो स्कूलोंमें मिल जाती थी, पर कारखानेकी जानकारी प्राप्त नहीं होती थी। कारखानोंमें घुसना असम्भव था और किसी तरह घुसनेपर भी कारबारका असली भेद कभी नहीं बतलाया जाता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई भी व्यवसायी अपना भेद नहीं बता सकता, पर यदि ये विद्यार्थी यहांसे ही अपने रोजगारकी हालत जानते होते तो वहांके कारखानोंसे बहुत कुछ सीख आते। कभी कभी ये विद्यार्थी ऐसी चीजें

सीखनेको भेज दिये जाते थे जिनका कोई भी कारखाना यहां नहीं है और न शीघ्र खुलनेकी ही आशा है। फिर भी जब वे सीख साखकर घर लौटते थे तो उनकी ज्ञानकारीसे लाभ उठाने उन्हें कारखानोंमें शामिल कर देने या कारबार खोलनेमें सहायता दिलानेका कोई भी प्रबन्ध नहीं था। इन कारणोंसे स्कालरशिपकी रकम बहुधा व्यर्थ ही चली जाती थी।

यह सब देख सुनकर सरकारने अपनी नीति बदल दी है। जो थोड़ा बहुत कारबार कर चुके हैं उन्हें ही वृत्ति दी जाती है तथा वैसी चीजोंके लिये ही वृत्ति मिलती है जिनको सीखनेके लिये विदेशके बड़े बड़े कारखानोंमें प्रबन्ध किया जा सकता है। जिन व्यवसायोंकी शिक्षा यहां के कारखानोंमें हो हो सकती है उनके लिये खर्च करके विदेश भेजना फजूल है।

देशी कलाभवनों या विलायतमें औद्योगिक शिक्षा पाये हुए भारतीय युवकोंको नौकरी देनेमें देशी विदेशी दोनों तरहके मालिक हिचकते हैं। उनपर कारखानेका कुल भार छोड़ते हुए डरते हैं। क्योंकि इनकी शिक्षा अधिकांशमें आनुमानिक ही है। फिर भी अबतक जिन्हें यह शिक्षा मिली है वे उच्चजातिके युवक हैं। इनकी किसी भी पीढ़ीमें हाथोंसे परिश्रमका काम नहीं हुआ था। ये ब्राह्मण क्षत्रियके लड़के हाथ मैले होनेके भयसे कभी अपने हाथोंसे बसूले या घन पकड़नेकी हिम्मत नहीं करते, न हाथोंसे काम करनेके लिये अपना कीमती कोट ही उतारनेकी तकलीफ कर सकते हैं। ये लोग अपनी रटन्त विद्या, अपनी

कागजी डिग्रीके भरोसे तुरत किसी कारखानेके परिचालक बन जाना चाहते हैं। भला इस हालतमें कौन सा मालिक यह चाहेगा कि इन अनुभवशून्य युवकोंको अधिक वेतन देकर अपना रोजगार बरबाद करे। औद्योगिक शिक्षा देते हुए स्कूल कालेजोंमें किताबी शिक्षापर ही अधिक ध्यान दिया जाता है, लोग व्यवहारिक शिक्षाको भूल जाते हैं। तभी तो सर दोराब ताताने सभापतिके सम्भापणमें १९१५ में कहा था कि "भारतीय युवकोंको उचित है कि अपनी औद्योगिक शिक्षाका कालेजोंमें आरम्भ करें, कारखानों (Workshop) में उस अध्ययनको जारी रखें और उसकी पूर्त्ति मिलों—पुतलीघरोंमें जाकर करें। तभी वे उद्योगधन्धोंके महारथी बन सकेंगे। योरप अमेरिकाके जिन लोगोंने ये पद पाये हैं सब किसीने इसी राहपर चलकर सफलता प्राप्त की है।* साकची कम्पनीके मनेजर टटविलर साहबने भी अपने इजहारमें औद्योगिक कमिशनके सदस्योंको कहा था कि "देशी युवक चाहते हैं कि एक ही दिनमें कारखानेके बड़ेसे बड़े पदपर पहुँच जायं, उन्हें दर्जे बदर्जे नीची सीढ़ीसे ऊपर चढ़नेकी सहिष्णुता नहीं है। यदि कोई युवक क्लर्की, मास्टरी वा वकालत छोड़ कर उद्योग धन्धोंमें जाना चाहे तो उसे उचित है कि पहले यह निश्चय कर लेवे कि वह किस धन्धेमें जायगा। यह निश्चय कर १५।१६ वर्षकी अवस्थामें स्कूलकी पढ़ाई छोड़ कर किसी कारखानेमें जाकर मजदूर या

* Sir Dorab Tata, as President Industrial Coference at Bombay, 1915.

'अपरेन्टिस' (शिक्षा नवीस.) की जगहपर भरती हो जाय। कारखानेमें काम सीखे और छुट्टीके समय उसी विषयकी किताबें पढ़े। कुछ समय तक यों ही चले, तब फिर यदि हो सके तो दो एक वर्षतक विलायत जाकर किसी कारखानेमें काम कर आवे। इस देशमें भी धन्धोंकी पूरी शिक्षा मिल सकती है, पर विलायतमें एक ऐसी शिक्षा मिलेगी जो देशमें नहीं मिल सकती। विलायतके कारखानोंमें काम करनेसे यह तो मालूम हो जायगा कि हाथोंसे काम करना कभी लज्जास्पद नहीं हो सकता तथा बड़ेसे बड़े आदमीके लड़के भी मिलोंमें छोटीसे छोटी नौकरी करते हुए भी नहीं लजाते, वरन् इसी तरह दर्जे बदर्जे ऊपर चढ़ जाते हैं।

औद्योगिक शिक्षा कैसी हो ?—औद्योगिक शिक्षाके लिये सबसे पहली जरूरत यह है कि देश भरमें सब श्रेणीके बालकों-को इस बातकी शिक्षा दी जाय कि परिश्रम करना—हाथोंसे कमाना बुरा नहीं है। 'परिश्रम ही धर्म है'—इसी उपदेशका प्रचार सर्वत्र कराया जाय। प्राथमिक शिक्षाका प्रचार शीघ्र बढ़ेगा; आशा की जा सकती है कि कुछ ही दिनोंमें यह शिक्षा अनिवार्य कर दी जायगी। उस समय अमीर गरीब, ऊंच नीच, ब्राह्मण शूद्र—सब किसीके बच्चे पढ़ेंगे। कुछ दिनोंतक तो इस शिक्षाके प्रभावसे समाजमें हलचल मच जायगी; उच्छृंखलता आ जायगी। जो अबतक दबे रहे हैं, जिन्हें ब्राह्मणोंके सामने सिर उठानेकी हिम्मत नहीं रही है, वे थोड़ी सी शिक्षा पाकर

यकायक उठ पड़ेंगे। उनके दिलोंसे पूज्यबुद्धि, ऊंची जातियोंके प्रति श्रद्धाभक्ति बिलकुल जाती रहेगी। ताज्जुब नहीं कि वे लोग ऊंची जाति वालोंको अत्याचारी समझें और बदलेमें घृणा करने लगें। प्राथमिक शिक्षाकी प्रथमावस्थामें ये फल अनिवार्य हैं। पर 'अन्त भलेका भला' वाली नीतिके अनुसार कुछ समयके बाद यह शिक्षा अपना मीठा फल अवश्य दिखायगी। यही अवसर है कि देशभरके नवयुवकों और बालकोंमें 'परिश्रम धर्म है' का उपदेश प्रचारित हो। प्राथमिक पाठशालाओंमें जो किताबें पढ़ाई जायं और उपदेश दिये जायं उनमें इसी विषय की प्रधानता हो। फिर बागोंमें फूल पत्तियां लगाना सिखलाकर, चित्रकला और नमूने बनाने (Modelling) की शिक्षा दे कर, परिश्रम करने और व्यावहारिक शिक्षाके प्रति प्रेम उत्पन्न कराया जाय। लड़कपनकी यह आदत जन्मभर न भूलेगी, वह भविष्य जीवन को बिलकुल बदल देगी। इन स्कूलोंमें पढ़ाई खतम हो जानेपर उचित है कि बच्चोंके लिये, विशेषकर पेशेवरोंके बच्चोंके लिये अपने बाप दादेके पेशोंको सिखानेका यथेष्ट प्रबन्ध कर दिया जाय। इसके लिये एक विशेष प्रकारके स्कूलोंकी जरूरत होगी जिसका वर्णन अभी करूंगा। यहाँ पर एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि यदि इस प्राथमिक शिक्षाके कारण देशके लोगोंमें परिश्रमसे घृणा उत्पन्न हो गयी तो बड़ा अनर्थ होगा। इस शिक्षासे देशका अशिक्षित रहना ही अच्छा होगा। आज कल जिस तरह पेशेवालोंके लड़के थोड़ीसी

शिक्षा पाकर 'पूरे बाबू' बन जाते हैं और बाप दादोंके रोजगार-को घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं वह अत्यन्त बुरा है।

यह तो हुई निम्नतम शिक्षाकी बात। इसके साथ ही यह आवश्यक है कि देशमें बड़ी बड़ी प्रयोगशालायें खोली जायं, जहां विद्वान लोग दिन रात खोजमें लगे रहें। उनकी 'खोज' से देशके उद्योगधन्धोंको बड़ा लाभ पहुंचेगा। जर्मनीकी तर-की इसी 'खोज'से हुई थी; इङ्गलैण्ड भी इसका महत्व स्वीकार करके अधिक धन खर्च करने लगा है। स्वर्गीय देशहितैषी जमशेदजी नशरवानजी ताताने भी इसका महत्व समझकर 'बङ्गलोर इन्सटीस्यूट' खोलनेके लिये धन दिया था। यहां एक नहीं दो नहीं, ऐसे ऐसे कई विद्यापीठोंकी जरूरत है।

अब खास औद्योगिक शिक्षाकी बात लीजिये। इस शिक्षा-की नीति स्थिर करनेमें एक बातपर दृष्टि रखनेकी बड़ी आव-श्यकता है। देखा जाता है कि मजदूर या कारीगर दो प्रकारके हैं। एक वे जो बड़े बड़े कारखानोंमें, मिलोंमें, काम करते हैं। और दूसरे वे जो स्वतन्त्र रूपसे बढ़ई, लुहार, सुनार, मेमारकी तरह काम करते हैं। इन्हें 'दस्तकार' (Craftomen) कहा जा सकता है। इन दोनों की औद्योगिक शिक्षा दो प्रकारकी होगी। इन दस्तकारोंको किताबी शिक्षाकी जरूरत नहीं है, उन्हें अपनी आंखों, हाथोंसे ही काम लेना पड़ता है। जो इसमें दक्ष है वही सफलता प्राप्त करता है। इसलिये इनकी शिक्षाके लिये हर जगह हर शहर या बड़े बड़े देहातोंमें स्कूलोंकी जरूरत

है। इन स्कूलोंमें अच्छे दक्ष मास्टर सिखानेवाले हों। मास्टरों-के विषयमें सबसे अधिक सावधानीकी जरूरत है। यदि दस बीस स्कूलोंके निरीक्षणके लिये एक दक्ष अफसर रख दिया जाय तो अच्छा हो। आज कल जो 'इण्डस्ट्रियल स्कूल' खोले जाते हैं वहां की पढ़ाई बड़ी भद्दी होती है। इस दर्जेके शिक्षार्थियोंको केवल हाथ और आंखका इस्तेमाल और संभाल बतानी चाहिये, तथा नये नये पैटर्न (नमूनों) को समझने और उनके मुताबिक काम करना सिखाना चाहिये।

बड़े बड़े कारखानों—मिलोंमें काम करनेवालोंके लिये अलग प्रबन्ध करना चाहिये। कलोंसे चलनेवाले बड़े बड़े कारखानोंमें भी दो भेद हैं एक वैसे कारखाने हैं जहां किताबी शिक्षाके अलावा हाथोंसे काम करने आंखोंसे देखनेकी बड़ी जरूरत है। कपड़े, चमड़े, खानों और कांचके कारखाने, या कल-पुर्जा ढालनेका व्यवसाय इसी दर्जेका है। इनमें किताबी शिक्षाके अतिरिक्त कारखानोंमें काम करने, दर्जे बदर्जे काम करके पूरा व्यवसाय सीखनेकी बड़ी आवश्यकता है। दूसरे दर्जेके व्यवसायमें चीनी, चावल, तेलकी मिलें हैं। इनकी जानकारीके लिये उचित है कि शिक्षार्थी चीनीके विषयका वैज्ञानिक वा रासायनिक अध्ययन स्कूलमें कर लेवें, उसके बनानेके कलपुर्जोंकी जानकारीके लिये अधिक शिक्षाकी जरूरत नहीं है। इन व्यवसायोंकी यथेष्ट शिक्षा स्कूलमें भी दी जा सकती है; पर पहले दर्जेके व्यवसायोंके लिये कारखानोंमें ही शिक्षा मिलेगी।

पहले दर्जेके व्यवसायोंमें शिक्षार्थी तीन दर्जेके होंगे। पहले दर्जेमें तो मजदूरे, कारीगर रहेंगे। इनकी थोड़ीसी प्राथमिक शिक्षा होनी बहुत जरूरी है। फिर ये काम सीखनेके लिये कार-खानोंमें भर्ती कर दिये जायं। यहां काम भी करेंगे और घंटे दो घंटे शिक्षा भी पायंगे। इस अवस्थामें इन्हें थोड़ा वेतन देना आवश्यक होगा। यदि एक कारखानेमें यथेष्ट विद्यार्थी न लिये जा सकें तो दो चार कारखाने मिलकर काम करें। इनके ऊपर 'फोरमैन' 'निरीक्षक' होंगे। इनमें शिक्षित भद्रसन्तानकी जरूरत है। इन्हें भी खाने पीने रहनेकी जगह कारखानोंमें मिले, थोड़ासा वेतन भी दिया जाय। ये लोग कारखानेमें मजदूरोंके साथ काम करेंगे तथा २।४ घन्टे पढ़ेंगे भी। सबके ऊपर इंजिनियर रहेंगे। इस दर्जेमें कुछ ऊंचे दर्जेकी शिक्षा पाये हुए युवक लिये जायंगे, इनका अधिक समय आनुमानिक शिक्षामें लगेगा, पर ये भी कारखानेमें काम करनेको आया करेंगे। यह शिक्षा समाप्त कर लेनेपर इन्हें बड़े बड़े इंजिनियरिङ्ग कालेजोंमें विशेष अध्ययनके लिये भेजना पड़ेगा। खानोंके लिये खानोंके आसपास ही स्कूल खोलना उचित होगा, वहां भूतत्व विद्याके साथ खान खोदनेकी व्यावहारिक शिक्षा दी जायगी। धातुओंको गलाने और कल पुर्जा ढालने इत्यादिके लिये अलग स्कूल खोलना पड़ेगा, यह स्कूल भी साकची जैसे लोहेके कार-खानेसे संलग्न हो। इन सब प्रकारकी शिक्षाओंमें सरकार कार-खानोंको धन देकर सहायता दे।

मजदूरोंकी कमी और उसकी दवा—कारखाने, मिलों पुतलीघरोंके मालिक प्रायः कहा करते हैं कि मजदूरे नहीं मिलते। मि० हरकिशन लालने औद्योगिक सभाके बांकीपुरवाले अधिवेशनमें वक्तृता देते हुए (१९१२ में) कहा था "अब यह बात मान ली गयी है कि देशमें मजदूरोंकी बड़ी कमी है। अवश्य ही इसका यह अर्थ नहीं है कि देशमें मनुष्योंकी संख्या कम होती जा रही है, पर कहनेका आशय यह है कि वैसे योग्यव्यक्ति जो मेहनत करनेसे नहीं भागते और जो अपने हाथों काम करना बुरा नहीं समझते तथा कारखानोंमें काम करनेकी योग्यता और संयम रखते हैं—वैसे व्यक्ति अवश्य ही कम पाये जाते हैं। ऐसे व्यक्तियोंमेंसे कुछ तो प्लेग, हैजा, मलेरियाके शिकार बन रहे हैं और कुछ बहकावे या धोखेमें पड़ कुली बनकर विदेश जाते हैं या देशमें यथेष्ट मजदूरी नहीं पानेके कारण घरबार छोड़ उपनिवेशोंमें देशान्तराधिवास करते हैं। उसी तरह अभी हालमें एक दूसरे लेखकने * भारतके भिन्न भिन्न कारखानोंसे पूछकर पता लगाया है कि प्रायः सबको कभी न कभी कुलियोंकी कमी रहती है। खेतीबाड़ीके दिनोंमें यह कमी और भी बढ़ जाती है। उस समय ये कुली जो प्रायः सबके सब कृषक ही हैं, खेतीबाड़ीके लिये अपने घर लौट जाते हैं। वैसे इलाकोंमें भी जहां बहुत घनी आबादी है तथा जहां प्रति मनुष्य बहुत ही कम जमीन पड़ती है, खेतीके दिनोंमें कुछ मजदूरोंकी जरूरत रहती है। इसका कारण

* E. A. Horne in the Bengal Ecoc. Journal. April 1918.

यह है कि ज्यों ज्यों हिन्दू परिवारके लोग अलग अलग रहने लगते हैं त्यों त्यों पैतृक जमीनका हिस्सा होने लगता है और वह घटते घटते एक छोटा टुकड़ा सा रह जाता है। अब इस छोटे टुकड़ेसे एक परिवारका निर्वाह नहीं हो सकता इस कारण उसे कमानेको विदेश जाना पड़ता है। पर तोभी खेतीवाड़ीके दिनोंमें उसे गृहस्तीके लिये लौटना पड़ता है। कुलियोंके घर लौट आनेका एक दूसरा कारण भी है। ब्याह शादीके दिनोंमें ये लोग देश लौट आते हैं या पूर्व बङ्गालमें मलेरिया, हैजाके फैलनेके दिनोंमें या शहरोंमें प्लेग फैलनेसे भी ये लोग देश लौटते हैं।

मजदूरोंकी कमी दूर करनेके लिये बताया जाता है कि मजदूरी बढ़ा देनी चाहिये। इसमें कोई शक नहीं कि मजदूरी बढ़ गयी है, और बढ़भी रही है। पर सिर्फ इसीसे मजदूरोंकी संख्या नहीं बढ़ सकती है, जबतक कि इन मजदूरोंके जीवनका आदर्श ऊंचा न हो। जब तक ये लोग सुखसे रहना न सीखेंगे, अच्छा पहनना, अच्छा खाना और अच्छे घरमें रहना न सीखेंगे, अपने जीवनको सुखी बनानेका आदर्श सामने न रखेंगे तब तक केवल मजदूरी बढ़ानेसे लाभ न होगा। अधिक मजदूरी मिलनेसे वे शराबी या जुआरी हो जायंगे या आलसी बन जायंगे। इधर पांच सात वर्षोंमें पटनेके बढ़ई, राजमिस्त्री इत्यादि कारीगरोंकी मजदूरी दूनी बढ़ गयी है। पर इससे क्या उनकी योग्यता बढ़ गयी है? नहीं। ऊंचे आदर्शके अभावसे ये और भी हीनतर हो गये हैं। केवल शराब कबाबका खर्च बढ़ गया है।

यहांके कृषक या गांववाले कारखानोंकी ओर तभी झुकेंगे, वहां बराबर रहना और उसीको अपनी जीविका बना लेना तभी पसन्द करेंगे जब उनके रहने इत्यादिका अच्छा प्रबन्ध किया जायगा, जैसा कि पिछले प्रकरणमें जताया गया है।

बड़े बड़े शहरोंमें कुलियोंकी कमी बनी ही रहेगी, क्योंकि एक तो वहां रहनेका अच्छा प्रबन्ध होना सहज नहीं है, दूसरे वहां बहुत किस्मके रोजगार हैं। कुलियोंको आज यहां तो कल वहां काम अवश्य ही मिल जाता है। इसीसे शहरोंके कारखानोंमें कुली जमकर काम नहीं करते। इसके लिये या तो इम्प्रूवमेंट ट्रस्टकीं ओरसे आस पासकी बस्तियोंमें रहनेका प्रबन्ध करना चाहिये, या धीरे धीरे नये नये इलाकोंमें जहां जिसको सुभीता मिले, नया कारखाना खोलना चाहिये। इससे वहीं आस पासके कुली उन कारखानोंमें काम करने लग जायंगे।

कारखानेवालोंने अबतक कोई ऐसा उपाय नहीं किया है जिससे गांवोंके बेकार लोग जिनके खेतीबाड़ी नहीं है, पुतलीघरोंमें काम करने लगें और अपने बालबच्चोंको भी उसी रोजगारमें लगा दें। ऐसा होनेसे धीरे धीरे कारखानेमें काम करने वालोंकी भी एक श्रेणी बन जायगी। यह क्योंकर हो सकता है उसका उदाहरण गिरीडीहके कोयलेकी खानसे ऊपर दिखाया चुका है। देशमें अछूत जातिके लाखों करोड़ों लोग पड़े हुए हैं जिन्हें सामाजिक बन्धनोंके कारण बुरी तरह दिन काटने पड़ते हैं। वे अच्छे रोजगारोंमें नहीं जा सकते। उनके प्रति जो घृणा

दिखाई जाती है वह अगर दूर कर दी जाय तथा उन्हें भी यदि दूसरी ऊंची जातियोंकी तरह उद्योगधन्धोंमें शामिल कर लिया जाय तो बड़ा उपकार हो। जहां जहां ऐसा सुयोग मिला है वहां वहां उन लोगोंने उन्नति कर दिखाई है। वे परिश्रमसे नहीं भागते, उनके यहां मिहनत करना बुरा नहीं गिना जाता है। तब यदि उन्हें शिक्षा दी जाय और कल. कारखानोंमें भरती किया जाय तो बड़ा भारी उपकार हो।

इसके अतिरिक्त देशमें वैसे भी बहुत सी छोटी कौमोंके लोग हैं जिनका कोई रोजगार नहीं है, जो इधर उधर चोरी डकैती कर दिन बिताते हैं और समाजपर कलंक लगाते हैं। यदि उन्हें उचित शिक्षा मिले तो वे भी बड़े मेहनती मजदूरे निकलें। जहां जहां मिशनरियों या मुक्तिफौज (Salvation Army) वालोंने इनपर कृपा की है वहां वहां इन लोगोंने बड़ी उन्नति कर दिखाई है। मि० स्टारटी आई० सी० एस०* की निरीक्षणतामें बीजापुर जिलेके छपरबन्द, हिरनशिकारी, घाटीचोर इत्यादि जातियोंकी उन्नतिकी चेष्टा की गयी थी। फल यह हुआ कि सैकड़ों आदमी उठाईगीरीका रोजगार छोड़ मिलोंमें काम करने लगे और मेहनती मजदूरे बन गये। मिलोंके मालिक भी इनके कामसे संतुष्ट रहा करते हैं तथा इन जातियोंके लोगोंको बहाल करनेका

* O. H. B. Starte, I.C.S.: An Experiment in the Reformation of Criminal Tribes. Quoted by Prof. Kale in his Ind. Ecocs.

उत्साह दिखाते हैं। मुक्तिफौजवाले मतिहारी (बिहार) में भी अछूत जाति तथा बदमाशोंकी उन्नतिकी चेष्टा कर रहे हैं।

इनके अतिरिक्त और भी बहुतसे लोग बेकार हैं। लाखों हजारों भिखमंगे भीख मांगकर जीते हैं। इनमें ऐसे भी बहुतसे लोग हैं जो हट्टेकट्टे मजदूरी करने लायक हैं। ये जब भिक्षा मांगकर सुखसे दिन बिता सकते हैं, तब मजदूरी करनेकी तकलीफ क्यों उठावेंगे। झूठे साधुओं, भण्ड तपस्वियोंकी संख्या भी कुछ कम नहीं है। देशके सुधारक दल तथा सरकारको उचित है कि ऐसे निकम्मे हट्टेकट्टे मनुष्योंका भीख मांगना, मेहनती लोगोंकी धार्मिक प्रवृत्तिका सहारा लेकर जीवन व्यतीत करना, बिलकुल बन्द कर दे। इस भिखमंगीका देशपर बड़ा बुरा असर पड़ रहा है, इसे जितना जल्द हो सके रोकना चाहिये।

मजदूरोंका संगठन—सरकारने मजदूरोंकी भलाईके लिये बहुत कुछ किया है। फैक्टरी ऐक्ट बनाकर उनकी रक्षाके अनेक उपाय किये हैं। अब मजदूरोंको भी संगठन शक्तिके सहारे अपनी उन्नति की चेष्टा करनी चाहिये। विलायतमें जैसे 'ट्रेड यूनियन' (Trade Union) की सहायतासे मजदूरे अपना वेतन बढ़ाते हैं, बुढ़ापेमें या बेकारीके दिनोंमें जीवननिर्वाहका प्रबन्ध करते हैं, अपनी हर तरहकी उन्नतिका सहारा पाते हैं, उसी तरह भारतवर्षमें भी होना चाहिये। बम्बईके कुछ मिलवालोंने "कामदार हितवर्द्धिनी" सभा स्थापित करके अपने हक बचाये रखनेकी चेष्टा की है। उस दिन जो बम्बईमें बहुत बड़ी हड़ताल

हुई थी उसमें इस सभाने बड़ी सहायता पहुंचाई थी। मद्रासमें भी ऐसी एक सभा संगठित हुई है।

सारांश—इस अध्यायमें जो कुछ लिखा गया है उससे स्पष्ट हो जायगा कि देशके अधिकांश लोग कृषि वा उससे सम्बन्ध रखनेवाले धन्धोंमें लगे हुए हैं। बहुत ही कम लोग अन्य प्रकारके उद्योग धन्धोंसे निर्वाह करते हैं। इसी कारण यहां गांवोंकी संख्या अधिक है, अधिकांश मनुष्य गांवोंमें ही रहते हैं। ये गांव पुराने समयमें सब अंगोंसे पूरे थे; उन्हें समाजशासन, वा अर्थ सम्बन्धी किसी विषयमें दूसरेसे मदद नहीं लेनी पड़ती थी। पर आजकल कारखानोंमें बने मालकी बहुतायतने इन गांवोंके धन्धोंको चौपट कर दिया है। इन लोगोंकी रोजी जाती रही है। देहाती कारीगर खेती करने लगे हैं या गांव छोड़-कर विदेश कमाने निकल गये हैं। इससे उनकी पुरानी आदतें बदल रही हैं; पुराना सामाजिक बन्धन ढीला पड़ने लगा है। अब शहरोंमें रहनेवालोंकी संख्या बढ़ रही है, अपनी बस्ती छोड़कर विदेशमें या देश छोड़कर देशान्तरमें रहनेवाले भारतवासियोंकी संख्या धीरे धीरे बढ़ रही है। छोटे छोटे कारीगरोंकी जगहपर (जिनके यहां छोटा मोटा निजका व्यवसाय होता था) केवल मजदूरीपर सहारा करनेवाले लोगोंकी संख्या बढ़ाना और उसी तरह समाजका संगठन करना कहां तक लाभ दायक है—इसमें मतभेद है। इसी कारण बहुतसे लोगोंका विचार है कि देशके पुराने धन्धे, हर किस्मके सामान बनानेके छोटे छोटे कारखाने

(Cottage Industries) फिरसे जारी कर दिये जायं। मेह-नत बचानेवाली तथा अधिक काम करनेवाली मशीनोंका जितना ज्यादा हो सके प्रचार किया जाय। साथ ही देशमें बड़े बड़े कारखाने खुलें।

जबतक पुरानी चालकी चीजें चलती थीं, तबतक पुराने कारीगरोंका बड़ा मान था। अब तो फैशन बदल गये, चीजोंकी चमक दमक नयी हो गयी, उनके रूप रंग दूसरे हो गये। अब पुरानी चालके कारीगर बाजारमें नहीं ठहर सकते। उन्हें मशीनों-पर काम करना सीखना होगा। पर ऐसे कारीगरोंको जिन जिन बातोंकी जरूरत है वे यहांके मजदूरों या कारीगरोंमें नहीं पायी जातीं। इस कारण कम मजदूरी लेनेपर भी ये लोग विला-यत वालोंकी तुलनामें मंहगे पड़ते हैं। उन्हें—चाहे वे कुशल कारीगर हों, चाहे मामूली मजदूर हों—शिक्षाकी बड़ी जरूरत है। देशभरमें प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य्य कर देनी पड़ेगी। फिर शिक्षाकी प्रणालीका आदिसे अन्ततक सुधार करना होगा। देशकी जरूरतोंके माफिक हर किस्मकी शिक्षाका प्रबन्ध करना पड़ेगा। सिर्फ वकील, बारिस्टर, मास्टर या क्लर्क बनानेसे देशका उद्धार नहीं होगा।

देशमें मजदूरों, कारीगरों तथा कारखाना चलानेवाले कुशल व्यक्तियोंकी मांग दिन पर दिन बढ़ती जाती है। मालिकोंकी हमेशा यही शिकायत रहा करती है कि अधिक कारीगर या मजदूर नहीं मिलते। इनकी महंगीके कारण भी व्यापार धन्धों-

को बड़ा नुकसान पहुंचता है। इसके लिये शिक्षाकी तो आवश्यकता है ही, पर मालिकोंको भी उचित है कि मजदूरों, कामदारोंकी दशा सुधारनेकी ओर पूरा ध्यान दें। उनके रहनेके घर, पीनेका पानी, मन बहलानेका सामान, इकट्ठा करें; उन्हें शिक्षित बनावें तथा जिसमें कम मेहनत लगे ऐसे औजारोंका प्रचार करें। फिर भी देश कालका ख्यालकर उनकी मजदूरी निश्चय करें। देशके पढ़े लिखे युवकोंको उचित है कि धन्धोंकी ओर झुकें। मेहनत करनेसे जो पुश्तैनी नफरत चली आती है वह दूर कर दें। परिश्रमकी मर्यादाको स्वीकार करें, तथा हम बड़े और तुम छोटे, मेरी जाति अच्छी और तुम्हारी जाति बुरी—ऐसी भेदभरी बातोंको मनसे भुला दें। अब इनका जमाना गया। उद्योग धन्धोंकी शिक्षा पाये हुए युवकोंको उचित है कि मेहनत करनेसे कभी जी न चुरावें; किसी भी कामको अपनी पदमर्यादाके ख्यालसे बुरा न समझें, हाथ काले हो जायंगे इस डरसे काममें उतरनेसे न डरें। अपना जिज्ञासुभाव सदा जीवित रखें; और क्रमशः नीची सीढ़ीसे बढ़ते बढ़ते ऊपर चढ़नेका उद्देश्य रखें। देशकी भलाईके ख्यालसे उचित है कि अपने आचरणसे सब किसीको खुश रखें। मालिकोंको कभी ऐसा कहनेका मौका न दें कि देशके पढ़े लिखे युवक मेहनत करनेसे डरते हैं और अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित भाइयोंको नफरतकी नजरसे देखते हैं।

छठा अध्याय

पूंजी

पूंजी क्या है?—धनका संचय कैसे हो सकता है?—किसानोंकी पूंजी-भारतका गड़ा धन-देशी पूंजी-देशी और विदेशी पूंजी—विदेशी पूंजीसे हानिलाभ—पूंजी किस तरह जमा हो सकती है?—सारांश।

पूंजी क्या है?—सम्पत्तिकी उत्पत्तिके लिये जिन चीजों-की जरूरत है उनमेंसे जमीन और मेहनतका वर्णन किया जा चुका है। अब यहां पूंजीपर विचार किया जायगा।

प्रकृतिने बहुत सी चीज़ें दी हैं। पर उनको व्यवहारोपयोगी बनानेके लिये परिश्रमकी जरूरत है। मनुष्य अपने श्रमके प्रभावसे इन प्रकृतिदत्त वस्तुओंको काम लायक बनाता है। परन्तु केवल श्रम और प्रकृतिदत्त वस्तुओंसे ही काम नहीं चलता। इन्हें उपयोगी बनानेमें समय लगता है, हथियार, औज़ार-की जरूरत होती है। मनुष्योंकी आदिमसे आदिम अवस्थामें भी इन औजारोंकी, चाहे वे सरल ही क्यों न हों—जरूरत होती है। जब असभ्य जातिवाले मछली मारकर वा फल फूल लेकर या शिकार कर पेट भरते हैं तब भी उन्हें कुछ न कुछ औजारोंकी

जरूरत पड़ती है। मछली मारनेके लिये जाल, शिकारके लिये तीर कमान और कन्दमूलके लिये कुदालीकी जरूरत होती है। यही उस समय उन लोगोंकी 'पूंजी' है। क्योंकि पूंजी वह चीज है जिसके सहारे नई सम्पत्ति पैदा होती है। यहां उन आदिम मनुष्योंके लिये मछली, कन्दमूल इत्यादि चीज़ें सम्पत्ति हैं।

जब इन आदिम मनुष्योंने उन्नति करते करते कृषिकर्म आरम्भ किया, तब तो 'पूंजी' की और भी जरूरत पड़ी। खेत जोतनेके लिये हल बैल और फाल कुदालकी आवश्यकता हुई। जोतने पर उसमें बीज चाहिये और पानी सींचनेके लिये कूंए। खेतमें कुछ दिनों अनाजकी रक्षा करनी होगी, फिर पक जानेपर उसे काटकर इकट्ठा करना होगा। तब उसके बाद उसे योंही काममें लायंगे या फिर उसका आटा पीस रोटियां बना भोजन करेंगे। इस तरह बीज बोनेके दिनसे रोटी बनानेके समयतक किसानको महीनों लग जायंगे। इतने दिनोंतक वह भूखा तो रहेगा ही नहीं। उसे खानेको अन्न, पहननेको वस्त्र और रहनेको घर चाहिये। इन सबका पहले ही प्रबन्ध कर रखना होगा तभी किसान खेती कर सकेगा। अतएव किसानकी जितनी चीजें— अन्न, वस्त्र, घर द्वार, बैल बधिया, हल फाल, बीज इत्यादि हैं वे सब 'पूंजी' का काम करते हैं। और इनका संचय पहलेसे ही कर रखना होता है।

ज्यों ज्यों सभ्यताकी वृद्धि होती गयी त्यों त्यों पूंजीकी आवश्यकता बढ़ती गयी और धनोत्पादनमें समय भी अधिक लगने

लगा। पुराने ढंगका किसान तो आप अपने खेतमें अन्न उप-जाता था और उसीको खाता भी था। पर आज क्या अवस्था हो रही है? कोई भी आदमी अपनी जरूरतकी सब चीजोंको आप नहीं बना सकता और न आसपासकी वस्तियोंमें ही सब चीजें पाता है। अब तो 'ब्राजिल' या रूस वा भारतके किसान गेहूं पैदा करते हैं, और वही गेहूं रेल, स्टीमरपर लादकर लंडन-के चक्कीवालोंके पास पहुंचाया जाता है। उनसे आटा खरीदकर रोटीवाले डबल रोटी बनाते और तब फिर लंडनवाले आनन्दसे खाते हैं। अब देखिये कि सभ्यताके प्रभावसे पुराने किसानकी पूंजीके अलावा रेल, स्टीमर, गुदाम, दूकान, चक्की तथा रोटी-वाले इत्यादि व्यवसायियोंकी 'पूंजी' की जरूरत हुई। यह तो रोटीकी बात हुई। उसी तरह कपड़े, जूते, घर दरवाजे इत्यादि जीवनकी अन्य सामग्रियोंके लिये भी पूंजीकी जरूरत होती है। ज्यों ज्यों सभ्यताका प्रचार बढ़ता गया कलोंकी चाल बढ़ती गयी और त्यों त्यों अधिक अधिक पूंजीकी आवश्यकता होती गयी।

इससे स्पष्ट होता है कि सम्पत्तिकी उत्पत्तिके लिये पूंजीकी जरूरत है। इसका पूर्व संचय होना चाहिये तभी धनोत्पादन संभव होगा। जब इस पूर्व संचित सम्पत्तिको भविष्य सम्पत्ति-की उत्पत्तिमें लगाते हैं तभी उसे 'पूंजी' कह सकते हैं, अन्यथा नहीं। सूमके गड़े हुए धनको पूंजी नहीं कहते, पर वही यदि बंकमें जमा कर दिया जाय और उसे बंकवाले उद्योग धन्धोंमें लगा दें तो 'पूंजी' हो जायगी।

किसी प्रकारकी सम्पत्तिको पूंजीका रूप देनेके लिये संचय-की आवश्यकता होती है। यह संचय करना ही सबसे बड़ा काम है। आदि कालमें जब लोग मूर्ख थे, प्राकृतिक नियमोंको नहीं जानते थे, तथा भविष्यका ख्याल नहीं कर सकते थे तब सम्पत्तिका संचय होना बड़ा कठिन था। और संचय न होनेसे —पूंजी नहीं मिलनेके कारण—सम्पत्तिकी अधिक अधिक वृद्धि भी नहीं हो सकती थी। जबतक ऐसी अवस्था रही, जबतक संचय करना संभव न हुआ, तबतक उन्नति भी न हुई। यही अवस्था बड़ी कठिन थी। युगों तक मनुष्योंने पूंजी न होनेके कारण दुःख भोगे, और अब भी वैसी जातियां जिन्हें संचयका अभ्यास नहीं दुःख भोग रही हैं। पर जब एक मरतबा कुछ पूंजी हो गयी तब निरन्तर उन्नति होती चली गयी; यह दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती गयी। धीरे धीरे ज्यों ज्यों पूंजी बढ़ती गयी त्यों त्यों अधिक सम्पत्ति उत्पन्न होने लगी और अधिक अधिक सम्पत्ति उत्पन्न करनेसे उत्पादनकी कठिनता भी जाती रही।

धनका संचय कैसे हो सकता है ?—'पूंजी' तो संचयका फल है, पर लोग संचय क्यों करते हैं? कुछ लोग जो दीर्घदर्शी हैं इस लिये बचाते हैं कि 'दुर्भिक्ष पड़नेपर, बीमार हो जानेपर, या बुढ़ापेमें संचित धन काम आवेगा। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो धनसे धन कमानेकी इच्छा रखते हैं। समझते हैं कि पूंजी लगाकर नया धन, नई सम्पत्ति पैदा की जायगी।

संचयके येही दो कारण मुख्य हैं। समय और अवस्थाके

अनुसार यह इच्छा घटती बढ़ती है। जो असभ्य हैं वा अल्पज्ञ हैं उनमें संचयकी इच्छा कम रहती है, क्योंकि भावी सुख दुःखका ज्ञान उनको नहीं होता। सभ्य देशमें भी यदि अराजकता है तो लोग संचय नहीं करेंगे क्योंकि वहां धनके लुट जानेका डर है। किसी देशमें लोग केवल भावी सुखकी आशासे धन संचय करते हैं और किसी देशमें लोग भावी सुख तथा अधिक सम्पत्तिकी उत्पत्तिके लिये संचय करते हैं। वहां यह संचित धन गाड़ा नहीं जाता, या सबका सब जेवर बनानेमें ही नहीं लगाया जाता। परन्तु वह नये नये धन्धोंमें, नयी सम्पत्तिकी उत्पत्तिमें लगानेके लिये बंकोंमें जमा किया जाता है। भारतवर्षमें लोग संचय तो थोड़ा बहुत करते हैं, पर उसे पास ही रख छोड़ते, या गहने जेवरमें लगा देते हैं। उद्योग धन्धोंमें लगाने या बंकोंमें जमा करनेकी चाल नहीं है। पर वह अब धीरे धीरे जारी होती जाती है।

यह कहना भी सर्वथा सत्य नहीं है कि भारतवासी सुख स्वच्छन्दतासे रहना नहीं जानते; उनके जीवनमें उच्चाभिलाषकी कमी है; वे अपनी कमाईमेंसे कुछ कुछ बचाकर रख छोड़ना नहीं जानते कि जिसमेंसे वह संचित धन अगले दिनोंमें उन्हें अधिक सुख पहुंचावे या उनके बालबच्चोंको सुखी बनावे। वे लोग जो कुछ कमाते हैं सब उड़ा डालते हैं, भविष्यकी चिन्तासे अपने वर्त्तमानको कभी दुःखी नहीं बनाना चाहते। ये बातें यदि सच हैं तो उन्हीं गरीबोंके लिये जिन्हें अपनी कमाईसे कभी भरपेट खानेको नहीं मिलता। जब पेट ही नहीं भरता तब आगेके लिये

संचय करनेकी लालसा कहांसे हो? सुख स्वच्छन्दतासे दिन काटनेकी आशा कहांसे की जाय? इसी कारण यहांके गरीब किसान या मजदूरे जो कमाते हैं उड़ा डालते हैं। जिनके पास कुछ बचानेको है ही नहीं, वे फिर बचावें क्या! पर जिनके पास कुछ भी बचत है वे धन संचयमें बड़े निपुण होते हैं। कौड़ी कौड़ी जमा कर धन इकट्ठा करते हैं। पेट काटकर भी बच्चोंको पढ़ाते हुए बहुतसे परिवार देखे गये हैं। फिर यही किसान या मजदूरे जब विदेश उपनिवेशोंमें काम करने जाते हैं तब वहांके पश्चिमी सभ्यतामें पले हुए मजदूरे इनसे कुढ़ते हैं। इन भारत-वासियोंके मिताचार, परिश्रम और सादगीको देखकर वे दंग हो जाते हैं। उन्हें यह भय होने लगता है कि यदि ये परिश्रमी और मितव्ययी कारीगर उनके देशमें रहने लगे तो सबकी मज-दूरीकी दर कम हो जायगी और फिर उन खर्चीले विलायती मजदूरोंकी आफत आ जायगी। इसलिये इनका वहां रहना कोई विलायती मजदूर पसन्द नहीं करता। जिन भारतवासी मज-दूरोंको लोग लापरवाह और अपव्ययी कहा करते हैं, वे ही मज-दूरे जब विदेशसे कमा कर लौटते हैं तो अच्छी पूंजी साथ लाते हैं। भारतमें रहनेवाले इन गरीबोंका लापरवाह होना उचित ही है क्योंकि ये बड़े गरीब हैं, अपनी कमाईसे पेट नहीं पाल सकते। इस कठिनाईमें संचय की बुद्धिका आना बड़ा कठिन है।

किसानोंकी पूंजी—भारतवर्षमें कृषि ही सबसे बड़ा व्यवसाय है, इसमें ही सबसे अधिक लोग लगे हुए हैं। यहां

इन्हीं कृषकोंकी पूंजीका वर्णन किया जायगा। यह बात तो सब किसीने मान ली है कि भारतीय किसान सबसे गरीब है, वह कर्जमें डूबा रहता है, उसे कभी सुखसे पेटभर खानेको नहीं मिलता। सर विलियम हंटरने अपने समयमें हिसाब लगाकर देखा था, कि भारतवर्षमें कोई चार करोड़ ऐसे आदमी हैं जिन्हें कभी भरपेट खानेको नहीं मिलता। उसी तरह सर चार्ल्स इलियटने सेटलमेण्टकी रिपोर्ट लिखते हुए कहा था कि "मुझे ऐसा कहते हुए जरा भी संकोच नहीं होता है कि हिन्दुस्तानके किसानोंमें आधे लोग ऐसे हैं जिन्हें सालभरमें कभी भी भरपेट खानेको नहीं मिलता।" *

पूंजी दो प्रकारकी होती है—एक तो वह जो एकदम खर्च हो जाती है, दूसरी वह जो धीरे धीरे खर्च होती है। पहली को 'चल' या 'अस्थायी', दूसरीको 'अचल' या 'स्थायी' कह सकते हैं। किसान खेतीमें जो बीज बोता है, जो खाद डालता है उन्हें चल पूंजी कहते हैं, क्योंकि ये एकदम खर्च हो जाते हैं। परन्तु उसके हल बैल बहुत दिनोंतक काम देते हैं, इसलिये उन्हें 'अचल' 'स्थायी' पूंजी कहते हैं। नकद रुपयोंकी पूंजी छोड़ किसानोंकी पूंजीको इन हिस्सोंमें बांट सकते हैं। (१) अचल या 'स्थायी' पूंजी—जैसे जमीन और उसकी उत्पादिका शक्ति बढ़ानेके लिये उसपर बनाये गये मकान, कूंए, दीवार, क्यारियां

* R. N. Mudholkar's Speech at Madras Industrial Conference, 1908.

इत्यादि। क्योंकि ये सब बहुत दिनोंतक काम देते रहते हैं, एकही बारके इस्तेमालमें खर्च नहीं हो जाते। पुनः बैल भैंसे इत्यादि जो हल जोतते हैं तथा हल फाल, हेंगा कुदाली, फावड़े इत्यादि। (२) चल या अस्थायी पूंजी—जैसे बीज, खाद, मजदूरों-को दिया गया अन्न या पैसे। ये एकबारसे अधिक व्यवहारमें नहीं आ सकते।

हमारे देशके किसान बड़े गरीब हैं; इनकी नकद पूंजी नहींके बराबर है। जब ये महाजनोंके यहां रुपये उधार लेने जाते हैं तो उन्हें कड़ा सूद देना पड़ता है। जब कि विलायतका किसान फी सैकड़े चार रुपये सूदके हिसाबसे कर्ज ले सकता है तब यहांके किसान आध आने फी रुपये फी माह (प्रायः ३६॥ रु० सैकड़े) के हिसाबसे रुपये उधार लेकर अपनेको धन्य समझते हैं! बड़े बड़े किसानोंको भी २४) सैकड़ेसे कम दरपर कर्ज़ नहीं मिलता। तिसपर भी देहातोंमें हरवक्त काफी रुपया नहीं मिलता क्योंकि देहातोंके महाजन-बनिये भी तो किसानोंकी तरह गरीब ही होते है। इधर कई वर्षोंसे सरकारकी कृपासे देहाती बंकों (Co-operative Credit Societies) की चाल चल पड़ी है। इससे गरीब किसानोंका बड़ा लाभ हुआ है पर इसके और भी अधिक प्रचारकी जरूरत है।

महाजन रुपये कर्ज देकर किसानोंकी जो मदद करता है उसे लोग प्रायः भूल से जाते हैं। महाजनका कितना रुपया डूब जाता है, अपने घरके टके वसूल करनेमें उसे कितनी

हैरानी होती है, कितने वकील मुख्तारों, अदालतोंकी शरण लेनी पड़ती है, इसे कोई नहीं देखता। पर सब किसीकी नजर उसके सूदकी कड़ी दरपर रहती है। और इसी कारण महाजन और किसानमें प्रायः द्वेषभाव बना रहता है। कभी कभी यह भाव उग्ररूप धारण करता है। १८५४ ई० में जब सन्थालोंने भागलपुर, राजमहल और वीरभूमके जिलोंमें बलवा किया था तब महाजनोंकी सूदखोरी एक प्रधान कारण था। उन पहाड़ी संथालोंने इन महाजनों और बनियोंको ही अधिक तङ्ग किया था, उनके कागज पत्र जलाये थे तथा उनके लेखक (कातिब) कायस्थोंको भी दिक किया था। उसी तरह १८७५ में जब दक्खनके किसानोंने पूना, सतारा, शोलापुर और अहमदनगरमें बलवा किया था उस समय भी उनका द्वेष विशेषकर साहूकारों महाजनोंके प्रति देखा जाता था। उनके ही घर द्वार लूटे जाते थे, कागज-पत्र जलाये जाते थे। परन्तु आशा है कि देहाती बङ्कोंके अधिक अधिक प्रचारसे ऐसे दृश्य कभी देखनेमें न आयंगे।

किसानोंकी दूसरी पूंजी जमीन है। कहीं कहीं किसान सीधा सरकारसे जमीन बन्दोबस्त लेता है और बदलेमें सरकारको लगान अदा करता है—देता है। और कहींपर वह बड़े बड़े जमीनदारोंसे जमीन ठेके या पट्टेपर लेकर मालगुजारी देता है जहां वह यह जानता है कि जमीन उसके हाथसे छीनी नहीं जा सकती, जबतक वह लगान या मालगुजारी देता जायगा तब—

तक उस जमीनको जोतने बोनेके काममें ला सकेगा,—जहां ऐसी व्यवस्था है वहां किसान जी जानसे खेती करता है, जमीनकी उपज बढ़ानेके लिये कुंए खोदता है, डांड़ बांधकी व्यवस्था करता है, खाद डालता है। पर यदि उसे यह भरोसा न हो कि भविष्य-में भी उसीके हाथमें यह जमीन रहेगी तो वह उतनी अच्छी तरह उसे उपजाऊ बनानेकी चेष्टा न करेगा। अपने पैसे लगाकर उसकी तरक्की करनेका कभी इरादा न करेगा।

खेती करनेमें हल, बैल, बीज, मजदूरी इत्यादि बहुत रूपमें पूंजी लगाई जाती है। अब यदि यथेष्ट जमीन खेती करनेको न मिली,—कुल एकही दो बीघे मिली—तो सब खर्च देकर इतना लाभ कभी नहीं मिलेगा कि जिसमें किसान अपने कुटुम्बका पोषण कर सके। लोगोंका कहना है कि कोई १५ एकड़ जमीन एक किसानके लिए काफी होगी। पर आजकल विरलेही ऐसे भाग्यवान किसान मिलेंगे जिनके पास इतनी जमीन हो। अनेक कारणोंसे—विशेष कर आपसमें भाइयोंमें सम्पत्ति बांट लेनेके कानूनसे प्रत्येक परिवारकी जमीन बंट गयी है। बंटते २ कहीं कहीं एक किसानके अधिकारमें एक बीघे या आध बीघे-तक जमीन रह गयी है। जब भाईसे भाई अलग होता है तब वह अपनी खानदानी जमीन भी बांट लेता है। इस तरह जमीनके टुकड़े टुकड़े होने लगते हैं। यह प्रथा हर जगह मौजूद है। 'कीटिङ्ग' और 'मान' नामक विद्वानोंने दक्खनके किसानोंकी अव-स्थापर विचार करते हुए इन बुराइयोंको अच्छी तरह दर्शाया

है।* यही रीति अन्य प्रान्तोंमें भी पायी जाती है। इससे अनेक बुराइयां होती हैं। बीघे आध बीघे जमीनको भला कोई क्यों कर अच्छे सामान और अच्छी खाद डालकर उर्वरा बनानेकी कोशिश करेगा? और फिर यदि करे भी तो क्या उससे उसके परिवारका पोषण होगा? जमीनके टुकड़े टुकड़े हो जानेसे एक और नुकसान है। टुकड़ोंको एकसे दूसरेको पृथक करनेके लिये मेंड़की जरूरत पड़ती है। इससे बहुतसी जमीन इसी तरह बेकाम चली जाती है। किसान एक जगह एक बस्तीमें दस बीस परिवार मिलकर रहते हैं। अब वहां उनके घरसे उनका खेत मीलों नहीं तो हजार पांच सौ गजकी दूरीपर तो जरूर रहता है। घरसे वहां आते जाते भी बहुत सा समय व्यर्थ नष्ट हो जाता है। अब यदि आपके पास पैसे हुए और आपने जमीन खरीदी तो आपको एक टुकड़ी जमीन यहां, और दूसरी हजार गजकी दूरीपर वहां मिली। दोनोंको जोतने बोनेमें बहुत सा समय योंही नष्ट गया। फिर उस खेतीकी निगरानीमें भी अधिक समय व्यर्थ हुआ, या बिल्कुल निगरानीही नहीं हुई। पर यदि १५।२० एकड़ जमीन एक किसानके पास होती और यदि वह वहीं अपनी जमीनपर अपना घर बनाकर रह सकता तो निगरानी भी होती, समय भी बचता, नये किस्मके हल फालभी व्यवहारमें लाये जा सकते और इस दशामें नफा भी यथेष्ट होता। सरकारको उचित है

* Rural Economy in the Bombay Deccan by G. Keatinge.
Land and Labor in a Deccan Village by Harold H. Mann.

कि जहांतक हो सके कानून द्वारा जमीनके विभाग होनेको रोके। किसानोंकी दूसरी पूंजी बैल भैंसे हैं। बिहारमें जहां प्रायः दो फसलें हुआ करती हैं, प्रायः दस बीघे जमीनपर एक जोड़े बैलकी जरूरत होती है। जिस खेतमें पानी सींचनेकी जरूरत होती है (जैसे आलू ईख इत्यादि) वहां दस बीघेसे भी कम जमीन एक जोड़े बैलके लिये काफी होगी। इस हिसाबसे बहुत ही कम किसान ऐसे मिलेंगे जिनके पास काफी बैल या भैंसे हों! यही कमी दूसरे प्रान्तोंमें भी पाई जाती है। फिर इनके सम्बन्धमें घास चारे और पानीका प्रश्न बड़ा कठिन है। गरीब किसान अपनी तरह अपने जानवरोंको भी आधा पेट खिलाकर रखते हैं। जब अकाल पड़ता है, अनावृष्टि होती है तब तो इन जानवरोंपर और भी आफत आती है। एक जोड़े हलके मामूली बैलका दाम साधारणतः ५०।६० या ७०।८० रुपये होंगे।

बैलके अलावा किसानोंकी पूंजी हल फाल, खुरपी कुदाली इत्यादिकी होती है। यह पूंजी जरूरतके अनुसार घटती बढ़ती है। जैसे आलूकी खेती करनेवाला अच्छा किसान पानी खींचनेके लिये चमड़ेका मोट (पानी खींचनेका चरसा) और रस्सा (बरत) भी रखेगा। जो सिर्फ गेहूं, चना, जौकी खेती करता है उसके लिये सिर्फ हल, फाल, हेंगा, कुदाल इत्यादिकी जरूरत पड़ेगी। बिहारमें ऐसे किसानोंकी पूंजी ५।६ या हदसे हद १० रुपयोंसे अधिककी न होगी। कीटिङ्ग—(जिनका जिक्र पहले आ चुका है)—के अनुमानसे दक्खनके एक साधारण किसानके इन

सामानोंका दाम प्रायः २५) रु० होगा। डा० मानके अनुसार ये सामान कोई ४०) के होंगे। कभी कभी किसानोंके पास बैल गाड़ी भी रहती है। वह फुरसतके दिनोंमें हलके बैलको इसी गाड़ीमें जोतता है, और बोझा ढोकर पैसा कमाता है। इस बैल गाड़ीका दाम ४०।५० के लगभग होगा।

बीज जो किसान खेतोंमें बोता है और खाद जो खेतोंमें डालता है इनको शामिल कर लेनेसे किसानोंकी पूंजीका पूरा 'टोटल' हो जायगा। कभी कभी किसानोंको खानेसे कुछ बच ही नहीं सकता, तब फिर बीजके लिये क्या रख छोड़ें। उस हालतमें वे डेवढ़े या सवायेके करारपर महाजनोंसे बीज उधार लाते हैं। यहां बहुत ही कम ऐसे किसान मिलेंगे जिनकी सब पूंजी अपनी है और जो चलती (काम चलाऊ) पूंजीके अलावा कुछ जमा भी रखते हैं जो जरूरतके वक्त काम आ सके।

भारतका गड़ा धन—"भारतका संचित धन बेशुमार है, यहांके धनियोंके खजानोंमें अतुल सम्पत्ति रखी है, तथा इसका परिमाण साल साल बढ़ता जाता है—" इत्यादि धारणाएं बहुत दिनोंसे चली आती हैं। पुराने विदेशी यात्रियोंने भी जिन्होंने भारतका भ्रमण किया था, इन बातोंका उल्लेख किया है। जब अन्य देशोंके लोग भारतकी अपेक्षा असभ्य थे, उस समय वे भारतसे ही चीजें खरीदते थे और बदलेमें सोना चांदी देते थे। भारतवासी अपनी जरूरतकी चीजें अपने देशमें ही पा जाते थे, इस कारण धन विदेश भेजकर सामान मंगानेकी जरूरत नहीं

पड़ती थी। बस विदेशियोंका दिया धन संचित होता जाता था, देशमें सोने चांदी और जवाहिरातके ढेर लगते जाते थे। तभी तो १७वीं १८वीं शताब्दियोंमें आये हुए विदेशियोंने सदियों-से संचित इस अतुल धनकी बड़ी प्रशंसा की थी। उन्हें यह देख सुनकर बड़ा आश्चर्य्य होता था और इसकी कहानियां अपने देशमें लिख भेजा करते थे। उनकी उस सूचनासे प्रेरित होकर धन कमानेको लोग विदेशोंसे यहां आया करते थे।

विदेशियोंका यह कहना है कि मध्ययुगमें भारतमें किसी प्रकारकी व्यवस्था न थी, जानमालकी रक्षाका यथोचित प्रबन्ध न था। 'जबरदस्तका ठेंगा सिरपर' यही उस समयका न्याय था। लूट मार हुआ करती थी देशी या विदेशी लुटेरे लोगोंका धन लूट ले जाया करते थे। इस डरसे कोई बाहरसे धनके चिन्ह नहीं दिखाता था। जहां तक बन पड़ता था लोग कीमती चीजोंको इकट्ठा करते थे और गाड़कर या और किसी तरह छिपाकर रखते थे कि जिसमें लुटेरोंको पता न चले। ऐसी अरक्षित अवस्थामें लोगोंमें धन छिपानेकी आदत भारतवासियों हीमें नहीं, वरन् सारी दुनियामें पायी जाती है। यह भारतकी खास आदतका कोई चिन्ह नहीं है। ज्यों ज्यों पुरानी अवस्थामें परिवर्तन होता गया त्यों त्यों भारतवासियोंमें इस प्रकार संचय करनेकी आदत भी बदलती गयी। आजकल सुराज्यकी स्थापना तथा बङ्कों, कम्पनियोंकी वृद्धिसे धन गाड़ रखनेकी आदत बदलती जा रही है।

भारतवासी गृहस्थ अपनी कमाईमेंसे जो कुछ बचा सकते हैं उसका अधिकांश स्त्रियों और बच्चोंके गहने गढ़ानेमें लगा देते हैं। इससे दो अभिप्राय सिद्ध होते हैं। स्त्रियां और बच्चे गहने पहनकर आनन्दित होते हैं तथा समाजमें अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं। इसके अलावा ये गहने बङ्कोंका भी काम देते हैं। अकाल या अन्य किसी जरूरतके समय इन्हीं गहनोंको बेचकर या गिरवी रख कर रुपया लाते हैं और आवश्यकता पूरी करते है। इस प्रकार सोने चांदीको गहनोंमें लगा देनेसे समाजकी उत्पादिका शक्तिका ह्रास होता है सही, पर जब कि देशमें अराजकता है, या विश्वसनीय उद्योग धन्धोंकी कमी है उस हालतमें संचित धनको इन व्यवहारोंमें लगाना उतना बुरा नहीं गिना जा सकता। इधर धीरे धीरे गहनोंसे शरीर छा देनेकी चाल कम होती जा रही है, पर उसके बदलेमें धनियोंको मेज टेबिल, या अन्य शौकोनीकी चीजोंमें जिनके पुराने हो जानेपर मूलका दसवां हिस्सा भी नहीं उठाया जा सकता, रुपये लगानेका दुर्व्यसन बेतरह बढ़ रहा है। इस काठ कवाड़से तो 'गहने' कहीं अच्छे थे।

साधारणतः विदेशोंसेही हर साल सोना चांदी आया करता है। भारतसे जितनेका सोना चांदी बाहर जाता है उससे कहीं अधिक दामका सोना चांदी भारतमें आता है। सिर्फ लड़ाईके जमानेमें, कुछ समयके लिये जब कि यहांसे मालकी रफतनी बन्द हो गयी और विलायतसे सोना चांदी भेजना रोक दिया गया था भारतको अधिक सोना बाहर भेजना पड़ा था। इस तरह हर साल जो

कुछ फाजिल सोना चांदी यहां आता है उसका एक सज्जनने हिसाब लगाया है।* उनका कहना है कि १८६४ से १९१४ तक पचास वर्षों में कोई ६४॥ करोड़ पाउण्ड (अर्थात् ९७० करोड़ रुपया) के सोने चांदीकी देशमें आमदनी (रफ्तनीकी रकम मुजरा देकर) हुई। इसमेंसे कुछ हिस्सा तो टकसालसे रुपया बनकर बाहर निकला, कुछ सोनेके जेवर बरतन इत्यादि सामान बनानेमें खर्च हुआ। कुछ अंश व्यवहारमें आनेसे घिस गया और शेप—अधिकांश–व्यवहारमें नहीं है। वह या तो गाड़ दिया गया है, या धनी श्रीमानोंके खजानेकी शोभा बढ़ाता है। इस शेप अंशका परिमाण उस लेखकने कोई ४० लाख पाउण्ड बताया है। उसी तरह किसी लेखकने बताया है कि १८६४ ई० में भारतमें कोई३० लाख पाउण्डके लगभग धन गड़ा हुआ या रख छोड़ा हुआ था। भारतके धनी श्रीमानोंके खजानोंमें पड़े हुए नकद सोना चांदीका वर्णन १८८७के कमिशनके सामने कई गवाहोंने किया था। एकने कहा था कि उस समय जब बंगालमें बड़ा भारी अकाल पड़ा था तब तत्कालीन 'महाराजाधिराज' वर्द्धमानने अपने खजानेसे कोई ३४॥ लाख नकद रुपये निकालकर दिये थे, और तौ भी उनका खजाना नकद रुपयोंसे खाली न हुआ। उसी तरह सर डी० एम० बारबरने भी कई देशी राजाओंका किस्सा कहा था जिनके यहां हर साल ६।७ लाख नकद रुपया खजानेमें जमा कर-

* "The unused capital of the Empire" by Mr. Arnold Wright in the Financial Review of Reviews Decr. 1916.

नेकी चाल थी। वे लोग इस खजानेके रुपयेको सहज ही खर्च नहीं करते थे; जरूरत पड़नेपर रुपये उधार लेकर काम चलाया जाता था पर तौ भी इस खजानेमें हाथ नहीं लगाया जाता था। ये बातें बहुत कुछ सच हैं, अब भी बहुतसे श्रीमानोंके यहां 'नकद् माल' मिलेगा। पर यह चाल घट रही है। और अगर यह मान भी लिया जाय कि भारतने ५० वर्षोंमें इतना रुपया जमा किया तो कोई ताज्जुबकी बात भी नहीं है। इतने बड़े देशके लिये जहां ३०।३१ करोड़ लोग रहते हैं ६७० करोड़ रुपया ५० वर्षोंमें जमा करना कोई ऐसी बात नहीं है जिसपर भारतको धनाढ्य होनेका ताना दिया जा सके। पर दोष इसमें सिर्फ इतनाही है कि यह रुपया उत्पादक कामोंमें नहीं लगाया जाकर बेकार जमा कर दिया गया। यदि इसे व्यापार धन्धेमें लगाते तो इससे कई गुना अधिक धन उत्पन्न हो गया होता और देश बहुत कुछ मालामाल हो जाता।

देशी पूंजी—पहली बात तो यह है कि देशके लोग अधिकतर गरीब हैं, वे प्रायः कुछ भी नहीं बचा सकते। जिन्हें कुछ बचानेकी शक्ति है, वे सामाजिक कुरीतियोंके पंजेमें पड़कर व्याह शादी, नाचरंग, श्राद्ध पूजामें बहुत सा धन उड़ा डालते हैं, और बहुत सा गहने जेवरोंमें फंसा देते हैं। जो कुछ बचा हुआ धन रह जाता है वह या तो गाड़ दिया जाता है, या लोगोंको उधार दिया जाता है। देहातोंमें और मुफस्सिलके शहरोंमें भी अधिकांश बचा हुआ धन छोटे छोटे किसानों या दूकानदारोंको

कर्ज देनेमें लगाया जाता है। यहां सूद भी खूब मिलता है। पैसे, आध आने या एक आने रुपये माहवारी सूदपर किसानों, दूकानदारोंको रुपया कर्ज देना कोई नई बात नहीं है। इस हिसाबसे १८'७५; ३७'५०;७५ फी सैकड़ा सूद पड़ जाता है। जब देहातोंमें थोड़ी बहुत पूंजीवालोंको इतना सूद मिल जाता है तब वे बंकोंमें ४,५ या ६ सैकड़े सूदपर क्यों रुपया जमा करने लगे।* पर जहां अधिक सूद मिलता है वहां अधिक जोखिम भी है। इससे आजकलके पढ़े लिखे, नौकरी पेशावाले मध्यवित्तके लोग महाजनीमें रुपया नहीं लगाकर पोस्टआफिसके सेविङ्ग बङ्कमें रुपया जमाकर या कम्पनी कागज खरीदकर ३), ३॥), ४) रु० सैकड़ा सूदपर ही सन्तोष करते हैं। पर इससे कारोबार या उद्योग धन्धोंको कोई लाभ नहीं पहुंचता, वहां पूंजीकी तङ्गी बनी ही रहती है। साधारणतः लोगोंको इतना साहस नहीं होता कि अपनी कमाईको दूर विदेशमें कहीं किसी अनजान कम्पनीके हिस्सों (शेयर) में फंसा दें। कौन जानता है कि वह कम्पनी कब फेल हो जायगी और रुपया डूब जायगा। उसी तरह मामूली नये बंकोंमें रुपया जमा करते हुए भी लोग हिचकते हैं। एक तो ऐसी कम्पनियां या बङ्क ही हर जगह नहीं मिलते, और जहां मिलते भी हैं वहां लोगोंका

---

* हां अब आशाकी जाती है कि देहाती बंकोंके प्रचार होनेसे महाजनोंकी आवश्यकता नहीं रहेगी, किसानोंको इन बंकोंसे कम सूदपर रुपये मिलने लगेंगे। तब महाजनोंको अपने बचे बचाये रुपयोंको बंकों या नये कारबारों, कम्पनियोंमें लगाना ही पड़ेगा।

उनपर पूरा भरोसा नहीं होता। इधर कुछ दिनोंसे ज्वायन्ट बङ्क खुलने लगे थे, और धीरे धीरे लोग उनपर विश्वास भी करने लगे थे, पर यकायक १९१३।१४में बहुतसे ऐसे देशी बङ्कोंके दिवाला निकल जानेसे गरीब पूँजीवालोंको बड़ा नुकसान पहुंचा, बहुतोंको जन्मभरकी कमाई जाती रही। फल यह हुआ कि लोग इन बङ्कोंसे फिर डरने लगे, जिनका थोड़ा बहुत रुपया बच भी गया था, उसे उन लोगोंने बङ्कोंसे निकालकर घरोंमें रख छोड़ा। बङ्क खोलनेके पहले संचालकोंको उचित है कि पूरी जानकारी हासिल कर लें, फिर बड़ी सावधानीसे काम करें, बङ्कोंके नियमके प्रतिकूल कभी चलनेका साहस न करें। इस समय जब कि देशी पूंजी अपनी परम्परागत 'लज्जा' छोड़ धीरे धीरे बाहर आने लगी है, उस समय इन देशी बङ्कोंका दिवाला निकालना बड़ा बेढब हानिकारक हुआ है। इससे साख जाती रहती है, लोगोंमें परस्परका विश्वास उठ जाता है, और जब विश्वास न रहा तो रोजगार धन्धे एक घड़ीभी नहीं टिक सकते। इसी कारण औद्योगिक कमीशनके सामने साक्ष्य देते हुए महाराजा सर मणीन्द्रचन्द्र नन्दी (कासिम बाजार) ने कहा था कि बंगालमें ज्वायंट स्टाक कम्पनी खोलनेमें बड़ी दिक्कतें उठानी पड़ती हैं। पूंजीवाले कम्पनीवालोंपर विश्वास नहीं करना चाहते। इसीसे महाराजा साहबकी रायमें—और यह उनके स्वयं बीस वर्षोंके अनुभवकी बात है-बंगालमें नई कम्पनी खोलने के लिये देशी लोगोंको पूंजी शीघ्र नहीं मिलती।

पर जहां देशी कारखानोंने अच्छी सफलता दिखाई है वहां उन्हें पूंजीकी इतनी तंगी नहीं रही है। बम्बई प्रान्तमें कपड़ेकी मिलें, प्रायः सब देशी संचालकोंके हाथमें हैं, उन्होंने सफलता प्राप्त की है। इस कारण उन्हें रुपये भी मिल जाते हैं। उनमें जो प्रायः २१ करोड़ रुपयोंकी नकद पूंजी (Paid up Capital) लगी हुई है वह प्रायः सब देशी पूंजीवालोंकी ही है। जब कभी कोई बढ़िया कम्पनी खोलनेका विचार हुआ है, जब लोगोंको यह द्रढ़ निश्चय हो गया है कि कम्पनी खोलनेवालोंमें उसकी पूरी योग्यता है, तथा उन लोगोंने पूरी पूरी छानबीन कर ली है और लोगोंको झूठी आशामें नहीं फंसाना चाहा है, वहां पूंजीकी कमी नहीं रही है। उदाहरणके लिये ताता कम्पनी-को लीजिये। इन लोगोंने छान बीनकर, बहुत सा धन तथा समय लगाकर निश्चय किया कि साकची (जमशेदपुर) में एक बहुत बड़ा लोहेका कारखाना खोला जा सकता है। उसके लिए २॥ करोड़ रुपयेकी पूंजीसे एक कम्पनी खड़ी की गयी, और लोगोंसे हिस्सा खरीदनेको कहा गया। धीरे धीरे सब हिस्से देशवा-लोंहीने खरीद लिये। वही पूंजी आजकल (मार्च, १९१९ में) सब किस्मकी पूंजी मिलाकर कोई ५। करोड़ हो गयी है। उसी ताता कम्पनीने लोनवला (बम्बई प्रान्तमें पश्चिम घाटीमें, बम्बईसे कुछ दूर) में बिजली बनानेकी एक कम्पनी खड़ी की। इसकी पूंजी आरम्भमें पौने दो करोड़ रुपयोंकी थी, जो देशी राजा महाराजा और महाजनोंने दी थी। अब यह पूंजी बढ़ाकर तीन करोड़

कर दी गयी है। इस कम्पनीकी देखादेखी बिजली तैयार करनेके लिये एक और नई कम्पनी अगस्त १९१६ में, खड़ी की गयी है। उसकी पूंजी भी २ करोड़ १० लाख रुपयोंकी है। उसी तरह जब मृत चुन्नीलाल सरैयाने बम्बईमें ७५ लाखकी पूंजीसे 'इंडियन स्पीसी बंक' खोलना चाहा था तो सबकी पूंजी देशी महाजनोंने ही दी थी। नया कारखाना खोलते हुए देशी कम्पनियोंको पूंजीकी तंगी रहती है, मामूली बंक इन्हें रुपया ज्यादा दिनोंके लिये उधार दे नहीं सकते। इस कारण इन त्रुटियोंको दूर करनेके लिये ताता कम्पनीने ऐसे उद्योग धन्धोंको पूंजी पहुँचाने के लिए एक औद्योगिक बंक (Industrial Bank) बारह करोड़ रुपयोंकी पूंजीसे खोल दिया है। इसमें भी देशी महाजनोंके बहुत से रुपये हैं।

लिखनेका मतलब यह है कि देशमें अब भी बहुतसे धन्धोंके लिए पूंजी मिल सकती है, पर उसके लिये योग्य व्यक्तियोंकी जरूरत है और अच्छी तरह सोच विचार कर, छान बीनकर कारखाने खोलनेकी आवश्यकता है। यदि सब तरहसे योग्यता रखनेवाले कुशल व्यक्ति अच्छी कम्पनियां खड़ी करें तो देशके महाजन अवश्य रुपये दें। जिस तरह बड़ौदा, मैसुर, ग्वालियर, भावनगर, दरभङ्गाके महाराजोंने अपनी पूंजीसे ताता कम्पनियों-की सहायता की है उसी तरह दूसरे धनी व्यक्ति भी करें, यदि उन्हें पूरा विश्वास हो।

देशी और विदेशी पूंजी—देशमें जितने कल कारखाने,

उद्योगधन्धे और कारोवार चल रहे हैं उनमें देशी विदेशी-दोनों प्रकारकी पूंजी लगी हुई है। कृषि कर्ममें देशी पूंजी बहुत ज्यादा है। परन्तु उद्योग धन्धोंमें विलायती पूंजी ही अधिकांश लगी हुई है। वम्बईके रुईके कारवार और कपड़ेकी मिलोंको छोड़कर शेष बड़ी २ कम्पनियां अधिकतर विलायती पूंजी और विदेशी मालिकोंके हाथमें हैं। चाय, काफी, कहवा, जूट इत्यादिमें प्रायः विलायती पूंजी ही है। उसी तरह लोहा, कोयला, सोना, अवरख, किरोसिन तेल इत्यादि खनिज पदार्थोंमें भी विलायती पूंजीका ही अधिकांश व्यवहार हो रहा है। ऊन, रेशम, चीनी, कागज, कपड़े इत्यादिमें भी विलायती पूंजी पाई जाती है। रेल, नहरमें प्रायः सब विदेशकी पूंजी है। कारण यह है कि देशवालोंका ध्यान बड़े २ कारखानों, पुतलीघरोंको खड़ा करने और मशीनके प्रयोगसे व्यवहारकी चोजें बनानेकी ओर नहीं गया है। इसी कारण ऐसी कम्पनियां विशेषकर विलायती संचालकों और विलायती महाजनोंके हाथमें ही हैं। हां, व्यापार (Commerce) में थोड़ी बहुत पूंजी देशी महाजनोंकी लगी हुई है। अतएव आजतक जो कुछ उद्योगधन्धोंकी उन्नति हुई है उसका अधिकांश श्रेय विलायती महाजनों और संचालकोंको ही है।

वैसी ज्वायंट स्टाक कम्पनियों (Joint Stock Companies) की, जिनकी भारतवर्षमें रजिस्ट्री हुई है तथा वैसी जिनकी विलायतमें तो रजिस्ट्री हुई है पर भारतवर्षमें कारोवार करती हैं, पूंजीका हिसाब लगानेसे देशमें कारोवार तथा व्या-

पार वाणिज्यमें लगे हुए धनका कुछ पता लग जायगा। नीचे लिखे ब्यौरेमें वैसे लोगोंकी पूंजी शामिल नहीं है जिन्होंने अपनी पूंजी लगाकर निजका कारबार खोला है, क्योंकि इन्हें रजिस्ट्री करानेकी जरूरत नहीं पड़ती है। यह हिसाब १९१३।१४ तकका दिया गया है, क्योंकि उस सालके बाद ही लड़ाई छिड़ गयी और लड़ाईके कारण बहुत कुछ 'गोलमाल' हो गया।

देशी कानून (Indian Companies Act) से रजिस्ट्री की हुई वैसी ज्वायंट स्टाक कम्पनियोंकी संख्या जो १९१३-१४ में काम कर रही थीं, २७४४ थी। इन कम्पनियोंके हिस्सेदारोंने जितनी पूंजी वसूल कर दी थी उसका कुल जोड़ ७६'५६ करोड़ रु० था। इसमेंसे २९॥ करोड़ रुपया रुई, जूट, ऊन, रेशमकी मिलों, प्रेसों इत्यादिमें ; वाणिज्य व्यापार करनेवाली कम्पनियोंमें १९'१७ करोड़; चाय, काफी इत्यादिके बगीचोंमें साढ़े चार करोड़ से अधिक ; तथा बंक, बीमा और 'लोन' (कर्जा देनेवाली) कम्पनियोंमें कोई ८'३७ करोड़ रुपयेकी नकद पूंजी लगी हुई थी। उसी तरह खानोंमें कोई बारह करोड़ रुपया लगा हुआ था।

यह तो हुई कम्पनियोंकी नकद पूंजीकी बात। कुछ कम्पनियोंने इसके अलावा अपनी मालियतकी हैसियतपर कर्जा (Débenture Loans) भी लिया है। दिसम्बर, १९१४ में इसकी तादाद कोई १०'१८ करोड़ रुपयेके लगभग थी।

इन कम्पनियोंके अलावा भारतमें कारोबार करनेवाली बहुत सी ऐसी कम्पनियां हैं जिनकी रजिस्ट्री भारतके बाहर कहीं

विलायतमें हुई है, तथा उनकी पूंजीकी तादाद गिन्नियोंमें होती है। ऐसी कम्पनियोंकी संख्या (१६१३-१४) ५७६ है, तथा उनकी नकद् पूंजी बीस करोड़ पाउण्डकी है, और उन्होंने कर्ज लेकर जो रकम कारबारमें लगायी है (Debenture Loans) उसकी तादाद् ५·८६ करोड़ पाउण्ड है। इसमेंसे रेलवे और ट्राम कम्पनियोंमें सवा नौ करोड़ पाउण्ड; चाय, काफी, शिनकोनाके बगीचोंमें प्रायः १८८ लाख पाउण्ड; जूटमें २७॥ लाख; कपड़ेकी मिलोंमें सवा आठ लाखसे ऊपर; तथा चावलकी मिलोंमें २२॥ लाख पाउण्ड लगा हुआ है। उसी तरह कोयला, सोना, इत्यादि खनिज द्रव्योंमें ६१ लाख पाउण्डके लगभग लगा हुआ है।

सरकारने भी बहुत सी पूंजी कर्ज लेकर रेल, नहरमें लगायी है। इसकी तादाद (१६१३-१४ में) इस तरह थीः—

रेल २२·२ करोड़, नहर ३·६ करोड़ पाउण्ड।

भारतमें जो एक्सचेंज बंक काम करते हैं उनकी पूंजी और रिजर्व कुल मिलाकर (दिसम्बर १६१३में) ३·७ करोड़ पाउण्ड था।

देशी ज्वायंट स्टाक कम्पनियोंकी पूंजी	७६·५६	करोड़ रु०
„ „ „ का डिबेन्चरलोन	१०·१८	„ „
विलायतमें रजिस्ट्रीकी हुई देशी कम्पनियां	३००	„ „
„ „ „ का डिबेन्चरलोन प्रायः	८८	„ „
सरकारी रेल	३३३	„ „
„ नहर	५८·५०	„ „
एक्सचेंज बंक	५५·५०	„ „
कुल जोड़	६२१·७४	करोड़ रु०

अब यह कहा जा सकता है कि रजिस्टर्ड कम्पनियों तथा सरकारने १६१४ में, भारतवर्षमें व्यापार व्यवसायमें प्रायः ६२२ करोड़ रुपयोंकी पूंजी लगाई थी। इसके अतिरिक्त भी साधारण व्यक्तियोंने बहुतसी पूंजी लगाई है कि जिसकी रजिस्ट्री नहीं होती है, उसका अनुमान करना कठिन है। मि० ब्राउन का* अनुमान है कि भारतवर्षमें सब तरहसे ६८० करोड़ रुपयोंकी विदेशी पूंजी लगी हुई है।

इसमें कोई आश्चर्य्यकी बात नहीं है। यह व्यापारका नियम है कि जहां दाम ज्यादा मिलता है व्यापारी वहीं माल भेजता है। उसी तरह विलायतकी पूंजी जहां जहां ज्यादा दाम मिला है वहां वहां गयी है। भारत और ब्रिटिश साम्राज्यके अन्य अंशोंकी कौन कहे, विलायतकी पूंजी तो टर्की, मिश्र, ईरान, चीन, जापान, दक्षिण अमेरिका इत्यादि पर-राष्ट्रोंमें भी लगाई गयी है और वहांके धनकी वृद्धि कर रही है। लड़ाईके पहले इंगलैंड कोई ३०० करोड़की पूंजी हर साल बाहर भेजा करता था। जो देश गरीब है, वा जहाँ उद्योग धन्धोंके लिये यथेष्ट पूंजी सुभीतेसे नहीं मिलती है वहां बाहरसे पूंजी मंगानी ही पड़ती है। विलायत अथवा योरपने भी तो १८ वीं सदीमें वही किया था। अमरिका और भारतसे व्यापार कर जो सोना चाँदी मिला था उसीके

---

* F. H. Brown in the Trade Supplement (Times, Nov. 1917.)

सहारे तो योरपके उद्योग धन्धे बढ़े हैं यह तो इतिहास प्रसिद्ध बात है। *

विदेशी पूंजीसे हानिलाभ—जिसके पास अपनी पूंजी नहीं है उसे कारोबारके लिये कर्ज लेना ही पड़ेगा, नहीं तो कारोबार चल ही नहीं सकता। अगर यह पूंजी अपने देशमें न मिले तो विदेशमें कर्ज लेना पड़ेगा। यह तो मानी हुई बात है कि लोग उसी महाजनसे कर्जा लेते हैं जो सूद कम लेता है।

---

* लड़ाई छिड़ने पर शुरूआतमें कम्पनियोंको बड़ा धक्का पहुंचा था। कुछ तो बन्द ही हो गयीं और कुछ का कारोबार ढीला हो गया। पर धीरे धीरे लोगोंमें साहस आने लगा, नयी ज्वायंट स्टाक कम्पनियां खड़ी होने लगीं या पुरानी कम्पनियों की पूंजी बढ़ायी गयी। इसका विवरण इस नक्शेसे स्पष्ट हो जाता है।

सन्	१९१४-१५	१५-१६	१६-१७
कम्पनियों की संख्या	२५४५	२४७६	२५१३
नकद पूंजी लाख रु०	८०७६	८५०२	९०६०

इसमें देशी और विदेशी दोनों प्रकारके संचालकों द्वारा चलायी जानेवाली कम्पनियां शामिल हैं। पिछले बीस वर्षोंमें देशी संचालकोंवाली कम्पनियोंने जितनी तरक्की की है वह भी देखिये :—

सन्	१८९८-९९	१९०८-९	१९१३-१४	१८-१९
देशी कम्पनियां जो काम कर रही थीं	४८७	५३०	९७३	१२६७
नकद पूंजी लाख रु०	१४९८	२३०५	२८४१	४५१६

यदि अपने देशमें सूदकी दर अधिक हो और विदेशमें कम तो स्वभावतः लोग विदेशमें ही कर्जा लेंगे। इसके लिये देश विदेशका ख्याल नहीं करेंगे, सिर्फ नफा नुकसान ही देखेंगे; जहां सस्ता भाव पड़ेगा वहीं खरीदेंगे। सब देशोंमें यही चाल चली आती है। लण्डनके बाजारमें रुपया सस्ते सूदपर मिलता है। वहांवाले हर साल कोई ३०० करोड़ रुपया कर्जमें लगा सकते हैं। इसीसे सारी दुनियां लण्डनके बाजारसे रुपया कर्ज लेती है। विरला ही कोई नया देश मिलेगा जहां विलायतका रुपया न लगाया गया हो।

जिस दिनसे लड़ाईका अन्त हुआ है और शान्ति स्थापित हुई है उस दिनसे नयी कम्पनियोंकी भरमार हो रही है। लड़ाईके समय लोगोंने जो धन कमाया था उसे अब कारोबारमें लगा रहे हैं। क्या देशी क्या विदेशी क्या मारवाड़ी, बीकानेरी और क्या पारसी, भाटिये, खोजे, बोहरे—सब कोई तरह तरहकी नयी कम्पनियोंमें अपना रुपया लगा रहे हैं। और कम्पनियां भी हर तरहकी उद्योगधन्धे, व्यापार वाणिज्यसे सम्बन्ध रखने वाली हैं। बिजली, मोटर, जहाज, स्टीमर जैसे वाहनोंके लिये हो, वा काटन, जूट, ऊन, रेशम, तेल,वारनिश, चमड़ा, जूता, तम्बाकू वगैरह जैसे आवश्यक द्रव्योंकी उत्पत्तिके लिये हो, अथवा काठ कवाड़ा, कलपुर्जे, रासायनिक द्रव्योंके लिये हो, या थियेटर जैसे जी बहलावके सामानोंके लिये हो, अथवा रोजगारधन्धोंको पूंजीसे सहायता देनेवाले औद्योगिक बंकों या बीमा कम्पनियोंके लिये हो, अथवा सिर्फ देशी विदेशी कारखानोंके बने मालको बेचनेकी एजेन्सियोंके लिये हो—हर किसी कामके लिये नयी नयी कम्पनियां खुल रही हैं। भारतके औद्योगिक इतिहासके लिये यह

चीन, जापान, टर्की, या कैनेडा, अस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, या दक्षिण अमेरिका या दक्षिण आफ्रिका—जिस किसी देशको अपने उद्योग धन्धों, वाणिज्य व्यापारकी उन्नतिके लिये पूंजीकी जरूरत होती है, वह विदेशमेंसे, चाहे जहां हो, रुपया कर्ज लेता है। यदि लण्डनमें उसे रुपया सस्ता मिलता है तो वह वहींसे कारोबार करता है। वह सिर्फ यही देखता है कि कहां सस्ता पड़ता है। अन्य देशोंकी तरह हिन्दुस्तानमें भी कारोबारके लिये पूंजीकी जरूरत है। और जब जब मौका लगा है तब तब हिन्दुस्तानने लण्डनसे कर्जा भी लिया है तथा उससे बहुत सा लाभ भी उठाया है। यदि विलायतमें कर्ज न लिया होता तो आजकल जो इतनी रेलवे लाइनें देख पड़ती हैं, वे न होतीं। उसी तरह बड़ी बड़ी नहरें भी न खुलतीं। जिस तरह मजदूरोंको उनकी मेहनतके बदलेमें मजदूरी देनी पड़ती है उसी तरह पूंजीके व्यवहारके बदलेमें सूद देना पड़ता है। इस कारण लोगोंका यह कहना कि विलायती पूंजीके व्यवहारसे नुकसान ही नुकसान है, देशको कुछ भी लाभ नहीं है, युक्तिसंगत नहीं। वरन् यह कहना चाहिये कि भारतने विदेशमें सस्ते दरपर रुपया कर्ज लेकर बहुत सा लाभ उठाया है। यदि सस्ते मजदूरोंकी जगहपर मंहगे मज-

*बिलकुल नयी बात है। सिर्फ सितम्बर १९१८ में ११२ नयी कम्पनियोंकी रजिस्ट्री हुई थी जो ४८ करोड़ रुपयोंसे काम करने वाली हैं। अप्रैलसे सितम्बर १९१९ तक कुल ३४३ नयी कम्पनियोंकी रजिस्ट्री हुई जो ८६ करोड़की पूंजीसे काम करने वाली हैं।

दूर लगायें तो अवश्य ही खर्च अधिक पड़ेगा, उसी तरह यदि हम लोगोंको उचित सूदसे अधिक देना पड़े तो समझना चाहिये कि नुकसान हुआ। जबतक विदेशमें उचित दरपर रुपया मिले तब तक वहांसे कर्ज लेनेमें कोई हानि नहीं। पर ध्यान रहे कि सूदकी दर उचित हो, बाजार दरसे अधिक नहीं; जरूरतसे ज्यादा खर्च न करना पड़े। नहीं तो बाहरसे कर्ज लेना कभी उचित न होगा।

विदेशसे उचित दरपर कर्ज लेकर देशके धन्धोंकी उन्नति करनेसे कहां तक लाभ होता है उसके दो बड़े बड़े प्रमाण हमारे देशमें पाये जाते हैं। यदि सरकारने विदेशमें कर्ज लेकर रेल की लाइनें न खोली होतीं तो आजकल जो इतनी उन्नति हो रही है न होती। देशमें पूंजी वैसी सस्ती नहीं थी जैसी विलायतमें, सरकारने विलायतकी सस्ती पूंजीसे रेल खोली। सरकारी रेलोंमें १९१५-१६ तक ४६६.२ करोड़ रुपये लग चुके थे। अब इस पूंजीसे सब खर्च देकर सरकारको अच्छी खासी आमदनी हो रही है। मार्च १९१६ वाले सालमें सरकारको सब खर्च और सूद इत्यादि मुजरा देकर ६११ लाख रुपयोंकी बचत हुई थी। उसी तरह सब तरहकी नहरोंसे जिनमें सरकारने १९१५-१६ तक ७३ करोड़ रुपयोंकी पूंजी लगाई थी, सब तरहका खर्च मुजरा देकर ४८७ लाख रुपयोंकी आमदनी हुई थी। यह आमदनी कहांसे होती, यदि विदेशी पूंजीसे ये कारोबार न खोले जाते?

परन्तु विदेशसे पूंजी कर्ज लेकर अपने आप कारबार करना एक बात है और विदेशियोंको विदेशी पूंजीके सहारे अपने देशमें कारबार खोलने देना दूसरी बात है। दोनोंमें बहुत बड़ा अन्तर है। पहले ढङ्गसे विदेशी पूंजी लगानेसे सिर्फ सूद विदेश भेजना पड़ता है। परन्तु दूसरे ढङ्गसे विदेशी पूंजीका व्यवहार होने देनेसे सूद तथा मुनाफा दोनों ही देशके बाहर चले जाते हैं। विदेशी पूंजीका यह व्यवहार जिससे सूद और नफा दोनों देशके बाहर चले जाते हैं, कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। विदेशी पूंजीके इस तरहके व्यवहारका असर देशके लिये और भी बुरा होता है यदि वह पूंजी खनिज द्रव्योंमें लगाई जाय। क्योंकि खानोंका निकला हुआ धन फिर पूरा नहीं हो सकता। खेती बाड़ीसे उत्पन्न द्रव्य तो हर साल उत्पन्न होते हैं और होते रहेंगे। उनका व्यापार विदेशियोंके हाथमें जानेसे उतना नुकसान नहीं है। यदि आगे चलकर देशका ध्यान उद्योग धन्धोंकी ओर जायगा तो देशियों द्वारा भी वैसे कारखाने खुल जायंगे। परन्तु यदि खनिज द्रव्य विदेशी कम्पनियोंके हाथ चले जायं तो देशकी भयानक क्षति हो सकती है। यदि खानोंसे, १०० टन टुंगसटन जर्मनोंने निकालकर अपने देशमें भेज दिया तो उतना द्रव्य देश-से सदाके लिये जाता रहा। खानोंकी यह कमी कभी पूरी नहीं हो सकती। इसी कारण सर टामस हालैंडने १९०५ में अपने एक लेखमें लिखा था "बर्माके किरोसिन तेलके कूप विदेशी पूंजीसे खोदे जा रहे हैं। उससे रोजगारका नफा भी देशके बाहर

चला जाता है। यह अवश्य ही देशके लिये हानिकारक है। पर यह अवस्था तबतक बनी ही रहेगी, जबतक देशके महाजन देशके उद्योग धन्धोंमें रुपया लगाना न सीखेंगे।" *

हिन्दुस्तानमें जो विदेशी पूंजी लगी हुई है उसको दो हिस्सों-में बांट सकते हैं। एक तो वह जो इंगलैंड और इंगलैंडसे सम्बन्ध रखनेवाले अधीनस्थ देशोंसे आती है। दूसरी जो अन्य स्वाधीन राष्ट्रोंसे आती है। इसमें भी फिर दो अंग हैं—वैसे स्वाधीन राष्ट्र जो हमारे मित्र हैं और फिर वैसे जो हालतक हमारे शत्रु थे, जैसे जर्मनी इत्यादि। इङ्गलैंड या उसके अधीनस्थ देशोंके जो लोग अपनी पूंजी लाकर यहां कारबार करते हैं उनमें और जर्मनोंके खोले हुए कारवारमें बहुत फर्क है। भारत और इंगलैंड-का तो चिरसम्बन्ध है, 'चोली दामन' का साथ है। एककी भलाईसे दूसरेकी भलाई है। यदि भारतमें पूंजी लगाकर इंग-लैंड वाले लाभ उठाते हैं तो भारतवाले भी दूसरी तरहसे इंग-लैंडके साथ, उसकी रक्षामें रह कर लाभ उठाते हैं। इस कारण इंगलैंड और भारतके विषयमें ये विचार कभी उठ ही नहीं सकते। ये दोनों एक ही महान राष्ट्रके अंग हैं, दोनोंका परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। पर यह अधिकार अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रोंको न देना चाहिये। वे उसका बहुत बुरा प्रयोग करेंगे। जैसा कि जर्मनोंने किया। जर्मनोंने अपनी पूंजी लगाकर बर्माके चावल और टुंगस्टनपर एकाधिपत्य जमा रखा था। उसी तरह

* The Indian Industrial Conference Report, 1905.

चमड़े और अवरखको भी अपनी मुट्ठीमें कर लिया था। उनके इस प्रबन्धसे इस लड़ाईके समय हम लोगोंको बड़ा नुकसान पहुँचा।

अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रोंकी कम्पनियोंको भारतमें बेरोकटोक कारबार करने देना कभी युक्तिसंगत नहीं है। जर्मन-आस्ट्रियनों को व्यवसाय करने देनेके विषयपर लिखते हुए 'स्टेट्समैन' ने फरवरी १९१७ में लिखा था:—"कोई भी भारतवासी नहीं चाहता कि ये जर्मन या आस्ट्रियन बहुत दिनों तक किसी भी शर्त्तपर, फिर भारतवर्ष लौटने पायं। भारतने उनका जो आतिथ्य किया था उसका उन्होंने बहुत बुरा प्रयोग किया। चमड़े और खनिज द्रव्योंके व्यापारमें उन्होंने जैसा व्यवहार किया वह उनके आचरणका ज्वलन्त प्रमाण है।"*

यद्यपि इंगलैंडकी कम्पनियों और पूंजीके बारेमें ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता है, तथापि सब दिन विलायती पूंजीके भरोसे ही रहना, विलायती कारबारियोंके भरोसेही देशके उद्योग धन्धोंकी उन्नतिकी आशा करना कभी वांछनीय नहीं है। जब मार्च १९१६ में औद्योगिक कमिशन बैठाने की बात छिड़ी थी,

*No one in this country is anxious to see the return of Germans or Austrians on any terms, at least for many years to come. They wronged the hospitality which was given to them. The establishment of a hides trust is a glaring instance of the manner in which they presumed on British good nature, and not less objectionable was their exploitation of certain valuable minerals,

तब भारत सरकारके वाणिज्य व्यवसायके मन्त्री, सर विलियम क्लार्कने कहा था कि हम लोग सब किसीकी इच्छा है कि भारतके व्यवसायोंमें देशी पूंजी लगे, व्यवसायोंका प्रबन्ध देशी लोगोंके हाथ ही रहे। यह ब्रिटिश साम्राज्य और भारतवर्ष दोनोंके लिये महान उपकारी होगा। औद्योगिक कमिशनको भी इस बातकी जांच करनेको कहा गया था कि किस तरह देशी पूंजीसे देशी धन्धे खड़े किये जा सकते हैं, उन्हें सरकार किस तरह सहायता पहुंचा सकती है, इत्यादि। आजकल एक और नई चाल चल पड़नेको है। अब तक तो विदेशी लोग यहांसे वा अन्य देशोंसे कच्चामाल मंगाकर अपने देशोंमें ही चीजें तैयार करते रहे हैं। अब उनकी चेष्टा है कि वे कल कारखानों और पूंजी समेत भारतवर्ष चले आवें और यहींपर कारखाना खोल-कर माल तैयार करना शुरू कर दें। ऐसा करनेसे कच्चा माल ढोकर अपने देश ले जाने और फिर वहांसे तैयार माल हिन्दुस्तान भेजनेका दुहरा खर्च बच जायगा। वे लोग हिन्दुस्तानमें ही हिन्दुस्तानी कारखानोंसे प्रतियोगिता करने लगेंगे। इससे देशी लोगोंको देशी पूंजीसे कारखाने खोलनेमें बड़ी दिक्कतें होंगी; और फिर देशसे सूद और नफा विदेश चले जानेकी बात बनी ही रहेगी। हां, देशी मजदूरोंको छोटी छोटी नौकरियां मिलेंगी; और उन कारखानोंको देखकर देशकी आंखें खुलेंगी। सबसे उत्तम बात तो तब हो जब कि देशी पूंजीसे ही देशकी औद्योगिक उन्नति हो। यदि देशमें काफी धन न मिले, या बहुत मंहगा

मिले तो देशी कारबारियोंको ही उचित है कि विदेशसे कर्ज़ लावें। यदि ऐसा भी संभव न हो तो विदेशी कम्पनियोंको विदेशी पूंजीसे व्यवसाय खोलने दें। पर शर्त्त यह रहे कि उनकी पूंजीका कमसे कम आधा हिस्सा देशमें ही उठाया जाय तथा उन कारखानोंके संचालकों (डाइरेक्टरों) में और नौकरोंमें हिन्दुस्तानी जरूर रहें। यदि यह सब सम्भव न हो तो कमसे कम खानोंका बन्द रहना ही अच्छा है; उन्हें विदेशियोंको खोलने देना उचित नहीं। उस हालतमें खानोंका काम सरकारी निगरानीमें ही होना चाहिये।

पूंजी किस तरह जमा हो सकती है ?—पूंजी-प्रचुर पूंजीकी नित्त आवश्यकता है। यह देश विदेश दोनों जगहोंसे आ सकती है। विदेशी पूंजी रेल, नहर, जूट, चाय, पेट्रोलियम इत्यादिमें लगी हुई है। विदेशियोंने जो अपनी पूंजी लगाई उसका कारण यह है कि उन्हें या तो सरकारी ज़ामिनी मिली है, या उन्होंने निजके प्रवन्ध, और निजकी निगरानीमें कारबार खोले हैं। क्या विदेशी पूंजी उस समय भी आती रहेगी जब कि कारखाने देशी धन्धे वालोंके हाथ चले जायंगे ? सम्भावना तो कम है। हां, यदि भारत सरकार, या देशी दरबार अथवा स्थानीय सरकारके संरक्षणमें कम्पनियां खुलें, उनमें देशी विदेशी दोनों प्रकार के डाइरेक्टर रहें तो शायद विलायती पूंजी आने लगे। दूसरा उपाय एक्सचेंज बंकों द्वारा विलायती बाजारोंसे सम्बन्ध स्थापित करना है। तीसरा उपाय विदेशमें अपनी एजेन्सियां खोल कर

विदेशी बाजारमें जिनसे माल पहुंचाता है, इससे उन बाजारोंकी जानकारी बढ़ेगी, वहां आपकी साख जमेगी, वहां वाले आपपर विश्वास करने लगेंगे।

देशी पूंजीके लिये दो काम करने होंगे। एक तो देशके संचित धनकी परम्परागत लज्जा दूर करानी होगी, उसे बाहर निकालकर उत्पादक श्रमोंमें लगाना होगा, उसे बाहर लाकर ऐसी जगहोंमें इकट्ठा करना होगा जहांसे वह उत्पादकश्रमोंमें लगाया जा सकेगा। अर्थात् जगह जगहपर बंक खोल संचित धनको बंकोमें जमा करनेकी आदत डालनी पड़ेगी। फिर धीरे धीरे व्यवसाय धन्धेके लिये (Industrial), देशी और विदेशी व्यापारके लिये (Ordinary and Exchange), कृषिकर्मके लिये (Agricultural), जगह जमीनके लिये (Land) अलग अलग बंक खोलने पड़ेंगे। पूंजी जमा करनेका एक और उपाय है जिसे बीमा (Insurance) का काम कहते हैं। जीवन, वारि और अग्नि बीमाओंसे थोड़ा थोड़ा करके बहुत सा धन जमा किया जा सकता है, यह धन फिर उत्पादक श्रमोंमें लगाया जा सकता है। पर सबसे बड़ी बात तो है बचानेकी आदत डालना। हम लोगोंको फजूल खर्च बन्द करना होगा, आवश्यकता पड़ने पर जरूरतोंको कम करके धन इकट्ठा करना होगा। ब्याहशादी, नाचरंगका व्यर्थ खर्च बन्द करना पड़ेगा, खर्चीली आदतोंको छोड़ना पड़ेगा, निकम्मे लड़कोंको व्यर्थ विदेश भेजकर हजारों खर्च करके पढ़ानेकी आदत रोकनी होगी।

फिर इन छोटी छोटी रकमोंको बचाकर रोजगार धन्धोंमें लगा देना पड़ेगा कि उनकी सहायतासे फिरसे नयी सम्पत्तिको सृष्टि हो। बस इसी तरहसे देश की पूंजी बढ़ानी पड़ेगी।

सारांश—किसी भी देशकी पूंजीको हमलोग साधारणतः चार भागोंमें बांट सकते हैं:—(१) कृषिकर्मकी, (२) वणिज व्यापारकी, (३) उद्योग धन्धेकी, (४) तथा इन तीनोंमें लगानेके लिए पूंजी देनेवाली कम्पनियों या बंकोंकी पूंजी। यहां कृषिकर्मकी पूंजीसे विशेष कर हल फाल, बैल बधिया, खाद इत्यादिका ही बोध होगा, जमीनका नहीं। अब हमारे देशके कृषकोंकी ऐसी पूंजीकी क्या अवस्था है, इसमें उन लोगोंकी कैसी कमजोरी पाई जाती है, यह इस अध्यायमें बताया जा चुका है। पूंजीकी कमीसे कृषकोंको कम आमदनी होती है, उनके खेतोंमें उचित शस्य पैदा नहीं होते।

वणिज व्यापारके दो अंग हैं। एक तो विदेश तथा देशके बने मालको गाहकोंके घर घर पहुंचाना। इसमें व्यापारियों, दूकानदारोंकी जितनी पूंजी लगी है वह प्रायः सब भारतवासियोंकी है। देशके जितने लोग व्यापारमें लगे हुए हैं वे विशेष कर (जैसा कि मारवाड़ी लोग) विदेश वा देशके बने मालको ही खरीदते और बेचते हैं; कारखानोंसे माल खरीदा और गाहकोंके (उनको व्यवहार करने वालोंके) पास पहुंचाया बस इतना ही भर इन लोगोंका काम है। इसका दूसरा अंग, देशमें उत्पन्न कच्चे बानेको विदेश भेजना है। इस विभागमें विशेषकर विलायती

व्यापारी ही लगे हुए हैं; सीधे विदेशको देशी कच्चा माल भेजने वाले देशी व्यापारी कम मिलेंगे। पहले अंगमें जितनी पूंजी लगी है वह प्रायः देशी है, देशी महाजनोंने दी है। दूसरे अंगमें जो पूंजी लगी है वह एक्सचेंज बंकोंसे मिलती है। अभी हाल-तक ये बंक विलायत या अन्य विदेशसे रुपया कर्ज लेकर हिन्दुस्तानमें लगाया करते थे। पर अब ये लोग भारतमें भी रुपया कर्ज लेने लगे हैं।

देशी लोगोंने वणिज व्यापारमें तो थोड़ी बहुत पूंजी लगाई है, पर धन्धोंमें तो बहुत ही कम। इधर हमलोगोंका ध्यान ही नहीं जाता। आजकलके धन्धोंके लिये कारखानोंकी जानकारी, मजदूरोंकी दक्षता तथा कारखाना चलानेवालोंकी खास शिक्षा चाहिये। ये सब गुण हमारे देशमें विरले ही मिलेंगे, तिसपर उन्हें विदेशके सब तरहसे उन्नत धन्धोंका सामना करना पड़ता है। यह और भी मुश्किल है। बम्बईवालोंको छोड़ और किसी भी प्रान्तमें बड़े बड़े धन्धे देशी लोगोंके हाथमें नहीं हैं; कुल धन्धे विलायती कारबारियोंने खड़े किये हैं। इन धन्धोंको बंकोंसे बड़ी सहायता मिलती है; इनके सहारे ही पूंजी इकट्ठी की जाती है। पर देशी बंकोंकी अभी प्रथमावस्था है, अभी हम लोगोंको बंकोंके सम्बन्धमें बहुत कुछ सीखना है। साथ साथ धन बचाने और उन्हें उत्पादक श्रमोंमें लगानेकी भी आदत डालनी पड़ेगी। देहाती बङ्कोंके प्रचारसे भी पूंजी इकट्ठा करनेमें बड़ी सहायता मिलेगी।

सातवां-अध्याय

संगठन

संगठनकी आवश्यकता—इसकी भूत और वर्त्तमान अवस्था—भारतमें संगठनकी आवश्यकता—साझीदारीकी कम्पनियां और सम्पत्तिकी उत्पत्ति—मिलजुलकर काम करनेके लाभ—भारतमें सम्भूय समुत्थान कम्पनियां—सारांश।

संगठनकी आवश्यकता—सम्पत्तिकी उत्पत्तिके साधनोंमें-से चौथा साधन संगठन है। जिस प्रकार जमीन मेहनत और पूंजी,—प्रत्येक धनोत्पत्तिके अवयव हैं, उसी प्रकार संगठन भी एक चौथा अंग है। धनकी उत्पत्ति तभी संभव है जब ज़मीन मेहनत और पूंजी इकट्ठी की जायं, उनका यथोचित संगठन और संचालन हो। इन अवयवोंका उचित संगठन कर देनेसे जैसा परिणाम होता है, वैसा इन्हें यों ही छोड़ देनेसे कभी नहीं हो सकता। इस संगठनकी थोड़ी बहुत जरूरत तो हर समय रहती है, परन्तु आजकल कलों, पुतलीघरोंके द्वारा व्यवहारकी चीजोंको तैयार करनेके जमानेमें इसकी बड़ी आवश्यकता है। यदि संघ-शक्ति और संगठनका सहारा न लिया जाय तो आजकलका कोई भी रोज़गार एक घड़ी भी न टिक सके।

संगठनकी भूत और वर्तमान अवस्था—पुराने ज़मानेमें जब सभ्यताका विकाश होना ही चाहता था तब जो संगठनकी अवस्था थी और आजकल जो अवस्था है दोनोंमें बड़ा भेद है। पुराने ज़मानेमें हर किसीको अपने भोजन, वस्त्र आच्छादन और घरका पूरा पूरा प्रबन्ध आप ही करना पड़ता था, उस समय श्रम विभागका नाम तक न था। जब लोग आखेट कर जीवन निर्वाह करते थे, तब प्रत्येक व्यक्ति आप अपना तीर बनाता था, धनुष तैयार करता था, और पशुका शिकार कर उसे खाने लायक बनाता था, और उसीके चमड़ेसे शरीर भी ढँकता था। पेड़ोंके पत्ते लाकर झोपड़ी बना लेता था। इन कामोंमें उसकी स्त्री सहायता करती थी। परन्तु प्रत्येक परिवार अपनी ज़रूरतकी चीजें आप तैयार करता था। धीरे धीरे जब खेतीबाड़ी शुरू हुई तब भी पुरुष आखेटको जाता या खेत जोतता था, और उसकी स्त्री खेतके हल्के कामोंको करती या भोजन पकाती या घरमें बैठकर सूत कातती और कपड़े बुनती थी। बहुत समय तक यही दशा रही। परन्तु धीरे धीरे परिवारोंकी यह सम्पूर्णता जाती रही, उनकी ज़रूरतें बढ़ने लगीं, और इनका पूरा करना इन परिवारोंकी शक्तिके बाहर होगया। यह देखकर श्रमविभाग-का आरम्भ हुआ, धीरे धीरे लोग थोड़ी बहुत पूंजी और हुनर हासिल करने लगे। अब एक आदमी एक क़िस्मके रोज़गारमें लग जानेकी कोशिश करने लगा। तेली तेल पेरनेमें, जुलाहा कपड़ा तैयार करनेमें, मोची जूता बनानेमें अपनी पूंजी और

अपना हुनर खर्च करने लगा। इस समय तक ऐसे श्रमविभागकी सीमा बहुत ही नियमित थी, उसका प्रचार बढ़ नहीं सकता था। हद्से हद् एक गांव, या आस पासके दो चार छोटे छोटे गांवोंके परिवार मिलकर अपनी एक पूरी पूरी दुनिया बना डालते थे। इसी छोटे रकवेके अन्दर उनकी जरूरतकी सब चीजें मिल जाती थीं। कारण यह था कि उस समय तक उनका संगठन बहुत ही सरल था ; वस्तु विनिमयका साधन 'रुपया' ये तो था ही नहीं, वा होने पर भी बहुत कम परिमाणमें था ; वस्तुके बद्लेमें वस्तु देकर ही क्रय विक्रय (Barter) हुआ करता था ; रास्ते सुगम न थे, चीज एक जगहसे दूसरी जगह ढोनेके लिये उचित वाहन भी न थे, अपनी बस्तीके बाहरकी दुनियाका परिचय बहुत कम लोगोंको था।

धीरे धीरे लोगोंका साहस बढ़ता गया। लोग नदीनालोंमें नाव चलाकर दूर दूर तक जाने लगे ; घोड़े, खच्चरोंपर असबाब लादकर पहाड़ी घाटी लांघकर दूसरे दूसरे इलाकों तक पहुंचने लगे। नये देशोंमें, नये लोगोंसे मिलनेपर इन साहसी मनुष्योंकी आंखें खुलीं। इन लोगोंने व्यापार करना शुरू किया, एक जगहका माल दूसरी जगह ले जाने लगे। धीरे धीरे हाट; बाजार और पैंठ खुल गये। कारीगरोंने भी मांग बढ़नेके कारण अधिक माल तैयार करना शुरू किया। और यह तैयार माल हाट, बाजारमें जाकर बेचा ; और वहांसे या तो गाहकोंने खरीदकर अपने व्यवहारमें लगाया या व्यापारियोंने

खरीद् कर दूसरी जगह पहुँचाया। धीरे धीरे मांग बढ़नेसे अधिक पूंजीकी आवश्यकता हुई ; अधिक माल तैयार करनेसे उसके वेचनेकी फिक्र पड़ी। इसके लिये कारीगरोंकी तरह व्यापारियों और महाजनोंकी सृष्टि हुई। इनकी सृष्टि होनेसे जगह जगह पर खास चीज बनानेवाले कारीगर भी आ बसे। रफ्ता रफ्ता खास खास वस्ती या शहर वस्तु विशेषके लिये मशहूर हो गये। धनी श्रीमानों, राजा महाराजोंने भी इसमें बड़ी सहायता की। जहां जिसकी राजधानी हुई वहीं वह राजा अपने यहां अच्छे अच्छे कारीगरोंको बुलाकर बसाने लगा।

छोटे छोटे रोजगारियोंका अपने यहां सब सामान तैयार करना, निजकी मेहनत, पूंजी और कच्चामाल लगाना मध्य-युगतक चलता रहा। उस समयतक दूर देशमें आना जाना बड़ा कठिन था ; प्रत्येक देश, वा यों कहिये कि प्रत्येक इलाका भरसक अपनी सम्पूर्णता बनाये रखता था, उसे दूसरे देशपर भरोसा करना नहीं पड़ता था। पर मध्ययुगके अन्तकालमें या यों कहिये कि वर्तमान युगके आरम्भमें (वाष्प यन्त्रके अविष्कारके बाद्) नये देश खोज निकाले गये ; जहाजोंपर चढ़कर लम्बे लम्बे सफर करनेवाले वीर जहाजी आरम्भमें उत्पन्न हुए। इन लोगोंने अपने अपने देशोंकी चीज एशिया और अमेरिका पहुँचानी शुरू कर दी, बदलेमें वहांसे विशेषकर दक्षिण तथा मध्य अमेरिका से—चांदी सोना लाना शुरू किया। इस चांदी सोनेने योरपमें विनिम-यको सरल कर दिया, वहां पूंजीकी कमी न रही। कारीगरोंके

बनाये तैयार माल बेचनेके लिये एशिया और अमेरिकाके बाजार थे ही, फिर इस पूंजीके सहारे बड़े बड़े कारखाने क्यों न खुलते ? इन्हीं आवश्यकताओंने कल पुर्जोंका भी आविष्कार करा दिया। अब हाथके बदले कलोंसे काम लिया जाने लगा, तथा अपनी अपनी झोपड़ियोंमें अपनी पूंजी और कच्चे मालके सहारे व्यवहारोपयोगी वस्तु बनानेके बदले बड़े बड़े कारखाने खुलने लगे। वहीं ये कारीगर अपनी झोपड़ी छोड़ काम करनेको जमा होने लगे। अब उन्हें न औजारकी जरूरत रही, न पूंजी तथा कच्चे मालको ही इकट्ठा करना रहा; और न तैयार माल बेचनेकी फिक्र करनी पड़ी। वे सीधे कारखानेको गये, तथा मालिकके दिये औजार और कच्चे मालसे चीजें तैयार कर घर लौट आये। मालिकने पूंजी और सब सामान इकट्ठे किये, तथा उन्हें जरूरतकी जगहपर ग्राहकोंके पास पहुँचा भी दिया। कारीगरोंने अपनी मजदूरी पाई और घरमें आ कर आराम किया। इसीको "फैक्टरीका जमाना" कहते हैं।

इस फ़ैक्टरीके जमानेमें हाथके बदले कल पुर्जोंसे काम लिया जाने लगा। ढेरकी ढेर चीजें बनने लगीं; श्रम विभागको बहुत ही ऊंचे दर्जेतक पहुंचा दिया गया। जहां पुराना कारीगर अपने गांव या इलाकेके लिये चीजें बनाता था, वहां अब बड़े बड़े पुतलीघर सारी दुनियाके लिये चीजें बनाने लगे। जहां पुराने कारीगरको अपने गाहकोंकी संख्याके अनुसार चीजें बनानी पड़ती थीं, वहां अब फैक्टरी वालोंको बिक्रीकी फिक्र

उठ सी गयी, वे सारी दुनियाकी आवश्यताओंकी पूर्त्ति करते हैं। इस कारण बनानेवाले और बेचनेवाले—दोनों दो श्रेणीके लोग हो गये हैं, दोनोंहीके पृथक् पृथक् संगठन हैं। परन्तु इस आडम्बरसे काम करना, इतनी पूंजी लगाना, इतने मज-दूरोंसे काम लेना और प्रत्येक अंगोंका संगठनकर उचित रूपसे संचालन करना कोई सहज काम नहीं है। इसीसे इस संगठन-के लिए आज कल उद्योग धन्धोंके संयोजकोंकी एक अलग श्रेणी ही बन गयी है। पुराने जमानेमें एक कारीगर सब कुछ कर सकता था। पूंजी दे सकता था, कच्चा माल खरीद सकता था। अपने घरमें कारखाना खोलता था और मामूली औजार भी रखता था। फिर उन मामूली द्रव्योंको बनानेका पूरा इ[illegible] भी रखता था। और बनानेपर उसे अपने पुराने गाहकोंके पास बेच भी आता था। पर अब ये सब बातें बदल गयी हैं, अब आजकल ऐसे प्रत्येक कामके लिये खास इल्म की जरूरत है, और फिर इन खास चीजोंको इकट्ठा करना, उनका यथोचित संयोजन भी एक खास हुनरका काम है। जो दस पांच आदमी मिलकर काम न करें तो आजकल की फैक्टरियोंका खोलना या चलाना असम्भव हो जाय। इसी कारण आजकलके जमानेमें (Joint stock) 'साझीदारी'के सिद्धान्तपर सब काम चल रहा है। इसीसे कहते हैं कि आजकल फैक्टरीके जमानेमें संगठन भी अन्य तीनों अवयवोंकी तरह धनकी उत्पत्तिका एक प्रधान अंग हो रहा है।

भारतमें संगठनकी अवस्था—और देशोंकी तरह भारतमें भी हाथसे काम करने वाले और कलोंसे काम लेनेवाले कारीगरों और धन्धोंकी दोनों श्रेणियां पाई जाती हैं। पर सच-मुचमें अपने हाथोंसे मामूली औज़ारकी सहायतासे काम करनेकी चाल ही पुरानी और भारतकी स्वाभाविक अवस्था है। भाफ और बिजलीकी शक्तिसे कल चलाकर चीज बनानेकी चाल तो नई है और योरपके संसर्गसे भारतमें आई है। आजकल भी दोनों ही किस्मके धन्धे प्रचलित हैं। और यह अवस्था हिन्दु-स्तान ही क्यों सारी दुनियामें पाई जाती है। कलोंके हजार प्रचार होने पर भी हाथसे काम करनेवाले कारीगर काम करते ही हैं।

हिन्दुस्तानमें तो आजकल भी कुछ दो चार इलाकों और बड़े बड़े शहरोंको छोड़कर हर जगह हाथसे काम करनेवालोंकी ही अधिकता है। अब भी बढ़ई, लुहार, चमार, रंगरेज, संगतराश, जुलाहे, तेली इत्यादि इत्यादि पेशेवाले अपनी पुरानी चालसे ही काम करते हैं, और उनकी संख्या भी कुछ कम नहीं है। यद्यपि कपड़ेकी मिलें देशमें खुल गयी हैं, और बाहरसे भी बहुत सा माल आता है तो भी देशमें बहुत से जुलाहे हैं जो पुरानी चाल पर करघे चलाकर कपड़ा तैयार करते हैं और बेचते हैं। यद्यपि आजकल बहुत सी तेलकी मिलें खुल गयी हैं और हर शहरमें एक दो ऐसी मिलें पाई जाती हैं, तथापि पुरानी चालके कोल्हूसे तेल पेरनेवाले तेलियोंकी कमी नहीं है। उसी तरह कानपुर, आगरेके

जूतेके कारखानोंके होते हुए भी देशी मोची हाथके जूते बनाते ही हैं। हिन्दुस्तानमें यद्यपि फैक्टरीका जमाना धीरे धीरे बढ़ रहा है तथापि इन पुराने कारीगरोंकी कमी नहीं है।

ये कारीगर बहुत ही सरल रीतिसे अपने रोजगारका संगठन करते हैं। जितने औजारोंकी जरूरत होती है सब आप खरीदते हैं। भरसक अपनी पूंजी आप लगाते हैं, और यदि पूंजी न रही तो महाजनोंके यहांसे कर्ज लाकर लगाते है और महाजनोंको सूद देते हैं। सूद देनेपर जो मुनाफा बचा वह स्वयं रखते हैं। तैयार हुआ माल बहुधा यों ही बैठे बैठे बिक जाता है। जैसे गांवके बढ़ई, लुहारका बनाया हल फाल इत्यादि, या तेलीका पेरा हुआ तेल वा हलवाईकी मिठाई।

बहुतसे ऐसे भी कारीगर हैं जिनकी अवस्था कलोंमें बने मालकी चढ़ा ऊपरीके कारण खराब हो गयी है। जैसे कपड़ा बुननेवाले जुलाहे, वा दरी बनानेवाले 'मोमिन' वा कहीं कहीं जूता बनानेवाले मोची। ये अब महाजनोंके यहांसे कच्चा माल लाते हैं, वहींसे खानेको रुपया उधार पाते हैं, औरमाल तैयार होने पर करारदाद ठहराव (दादन) के हिसाब पर उसी महाजनके हाथ माल बेचते हैं। फल यह हुआ है कि उनकी स्वच्छन्दता जाती रही है; वे मामूली मजदूरोंकी गिनतीमें आ गये हैं। जो कुछ मुनाफा होता है उसका अधिकांश तो महाजनके हिस्से पड़ता है।

कारीगरोंकी यह अवस्था देखकर देश हितैषियोंका ध्यान इनकी उन्नतिकी ओर जाने लगा है। किस तरह इनका अच्छा

संगठन हो कि ये लोग अपनी दशा सुधार सकें और महाजनों द्वारा अनुचित रूपसे पीसे न जांय—इन बातोंका विचार किया जा रहा है। उन्हें शिक्षा देनेका धीरे धीरे प्रवन्ध हो रहा है। तथा सबसे बढ़िया काम यह हुआ है कि उन्हें मिलकर काम करना सिखाया जा रहा है। दस पांच कारीगर मिलकर एक बंक (Cooperative Credit Society) खोलते हैं और पूंजी इकट्ठी करते हैं। कहीं इन्हें अपने रोजगारके लिये कच्चा माल देनेवाली सुसाइटी (सभा) खुल रही है और कहीं यही सुसाइटी बने मालको खरीदकर मौकेके साथ अच्छे भावपर बेचनेका भी प्रवन्ध करती है। यदि यह चाल चल पड़े और इसका हर जगह प्रचार हो जाय तो देशी कारीगरोंके संगठनकी एक बहुत बड़ी कमी पूरी हो जाय।

यह तो हुई छोटे छोटे कारीगरोंकी बात। इधर कुछ दिनोंसे बड़ी बड़ी कम्पनियां खोलने और कलों द्वारा माल तैयार करनेकी भी चाल चल पड़ी है। ये कम्पनियां साझीदारीके नियमों (Joint Stock Principle) पर चलाई जाती हैं और बड़ी बड़ी पूंजीसे काम करती हैं। पर ये अवतक बहुधा योरपियनोंकी पूंजी तथा उनकी देखरेखमें ही चली जाती हैं। जहां देशी लोगोंकी पूंजी है वहां भी एक यूरोपियन मनेजर रख लिया जाता है जो अपनी व्यवसायिक बुद्धिसे कारखानेको चलाया करता है। १९११ वाली मर्दुमशुमारीकी रिपोर्टमें लिखा है कि भारतमें जितनी बड़ी बड़ी कम्पनियां हैं वे अधिकतर योरपियन पूंजीसे

ही चलाई जा रही हैं; उनके संचालक प्रायः योरपवाले हैं। जो हिन्दुस्तानी वहां काम करते हैं वे या तो आफिसोंके बावू हैं या कुली मजदूरे हैं। आसाममें कोई ५४६ चाय बागान हैं जो योरपियनोंके हैं और सिर्फ ६०'बागान' देशी आदमियोंके हैं। इन बागीचोंमें ७३ देशी और ५३६ विलायती मनेजर हैं। मद्रास और मैसोरके काफीके बागीचोंमें भी वही बात पाई जाती है। बङ्गालकी जूट मिलोंमें विलायती पूंजी लगी हुई हैं; उनके मनेजर भी विदेशी ही हैं। सिर्फ बम्बई प्रान्तमें विशेषकर कपड़ेकी मिलोंमें हिन्दुस्तानियोंने अपनी पूंजी लगाई है, और हिन्दुस्तानी ही अधिकांश इन मिलोंको चलाते भी हैं। बम्बईमें ११० सूत और कपड़ेकी मिलें हैं जो देशी लोगोंकी हैं, २५ मिलोंमें देशी विदेशी दोनोंकी साझेदारी है, और सिर्फ १२ मिलें ऐसी हैं, जिनके मालिक विदेशी हैं। उसी तरह इन मिलोंके मनेजर भी ४३ को छोड़ सबके सब देशी हैं। खानों तथा अन्य व्यवसायोंमें भी अधिकतर विदेशी ही पाये जाते हैं। इन कारखानोंमें जहां अधिक हुनरकी जरूरत होती है वहां भी आजकल ज्यादातर विलायती कर्मचारी ही रखे जाते हैं।

साझेदारीकी कम्पनियां और सम्पत्तिकी उत्पत्ति–बड़ी बड़ी कम्पनियां खड़ी करनेसे कलों द्वारा अधिक परिमाणमें माल तैयार करनेसे खर्च कम पड़ता है, चीजें सस्ती पड़ती हैं और अन्तको बचत अधिक होती है। इसीसे आजकल बड़ी बड़ी कम्पनियां खड़ी की जाती है, बडे बड़े विशाल कारखाने

खोले जाते हैं। फिर जब इन विशाल कारखानोंमें आपसमें चढ़ा ऊपरी होने लगती है, एक कम्पनी दूसरी कम्पनीको दबाने के लिये नई चीजें सस्ते दर पर बेचने लगती है और अन्तको जब कारबारको बहुत नुकसान झेलना पड़ता है, दिवाला निकालने तककी नौबत आ जाती हैं तब फिर ये विशाल कम्पनियां मिल कर एक और अत्यन्त बृहद् आकार धारण करती हैं। ऐसी बड़ी बड़ी भीमकाय कम्पनियाँ अमेरिकामें अधिकतर पाई जाती है। इस प्रकारकी संगठित कम्पनियां (Trust) लोहे, चीनी, पेट्रोलियम, रेल, जहाज इत्यादिका कारबार करती हुई पाई जाती हैं। यहां भारतमें भी अभी कुछ ही दिन हुए कई कोयलेकी कम्पनियां आपसमें मिल कर, एक संघ स्थापित कर काम करने लगी हैं।

इस प्रकार कारबारियोंके 'संघ' स्थापित हो जानेसे पूंजीदारों और कारखाना चलानेवाले व्यवसायियोंकी शक्ति निःसीम हो जाती है। इससे एक एक व्यक्ति या दो चार व्यक्तियोंका एक छोटा गुट्ट लाखोंके लाखों श्रमजीवियों, मजदूरों, कारीगरोंका भाग्य विधाता बन जाता है। ऐसे एक एक कारनेगी, रोनडा, रौकेफेलर, मोरगन या आस्टरके हाथमें लाखोंका भाग्यसूत्र रहता है। यों कहनेको तो आजकलका जमाना व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और स्वछन्दताका युग कहलाता है, पर वास्तवमें यह जमाना 'बनियाशाही'का जमाना है। एक एक धनकुबेरके लाख लाख कर्मचारी, मजदूरे और कारीगर हैं। और इधर कारीगरोंकी

क्या अवस्था है ? जब तक वह अपना रोजगार आप करता था, अपनी पूंजी आप लगाकर सामान तैयार करता और बेचता था, तब तक उसमें कुछ सत्ता थी, कुछ आत्माभिमान था, कुछ मर्यादा थी। पर जबसे उसने अपना कारबार उठाकर पुतली घरोंमें काम करना शुरू किया है तबसे ये सब बातें जाती रही हैं। वह निरा मजदूरा हो गया है, वह पेट पालनेके लिए काम करता है, उसे नफा नुकसानसे क्या मतलब ? उसे उन्नति अव-नतिसे क्या लाभ ? वह तो अपनी मजदूरी और अपना पेट—बस इन्हीं दो चीजोंको जानता है। धीरे धीरे उसके सब अच्छे गुण, जिनसे उसका मनुष्यत्व था, जाते रहे हैं।

इसी कारण अब दोनोंमें—मालिक और मजदूरमें—हित-विरोध होने लगा है, एक दूसरेका अविश्वास करता है। मजदूरे समझते हैं कि मालिक नफा खाते खाते मोटे होते जाते हैं और बेचारे मजदूरे भर पेट भी नहीं खाने पाते। इस हितविरोधसे दो फल होते हैं:—हड़ताल या द्वारावरोध। आज मजदूरोंने काम करनेसे इन्कार किया तो कल मालिकोंने उन्हें हातेके अन्दर नहीं आने दिया, काम नहीं करने दिया। दोनों ओरसे नोक झोक चल रही है। मालिकोंने अपना संगठन किया है तो मजदूरोंने भी अपना संगठन करना आरम्भ किया है। धीरे धीरे यह चाल हर जगह हर देशमें फैल रही है, और विशाल-कभी कभी विकराल रूप धारण कर रही है। इसीसे कभी कभी भावुकों को कहना पड़ता हैं कि इस संगठनसे काम न चलेगा, इस

फैक्टरी वाली चालको बदलना पड़ेगा। शहरोंमें जमघट्ट करना छोड़ना होगा और फिर वही पुरानी चाल; वही देहातोंमें बैठ कर सामान बनानेकी चालको लौटा लाना पड़ेगा। (Back to Country again!) कालचक्रसे प्रार्थना करनी पड़ेगी कि—"लौट पीछेकी तरफ़ ऐ गर्दिशे अय्याम! तू"

ऐसी बड़ी बड़ी कम्पनियां खड़ी होती हैं क्योंकर? उनकी लाखों, करोड़ों और अरबों वाली पूंजी आती है कहांसे? एक आदमीके लिये इतना धन लगाना तो हमेशा सम्भव नहीं है। यह 'साझीदारीके सिद्धान्तों'(Joint to Stock Principles) पर काम करनेसे ही सम्भव होता है। इनके अनुसार काम करनेसे बड़ी से बड़ी कम्पनी सहजमें कायम की जा सकती है, लाखों, करोड़ोंकी पूंजी तुरत इकट्ठी हो जाती है। कम्पनी खोली गयी, पूंजी का निर्णय हुआ, शेयर (हिस्से)का निश्चय किया गया और जन साधारणके पास कम्पनीका प्रासपेक्टस (विवरण सूची) भेज दिया गया। लोगोंने पढ़कर, सोच विचार कर शेयर (हिस्सा) खरीदना शुरू किया। जिस किसीके पास संचित धन था, कम या बेशी कुछ भी क्यों न हो उसने अपने वित्तके अनुसार शेयर खरीदा। देखते देखते बहुत बड़ी पूंजी हो गयी। दसकी लाठी और एकका बोझा। बून्द बून्दसे तालाब भर गया और व्यवसायियोंने अपनी बुद्धिके अनुसार कारखाना खोल डाला।

मिलजुलकर काम करनेके लाभ—इस तरह मिल जुलकर कम्पनी खोलकर काम करनेसे अनेक लाभ हैं। पहली

बात तो यह है कि इस सिद्धान्तसे काम करनेसे बड़ीसे बड़ी कम्पनी सहजमें खड़ी की जा सकती है। इसमें बड़े छोटे सब किसीको अपनी शक्तिके अनुसार लाभ उठानेका मौका मिलता है। तथा जोखिम भी कम हो जाती है। जिसका जितना शेयर है उसका दायित्व भी उतना ही है, उससे अधिक नहीं। किसीके पास रुपया है, पर वह इतना थोड़ा है कि उससे कोई एक पूरा कारवार उचित रूपसे नहीं खोला जा सकता है। इस कारण वह धन यों ही बेकार पड़ा रह जा सकता है। पर यदि वह पुरुष ऐसी कम्पनियोंके हिस्से खरीद ले तो यथेष्ट लाभ उठा सकता है। फिर मान लीजिये कि आपके पास धन है जिसे कारवारमें लगाना चाहते हैं, पर आपको या तो कारवार करनेकी बुद्धि ही नहीं है या फुरसत नहीं। तब यदि आप शेयर खरीद लें तो यथेष्ट लाभ उठा सकेंगे, और जोखिम भी कम रहेगी। या मानलें कि आपके पास इतना अधिक धन है कि आप उसका यथोचित उपयोग ही नहीं करना जानते यदि उसे दस पांच अच्छी कम्पनियोंमें लगा दें तो लाभ भी हो और जोखिम भी कम हो जाय। एक जगह यदि नफा कम हुआ या नुकसान हुआ तो शेष नौ जगह तो लाभ हुए। फिर भी यदि संचित धनके उपयोगके ऐसे अच्छे सुभीते मिलें कि जोखिम भी कम हो और घर बैठे लाभ भी यथेष्ट हो तो संचयकी बुद्धि बढ़ती जायगी, देशके धनकी वृद्धि होती जायगी; व्यर्थ फिजूल खर्ची कम हो जायगी। आजकल उद्योग धन्धे, वणिज व्यापारकी

जो बेशुमार उन्नति हो रही है उसका एक प्रधान कारण यह भी है। यदि ज्वायंटस्टाक कम्पनियोंके खोलनेकी चाल न। चल पड़ती, यदि हिस्सेदारोंकी जोखिम पुराने जमानेकी कम्पनियोंकी तरह निःसीम रहती तो आजकलके भीमकाय कारबार कभी सम्भव न होते। भारत भी जब तक ज्वायंट स्टाकके सिद्धा-न्तोंको न कबूल करेगा तब तक उन्नतिकी आशा नहीं।

भारतमें सम्भूय समुत्थान कम्पनियां-(Joint Stock) आजकल जितनी बड़ी बड़ी कम्पनियाँ खुलती हैं सब मिल जुल कर काम करनेके सिद्धान्तपर। भारतमें भी जो रेल या ट्राम, कोयला, सोना, पेट्रोलियम, चाय, जूट, रुई, चमड़ा इत्यादिकी बड़ी बड़ी कम्पनियां नजर आती हैं सब इसी सिद्धान्तपर काम कर रही हैं। इसका प्रारम्भ योरपियनोंने यहां किया। अब देशी व्यवसायियोंने भी जो कम्पनियां खड़ीकी हैं, सब उसी सिद्धान्त पर। देशमें इसका धीरे धीरे प्रसार हो रहा है। इन कम्पनियोंका थोड़ा बहुतजिक्र अगले अध्यायमें आ चुका है। १९१४-१५ तक जितनी ज्वा-यंट स्टाक कम्पनियोंकी रजिस्ट्री हुई थी उनकी संख्या ६९९९ थी। पर उनमेंसे बहुतोंने दिवाला मारा, बहुतोंने काम ही नहीं शुरू किया; बहुतोंने यहां कारबार बन्द कर विलायतमें नाम दर्ज कराया। इस कारण वे कम्पनियां जो १९१४-१५ के अन्तमें भारतमें कारबार कर रही थीं सख्यामें कुल २५४५ थीं।

नीचे लिखे कोष्ठकसे ज्वायंट स्टाक कम्पनियोंकी वृद्धिका परिचय मिलेगा।

ब्रिटिश भारत और मैसूरकी ज्वायंट-स्टाक कम्पनियां

सन्	कम्पनियोंकी संख्या जो काम कर रही हैं	उनकी कुल पूंजी	पूंजीका वह हिस्सा जो हिस्सेदारोंने वसूल कर दिया है।
१९००-०१	१३६६	५०,९५,४५,२९५ रुपया	३६,२७,५६,६३० रुपया
१९०५-०६	१७२८	६३,७२,८०,६०६ ,,	४१,८३,५२,३२९ ,,
१९१०-११	२३०४	१,५७,९९,०४,९७७ ,,	६४,०४,९६,८२६ ,,
१९१३-१४	२७४४	२,२३,२३,६१,२९८ ,,	७६,५६,१८,२७४ ,,
१९१५-१६	२४७६	१,८४,२०,९०,३३७ ,,	८५,०२,४५,५३२ ,,
१९१७-१८	२५१३	२,००,०९,००,००० ,,	९०,९०,००,००० ,,

नीचे लिखे कोष्ठकसे पता लगेगा कि किस किस्मकी कितनी कम्पनियां कितनी पूंजीसे १९१३-१४ (लड़ाई शुरू होनेवाले साल) में काम कर रही थीं।

कम्पनियोंकी श्रेणी	संख्या	नकद पूंजी
बंक और कर्ज देनेवाली	५५२	७,९१,५१,४००
बीमा	२१४	४६,०८,८७१
जहाज, स्टीमर	२३	१,२३,६६,४४६
रेलवे, ट्रामवे	४३	७ ०६ ४४,५७२
कोआपरेटिव नियमोंसे व्यापार करने वाली	६०	१२,८५,६९२
माल ढाल उभार और गुदाम में रखने वाली	९	३०,०८,८१०
मुद्रण, प्रकाशन और स्टेशनरी	८५	३१,६५,८४८
फुटकार व्यापार करने वाली	६८२	१०,१२,३३,७२४
रूईकी मिलें	२०९	१५,५६,९८,१७८
जूट मिलें	३५	७,४४,९४,८३०
ऊन, रेशम इत्यादि की मिलें	१७	१,२९,९५,२१२
रूई, जूटकी प्रेस (पेंच)	१४५	२,७२,४४,५६८
कागज की मिलें	६	४५,१५,५४०
चावल की मिलें	३२	८४,९३,६५०
आटे की मिलें	३२	७,९६,६३५
लकड़ी चीरनेकी मिलें	८	१३,४१,१५१
फुटकार मिलें और पेंच	३४	३०,४३,०८२
चाय	२०१	४,०९,०५,३९५
काफी सिनकोना	३	२,६६,९७०
फुटकार बागान	२८	४५,४५,२१६
कोयला खान वाली कम्पनियां	१३७	५,८६,५८,४२९
सोना ,, ,,	८	३१,२१,४७१
फुटकार खान ,,	७२	५,७२,२७,६४५
जमीन मकानात ,,	३५	१,९१,५८,२९८
शराब चुलानेवाली ,,	४	२१,८४,५००
बर्फ बनाने वाली ,,	१३	११,२७,६६४
चीनी	२१	७६,३७,१५५
फुटकार	३४	३,९७,२९२
कुल जोड़	२७४४	७६,५६,१८,२७४

जैसा कि ऊपर कहा गया है, १६१४-१५ तक ६६६६ कम्पनियोंकी रजिस्ट्री हुई, पर २५४५ को छोड़ शेष या तो बन्द हो गयीं या दिवाला निकाल गयीं इसका क्या कारण है ? कारण यह है कि कम्पनी खोलनेवालोंमें व्यवसायबुद्धिकी कमी है। स्वदेशीके जमानेमें देश सेवा और देशको धनी बनानेकी उमंगमें आकर सब किसीने कम्पनी खोलनेका साहस किया। वकील मख्तार, अटर्नी, बारिस्टर, स्कूल मास्टर, या पेन्शनयाफ्ता सरकारी अफसर हर पेशेके लोगोंने कम्पनी खोलना और डाइरेक्टर (संचालक) बनना शुरू कर दिया। रंगीन इबारतोंमें कार्य विवरणपत्र छपने लगे और लोगोंको शेयर खरीदनेके लिए उत्तेजित किया जाने लगा। देशमें जोश तो फैल ही रहा था, शेयर धड़ाधड़ खरीदे जाने लगे और रुपये इकट्ठे होने लगे। पर इससे होना जाना क्या था। धीरे धीरे कम्पनियां फेल हो गयीं लोगोंका रुपया डूब गया। या तो संचालकोंमें व्यवसायबुद्धि न थी, या उनमें पूरी पूरी ईमानदारी नहीं थी। जिस किसी कारणसे क्यों न हो, कम्पनियां फेल कर गयीं। कारबार खोलनेके लिये जो एक विशेष प्रकारकी शिक्षा, एक विशेष प्रकार की विलक्षण बुद्धिकी जरूरत है, इसको हमलोग बिल्कुल भूल सा जाते हैं। अपने देशके पारसी, मारवाड़ी, भाटिये, खोजा लोगोंने पुश्तोंके व्यापार व्यवसायसे एक प्रकारकी शक्ति पैदा कर ली है वह साधारणतः दूसरी जातिके लोगोंमें सहजमें नहीं पाई जाती। पर तो भी इन लोगोंके बच्चोंको भी व्यापार व्यवसायकी पूरी

शिक्षा की जरूरत है। उन्हें नीचेसे ऊपर तक हर किस्मके कामको सीखनेपर व्यवसायमें लगाया जाता है। बड़े बड़े व्यापारियोंके लड़के प्रायः यह बात भूल जाते हैं। उनके अभिभावकोंको उचित है कि युवकोंको इसी तरह शिक्षित करें। क्योंकि उन्हें अपने बच्चोंको सिखानेका जितना सुभीता है उतना एक बाहरके व्यक्तिको नहीं है। पर खेद है कि बड़े बड़े कारबारी इस ओर यथोचित ध्यान नहीं देते।

सारांश— इस अध्यायमें यह दिखानेकी चेष्टा की गयी है कि धनकी उत्पत्तिके लिये जमीन, मेहनत, पूंजीकी तरह संगठनकी भी जरूरत है। आज कल तो इसकी आवश्यकता और भी बढ़ गयी है, क्योंकि यह जमाना बड़े बड़े कारखानों और पुतलीघरोंका है। जब तक वाणिज्य व्यापारका विस्तार नहीं हुआ था, जबतक गांववाले या ज्यादासे ज्यादा एक इलाकेके लोग आपसमें मिलजुलकर जरूरतकी चीजें बना लेते थे और खरीदते बेचते थे तब तक आजकलकी तरह संगठनकी जरूरत न थी। पर अब तो कल कारखानोंके जमानेमें एक ही किस्म की लाखों चीजें तैयार होती हैं और रेल स्टीमरोंके सहारे सारी दुनियांमें पहुंचाई जाती हैं। इससे पुराना सिलसिला टूट गया है। अब इस नई बदली हुई अवस्थाके लिये नये संगठनकी जरूरत हो गयी है।

इस परिवर्त्तित अवस्थाका पहला फल तो यह हुआ कि झोपड़ियोंके बदले कारखाने खुल गये, घर घरके बदले एक ही स्थान-

में माल तैयार होने लगा और कारीगर धीरे धीरे मजदूरोंकी श्रेणीमें चले आये। इधर मालिकोंने बहुत सी पूंजी इकट्ठी की, औजार भी इकट्ठे किये और बहुत से मजदूरों और कारीगरोंको वेतन देकर माल तैयार कराना शुरू किया। यह सब काम करना अकेले एक मालिकके लिये कठिन था। इसमें जोखिम भी ज्यादा थी; कारखाना 'फेल' होनेसे मालिक तबाह हो जाता था। जब तक कम्पनियोंमें निःसीम दायित्वकी चाल थी तबतक दस बीस, या पचास सौ आदमियोंका मिलजुलकर पूंजी लगाना और साझीदारीमें काम करना कठिन था। धीरे धीरे सीमाबद्ध दायित्वकी चाल चल पड़ी; जिसका जितना हिस्सा था वह उतनेका ही जिम्मेदार ठहराया जाने लगा। तबसे करोड़ों की पूंजी सहजही इकट्ठी होने लगी। लाखों करोड़ोंकी कम्पनियां खड़ी की जाने लगीं, हजारों आदमी, बड़े छोटे नजदीक दूरके लोग कम्पनी खोलनेमें योगदान देने लगे। जबसे इसका आरम्भ हुआ है तभीसे वर्त्तमान युगकी बड़ी बड़ी कम्पनियों और कारखानों-की भी सृष्टि हुई है। इसीने वाणिज्य व्यापारको भूमण्डल व्यापी बना दिया है, और धनकी उत्पत्तिमें अधिकसे अधिक सहायता की है।

भारतमें भी जो इधर बड़े बड़े कारखाने खुले हैं सब इसी सिद्धान्तपर। साझीदारी कम्पनियोंकी चाल यहां अंगरेजोंने ही शुरू की और उन्हीं लोगोंके खोले हुए बड़े कारखाने और कम्पनियां यहां पाई जाती हैं। इधर देशी लोगोंने भी इसके

गुणोंको पहचाना है। बम्बईकी सूतकी मिलें और कपड़ेकी कलें अधिकांश इसी सिद्धान्तपर चल रही हैं। ज्यों २ इसका अधिक प्रचार होगा, त्यों २ देश का बेकाम धन उत्पादक श्रमोंमें लगाया जाने लगेगा और देशके धनकी वृद्धि होगी। बड़े छोटे सब किसीको अपने संचित धनसे लाभ उठानेका मौका मिलेगा तथा धन संचयसे लाभ होते देख और भी संचय करनेकी बुद्धि बढ़ेगी, फिजूल खर्ची कमेगी।

परन्तु साझेदारीके सिद्धान्तोंपर पूंजी इकट्ठा करने और कारबार चलानेके लिये उचित शिक्षा चाहिये, पूरी ईमानदारी चाहिये। यह काम जिसके तिसके हाथमें नहीं जाने देना चाहिये। जिस तरह जैसा तैसा सिपाही जेनरल नहीं बन सकता है, उसी तरह उद्योग धन्धोंकी सेना जैसे तैसे रोजगारियोंके हाथमें संगठित नहीं हो सकती। इसके लिये एक विशेष योग्यताकी जरूरत है। यदि इस बातपर ध्यान न दिया जायगा तो कारखाने फेल हो जायंगे, पूंजी डूब जायगी, देशके धनी गरीब सब किसीको कष्ट पहुंचेगा। कारबारियोंके प्रति सर्वसाधारणमें अविश्वास उत्पन्न हो जायगा, जिससे भविष्यमें अच्छे लाभदायक कारबारके लिये भी धन न मिलेगा। स्वदेशी आन्दोलनके जमानेमें बङ्गालमें क्या हुआ था? कम्पनियां धड़ाधड़ खुलने लगी थीं, स्वदेशप्रेमियोंने शेयर खरीदकर अपने उत्साहका परिचय दिया था। पर फल क्या हुआ? धीरे धीरे सब कम्पनियां बैठ गयीं। पञ्जाबमें भी वही दशा हुई। कारबार

डूब जानेसे बङ्कोंका भी दिवाला हुआ, हजारों गरीबोंका संचित-धन, मुश्किलोंसे कमाया हुआ रुपया, बरबाद हो गया। इसका कारण यह था कि लोग बिना समझे बूझे अपनी योग्यताका अन्दाजा किये बिना ही कम्पनी खोल बैठे थे। सबजानता वकील अटर्नी या पेन्शनयाफ्ता सरकारी अफसरोंने समझा था कि कम्पनी खोलना और कारखाना चलाना भी खेल है। वकील बारिस्टरों या जमींदारोंको संचालक (Director) बनाकर मान लो चीनीका कारखाना तो खोल दिया गया, पर उसको चलावे कौन? इन संचालकोंमें तो वैसी बुद्धि थी ही नहीं, आखिर लाचारी कारखाना बन्द हुआ और पूंजी भी डूब गयी।

उचित तो यह है कि अन्य शिक्षाकी तरह लोगोंको कार-बारकी शिक्षा भी मिले। विश्वविद्यालयोंमें इसके सिद्धान्त पढ़ाये जायं और पढ़नेपर युवक कम्पनियोंमें जाकर काम सीखें। तब धीरे धीरे कम्पिनयां खड़ी कर कारबार शुरू करें। अनपढ़ या अशिक्षितोंके हाथमें देशका कारबार और व्यापार छोड़ना उचित नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि सीखते सीखते ये लोग भी अपना काम मज़ेमें चलाने लगते हैं, पर यदि उनमें पूरी शिक्षा होती, उचित बुद्धि होती तो इससे भी अच्छी योग्य-तासे काम चलाते।

देशमें संगठनकी बड़ी जरूरत है। साझीदारी सम्भूय समु-त्थानके सिद्धान्तपर मिलजुलकर कारबार करना सीखना बड़ा जरूरी है। बड़े बड़े कारखानोंमें इसकी जैसी जरूरत है,

छोटे छोटे कारवारोंमें भी उसकी वैसी ही आवश्यकता है। लोगोंका ख्याल है कि देशमें बड़े बड़े कारखाने स्थापित कर दिये जायं और छोटे छोटे रोजगारियोंको हटा दिया जाय। पर न ऐसा कहीं हुआ है और न होगा। बड़े बड़े कारखानोंके साथ साथ छोटे छोटे कारवारी भी काम करते रहेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं। इससे उचित है कि दोनोंको उचित रूपसे संगठित करें। क्या कृषिमें, क्या उद्योग धन्धेमें, हर जगह मिलजुल कर काम करनेसे लाभ होगा। यदि कृषक मिल जुलकर काम करें, पानी पटाने, खेत जोतने, फसल काटनेकी कलें खरीदें, धान कूटने, आंटा पीसनेकी कल ले आवें ईख, पेरनेकी मशीन अपने पास रखें और सब मिलकर उससे काम लें तो कैसा अच्छा हो और कितना लाभ हो! उसी तरह यदि छोटे छोटे कसबोंमें म्युनिसिपल या दस रोजगारी मिलजुलकर इञ्जिन बैठावें और उसकी शक्तिसे जल उठावें, रोशनी करें, और छोटी छोटी चक्कियां चलायें, या बढ़ई, सुनार, लुहारके औजार चलावें, या लकड़ी चीरें तो कितना लाभ हो? यह कोई असम्भव बात नहीं है। शेफील्डकी छुरी कैंचियोंका जो इतना मान है वहांके कारीगर बहुधा इसी सिद्धान्तपर काम करते हैं और सस्तेमें माल तैयार करते हैं। बड़ौदा राज्यमें भी इसी सिद्धान्तपर मामूली मामूली मशीनोंका प्रचार बढ़ाया जा रहा है।

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

भारतकी साम्पत्तिक अवस्था

द्वितीय खण्ड

पहला अध्याय

भारतके उद्योगधन्धे

भारतके धन्धे—उद्योगधन्धोंका विभाग।

भारतके धन्धे—अबतक यहां धनोत्पत्तिके चारों साधनों—जमीन, मेहनत, पूंजी और संगठनका वर्णन किया गया। अब यह देखना चाहिये कि भारत अपने इन साधनोंके संयोगसे कहां तक सम्पत्तिकी सृष्टि कर रहा है। इसके लिये देशके भिन्न भिन्न उद्योग धन्धोंका वर्णन करना पड़ेगा।

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है सही, पर इधर थोड़े दिनोंसे यहां उद्योग धन्धोंकी भी उन्नति हो रही है। यदि मालकी आमदनी-रफ्तनीका पिछले तीस वर्षोंका इतिहास देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि भारत भी धीरे धीरे अपने यहांके

बने—तैयार मालकी रफ्तनी बढ़ा रहा है। यहां भी अब धीरे धीरे कच्चे मालको व्यवहारोपयोगी बनानेका प्रयत्न किया जा रहा है, उसके लिये कारखाने खुलने लगे हैं; इन कारखानोंके लिये कभी कभी बाहरसे भी कच्चा माल मंगाया जाने लगा है। १८६० से १६०४ के बीच १५ वर्षोंमें भारतके बने तैयार मालकी रफ्तनी सैकड़े १०१ बढ़ गयी थी *। इसमें सन्देह नहीं कि आजकल देशजात वस्तुओंको व्यवहारके उपयुक्त बनानेका अधिक प्रयत्न किया जाने लगा है। इस विषयमें पिछले तीस चालीस वर्षोंमें उन्नति अवश्य हुई है। पर तौ भी इतनी उन्नति किसी प्रकार पर्याप्त नहीं है; अभी तो मानों 'श्रीगणेशाय नमः' ही हुआ है। अभी दिल्ली दूर है।

उद्योग धन्धोंका विभाग—पहला सहज विभाग तो हाथ और कल—मनुष्य शक्ति और वाष्प या विद्युत शक्ति—से संचालित धन्धोंका है। पश्चिमीय देशोंमें तो अब बड़े छोटे सब किस्मके धन्धे कलों—मशीनोंकी सहायतासे चलाये जाते हैं, मनुष्य शक्तिसे—केवल हाथोंके बल—चलनेवाले धन्धे वहां बहुत कम पाये जाते हैं। पर भारतमें अबतक हाथोंकी सहायतासे ही बहुत से धन्धे चलाये जाते हैं। देशी बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, संगतराश, दर्जी, जुलाहे, रंगसाज, मोची, हलवाई इत्यादि अबतक हाथोंसे ही काम करते हैं, इनके औजार वही पुराने ढंगके हैं; इनके यहां वाष्प या विद्युत शक्तिसे संचालित

* Imp. Gazetteer Vol. III. P. 168.

औजारों—मशीनोंका प्रचार बिल्कुल नहीं हुआ है। दूसरी श्रेणीमें वैसे धन्धे हैं जहां वाष्पशक्तिका उपयोग होता है—जैसे कपड़े या जूटकी मिलें। यह ढङ्ग भारतके लिये नया है। इसका प्रचार पश्चिमीय शिक्षाके प्रभाव और विदेशी लोगोंके संसर्गसे हुआ है। उन्हीं लोगोंकी सहायतासे यहांकी अधिकांश मिलोंका संचालन होता है।

धन्धोंका यह विभाजन 'संचालक शक्ति' के आधार पर हुआ है। इसी तरह दूसरा विभाग द्रव्योंके आधार पर भी किया जा सकता है। जैसे :—(१) देहाती धन्धे जिनका कृषि या कृषिजात द्रव्योंसे सीधा सरोकार है।

(२) शहरोंके धन्धे जैसे वस्त्र बुनने सूत कातनेके धन्धे।

(३) जंगलकी लकड़ी, फल, मूल इत्यादिको इकट्ठा करने या उपयोगी बनानेसे सम्बन्ध रखनेवाले रोजगार।

(४) खानों तथा खनिज द्रव्योंसे सम्बन्ध रखनेवाले रोजगार।

इस विभागमें जाति-विभागसे सहायता नहीं ली गयी है। क्योंकि आजकल जाति और रोजगारका सम्बन्ध ढीला सा पड़ गया है। एक ही पेशे या धन्धेमें हिन्दू मुसलमान तो पाये ही जाते हैं, पर हिन्दुओंमें भी कई जातिके लोग एक ही धन्धा करते हुए मिलते हैं। इस कारण जातिके आधारपर धन्धोंका श्रेणी-विभाग करना ठीक न होगा।

भारतवर्षकी भूमि भी उद्योग धन्धों, उत्पन्न द्रव्यों और उनके व्यापारके नाते पांच भागोंमें बांटी जा सकती है। (१) आसाम,

बंगाल, बिहार और उड़ीसा। यहां रबर, तेलहन, तेल, लाह, नील, जूट, कागज, चमड़ा, रेशम, अफीम, तम्बाकू, चाय, चीनी, चावल, तेलहन, कोयला, लाख, लोहा, शोरा, अबरख इत्यादि द्रव्य उपजते या पाये जाते हैं। दस्तकारीमें—हाथीदांतका काम, छाता बनाना, सीप संखका काम, ढाकेकी मलमल, जरदोज़ी या बेल-बूटोंका काम, चटाई बुननेका काम मशहूर है।

(२) उत्तर भारत—जिसमें संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रदेश, राजपूताना, मध्यभारत, पंजाब, सीमाप्रान्त और काश्मीर शामिल हैं।

यहां राल, धूप, लाह, तेलहन, इत्र, साबुन, मोमबत्ती, कत्था, हर्रा, बहेड़ा, रुई, रेशम, ऊन, तैयार चमड़ा, दरी, गेहूं, आंटा, बिस्कुट, अफीम, चाय, चीनी, शराब, शीशम, देवदारुकी लकड़ियां, जस्ता, ताम्बा, नमक, शोरा, सोहागा, खारीमट्टी इत्यादि द्रव्य पाये जाते हैं या उपजते हैं। दस्तकारीमें—टीनके सामान, लाहसे रंगे धातुके सामान, इनामिलके सामान, सोने चांदीके सामान, ताम्बे पीतलके सामान, फौलादी सामान, पत्थर खोदने काटनेका मिट्टीका काम, लकड़ीका, हाथी दांत, चमड़ेका काम, रंगने, छापनेका काम, रूई, रेशम ऊनके कपड़े, शाल, दुशाला, दरी जाजिम, गलीचा, इत्यादिका काम मशहूर है।

(३) पश्चिम भारत—(बम्बई हाता, बरार और बलोचिस्तान)

यहां गोंद, तेलहन, रुई, ऊन, चमड़ा, जड़ी बूटी, नमक और गेहूं पैदा होता है। सोने चांदीके सामान, लकड़ी सींग, चमड़े, रूई, ऊन तथा जरदोजीसे सम्बन्ध रखने वाली दस्तकारियां मशहूर हैं।

(४) दक्षिण भारत (मद्रास हाता, निजाम हैदराबाद, मैसूर, और कुर्ग) ।

यहां तेलहन, घी, चर्बी, नील, रूई, नारियलके छिलकेके सामान, हाथीदांत, चमड़ा, चाय, काफी, सिगार, मिर्च, दालचीनी, चीनी, शराब, चावल, चन्दनकी लकड़ी, मोती, सोना, मंगनीज, सीसा, सीमेण्ट—इत्यादि द्रव्य पाये जाते हैं ।

दस्तकारीमें—सोना, चांदी, ताम्बा, पीतलका सामान, पत्थर, लकड़ी, हाथी-दांतका काम, कपड़ा रंगना छापना, रेशमी कपड़ा बुनना और चिकन कारचोबीका काम मशहूर है ।

(५) बर्म्मा ।

यहांका इण्डिया-रबर, वार्निश, लाह, कत्था, सिगार, चावल, सागवानकी लकड़ी, पेट्रोलियम, टीन और चुन्नी मशहूर है ।

दस्तकारीमें लोहा, सोना, चांदी, ताम्बा, पीतलके सामान, हाथीदांत, लाह और शीशेके सामान अच्छे बनते हैं ।

ऊपरके विवरणसे पता चलेगा कि बंगाल विहारमें कृषिजात द्रव्योंकी प्रचुरता है, पर दस्तकारीकी कमी है । पश्चिम भारतमें उत्पन्न द्रव्यों तथा कारीगरियों दोनोंकी कमी है, पर दक्षिण भारतमें फिर भी इनकी प्रचुरता है । बर्म्मामें हुनर बहुत है ; उत्तर भारतमें भी कारीगरियोंकी कमी नहीं है ।

भारतीय अजायबघरमें देशजात द्रव्यों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली दस्तकारियों तथा शिल्पोंका जो विभाजन किया गया

है वह बहुत ही पर्य्याप्त है। इसमें हर किस्मके द्रव्य और उद्योग धन्धे आ जाते हैं।* यहां पर भी इसी आधार पर उद्योग धन्धोंका वर्णन किया जायगा।

(१) गोंद, कत्था, राल, लाह इत्यादि।

(२) तेलहन, तेल, चर्वी, इत्रफुलेल।

(३) रंगनेके मसाले और व्यवसाय।

(४) खाल, चमड़ा इत्यादि।

(५) रेशे और उनसे बने द्रव्य।

(६) दवादारू और रासायनिक पदार्थ।

(७) खाद्य-द्रव्य जिसमें मादक वस्तु भी शामिल हैं।

(८) लकड़ियां।

(९) खनिज द्रव्य तथा धातु।
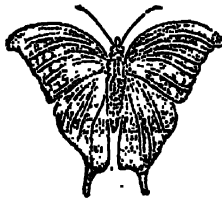
* Imp. Gaz. Vol. III. P. 171.

दूसरा अध्याय

गोंद, कत्था, लाह इत्यादि

प्रकरणका विषय-खैर कत्था-लाह-लाहका व्यापार व्यवसाय-लाहका भविष्य-लाहका उपयोग-मोम

प्रकरणका विषय--इस प्रकरणमें कत्था, गोंद, राल, रंजक चूना, करायल, लाह, वार्निश, मोम इत्यादिके व्यवसायका वर्णन होगा। ये सब—केवल लाह और गोंदको छोड़—वनस्पति-जात द्रव्य हैं। लाह और गोंद कीड़े और मक्खियोंसे प्राप्त होते हैं। इन सब द्रव्योंका देशमें अनेक रूपमें उपयोग होता है। परन्तु इसका पूरा पूरा परिमाण बताना सम्भव नहीं है, क्योंकि इसका कोई हिसाब नहीं रखा जाता है। हां, ये जब विदेश भेजे जाते हैं तब उनका हिसाब रखा जाता है। पर उससे पूरे परिमाणका परिचय नहीं मिलेगा। इस जातिके कितने द्रव्य विदेश फारस, अरब, चीन, जापानसे भी यहां आते हैं। ये विदेशी द्रव्य—जैसे गोंद, काफूर इत्यादि—व्यवहारोपयोगी बनाकर फिरसे विदेश भेज दिये जाते हैं।

खैर, कत्था--कत्थेके कई भेद हैं। एक प्रकारका कत्था हिमालयकी तराईके जंगलोंसे आता है और वहींके वृक्ष विशेष

(खदिर) की डालियोंको उवालकर बनाया जाता है। एक दूसरे प्रकारका कत्था पेगू (बर्म्मा) से आता है यह भी लकड़ियोंको उवालकर बनाया जाता है। मद्रास और मैसूरमें सूखी सुपारीको उवालनेसे भी एक प्रकारका खैर तैयार होता है। उसी तरह मलाया द्वीपपुञ्ज,जावा और सुमात्रामें एक प्रकारकी लता विशेपकी टहनियोंको उवालकर एक प्रकारका कत्था बनाते हैं। इन सबके रासायनिक गुण प्रायः एक से हैं। इन सबमेंसे जो बढ़िया होता है वह पान, सुपारीके साथ खानेके काममें आता है। और शेपका उपयोग सामान रंगने, चमड़ा तैयार करनेमें होता है। मछली मारनेके जाल, रस्सी इत्यादि भी इसीसे रंगे जाते हैं।

बर्म्मामें कोई दो लाख मन कत्था हर साल तैयार होता है। दक्खन और बम्बईमें कोई दो हजार और बङ्गाल, विहार युक्तप्रान्तमें कोई तीस हजार मनके लगभग माल सालाना तैयार होता है।

लाह (लाख)—इस विभागमें वर्णन किये गये द्रव्योंमें सबसे अधिक मूल्यवान और उपयोगी द्रव्य लाख ही है। यह भारतको छोड़ दुनियांमें और कहीं नहीं होता था। इसका व्यवसाय वहुत पुराने जमानेसे यहां चला आता है।

लाखके एक प्रकारके वहुत ही छोटे छोटे कीड़े होते हैं जो वृक्षोंकी कोमल कोमल टहनियों और पत्तोंपर रहते हैं और उनके रसोंको चूस कर जीते हैं। इनमें नर और मादा दोनों प्रकारके

कीड़े पाये जाते हैं। मादाके मर जानेपर उसके पेटसे एक प्रकारका रस निकलता है जिसमें असंख्य छोटे २ कीड़े रहते हैं। ये कीड़े धीरे धीरे टहनियोंपर फैल जाते हैं और रस चूस कर बढ़ते हैं। इनकी देहसे एक प्रकारका लस्सा सा पदार्थ निकलता है जो वहीं उनकी देह और टहनियोंपर सूख-कर जम जाता है। यह लस्सा टहनियोंपर जमनेको छोड़ दिया जाता है। मई-जून तथा अक्तूबर-नवम्बरके महीनोंमें ये टह-नियां तोड़ ली जाती हैं तथा उनपर जमे हुए लस्सोंसे लाह तैयारकी जाती है। ये कीड़े ढाक (पलास), कुसुम, साल, बबूल (कीकर), अरहर, बेर इत्यादि वृक्षोंपर पाले जाते हैं। अब तक लोगोंकी धारणा थी कि भिन्न भिन्न वृक्षोंकी पत्तियोंपर रहनेके कारण लाखमें भी विभिन्नता पाई जाती है। पर खोज करने पर पता लगा है कि इन कीड़ोंमें ही जाति भेद है, और इसी कारण गाढ़े और कभी कभी फीके हलके रंगकी लाख तैयार होती है।

लाह तैयार करनेके लिये इन सूखी डालियोंसे बड़ी बड़ी चक्कियोंमें चूर२ कर लकड़ी अलग और लाह अलग करनी पड़ती है। फिर उस लाहको बड़ी बड़ी नांदोंमें डालकर धोना पड़ता है। कई बार धोने और छाननेपर माल (लाह) अलग और धोअन अलग कर लिया जाता है। इस धोअनको खूब गाढ़े कपड़ेमें छान लेते हैं, इससे जो गाढ़ा लाल माल निकलता है उसको खूब दबाकर जमाते हैं। फिर इसीको सुखाकर 'रंगबट्टी'

कहकर वेचते हैं। और माल (लाह)को वाजारमें वेचनेके पहले हरताल या 'रजन'के साथ मिलाते और गलाते हैं। जब जैसी जरूरत रहती है और जिस मतलवके लिये लाह तैयार करना होता है तव उसी परिमाणसे हरताल या रजन मिलाना पड़ता है। विदेशसे विशेष कर कनाडासे जो हर साल रजन (Resin) आया करता है, वह विशेषकर लाह वनानेमें खर्च हो जाता है। हरताल या रजन मिले हुए लाहको मजबूत मोटे कपड़ेकी लम्वी पतली थैलीमें भरकर आगके सामने रख कर गरम करते हैं और ऐंठते मरोड़ते जाते हैं। ऐसा करनेसे कपड़ेपर जो गरम लाह निकल आती है उसी लाहको पोंछकर वेलवेल कर या तो कागजकी तरह पतला पतला चकता (चपड़ा, Shalluc) तैयार करते हैं, या उससे छोटी छोटी टिकली (वटन लाह, Button lac) वनाते हैं। और तव उसे वाजारमें वहुत रूपमें वेचते हैं। वढ़िया लाह निकाल लेनेपर थैलीमें जो सिठी वच जाती है उसे 'कीरि' कहते हैं। इसकी चूड़ियां, शानचक्की वगैरह वहुत सी चीजें वनती हैं।

लाहका व्यापार व्यवसाय—लाहके कारखानोंमें अव भी प्रायः हाथसे ही काम होता है, यद्यपि कहीं कहीं भाफसे चलने वाली कलोंका भी व्यवहार होने लगा है। कलोंके रहते हुए भी कई किस्मका लाख तैयार करनेके लिये हाथसे ही काम लेना पड़ता है। क्योंकि उस सफाई और वारीकीका काम कलोंसे नहीं हो सकता। छोटानागपुर, पश्चिम वङ्गाल और

उत्तर उड़ीसाके जङ्गलोंमें पेड़ोंपर लाहके कीड़े बहुतायतसे पाले जाते हैं। इस कारण रांची, मानभूम, बांकुरा और बीरभूममें लाहके कारखाने भी बहुत हैं। युक्तप्रान्त और मध्यप्रदेश तथा मध्य भारतमें भी इसके कारखाने हैं। इनमें बिहार और युक्त प्रान्तका नम्बर अव्वल है। बिहारमें हाथ और कलसे चलनेवाले दोनों प्रकारके कारखाने हैं, परन्तु युक्तप्रान्तमें हाथसे ही सब काम होता है। मध्यभारतके देशी राज्योंमें भी कुछ कारखाने हैं। बिहारमें १९११ में ३१, १९१३ में १५, और १९१५ में २६ कारखाने थे। उसी तरह युक्तप्रान्तमें उन्हीं सालोंमें ७, ५ और २५ कारखाने थे, तथा उसी समय कुल भारतमें ऐसे कारखानोंकी संख्या ४२, २५, ५६ थी। पिछले १०।१२ वर्षोंमें लाहके रोजगारमें बड़ा उलट फेर होता रहा है, मालके भावमें तबसे आजतकमें जमीन आसमानका अन्तर हो गया है। इससे न अब उतने कारखाने ही चलते हैं और न उतने लोग ही लाहका काम करते हैं। नीचे लिखे कोष्ठकसे यह बात स्पष्ट हो जायगी।

भारतमें लाहके कारखाने (सब प्रकारके)
और उनमें काम करनेवाले।

सन्	१९०१	१९०६	१९१२	१९१३	१९१५
कारखाने	७१	१६८	९०	२५	५९
वहां काम करनेवाले	६८१७	१९९६८	९५२४	९५९१	४०११

इसी तरह लाहकी रफ्तनीसे भी वही आशय प्रगट होता है।

लाहकी रफ्तनी

सन्	१९०४-५	१९०६-७	१९०७-८	१९०८-९	१९०९-१०
वजन ह०	२४०१३१	२६९२७६	३६२७४८	३८०८१६	५५४७९६
मूल्य पा०	२०५०९४१	२२३३१८२	२७२२०३९	१८६३१३१	१८४७७८१
सन्	१९११-१२	१९१३-१४	१९१४-१५	१९१५-१६	१९१८-१९
वजन ह०	४९८००६	३३८१६१	३६६६९२	४१७०००	२३९०००
मूल्य पा०	१३४३०००	१३११०००	१०७०००	११४५०००	१९६६०००

एक हण्ड्रेडवेट (Cwt) ११२ पाउण्ड (अर्थात ५६ सेर प्रायः) का होता है। यहां एक पा० (सिक्का) का दाम १५) लिया गया है।

विदेशी राज्योंमें अमेरिकाका संयुक्त राज्य ही सबसे अधिक लाह खरीदता है, उसके बाद युनाइटेड किंगडम, जर्मनी, फ्रांसका नम्बर है। लड़ाईके जमानेमें कोई माल जर्मनी नहीं जाने पाता था।

कौन देश कितना लाह खरीदता है।

सन्	१९०६-७	१९०९-१०	१९१३-१४	१९१६-१७	१९१७-१८	१९१८-१९
अमरि० पा०	१,११९७०८	८२८५४१	५८७७२०	१४५९०००	१८२२०००	८८००००
युन० कि०,,	६०९८५६	४६०३४६	४००५५४	२२२०००	४५३०००	५३६०००
जर्मनी ,,	३९११०४	३१११००	१८२८११			
फ्रांस ,,	४८७२९	६५८०७	५०२४५	४१०००	२५०००	९१०००

जैसा कि श्रीयुत चन्द्रशेखर मिश्र महाशयने पूसाके जरनलमें लिखा है, अमेरिका-संयुक्तराज्यमें बिजलीके कारखानों और

सामानोंकी वृद्धिके कारण लाहकी मांग बहुत बढ़ गयी, इस कारण १६०६।७ में इसका दाम बढ़कर १२६ रु० १५ आना प्रति हण्ड्रेडवेट (Cwt) हो गया। अमेरिकाने उस साल कोई सवा ग्यारह लाख पा० की कीमतका लाख भारतसे मंगाया। इसका लाखके व्यापारियोंपर बहुत बड़ा असर पड़ा। नये २ कारखाने खुलने लगे। १६०५ में कुल कारखाने ७२ और उनमें काम करनेवाले ६४४२ थे। परन्तु दाम बढ़ जानेसे १६०६ में कारखानोंकी संख्या ११२ और काम करनेवालोंकी गिनती ८६५६ तक पहुँच गयी। लोगोंने समझा था कि मांग यों बढ़ती ही जायगी; इस कारण अधिक अधिक कारखाने खुलते ही गये। १६०६ में इनकी संख्या सबसे अधिक हो गयी—उस साल १६८ कारखाने और ११६६८ काम करने वाले थे। इतनी संख्या पहले कभी नहीं हुई थी। लोगोंने समझा था कि लाहका दाम बढ़ता ही जायगा, पर यह न सोचा कि यदि बाजारमें जरूरतसे ज्यादा माल आ गया तो दाम जरूर ही घटेगा। और हुआ भी ऐसा ही। क्योंकि व्यापारियोंमें तो संघ शक्तिका अभाव था; सबके सब चाहते थे कि किसी तरह माल बेचकर जल्द रुपया इकट्ठा करें। इससे बाजारमें मालकी आमदनी बढ़ती ही गयी। १६०६।७ में कुल २६६२७६ ह० बाहर गया था और दाम भी १२६ रुपया १५ आना फी ह० था। अधिक लाभ होनेके कारण दूसरे साल कारखाने भी बढ़े और अधिक माल भी बाहर गया। १६०७-८ में ३६२७४८ ह० माल बाहर गया, और दाम भी १/

रु० ८ आना मिला। दाम इतना घट जानेपर भी काफी नफा मिलता था, इससे लोग कारवार बढ़ाते ही गये। १९०८-९ में ३८०८१६ और १९०९-१० में ५५४७८९६ रु० माल बाहर भेजा। पर दर कहीं नहीं टिकी, वह गिरती ही गयी। वह घटती घटती १९०८-९ में ७३ रुपया ६ आना और १९०९-१० में ४९रुपया १५ आना हो गयी। जब लोगोंको घटी होने लगी तो बहुतसे कारखाने बन्द हो गये। १९१२ में कुल २० कारखाने और ३५३४ आदमी लाहमें लगे हुए थे। इसी कारण मालकी रफ्तनी भी घटने लगी। १९१३-१४ में कुल ३३९१६१ रु० की रफ्तनी हुई। दर घटते २ १९१५-१६ में कुल ४१ रुपया २ आना फी रु० हो गयी। इस दर पर माल बेचकर कोई कारवार नहीं चला सकता था, जिसे और कोई रोजगार नहीं था वही लाचार इसमें लगा रहा। १९१३-१४ में दाम एक बार बढ़ा था और ५७ रुपया १५ आना फी रु० तक पहुँच गया था, पर लड़ाई छिड़ जानेके कारण बाजार फिर मन्दा पड़ गया। फिर १९१६ के बादसे दर चढ़ी थी। क्योंकि लड़ाई पर गोले तथा हवाई जहाजोंमें वार्निश करनेके लिये लाहकी जरूरत हुई थी। दर बढ़नेसे लोग जहां तहांसे जैसा तैसा माल बाजारमें लाने लगे थे। कोई किसी सिलसिले पर काम नहीं करता था।

लाहका भविष्य—मि० मिश्रने लिखा है कि आजकल जिस तरह लाहका काम बढ़ाया जा रहा है उसमें देशदशाकी अनुकूलता प्रतिकूलताका कुछ भी विचार नहीं किया जाता।

जहाँ तहांके जंगलोंमें लाहके कीड़े पाले जा रहे हैं। जैसे तैसे कीड़ोंको पाला जा रहा है; बाजारमें जो माल बेचा जाता है उसमें भी ज्यादातर मिलावट रहती है। इसका परिणाम क्या होगा? जबतक लड़ाईके कारण मांग अधिक थी तबतक तो खरीदनेवालोंको लाचारी थी। पर जब मामूली दिन फिर आयेंगे तब लाहवालोंको पहलेकी तरह नुकसान उठाना पड़ेगा। एक बात और है। अबतक तो भारतवर्ष ही सारी दुनियाको लाह पहुंचाता रहा है! पर भविष्यमें ऐसी हालत नहीं भी रह सकती है। क्योंकि भारतवर्षने ही जर्मनोंको पूर्वीय अफ्रिकामें, तथा जापानियोंको फारमोज़ामें लाहके कारबारके लिये अपने यहांसे लाहके कीड़े दिये हैं। यदि उन लोगोंका यह यत्न सफल हो गया तो असम्भव नहीं कि भारतवर्ष लाहके बाजारसे निकाल दिया जाय। इससे उचित है कि अब सावधानीसे काम किया जाय। हवा पानीका ख्याल करके जहां २ सफलता सम्भव हो वहीं कीड़े पाले जायं। कीड़ोंकी पूरी जांच कर ली जाय, खराब या मरीज कीड़े न पाले जायं। और मालमें मिलावट न हो।

लाहका उपयोग—भारतमें लाहका बहुत तरहसे उपयोग होता है। अमीर गरीब, कृषक व्यापारी, हर किसीके यहां लाह की जरूरत है। गरीबोंके यहां भी उनकी स्त्रियाँ अकसर लाहकी चूड़ियां पहनती हैं। लाहके कीड़ोंसे गाढ़ा लाल रंग और चपड़ा तैयार होता है। इस रंगके ऐसा पक्का लाल रंग दुनियामें क[illegible] कम बन सकता है। यह रंग बहुतायतसे विलायत जा[illegible]

वरन् इसी रंगकी खोजने विलायतवालोंको लाहका पता बताया था। १८६९-७० तक कोई सालाना ६। लाख रु० का लाहका रंग विदेश जाया करता था, पर १८९६ से इस रंगकी रफ्तनी बिलकुल बन्द हो गयी है। अब तो लाहवालोंको फिक्र लगी रहती है कि किस तरह इस रंगको बेच डालें। हां, मैसूरमें अबतक इसका व्यवहार है। आशा है कि लड़ाईसे इस रंगके व्यवसायको लाभ होगा। रंगके अतिरिक्त जो कई प्रकारका चपड़ा तैयार होता है उससे बहुत सा काम लिया जाता है। तेजावमें चपड़ा गलाकर वार्निश तैयार होता है, और इसके लिये सारी दुनियामें इसकी मांग है। सील मुहर करनेमें लाहका व्यवहार होता है। टोप तैयार करनेवाले, लीथोकी रोशनाई बनानेवाले लाह काममें लाते हैं। हिन्दुस्तानमें देहातों या शहरोंमें सर्वत्र इसकी जरूरत है। बढ़ई, खरादनेवाले, खिलौना बनानेवाले रंगने, वार्निश करने या जोड़नेमें लाह व्यवहार करते हैं। लखेरे इससे कितने किस्मकी चूड़ियां बनाते हैं। सुनार, ठठेरी या लुहार किसी न किसी रूपमें लाह व्यवहार करते हैं। हाथीदांतवाले वा पीतलका खिलौना तैयार करनेवालोंको लाहकी जरूरत पड़ती है। जौह-रियोंके यहां जवाहिरोंके लिये लाह और कुरुन्दकी शान चक्की बनती है। और इसी लाखसे तलवार छुरीकी मूंठ चिपकाई जाती है।

बहुत जगह लाहसे रंग बिरंगे लकड़ीके खिलौने तथा अन्य पदार्थ रंगे जाते हैं। बंगालमें मुर्शिदाबाद, बीरभूम; बिहारमें पटना;

आसाममें सिलहट; युक्तप्रान्तमें बनारस, मिर्जापुर; फतहपुर, लखनऊ, आगरा, सहारनपुर; पंजाबमें शाहपुर, फीरोजपुर, होशियारपुर; राजपूतानामें अलवर, जोधपुर, बीकानेर; बम्बईमें बम्बई-सावन्तवाड़ी; मद्रासमें सालेम, नँनडियाल, पोडांनूर; मैसूरमें बंगलोर और चन्नापाटन इस कामके लिये मशहूर हैं। बन्नू, डेराइस्माईलखां, फीरोजपुर, होशियारपुर, जयपुर, इन्द्रगढ़, सिन्ध-हैदराबादमें लाहकी चीजोंपर फूल पत्तियां बेलबूटे उखाड़े जाते हैं; जंगल, पहाड़, नदी नालोंके प्राकृतिक दृश्य भी अंकित किये जाते हैं।

योरप अमेरिकामें इसकी बड़ी मांग है। वार्निशका काम इससे बहुत बढ़िया होता है। बिजलीके कारखानोंमें इसकी जरूरत पड़ती है। ग्रामोफोनकी चूड़ियां भी इसी लाहकी सहायतासे तैयार की जाती हैं। लड़ाईके समयमें गोलों (शेल) के भीतरी भागमें, मोटर गाड़ियोंमें तथा हवाई जहाजोंके कनवास रँगनेमें, तथा तरह तरहकी तोप गाड़ियोंमें लाहका व्यवहार होता था। लाहकी वार्निशकी तरह बर्मामें एक प्रकारकी वार्निश बनाई जाती हैं जो वनस्पतियोंसे तैयार होती है। इसका तरल भाग तो पालिशके काममें आता है, और गादमें राख या लकड़ीका बूरा मिलाकर 'पुटिंग' बनाते हैं। इस वार्निशमें काला लाल हरा रंग मिलाकर लकड़ी रँगते हैं, इसी वार्निशसे कपड़ा या कागज रँगकर उससे 'मोमजामा' (बरसाती) बना डालते हैं। मनीपुरमें भी इसका थोड़ा बहुत व्यवहार है। बर्मामें तो इसका बड़ा रिवाज है और वहां इसके बने द्रव्योंकी बड़ी मांग है।

मोम—हिन्दुस्तानमें मधुमक्खियोंके पालनेकी चाल नहीं है। जंगली जातियोंके लोग ही मक्खीके छत्तोंसे शहद और मोम निकालते हैं। हिमालयकी तराइयोंसे बहुत सा शहद और मोम बाहर भेजा जाता है। दक्षिण भारत तथा मध्यभारतके कुछ इलाकोंमें भी मोम पाया जाता है।

मोमका सबसे अधिक व्यवहार रंगरेजोंके यहां होता है। दक्षिण भारत तथा लङ्का इसके प्रधान अड्डे हैं। कलहस्ती (उत्तर आर्कट) में सूती कपड़ोंको मोमसे रंगकर उनपर रामायण महा-भारतके दृश्य खींचे जाते हैं, और इन 'पटों' को दिखा दिखाकर लोग भक्तोंसे पैसा वसूल करते हैं। मछलीपट्टममें मोमके सहारे कपड़ोंको रंगकर 'छींट' के बेलबूटे उखाड़े जाते हैं। उसी तरह वर्मामें रेशमी कपड़ोंपर रंग बिरङ्गा रङ्ग उखाड़नेमें मोमका व्यव-हार होता है।

तीसरा अध्याय

तेलहन, तेल इत्यादि

तेलके भेद—तेलका उपयोग—तेल और तेलहनका व्यापार—तीसी—चीनाबादाम (मूंगफली)—राई—बिनौला—अंडी—नारियल की गरी—तिल, कुसुम, महुआ इत्यादि—तेल पेरनेका रोजगार—भारतमें तेलकी मिलें—काफूर-सीफत तेल—कुछ प्रधान सुगंधित तेल—रूसाघासका तेल—नींबूघासका तेल—चन्दनका तेल—तारपीनका तेल—युकलिप्टसका तेल—अजवायनका तेल अर्क और फूल।

तेलके भेद—इस प्रकारणमें जिन द्रव्योंका उल्लेख होगा वे सब प्रायः कृषिजात हैं। तेल दो प्रकारके होते हैं—कुछ तेल ऐसे होते हैं जिनमें काफूर-सीफत (Volatile Oils) होती है, वे हवा लगनेसे उड़ जाते हैं। इनसे एसेन्स वगैरह बनाये जाते हैं। प्रायः वनस्पतियोंसे ही ये तेल तैयार किये जाते हैं। ये तेल फूलोंमें—जैसे गुलाब, जूहीं, चमेली, बेली; पत्तोंमें—जैसे पुदीना, तुलसी इत्यादि; फलोंके छिलकोंमें—जैसे नारंगी, नींबू; फलोंमें—जैसे सौंफ, अजवायन; घासके पत्तों और जड़ोंमें—जैसे रूसा घास, नींबू घास (Lemon grass), कुश और खसकी

जड़ोंमें ; वृक्षके छिलकोंमें—जैसे दालचीनी ; लकड़ियोंमें—जैसे चन्दन, पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ तेल ऐसे होते हैं जो हवामें उड़ते नहीं ; जिनमें काफूर-सीफत नहीं होती (Fixed Oils) ; ये पशुओंकी चर्बियोंमें और बहुतसे उद्भिद् द्रव्योंमें पाये जाते हैं।

तेलका एक और दूसरी तरहसे भी श्रेणी विभाग कर सकते हैं :—जैसे चर्बीसे बना हुआ, वनस्पति (उद्भिद्) से बना हुआ, तथा खानोंसे निकला हुआ।

तेलका उपयोग—तेल बहुत तरहसे व्यवहारमें लाया जाता है, यह एक बड़ा उपयोगी द्रव्य है, किसी न किसी रूपमें इसकी हर किसीको जरूरत होती है। रसोई बनानेमें इसकी सर्वत्र आवश्यकता होती है। भारतमें लोग इसे देहमें भी मालिश करते हैं, इसके लिये तरह तरहके सुगन्धित तेल तैयार किये जाते हैं। साबुन मलकर देह साफ करनेकी चाल तो हालमें चली है। रोशनी करनेके लिये भी तेल, या चर्बीकी जरूरत होती है। प्रायः चालीस वर्ष पहले भारतमें किरोसिन तेलका कोई नाम तक नहीं जानता था ; क्या अमीर क्या गरीब, सब कोई अंडी, नारियल, बिनौला, सरसों इत्यादिका तेल जलाया करते थे। पर अब तो क्या शहर क्या देहात, क्या अमीर क्या गरीब, सब जगह सब किसीके यहां किरोसिन तेल व्यवहार किया जाता है।

इसके अतिरिक्त रंगसाजोंको और चमड़ा कमानेवालोंको भी तेलको जरूरत होती है। तेलकी सहायतासे 'पेण्ट (paint) बनते

हैं, चीजों पर रंग और वार्निश चढ़ाई जाती है। चर्वीसे या किरोसिन तेलसे मोमकी वत्तियां वनती हैं; सावुन, पमेटम, वेसिलीन, इत्र, सुगन्धित तेल, इत्यादि कितने ही द्रव्य जो शृङ्गार-के काममें आते हैं, वनाये जाते हैं। तेलकी सहायतासे—जैसे कुसुमके तेलसे-कपड़ों और चमड़ोंपर रोगन चढ़ाया जाता है जिससे उनपर पानी असर नहीं कर सकता अर्थात् तरह तरहके मोमजामे (Waterproof Cloth) वनाये जाते हैं। अव भी पेशावरके वहुतसे अफरीदी तरह तरहके मोमजामे वनाया करते हैं। तेल, घी, चर्वीका व्यवहार खानेमें तो होता ही है; इसके अलावा भी तेलहन पदार्थों से एक प्रकारका कृत्रिम-मक्खन (Margarine) तैयार किया जाता है जिसका पश्चिमीय देशोंमें वहुत अधिक व्यवहार होता है।

तेल और तेलहनका व्यापार—भारतवर्षमें वहुत किस्मके तेलहन उपजते हैं; हर साल करोड़ोंका तेल, तेलहन और खली विदेश भेजी जाती है। सुगन्धित द्रव्योंकी तो यहां कुछ कमी नहीं है। शायद ही कोई ऐसा देश होगा जहां इतने किस्मके सुगन्धित फूल, लता, घास, लकड़ियां इत्यादि पायी जाती होंगी। हर साल लाखोंका सुगन्धित तेल यहांसे विदेशको भेजा जाता है।

नीचे लिखे नक्शेसे तेल, तेलहन और खलीकी रफ्तनीका पता लगेगा।

तेलकी रफ्तनी।

सन्	वजन गैलन						दाम रुपया						
	११–१२	१२–१३	१३–१४	१४–१५	१५–१६	१६–१७	११–१२	१२–१३	१३–१४	१४–१५	१५–१६	१६–१७	१८–१९
काफूर	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००
सीफल	४२	५५	७२	३८	५६	५९	१२३९	१३७६	१७१०	८५५	१०९८	१९१४	४ २४२
खनिज	१४८२०	२१४९८	२२३०९	२६२००	२८१३९	२४९६४	१३९४	२०६३	२१४१	२५५२	२७४३	२५२३	२६४३
चंडी	१४०४	९५४	१००७	८९८	१४५२	१७२४	१९६८	१३५४	१३८८	१२५३	१९४०	२६१५	४४७२
नारियल	२१६५	९६९	१०९१	१८२५	२०४५	२०५१	४०६२	१९२५	२३२६	३६९३	३९२३	४३३०	१४६५५
अन्य	११५९	१०१४	१५१२	१२८५	१३८९	२११२	२१८२	१८५१	२२९१	२१६७	२४८५	३७७९	९१२१
कुल	१९५९०	२४४९०	२५९९१	३०२४६	३३०८१	३०९११	१०८४५	८५७९	९८५६	१०५२०	१२१८९	१५१६१	३५१४३
खली ह०	२७६४	३२३६	३५०६	२७३९	३००६	२५००	१०३६४	१२३२१	१३८०४	१०६३८	११३६२	९९४०	८४४४

सन्	११-१२	१२-१३	१३-१४	१४-१५	१५-१६	१६-१७	११-१२	१२-१३	१३-१४	१४-१५	१५-१६	१६-१७	१८-१९
तेलहनोंके नाम	वजन हं० ०००						दाम रुपया ०००						
कापूर सीफत तेलहन	१९९	१३०	१६२	१३४	१५५	१६३	२२१६	१५६२	१४५८	१४०९	२४४९	२८६३	२११३
तीसी	१०४४०	७०९०	८२७७	६४३२	३८६०	७९८४	१२९६४९	७९७७६	६६८७०	५२५३६	२९७४२	७३५४१	६५९७१
चीनाबादाम	३८२३	४८६७	५५५८	२७६६	२५०९	२९४९	२११८०७	४०४१८	४८८१४	२२७३४	२५०३४	२५४९५	३७४९
राई	४७१०	४३५७	४९८०	१९३८	१९०४	२४४५	२५१२१	३६०५२	४२७३६	१६२५६	१४०७९	१७८१२	१४५३२
तिल	१८९६	१५५७	२२४४	९३४	२७६	१६८२	२०२६३	१८२३७	२६९५३	१०६७८	२४६२	९६३७५	७०६
बिनौला	४०७२	२६११	५६८७	४१५६	१९१२	७९३	१५१९१	१०२७७	२१२५१	१५०६८	६६७६	२०५९	१७७
रेंडी	२४०४	२११२	२६९८	१६५६	१७५९	१८६२	१७६७७	१६३८३	२००५०	११५९९	१२०३३	१४४६६	२२०१४
सूखी नारियलकी गरी	६२७	६८७	७६४	६२७	३१४	५३२	११३९५	१२८८३	१५५९७	१२३२९	५७२८	९९९६	२१०
महुआ	७९४	२६६	६६६	१४९	८४	८५	५८८५	२१४४	५४५५	७६०	३६५	३९७	
पोस्त	६९८	४६८	३८०	१४०	१२७	११०	७४६२	५५६२	४६५९	१४३४	१२३०	९४७	७५५
सरसों	८९	७२	१०२	५१	६४	१२४	११५८	९०९	१०६१	६०६	८२७	१०८८	७३२
फुटकर	२४९	१७८	१२५	८५	२४	५३	२९७४	२८९४	१८१०	११३०	५९०	८०२	२७५
कुल जोड़—	२०११४	२४५३७	२१६५२	१९०७८	१३९९९	१८०७४	२८०७९८	२२७०९८	२५६७५४	१४६५३९	१०१२२६	१६६५४१	११२१८४

घी, चर्वी, सन्दलकी रफ्तनी।

हजार रुपये

सन्	११-१२	१२-१३	१३-१४	१४-१५	१५-१६	१६-१७	१८-१९
घी	२८८५	३०८४	३४९४	२९०९	३०७७	३३२१	३५३५
चर्वी मोम	११७	८२९	१०८३	५९९	५५४	११६४	७८०
सन्दलकी लकड़ी	१३३०	१५२३	१९२९	५२९	१५५७	१९५५	१५८

लड़ाईके पहले

तेल, तेलहन,, खलीकी रफ्तनीका मिलान।

सन्	१९०५-६	१९०७-८	१९०८-९	१९०९-१०	१९११-१२
तेलहन पा०	७२११९९२९	११३५४०१०	८१३८७१०	१२९८०६६३	१८७१९८८३
तेल ,,	४६७३२४	४४०७६१	४८२९९५	५३८९४१	९२२९८५
खली ,,	४५९८९२	५०११६०	५९७६०८	५५३२६६	६९०९२०

लड़ाईके बाद

सन्	१९१३-१४	१४-१५	१५-१६	१६-१७	१७-१८	१८-१९
तेलहन पा०	१७११६९५९	९७॥ लाख	६७॥ लाख	१११लाख	५४.८ लाख	७४.८ला
तेल ,,	६५७०८५	.७ लाख	९ लाख	१० लाख	१२.७ लाख	२३.४ला
खली ,,	९२०२४९	७ लाख	७॥ लाख	६॥ लाख	४.७ लाख	५.६ला०

तेल (किरासिनतेल और काफूर सीफतको छोड़कर) तेलहन और खलीकी रफ्तनीका मिलान—(लड़ाई छिड़नेके बाद)

सन्	१९१४-१५	१९१५-१६	१९१६-१७	१९१७-१८	१९१८-१९
	लाख रु०	लाख रु०	लाख रु०	लाख रु०	लाख रु०
तेलहन	१४५१	९८८	१६३७	७९१	११००
तेल	७०	८३	१०७	१५४	२८२
खली	१६	११२.६	९९.४	७०.९	८४.४

ऊपर दिये गये अंकोंसे कई बातें स्पष्ट होती हैं। पहली बात तो यह है कि भारतवर्षमें बहुत किस्मके तेलहन द्रव्य पाये जाते हैं। दुनियांमें कोई ऐसी जगह नहीं है जहाँ इतने किस्मके तेलहन द्रव्य पाये जाते हैं। पश्चिम आफ्रिकामें भी बहुतसे तेलहन द्रव्य मिलते हैं परन्तु चीनां बादाम और खजूरको छोड़कर और कोई विशेष लाभकारी नहीं है। दूसरी बात यह है कि इन वस्तुओं (तेलहन, तेल, खली आदि) की बाहरमें बड़ी मांग है, हर साल करोड़ोंका सामान बाहर भेजा जाता है। बाहर जाने वाले सामानमें तेलहन द्रव्यों (तीसी, तिल, अण्डी, सरसों, राय बिनौला इत्यादि) का मूल्य सबसे अधिक है। जितनेका तेल बाहर जाता है उससे कई गुणा अधिक दामका तेलहन विदेश भेजा जाता है। जहां १९११-१२ में १८७.१ लाख पा० की कीमत का तेलहन बाहर गया था वहां केवल ७.२ लाख पा० का तेल विदेश जा सका। और फिर इस तेलहनकी रफ्तनी दिनों दिन

बढ़ती ही जा रही है। १६०५-६ में सिर्फ ७२·१ लाख पा० का तेलहन बाहर गया था पर सिर्फ सात वर्षोंमें वह बढ़ कर १८७·१ लाख पा० हो गया। सब तरहके तेलकी रफ्तनीमें तरक्की हुई है सही, पर तेलहनकी तुलनामें वह कुछ भी नहीं। क्योंकि इसी अरसेमें तेलकी रफ्तनी ४·६ लाख पा० से, बढ़कर सिर्फ ७·२ लाख पा० तक पहुंची। तेलहनकी रफ्तनीकी यह बढ़ती भारतके लिये हानिकारक है, क्योंकि इसमें तेलके साथ साथ खली भी चली जाती है। यदि खली रह जाती तो खेतोंमें खादका काम देती, और पशुओं तथा मनुष्योंके खानेके काममें आती। तेलहनका इस तरह बाहर जाना देशकी कृषिको नुकसान पहुंचाता है।* यदि यहांसे तेल बाहर भेजनेका प्रबन्ध किया जाय तो कृषिको लाभ पहुंचनेके अतिरिक्त देशमें रोजगारकी भी वृद्धि हो। तेलकी कलोंमें लोगोंको मजदूरी मिले, तथा तेलहन भेजनेमें स्टीमर कम्पनियोंको जो अधिक भाड़ा देना पड़ता है वह भी बच जाय।

लड़ाईके पहले इन तीन जगहोंसे तेल और तेलहनकी मांग अधिक आती थी:—युनाइटेड किंगडम, फ्रान्स और जर्मनी। इनके अलावा बेलजियम, आष्ट्रिया और इटलीमें भी भारतीय तेलहनकी खपत थी। विलायत सस्ता माल खरीदता था, इससे

* The export of these seeds instead of the expressed oil is injurious from an agricultural point of view, as it deprives the soil of useful manurial constituents. Imp. Gaz. Vol. IV. p. 178.

वहां तीसी और विनौलेका ही बहुत चालान हुआ करता था। विलायतवाले विशेषकर खलीके लिये ही तेलहन मंगाया करते थे, इस कारण जिन द्रव्योंसे खली अधिक मिलती थी उनकी वहां बड़ी चाह थी। फ्रान्सवाले सुगन्धित तेल, तथा साबुनके लिये चीना बादाम और पेण्टके लिये तीसी अधिक मंगाते थे। जर्मनीवाले कीमती तेलहन खरीदते थे, इससे वहां नारियलकी सूखी गरी, महुआ, तिल बहुतायतसे जाया करता था, इनके बाद सरसो और तीसीका नम्बर था। इन देशोंके बाद बेलजियम तीसी, सरसो; आस्ट्रिया तिल, चीना बादाम; और इटली तिल और तीसी खरीदा करता था। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, विलायतवाले खलीके लिये सस्ता तेलहन खरीदते थे। पर जर्मनी इत्यादि देशोंमें मंहगे तेलहनकी जरूरत होती थी, क्योंकि वहां और आस पासके राज्योंमें तेलसे कृत्रिम मक्खन (Margarine) तथा अन्य खाद्य द्रव्य बनाये जाते थे और बहुतायतसे व्यवहारमें आते थे। इससे जर्मनीवालोंने धीरे धीरे महंगे तेलहन पर एकाधिपत्य जमा लिया था।

परन्तु लड़ाईके कारण ये बातें बदल गयी हैं। जर्मनी, आस्ट्रिया इत्यादि शत्रु राज्योंमें चीजें बिल्कुल नहीं जातीं। विलायत और मित्र राज्योंमें भी इसी कारण बहुत कुछ फेर फार हो गया है। इधर मांग घट जानेके कारण तेलहनकी रफ्तनी घट तो गयी है परन्तु हर्षका विषय है कि तेलकी रफ्तनी धीरे धीरे बढ़ रही है। १९१५-१६ से विलायतने बहुत सा नारियल, अण्डीका तेल और

संयुक्तराज्य अमेरिकाने वहुतसा नारियलका तेल खरीदना शुरू किया है। जर्मनीका बाजार वन्द हो जानेके बादसे एक दूसरा नया बाजार (अमेरिकाका) खुल गया है जहां नारियल तेलकी खपत हो रही है। यहां प्रधान प्रधान तेलहनकी उपज, रफ्तनी और उपयोग इत्यादिका विशेष परिचय दिया जाता है।

तीसी (अलसी)–कौन देश कितनी तीसी खरीदता है इसका पता नीचे लिखे कोष्ठकसे लगेगा।

तीसीकी रफ्तनी

सन्	१३—१४	१६—१७	१७—१८	१८—१९
युनाइ० किं० लाख पा०	१६·४८	३७·४५	१४·०	३६·८५
जर्मनी लाख पाउण्ड	५·३७			
बेलजियम लाख पाउण्ड	४·२५			
फ्रांस लाख पाउण्ड	१२·६७	६·५२	१·५७	१·१२
इटली लाख पाउण्ड	३·२५	२·६४	·५१	२·०३
अन्यदेश लाख पाउण्ड	२·५७	१·७६	१·७१	३·२१
कुल कीमत लाख पा०	४४·५८	४८·३६	१७·८५	४३·२१
कुल वजन टन	४१३,९७३	३९९२००	१४६१००	२९२४५३

बाहर जानेवाले तेलहनमें प्रायः सैकड़े ७० तो तीसी ही रहती है। लड़ाईके कारण कहींसे तो मांग बिलकुल वन्द हो गयी है और कहींसे कम। सिर्फ विलायतसे जहां लड़ाईके कारण तेल पेरनेका रोजगार बहुत कुछ बढ़ाना पड़ा है, तीसीकी मांग

बढ़ रही है। मामूली समयमें जितनी तीसी विलायत जाती थी उससे अढ़ाई गुना ज्यादा माल १६१६।१७ में गया। तीसीकी खली जानवरोंको खिलाई जाती है। और उसका तेल रंगनेमें खर्च होता है। इस तेलसे जहाज रंगा जाता है, तिरपालको पानीरोक बनाते हैं और तरह तरहके रंग और वार्निश तैयार होते ।लड़ाईके जमानेमें जब कि जहाजकी इतनी मँहगी थी तब भी तीसी भेजी जाती थी, क्योंकि खनिज द्रव्योंके साथ यह सस्तेमें विदेश चली जाती है। १६११-१२ में ३७'६३ लाख एकड़ १६१५-१६ में ३३'३३ लाख और १६१६-१७ में ३५'३२ लाख एकड़ भूमिमें तीसी बोयी गयी थी। यह मध्यभारत, मध्यप्रदेश, बिहार तथा युक्तप्रान्तके पूर्वीय जिलोंमें बोयी जातीहै।

चीनाबादाम (मूंगफली)—उसकी रफ्तनी :-

सन्	१३—१४	१६—१७	१७—१८	१८—१९
इङ्गलैण्ड लाख पा०	'०६	२'००	५'१८	'११
बेलजियम ,,	१'८८			
फ्रांस ,,	२६'२०	१३'४६	२'०६	'६१
आस्ट्रिया ,,	१'१२			
अन्यदेश ,,	३'१७	१'०४	५'१४	१'७८
कुल कीमत ,,	३२'५४	७'००	१२'१८	२'५०
कुल वजन टन	२७७६०७	१८७४५०	११५३५०	१७०००

फ्रांस सबसे अधिक मूंगफली खरीदता है। इधर कुछ दिनों

से इंगलैंड अधिक माल ले रहा है। इसका तेल खानेके काममें आता है और खली जानवरोंको खिलाई जाती है। अब लोगोंने इसका एक और उपयोग ढूंढ़ निकाला है कि मूंगफलीकी खली और गेहूंके आटेकी रोटी बहुत ही स्वादिष्ट और पुष्टिकर होती है।

मद्रास बम्बई और बर्म्मामें मूंगफली अधिक होती है। कुछ दिनोंसे बिहार और युक्तप्रान्तमें भी इसका प्रचार हो रहा है। यहां मूंगफलीकी उपजका बहुत बड़ा हिस्सा यों ही भूंजकर खानेमें खर्च हो जाता है। १९१५-१६ में १६७३,००० एकड़ और १९१६-१७में २३१७००० एकड़ जमीनमें मूंगफली बोयी गयी थी। विदेशमें भारतकी मूंगफलीका पूरा दाम नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि छिलका छुड़ाते समय इसको लोग भिंगो देते हैं जिससे बढ़िया तेल नहीं निकलता। यदि यहां भी कलके सहारेसे छिलका छुड़ानेकी चाल चल पड़े और तेलमें मिलावट न की जाय तो विदेशमें भारतकी मूंगफलीका दाम बढ़ जाय।

राई—राई नीचे लिखे हुये देशोंमें भेजी जाती है।

सन्		१३—१४	१६—१७	१७—१८	१८—१९
युनाइटेड किङ्गडम लाख पा०		१'८०	८'४८	३'५४	६.२५
जर्मनी	,,	६'५१			
बेलजियम	,,	११'११			
फ्रांस	,,	६'१२	२'४०	'३०	१'४८
इटली	,,	१'६१	'४८	'०२	'६७
अन्य देश	,,	१'१५	'५१	२'०२	१'२९
कुल कीमत	,,	२८'५२	११'८७	५'८८	९'६९
कुल वजन टन		२४८००५	१२२२५०	५९३००	७९६६२

ऊपरके हिसावसे स्पष्ट होगा कि १९१३-१४ में २·४९ लाख टन राई विदेश गयी थी पर लड़ाईके कारण १९१५-१६ में यह घटती घटती कुल ६५ हजार टन हो गई। बेलजियम सबसे ज्यादा राई लेता था पर लड़ाई छिड़नेके बादसे वहांकी रफ्तनी बन्द है। सिर्फ इंगलैंड और फ्रान्सने अधिक माल लेना शुरू किया है क्योंकि वहां रूससे जो माल आता था वह अब बन्द होगया है और उनको सिर्फ भारतकी राईपर ही भरोसा करना पड़ता है। युनाइटेड किंगडमकी मांग १४ हजार टन (१९१३।१४) से बढ़कर ४७ हजार टन (१९१५-१६) हो गई है। उसी तरह फ्रांसने १९१४-१५ में कुल १४ हजार टन मंगाया था, पर १९१५-१६ में ४० हजार टन खरीदा। १९१६-१७ में भी विलायतने ही सबसे ज्यादा माल खरीदा। अब जापानने भी राई खरीदना शुरू किया है। १९१४-१५ में कोई ६५०७००० एकड़ भूमिमें राई बोयी गयी थी और १२१९००० टनकी फसल हुई थी। १९१५-१६ में ६३७३००० एकड़ भूमिमें राईकी फसल थी और अनुमान किया जाता था कि १०८३००० टनकी उपज होगी। राईका तेल जंगी बेड़ेमें बहुत खर्च होता है।

बिनौला—बिनौलेकी रफ्तनी।

सन्	१३—१४	१६—१७	१७—१८	१८—१९
युनाइटेड किंगडम लाख पा०	१२·९१	१·९१		
फ्रांस ,,	·१०			
अन्य देश ,,	·१५	·१२	·१०	·१२
कुल कीमत ,,	१४·१७	२·०४	·१०	·१२
कुल वजन टन	२८४१२७	३९६५०	१७००	१४५४

युनाइटेड किंगडम ही सबसे ज्यादा विनौला खरीदता है पर लड़ाईके बाद्से वहांकी मांग बहुत कम हो गई है। यद्यपि विलायतमें इसका भाव बहुत चढ़ा हुआ है तथापि जहाज भाड़ेके बढ़ जानेके कारण माल भेजनेमें कोई नफा नहीं होता।

विनौलेका तेल पश्चिमीय देशोंमें खाया जाता है। सागके अचार रायता (Salad) बनानेमें व्यवहृत होता है, चर्वीकी जगह रसोईमें काम देता है। इससे कृत्रिम-मक्खन भी तैयार होता है। घटिया मालसे साबुन भी बनाया जाता है। रंगसाज लोग कभी कभी तीसीके तेलके साथ इसको मिलाया करते हैं। इसकी खली खाद तथा जानवरोंके खिलानेमें काम आती है। लड़ाईके बादसे इसको रफ्तनी बरांबर घटती ही जा रही है। १९१६-१७ में इसकी रफ्तनी बहुत घट गयी थी क्योंकि उस साल फसल भी खराब थी, और जहाजका भाड़ा बहुत चढ़ा हुआ था। जो कुछ माल था वह देशमें ही जानवरोंके खिलानेमें खर्च हो गया था।

अंडी— अंडीकी रफ्तनी :—

सन्		१३—१४	१६—१७	१७—१८	१८—१९
युनाइटेड किङ्गडम लाख पा०		५·४४	४·०६	६·८८	११·६५
बेलजियम	,,	१·५४			
फ्रांस	,,	२·०७	१·७५	१·८६	३·२४
इटली	,,	१·१४	१·१०	·५७	·२४
अमरिका	,,	२·०४	२·१४	२·११	
अन्य देश	,,	१·१४	·५९	·३५	·२१
कुल कीमत	,,	१३·२७	९·६४	११·७७	१५·३४
कुल वजन टन		१३४८८८	८३१५०	९८०५०	८१९८९

यहां भी युनाइटेड किंगडम ही सबसे बड़ा खरीददार है। अमेरिका भी माल लेता है। लड़ाई छिड़नेके बादसे अंडीके तेल की रफ्तनी बहुत बढ़ गयी है। १९१३-१४में कोई १४ लाख रुपयेका कच्चा माल बाहर गया था, पर १९१६ में यह बढ़कर २६'१ लाख और १९१७-१८ में ३८'३ लाख रुपया हो गया। इसका कारण यह है कि हवाई जहाजोंके पुर्जोंमें चिकनाहट देनेके लिये इसकी बड़ी जरूरत हो रही है। इस काममें अंडी तेल जैसा उपयोगी कोई तेल नहीं है। इसकी बढ़ती हुई खपत देखकर दूसरे देशोंनेभी अंडी उपजाना शुरू किया है। चीन, कम्बोडिया, आनाम, जावा, दक्षिण अफ्रिका, ब्राजिल इत्यादि देशोंमें इसकी पैदावार बढ़ाई जा रही है।

नारियलकी गरी—उसकी रफ्तनी :—

सन्		१३—१४	१६—१७	१७—१८	१८—१९
युनाइटेड किङ्गडम लाख पा०		'०९	'८०	'५५	
रूस	,,	'९८			
जर्मनी	,,	९'५८			
फ्रांस	,,	'८१	५'५६	'६१	
अन्य देश	,,	१'८४	'९०	'२४	'१४
कुल कीमत	,,	१०'४०	६'६६	१'४०	'१४
कुल वजन टन		९८१९२	२६६००	५८५०	४५०

लड़ाईके पहले जर्मनी सबसे अधिक गरी मंगाता था, उसके बाद रूस, बेलजियम, फ्रांसका नम्बर था। योरपमें इसके तेलसे

बहुत सा कृत्रिम मक्खन और साबुन बनाया जाता है। कुछ तेल खानेके काममें और खली जानवरोंको खिलाने, खेतोंमें खाद डालनेमें खर्च होती है। जर्मनीमें सबसे अधिक कृत्रिम मक्खन बनता था। पर अब युनाइटेड किंगडममें भी इसका कारबार बढ़ रहा है। जहां १९१३।१४ में कुल ३५२ टन गरी विलायत गयी थी वहां १९१५।१६ में ६७०१ टन गरी गयी। फ्रांसने भी बहुत सी गरी लेनी शुरू कर दी है। अमेरिका गरी नहीं खरीदकर नारियलका तेल ही खरीदता है। यहां भारतवर्षमें भी ताता कम्पनीने कृत्रिम मक्खन बनानेका एक बड़ा कारखाना खोलनेका प्रबन्ध किया है। कोचीन दरबारसे इसके लिये जमीन दी गई है।

त्रवंकोर और मद्रास हातेसे ही सबसे अधिक गरी बाहर जाती है। यहांकी गरी दुनियामें सबसे अच्छी समझी जाती है, फिलिपाइन, समोआ, जंज़ीबार, फीजी इत्यादि देशोंकी गरीका उतना दाम नहीं मिलता। नारियलका पेड़ बहुत कामका होता है। इससे बहुतसे द्रव्य तैयार होते हैं। नारियलकी गरी लोग खाते हैं। इससे तेल पेर कर बहुत तरहसे व्यवहार करते हैं, उसकी खली खेतोंमें डालते हैं। इनके अलावा उसके छिलकेसे रस्सी बनाते हैं, गद्दा बिछौना भरते हैं। उसकी नरेलीसे हुक्का, बटन तथा तरह तरहकी शौककी चीजें बनाते हैं। नारियल पेड़से उत्पन्न भिन्न भिन्न चीजोंकी रफतनी इस प्रकार हुई थी :—

सन्	१९१३-१४		१९१७-१८	
नारियलकी द्रव्य	तायदाद	कीमत पा०	तायदाद	कीमत पा०
नारियल संख्या	३४४१११	१५१७	६६२०३५	३,३५८
नारियलकी छिलकी ह०	१४८१२	११४४६	६००६	४३५२
छिलकेकी बनी चीजें ह०	७३२२६२	५९२७४१	२६३३०९	२११३४६
रस्से रस्सी ह०	६०४२०	७०१८९	५४३३६	७८४४८
सूखी गरी टन	३८१९१	१०३९८३६	४५०	१२९९०
खली ह०	८४१६६	२६९६५	२२००६	५४२८
नारियल तेल टन	४५४८	१५५०७२	२९९९५	९७६९८७
कुल कीमत		१८९७७६०		१३१५९१०

तिल कुसुम (कुसुंभ) इत्यादि–तिल कोई पचास लाख एकड़ जमीनमें बोया जाता है। और उपज सत्तर लाख टन होती है। १९१३-१४ में कोई दो करोड़ सत्तर लाख रुपयेका तिल बाहर गया था, पर लड़ाई छिड़नेके कारण इसकी रफ्तनी घट गयी। १९१५-१६ में सिर्फ २५ लाखका तिल बाहर गया। पर धीरे धीरे, इसका बाजार सम्हलता गया, बाहर इसकी मांग बढ़ती गयी, इस कारण १९१६-१७ में १६२.५ लाखका माल बाहर गया। फ्रांस १९१५-१६ में कुल १.०४ लाख पा० का तिल खरीदा था। पर १९१६-१७ में ६.४४ लाख पा०का माल लिया। तिलके चालान करनेमें सुभीता है, आजकल इसका जहाज भाड़ा कम है, इस कारणसे भी इसकी रफ्तनी बढ़ रही है।

कुसुमके फलसे बड़ा बढ़िया तेल निकलता है। आजकल इसका व्यवहार मिलावटी घी तैयार करनेमें होता है। पर इससे

मोमजामा तैयार किया जा सकता है। इसको व्यवहारोपयोगी बनाने, इसकी उपयोगिता बढ़ानेका यत्न किया जा रहा है। कृषि विभागने इसका नमूना विलायतके व्यापारियोंके यहां भेजा है। महुआ भी बड़ा लाभदायक है। इससे देशी शराब तो बनती ही है इसके फलसे तेल निकाला जाता है जो घीमें बखूबी मिला दिया जा सकता है। कहीं कहीं इसको जलाने खाने और साबुन बनानेमें भी व्यवहार करते हैं। लड़ाईके पहले जर्मनी सबसे अधिक महुआ खरीदता था, अब बहुत सा माल इङ्गलैण्ड जाता है।

तेल पेरनेका रोजगार—भारतवर्षमें तेलियोंकी एक जाति है जो तेल पेरती है। उनके यहां पुरानी चालके काठके बने कोल्हूसे तेल निकाला जाता है। भारतवर्षमें शहर देहात, हर जगह तेली पाया जाता है; कोल्हुओंसे निचोड़े तेल देश भरमें खाने, देहमें मालिश करने और चिरागमें जलानेके काममें आते हैं। इधर अब वाष्पसे चलनेवाली कलोंसे तेल निचोड़नेकी चाल चल पड़ी है। पर साधारणतः गृहस्थों या अन्य लोगोंको कलके तेल पर वैसा विश्वास नहीं है, वे कोल्हूके तेलको ही अधिक पसन्द करते हैं। इसे अधिक दाम पर खरीदते हैं, क्योंकि वह अधिक स्वादिष्ट, ताजा और बिना मिलावटका होता है। यही हालत खली की है। कोल्हूकी खलीमें तेलका अंश अधिक रहता है, इससे किसान उसे अपने जानवरोंके लिये खरीदते हैं। पर यथार्थमें यद्यपि कलोंकी खलीमें

तेलका अंश बहुत ही कम रहता है तौ भी उससे जानवरोंकी शरीर पुष्टि मजेमें हो सकती है। यथार्थ बात यह है कि शुरू शुरूमें कुछ ऐसे लोगोंने तेलकी कलें खोली थीं जिनको धन्धेका पूरा ज्ञान न था, वे लोग झटपट अमीर हो जाना चाहते थे। उन्होंने तेलमें मिलावट करनी शुरू कर दी, इससे लोगोंका विश्वास उठ गया। पर अब धीरे धीरे यह रोजगार सँभल रहा है, कलका तेल अधिक परिमाणमें बिक रहा है। बड़े बड़े शहरों-में तो कलोंकी प्रतियोगितामें तेलियोंको अवश्य ही हार माननी पड़ी है, अब छोटे छोटे कसबोंमें भी कलका तेल फैलने लगा है। इन कलोंके तेलकी रफ्तनी भी साथ ही साथ बढ़ने लगी है। लड़ाईके जमानेमें तो इसकी रफ़्तनी और भी बढ़ गयी है। पर तौ भी जैसा चाहिये वैसा सन्तोषजनक फल नहीं हुआ है।

लड़ाईके जमानेमें तेलकी रफ्तनी

सन्	१९१३-१४	१९१७-१८	१९१८-१९
नाम तेल	वजन गैलन		
तीसी	१०२३६०	५६०१७६	१६७४९५८
मूंगफली	२८८०००	१०५७०००	५९००००
राई सरसों	४०७१७८	४८८५२७	२६५६७२
तिल	२०८०५५	२४०१९९	११२५००
बिनौला	२५०७	७६३०८	९३५६
रेंडी	१००७००१	२०८४९५९	१६५८५१९
नारियल	१०९१४७७	३१७४०००	७१९८४०७

विदेशके बाजारोंमें भारतके तेलकी अपेक्षा तेलहनकी अधिक

वाह है। क्योंकि तेलकी मिलावटका पता लगाना कठिन है, पर अनाजमेंसे मिलावटका पता लगा लेना उतना कठिन नहीं। इसीसे तेलहनकी रफ्तनी बहुत ज्यादा हो गई है पर तेलकी उतनी नहीं। आश्चर्य्यकी बात तो यह है कि विदेशी कारबारी यहां-से कच्चा तेलहन खरीदते हैं, और अपनी विद्या बुद्धिके कारण उसीसे तेल पेरकर हिन्दुस्तान भेजते हैं और भारत उस तेलको शौकसे खरीदता है। "भारत प्रायः ५।६ करोड़ रुपयेकी तीसी बाहर भेजता है। वहीं उसी भारतवर्षमें इंगलैंडसे (जो प्रायः दो करोड़की तीसी भारतसे खरीदता है) १९०४ में ४'८ लाख और १९०८ में ६१४ लाख रुपयेका तीसीका तेल आया!" * इसके अलावा तेलहनके सहारे बने हुए रंग (Paint) वार्निश, साबुन इत्यादि की आमदनी तो अलग ही है। १९१७ से १९१४ तक जिस कदर तेल, पेन्ट, वार्निश साबुन इत्यादि बाहरसे आये उनका हिसाब नीचे दिया जाता है।

हर किस्मके तेल और तेलहनकी रफ्तनी

सन्	११-१२	१२-१३	१३-१४	११-१२	१२-१३	१३-१४
नाम देश	तेल			तेलहन		
जर्मनी हजार पा०	८६	४६	६९	२३१२	२२०१	२७४१
युनाइटेडकिंग० „	१५३	१५९	१५५	४३६४	३१२१	३८०२
कुल रफ्तनी „	७२३	५७२	६५७	१८७९०	१५१४०	१७११७

* B. N. Mudholkar's speech at the Ind. Conf. held at Madras 1908.

विदेशी तेल, पेण्ट, साबुन इत्यादिकी आमदनी

तेल

सन्	११-१२	१२-१३	१३-१४	१९१८
वनस्पतिजात तेल और चर्बी हजार पा०	१३२	१५८	१९१	१५८
खनिज तेल ”	२८१८	२५०२	२७४४	२४२७

साबुन

कुल कीमत हजार पा०	४१८	४७६	५००	७५६

पेण्ट इत्यादि

कुल कीमत ”	४८२	५०९	५४९	६४५

भारतमें तेलकी मिलें—लोहेकी कलोंके द्वारा तेल पेरनेकी चाल यहांके लिये नई है। ये कलें वाष्प या बिजली आदिकी शक्तिसे चलाई जाती हैं। इनका कारबार बड़े रूपमें होता है, बहुत से कोल्हू एक साथ वाष्प या अन्य शक्तिसे चलाये जाते हैं। जो मिल जितनी बड़ी होगी उसमें खर्च भी उतना कम पड़ेगा। इसके लिये बड़ी पूंजी तथा रोज रोज खर्च करनेके लिये अधिक कच्चा माल चाहिये और उसीके अनुसार अधिक तैयार माल और खली भी मौजूद रहेगी। तैयार मालकी निकासीके लिये बड़े बाजारकी जरूरत होगी। इस कारण छोटी जगहमें मिलें बखूबी काम नहीं चला सकतीं। तैयार माल बेचनेके लिये उन्हें बाहर जाना पड़ता है। इसी कारण कलकत्ते जैसे बड़े शहरमें तेल की मिलोंकी संख्या सबसे अधिक पाई जाती है; वहां सब जगहसे कच्चा माल भी आता है और वहां तैयार माल भी अधिकांश खर्च हो जाता है। तेलकी मिलोंके

लिये इन दो वातोंकी वड़ी जरूरत है। यदि मिलें छोटी जगहोंमें हुई तो उनको वाहरसे माल मंगाना पड़ेगा तथा वाहर तैयार माल भेजना भी पड़ेगा। माल वाहर भेजनेमें—विशेषकर तेल—वड़ी वड़ी दिक्कतें हैं। भाड़ा अधिक है तथा तेल वरवाद जानेका वड़ा डर है; 'पैकिङ्ग' खर्च भी अधिक पड़ जाता है। इसी कारण वैसी मिलें जो इन वातोंको सोचे विचारे विना ही खोल दी गई थीं अधिकांश 'फेल' हो गई। इनके अलावा खरीदारोंका अविश्वास है। वे कोल्हूका तेल ही अधिक पसन्द करते हैं। वड़े वड़े शहरोंमें यदि कोल्हूका तेल मिलना कठिन है तो छोटे छोटे कसवोंमें तो अवश्य ही सम्भव है। यदि देशमें तेल खर्च न हो सका तो कलका तेल विदेश भेजा जा सकता है। पर विदेश भेजनेमें और भी दिक्कतें हैं। पहली मुश्किल तो पैकिंग और जहाज भाड़ेकी है। चढ़ाते उतारते तेलके पीपे फूट जाते हैं, माल वरवाद हो जाता है, तथा स्टीमर कम्पनियां तेलका भाड़ा भी अधिक लेती हैं। यदि किरोसिन तेलकी तरह तीसी, सरसो इत्यादिके तेल भी जहाजोंके तलपेटमें (Bulk) भेजे जायं तो अच्छा हो। पर इसके पहले कि विदेशमें यहांके तेलकी खपत वढ़े, यह जरूरी होगा कि तेल खालिस भेजा जाय, मिलावट की चाल उठा दी जाय। वाहरके वाजारमें यहांके तेलकी वड़ी वदनामी है; इसी मिलावटके डरसे व्यापारी यहांके तेलकी अपेक्षा तेलहन अनाज ही खरीदना पसन्द करते हैं।

तेलहन रफ्तनी करनेकी अपेक्षा तेल रफ्तनी करना वहुत ही

लाभदायक है। क्योंकि इससे देशमें खली रह जाती है, इसका उपयोग खाद डालने और जानवरोंके खिलानेमें किया जाता है। "तेलहनकी रफ्तनी करना क्या है मानों देशकी मज्जा (सार) का बाहर भेजना है।" इसलिये यहां तेलकी मिलें खोलना बहुत ही आवश्यक है। पर यह काम जैसे तैसे आदमीका नहीं है। इसके लिये ऊपर लिखी बातोंका तो ध्यान रखना उचित ही है। उनके अलावा मिल खोलनेके स्थानका तथा तेलहन द्रव्योंकी सिफतोंका पूरा पूरा पता लगाना आवश्यक है। तेल पेरनेके लिये बड़ी हिकमत की जरूरत है। फिर तैयार तेलको बेचने या उसका उपयोग करनेके लिये सिर्फ स्थानीय बाजार, या विदेश पर ही भरोसा करलेनेसे काम न चलेगा। उसके साथ साथ देशमें तेलसे सम्बन्ध रखनेवाले धन्धोंको भी फैलाना पड़ेगा। इसके बिना तेलका रोजगार कभी सफल नहीं हो सकता है। रंग (पेण्ट), वार्निश, साबुन, मोमबत्ती, ग्लिसरीन, कृत्रिम मक्खन, चिकनाई (Lubricant) इत्यादि अनेक द्रव्य हैं जो तेलके सहारे ही बनते हैं। हर जगह इनकी जरूरत होती है। भारतमें भी हर साल विलायतसे ये द्रव्य आया करते हैं। इनकी आमदनीका वर्णन अन्यत्र दिया जा चुका है। भारतवर्षको उचित है कि इन द्रव्योंको अपने यहां ही बनावे और उनमें देशके तेलका व्यवहार करे। यदि यह न होगा तो तेलका रोजगार कभी नहीं बढ़ सकेगा। भारतवर्षमें दिनों दिन साबुनका व्यवहार बढ़ता जाता है, इससे बाहरसे

आये सावुनका परिमाण भी अधिक हुआ जाता है। १९०९-१० में २,५५,११ ह०, १९१०-११ में २७५, २४४ ह०, १९११-१२ में ६२४,६५१ ह० और १९१२-१३ में ३५०,६१७, ह० सावुन बाहर से आया। इंगलैण्ड सबसे अधिक सावुन भेजता है, उसके बाद अमेरिका आस्ट्रिया, इटली बेलजियमका नम्बर है। कुछ दिनोंसे जापान भी रद्दी सावुन भेजने लगा है। भारतवर्षमें 'धोवी-सावुन' बहुत बनता है। यह सज्जी, तेल, चर्बी और चूनेके सहारे बनाया जाता है। हालसे कलकत्तेमें कुछ (४।५) सावुनके छोटे बड़े कारखाने खुले हैं। उसी तरह मेरठ, कानपुर, मद्रास और बम्बईमें भी कारखाने हैं। पर यहां विलायतवालोंकी तरह पूरी वैज्ञानिक रीतिसे काम नहीं चलाया जाता। सावुन बनानेका कच्चा माल यहां बहुतायतसे मिलता है। जानवरोंकी चर्बी, तथा वनस्पतिके तेल, नारियल, मूंग फली, महुआ, अंडी, बिनौला इत्यादि की तो यहां कमी नहीं है। इनके अतिरिक्त पंजाबमें बहुतसा राल (Rosin) भी बनता है। सोडा, पोटाश और सुगन्ध बाहरसे मंगाया जा सकता है या देशमें ही असानीसे तैयार हो सकता है। सिर्फ वैज्ञानिक रीतिसे काम शुरू करनेकी आवश्यकता है। कानपुर, कलकत्ता और बम्बईमें सावुनका कारखाना खोलना बहुत आसान होगा। क्योंकि वहां तेलहनद्रव्य बहुत आते हैं। मुनासिब तो यह है कि तेल पेरने और सावुन बनाने तथा ग्लिसरीन तैयार करनेका कारखाना एक ही साथ हो। इससे सबसे अधिक फायदा होगा

और कोई द्रव्य बरबाद न जायगा। साबुन और ग्लिसरीनका कारखाना तो साथ साथ खोलना जरूरी है, नहीं तो साबुन तैयार करने पर ग्लिसरीनका पानी बेकार चला जायगा। तेल पेरना शामिल करलेनेसे और भी सुगमता होगी। फ्रान्सके मारशाई (Marseilles) नामक स्थानमें भी, जहां मद्रासका प्रायः समूचा तेलहन जाया करता है, इसी रीतिसे तेल और साबुनका कारखाना शामिल काम करता है। उचित रूपसे कार्य आरम्भ न करनेके कारण पहले पहल बहुतसे तेलके कारखाने असमयमें ही बन्द हो गये। १८९५ में हिन्दुस्तानमें सब तरहकी १६३ तेलकी मिलें थीं, पर १९०४ में कुल ११२ मिलें बच गयी थीं। १९११-१५ तकका हिसाब नीचे दिया जाता है :—

	कलकी द्वारा चलनेवाली मिलें						हाथसे चलनेवाली मिलें					
सन्	१९११		१९१३		१९१५		१९११		१९१३		१९१५	
	मिल	मजदूरी	मिल	मजदूर	मिल	मजदूर	मिल	मजदूरी	मिल	मजदूरी	मिल	मजदूर
भारत (ब्रिटिश)	२४	२८८८	४५	४५७९	६६	४८२३	१२	४९४	१२	२५७	१४	४१९
देशी राज्य	१५		१७		१०		२		४		८	

हालमें तेलकी बड़ी बड़ी मिलोंके खोलने तथा तेलहन द्रव्यके उपयोगका वैज्ञानिक प्रयत्न किया जा रहा है। लोग कहने लगे हैं कि जब अमेरिका हजारों टन तेल योरप भेज सकता है ता

भारत क्यों नहीं? यहां तो अनेक प्रकारके तेलहन द्रव्य पैदा होते हैं। ताता कम्पनीने नौसारी (बम्बई) में बहुत ही अच्छा तेलका कारखाना खोला है। उन्हीं लोगोंके उद्योगसे कोचीनमें नारियलके तेलसे कृत्रिम मक्खन, बनानेका कारखाना खोला जा रहा है। मा० रंगनाथ मुधोकरके उद्योगसे बरारमें तेलकी कम्पनी खोली जा रही है। जहां तेल और रंग वार्निश वगैरह तैयार किये जायंगे। त्रवंकोर और कोचीनमें तेलकी मिलें तरक्की कर रही हैं।

काफूर-सीफत तेल—भारतवर्षमें बहुत ही किस्मके फूल, फल, लता घास, पत्ते, दरख्तोंके छिलके, लकड़ियां, जड़ इत्यादि पायी जाती हैं जिनकी सुगन्धसे मन प्रसन्न हो जाता है। भारतवर्ष बहुत ही पुराने जमानेसे इन द्रव्योंके सहारे सुगन्धित इत्र, तेल, फुलेल, अर्क, इत्यादि बनाया करता है। मुगल बादशाहोंके समयमें तो इसकी उन्नतिकी सीमा नहीं थी। अब भी गाजीपुर कन्नौज (युक्तप्रदेश); वाढ़ (विहार), पदुदुकोटाय, मैसूर इत्यादि स्थानोंमें सुगन्धित तेल, इत्र, और अर्क बनानेका थोड़ा बहुत रोजगार चला जाता है।

भारतवर्षमें ऐसे बहुतसे द्रव्य हैं जिनसे तरह तरहके सुन्दर सुगन्ध पदार्थ तैयार किये जा सकते हैं, पर यहां उनका पूरा पूरा उपयोग नहीं होता। हम लोग बहुत सा कच्चा माल देशके बाहर भेज कर बदलेमें तेल, इत्र, एसेन्स, अट्टो, पमेटम इत्यादि खरीदते हैं। पर बहुतसे ऐसे भी फूल और सुगन्धित द्रव्य हैं जो दूर भेजनेसे बरबाद हो जाते हैं, और फिर उनसे सुगन्धित

द्रव्य तैयार नहीं हो सकते। यदि यहीं, देशमें उनसे सुगन्ध न तैयार हो तो वे बेकार हो जायंगे। ऐसा न होनेके कारण बहुत सा सुगन्ध हर साल बरबाद हुआ करता है। साधारणतः घास, फूल, पत्तोंसे सुगन्धित काफूर सीफत तेल तैयार करनेमें अधिक पूंजी या कोई बड़ी मशीनकी जरूरत नहीं पड़ती है। थोड़ी सी पूंजी और एक अच्छी, हल्की मजबूत तथा सरल भट्ठी (भभके) काफी है। इतना होते हुए भी भारतवर्षसे कुल थोड़ा सा नींबू घास (Lemon grass) और रूसाघास (Rosa oil) का तेल बाहर जाता है! शेष वैसे द्रव्य जो बखूबी बाहर भेजे जा सकते हैं जिनका कच्चा माल भेजनेसे सुगन्ध बरबाद नहीं होता वे सबके सब बाहर भेज दिये जाते हैं; देशमें उनसे सुगन्ध तैयार करनेका कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया जाता।

काफूर सीफत तेल बनानेके कई उपाय हैं। उनमेंसे दो एकका उल्लेख यहां किया जाता है। कुछ पदार्थ ऐसे हैं जिनको दबाकर स्पंजके सहारे तेल निकालते हैं। एक दूसरा उपाय भभकेमें तेल तैयार करनेका है। पत्ते, घास, छिलके इत्यादि जिन द्रव्योंसे तेल निकालना होता है उनको पानी भरे किसी पात्रमें रखकर भभकेके ऊपर रख देते हैं। और फिर भभकेके नीचे आग जलाकर आंच देते हैं। ताप पाकर भीतरका जल भाफ होकर एक टोंटीके सहारे दूसरे पात्रमें पहुंचाया जाता है जो पात्र ठंढे पानीमें डूबा रहता है। वहां वह भाफ जमकर तरल हो जाती है। उसी तरल पदार्थमें सुगन्धित तेल और

जलका मिश्रण रहता है। दोनोंको अलग अलग कर देनेसे सुगन्धित तेल, और जल तैयार हो जाता है। बहुतसे ऐसे फूल हैं जिनकी मीठी मीठी बू उबालनेसे जाती रहती है। उनके लिये एक दूसरा उपाय अवलम्बन करना पड़ता है। भाफमें गरम किये हुए जैतूनके तेल (Olive oil),चर्वी या ग्लिसरीनमें सुगन्धित फूलोंको छोड़ दिया जाता है। जब वे फूल मुरझा जाते हैं तो उन्हें निकालकर उनकी जगहपर और ताजे फूल डाल दिये जाते हैं। इसी तरह करते करते जब तेल या चर्वीमें पूरी पूरी गन्ध बस जाती है तब उसे छोड़ देते हैं। फिर उनसे सुगन्धित तेल, 'पमेड' इत्यादि बनाये जाते हैं। कभी कभी चर्वी बिना गरम किये हुए भी बसाई जाती है। इन सबमेंसे भभकेके सहारे तेल उतारनेकी चाल ही सरल है। इधर कुछ दिनोंसे वैज्ञानिक रीतिसे कृत्रिम सुगन्धि (Synthetic perfumes) भी तैयार होने लगा है। इसका व्यवहार विशेष कर सस्ते एसेन्स, साबुन इत्यादि बनानेमें धीरे धीरे बढ़ रहा है।

कुछ प्रधान सुगंधित तेल—रूसाघासका तेल— यह घास बम्बई, मालवा, महेरवाड़ा, राजपुताना, मध्यप्रदेश और बरारके इलाकोंमें बहुतायतसे पाया जाता है। पीम्परपुर, नीमार, होशंगाबाद, मंडला, एलिचपुर, अमरावती इत्यादि शहरोंमें इसका बहुत बड़ा रोजगार है। यह तेल घासोंको भभकेमें उबाल कर तैयार किया जाता है। अक्तूबर, नवेम्बरमें जब यह

खूब फूलने लगता है तब इससे तेल तैयार किया जाता है। मध्यप्रदेशमें दो तरहके रूसा तेल तैयार होते हैं—मोतिया और सोफिया। जब इस तेलकी मांग बढ़ने लगी तो लोगोंने मिलावट करना शुरू किया। पहले तो मूंगफलीका तेल मिलाते थे पर उसका तुरत पता लग जाता था। इस लिये किरोसिन और तारपीनका तेल मिलाने लगे। पर जब लोगोंने देखा कि ऐसा करनेसे रोजगार बिलकुल मिट्टी हुआ जाता है तब मिलावट करना छोड़ दिया। पहले रूसाका तेल कुस्तुन्तुनिया भेजा जाता था, वहां गुलाबके 'ओट्टो'में इसकी जरूरत होती थी। अरब और तुर्क इससे सिरमें लगानेका तेल तैयार करते हैं। पर इसका सबसे अधिक व्यवहार साबुन और 'परफ्यूमरी'में होता है। पहले मिश्र, इंगलैंड और रूम इस तेलको खरीदते थे; आजकल मिश्रमें तो जाता ही है, उसके अलावा फ्रान्स और जर्मनीने बहुत सा तेल लेना शुरू किया है। अलजीरिया, रीयुनियन (Reunion) से भी बहुत सा रूसाका तेल, योरप जाता है। पर तो भी भारतके तेलकी बड़ी मांग है जंगल-विभाग वालोंने एक ऐसा भभका तैयार किया है जिससे बढ़िया और अधिक तेल निकलता है। १८९६–७ में कुल १॥ लाख रुपयाका रूसा तेल बाहर गया था, पर १९०५–६ में यह रफ्तनी बढ़कर कोई ५॥ लाख हो गयी।

नींबू घासका तेल—इस घासके तेलमें नींबूका स्वाद और गन्ध आती है। इसका रोजगार दक्षिण भारतमें है। पहले त्रवं-

कोर राज्यमें इस घाससे तेल तैयार होता था। ज्यों ज्यों फायदा होता गया त्यों त्यों इसका रोजगार फैलता हुआ कोचीन और मालाबार तक पहुंच गया। आजकल कोचीन और कालीकटसे यह तेल विदेश भेजा जाता है। फ्रान्स, न्यूयार्क, हैम्बर्ग और लण्डनमें इसकी बड़ी मांग है।

कोचीनसे सालमें कोई दो तीन हजार बक्स तेल बाहर जाता है। प्रत्येक बक्समें ३३ औंसकी एक दर्जन बोतलें रहती हैं। हालसे आसाममें भी कुछ कुछ तेल तैयार होने लगा है। इसका व्यवहार साबुन और कृत्रिम सुगन्ध बनानेमें होता है। जावासे भी यह तेल विदेश भेजा जाने लगा है। पर भारतके तेलसे घटिया होता है। १८९६-७ में कुल ८० हजार रुपयेका तेल बाहर गया, पर १९०५-६ में डेढ़ लाख और १९१३-१४ में दस लाखसे भी अधिकका तेल भेजा गया था। इसकी तरक्कीकी बड़ी आशा की जाती है।

चन्दनका तेल—यह सुगन्धित तेलोंका राजा है। इसकी मांग देश विदेश सर्वत्र है। यह वृक्ष मैसूर तथा उसके आस पास पाया जाता है। इसके कुन्दे, टहनियां और जड़ सबके सब काममें आते हैं। चन्दनकी जड़ोंसे ही सबसे अधिक और बढ़िया तेल निकलता है। इसकी लकड़ी ८०।९० रु० टनसे लेकर ५००) रु० टनतक बिकती है। मैसूर राज्यकी ओरसे चन्दनकी लकड़ियां नीलाम की जाती हैं; इन्हें बम्बईके मुसलमान ताजिर खरीदते हैं और तेलीचेरी या बम्बईसे विदेश

रवाना करते हैं। मैसूरमें एक जमानेसे चन्दनका तेल बनाया जाता है और चीन, अरब भेजा जाता है। पर वह तेल योरपके बने तेलसे घटिया माना जाता है, इससे योरपमें लकड़ी ही भेजी जाती है। जर्मनी-लिपजिग (Leipzig) में इसका बहुत बड़ा कारखाना है।

लड़ाईके पहले चन्दनकी लकड़ी विदेश जाया करती थी, पर अब मैसूर दरबारकी ओरसे दो बड़े २ मशीनोंसे चलने वाले कारखाने खोले गये हैं। यहां बहुत बढ़िया चन्दनका तेल बनता है। आशा की जाती है कि धीरे धीरे मैसूरका सब चन्दन यहीं खर्च हो जायगा फिर कभी लकड़ी विदेश भेजनेकी जरूरत नहीं होगी। चन्दनका तेल सुगन्ध और दवाके काममें आता है। मुगलोंके जमानेमें इत्र वगैरह सन्दलके तेलकी जमीन पर ही बनाये जाते थे। जहां सिर्फ लकड़ी विदेश भेजी जाती थी, वहां १९१८-१९ में कुल साढ़े दस हजार पाउण्डकी लकड़ी पर सवा दो लाख पाउण्डसे भी अधिकका चन्दन तेल विदेश गया।

तारपीनका तेल–यह तारपीन, या चीर वृक्ष (Chir Pine) की रालसे बनाया जाता है। देहरादून, नैनीताल, नूरपूर (कांगड़ा) में इसके कारखाने हैं। यहां कोई २० हजार गेलन तेल तैयार होता है। यह तेल मेडिकल मिलिटरी विभागों, रेलवे कम्पनी तथा पेण्ट, वार्निशवालोंके यहां खर्च हो जाता है।

युकलिपटस तेल–(Eucalyptus Oil) इसका कार-

खाना नीलगिरी पर है। यह मेडिकल विभागमें दवाके लिये खरीदा जाता है।

अजवायनका तेल, अर्क और फूल—प्रायः सर्वत्र भारतवर्षमें तैयार होता है और घरू दवामें इस्तेमाल होता है। विन्टर ग्रीन तेल (Winter green oil) की अमेरिकामें बड़ी मांग है, क्योंकि इसमें बड़ा अच्छा सुगन्ध है तथा यह अच्छी औषधि भी है। यह चीजोंको सड़नेसे बचाता है (antiseptic) यह आसाम और नीलगिरीपर बनता है। गरजनका तेल आसाम और बर्म्मामें तैयार होता है। यह दवा और रोजगार दोनोंमें व्यवहार किया जाता है।

अब कुछ ऐसे सुगन्धित फूलोंका उल्लेख किया जायगा जिनका एसेन्स योरपवाले बड़ी चाहसे खरीदते हैं। (१) चम्पा फूलका एसेन्स। (२) केवड़ेके फूलका एसेन्स। (३) कैसी फूल (Cassie flowers) इसका बहुत बढ़िया 'पमेड" बनता है। इनके आलावा नागकेसर, लाल नागकेसर, बेल रूयानी, सौंफ, सोवा, जटामासी, मौलसिरी, जूही, चमेली, खैरचम्पा, तुलसी, पुदीना, पान, दारुचीनी, अगर, बेदमुश्क देवदारु, जीरा इत्यादिसे भी सुगन्ध तैयार किया जाता है। इनको बाहर भेजनेसे बड़ा फायदा हो सकता।

काफूर सीफत तेलकी आमदनी और रफतनी

आमदनी				रफतनी			
सन्	१९०७-८	१९०९-१०	१९११-१२	सन्	१९०७-८	१९०९-१०	१९११-१२
पा०	२१६२९	२१९३०	२०६७०	पा०	५९०२४	४३५६२	८२५९९

इत्र फुलेल (परफ्यूमरी)

आमदनी				रफतनी			
सन्	१९०७-८	१९०९-१०	१९११-१२	सन्	१९०७-८	१९०९-१०	१९११-१२
पा०	२०६५०	२४२३३	२६१४३	पा०	१०५०९	१४२५७	१९२७०

कच्चे मालकी रफतनी

सन्	१९१३—१४		१९१५—१६	
इलायची	३०७६५	पाउण्ड	४९५९७	पाउण्ड
अजवायन	६११५	"	४८७१	"
चन्दन	१०१५२९	"	१०२०९६	"
सौंफ	१९७८	"	६१५	"
धनिया	३५४७७	"	७०९५३	"
जीरा	३०६८२	"	१२८८९	"
स्याहजीरा	१८७०	"	१८५७	"
दालचीनी	१०१८	"	११४४	"
अदरख	१५८४२५	"	७१३५१	"
सोवा	१२९४	"	२३४२	"

चौथा अध्याय

रंगोंका व्यवसाय

इस व्यवसायकी भूत और वर्त्तमान अवस्था–रंग और रंग बनानेके द्रव्योंकी आमदनी रफ्तनी–भारतके प्रधान वनस्पतिजात रंग-नील—कुसुंभ—हल्दी–आल–लाखका रंग—त्रिफला–चमड़ा कमाने और रंगनेके द्रव्य–कपड़ा रंगने और छापनेका व्यवसाय–मामूली रंगाई, छपाई–बन्धनवाली रंगाई–मोमी कपड़ा बनाना और उसपर चित्रकारी करना–झिलमिल, चुमकी, पन्नी बैठाकर कपड़ा रंगना।

इस व्यवसायकी भूत और वर्त्तमान अवस्था–
रङ्गीन कपड़ोंका व्यवहार सारी दुनियामें है। तरह तरहके मन लुभानेवाले रंगोंमें कपड़ोंको रंगना और पहनना सभ्य, असभ्य, सब जातियोंमें पाया जाता है। भारतवर्षमें भी बहुत पुराने जमानेसे रंगीन कपड़े तैयार होते आये हैं, यहांकी रंगनेकी कारीगरी, वेल बूटोंकी सफाईने दुनियांको पुराने जमानेसे लुभा रखा है। वैदिक कालसे ही वस्त्रोंके तरह तरहके रंगोंमें रंगनेकी चाल चली आती है। उस समय स्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण या नील ये चार प्रधान रंग मालूम थे। रक्त और पीत रंग शुभ

माने जाते थे। चाणक्यने अर्थ शास्त्रमें लिखा है कि धोबियोंको (ये लोग 'नेजक' धोनेवाले तथा 'रजक' रंगनेवाले दोनोंका काम करते थे) हल्के रंगवाले कपड़ोंके लिये पांच दिन, नीले रंगके कपड़ोंके लिये छ दिन, और कुसुम, मजीठ इत्यादिमें रंगे कपड़ोंके लिये सात दिन मिलने चाहियें। कपड़े छापे भी जाते थे। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (११'२०) में 'चित्रान्त' का जिक्र है। रामायण, महाभारतमें भी कई स्थानोंमें इसका वर्णन पाया जाता है। रावणके महलमें रानियां रंग बिरंगे कपड़े पहनती थीं। छींट या छपे कपड़ों (चित्र वस्त्र) का वर्णन दोनों महाकाव्योंमें आया है। अमरकोषसे पता लगता है कि इस व्यवसायके लोग 'रंगजीव' कहलाते थे।

कुमारसम्भव और रघुवंशके 'दुकूल' में शायद नीली ज़मीन पर सफेद हँसोंकी छाप रहती थी। तपे सोनेकी रंगवाली सुन्दरियां नीली साड़ी (मेघडम्बर) पहनती थीं। गीतगोविन्दमें अलसीके फूलके रंगवाले कृष्णको पीताम्बर, और सोनेकी रंगवाली राधाको नीलाम्बर पहनाया गया है। गोरे रंगवाले बलराम 'नीलाम्बर' तथा काले रंगवाले कृष्ण 'पीताम्बर' कहलाते थे। ब्राह्मण गृहस्थ सफेद कपड़े पहनते थे। लाल, पीले या नारंगी रंगके कपड़े अधिक पवित्र समझे जाते थे, यदि वे रेशमके हों तो और भी पवित्र माने जाते थे। आजकल भी साधु, सन्यासी 'गेरुआ' धारण करते हैं। अब भी राजा महाराजाओंके यहां रंगीन वस्त्र पहनना आवश्यक समझा जाता है।

दरभंगा महाराज सदा लाल या कुसुम रंगकी धोती पहनते हैं। उड़ीसाके 'गढ़जात' राज्योंमें भी यह चाल चली आती है। रंगोंमें कुसुम, मजीठ, लाख, पलास, नील अधिक प्रचलित थे।

आजकल उत्तर, पश्चिम भारतमें रंगीन कपड़ोंके पहननेकी चाल बहुत जोरोंमें हैं, इससे वहां तरह तरहकी रंगीन चीजें भी बनती हैं। यों तो हर जगह, हर शहरमें रंगरेज और छीपी पाये जाते हैं, परन्तु युक्तप्रान्त, पंजाब, राजपुताना, गुजरात और मद्रासमें इस कलाका विशेष प्रचार है।

पुराने जमानेसे इस रोजगारमें लगे रहनेके कारण देशी रंगरेजों और छीपीगरोंने बड़ी कामयाबी हासिल की थी। उनके कामकी सफाई, रंगोंकी मन लुभानेवाली मिलावट और फूल, बेलबूटोंकी बनावट, किसी तरह मशीनोंके काममें नहीं पाई जा सकती। अब भी इन कारीगरोंकी बनाई असली चीजोंको गुन-गाहक लोग हाथों हाथ खरीदते हैं। पुरानी चालके जितने कारीगर (रंगरेज और छीपीगर) थे वे लोग देशी चीजोंसे ही रंग बना लेते थे। ये रंग खनिज द्रव्यों, जड़ी बूटियों, लकड़ियों तथा फूल पत्तों और तरह तरहके कीड़ोंसे बनाये जाते थे। वे लोग मजीठ, नील, कत्था, सीमक इत्यादि रंगनेवाले द्रव्योंका यथार्थ गुण अच्छी तरह जानते थे। इससे पुराने कारीगरोंके रंगे हुए कपड़े बहुत ही ऊंचे दर्जेके होते थे, भिन्न भिन्न रंगोंका आपसमें मेल और सफाई इस खूबीसे दिखायी जाती थी कि देखनेवालेका चित्त प्रसन्न हो जाता था। सुन्दरताके अति-

रिक्त ये सब रंग प्रायः (हरे पीले रंगोंको छोड़कर) पक्के होते थे।

अब इधर ३०—३५ वर्षोंसे रंगरेजोंकी अवनति होने लगी है। इसका सबसे बड़ा कारण है कृत्रिम रंगोंका आविष्कार और भारतमें उनका प्रचार। जबसे अलकतरे (Coal Tar) से तथा मजीठसे तरह तरहके रंग (Aniline and alizarine dyes) बनने लगे हैं, जबसे कृत्रिम नील (Synthetic Indigo) बाजारोंमें सस्ते दामपर बिकने लगा है तबसे पुरानी चालके पक्के सुन्दर वनस्पतिजात रंगोंको कोई पूछता तक नहीं। जबसे रासायनिक प्रयोगसे बने ऐसे रंगोंका प्रसार भारतमें हुआ तबसे इनकी चमक दमक रंगरूप तथा सस्तेपनके सामने पुराना, असली रंग ठहर न सका। आजकल कोई दो हजार तरहके भिन्न भिन्न रासायनिक रंग तैयार होते हैं। इनमें खूब चमक दमक रहती है। धोने पर ये ठहर जाते हैं तथा बहुत ही सस्ते भी पड़ते हैं! इनसे कपड़े रंगनेमें बहुत कम परिश्रम होता है। इन कारणोंसे नये रंगोंका प्रचार भारतमें बेतरह बढ़ गया, साथ ही रंगीन और और छपे हुए कपड़ोंकी पुरानी खूबसूरती, कारीगरी भी विदा हो गई। आजकल जो रंगे हुए देशी कपड़े मिलते हैं उनमें न तो पुरानी सुन्दरता ही है और न पुरानी कला। अब तो लोग आंखोंमें चकाचौंध लानेवाली भद्दी चीजोंपर ही लट्टू हो जाते हैं; इससे यह अनर्थ हुआ कि कारीगरी तो मिट्टीमें मिल ही चुकी, साथ साथ गरीब रंगरेजों और छीपीगरोंका रोजगार भी

जा रहा है। आज कल विदेशमेंके रंगे रंगाये, छपे छपाये कपड़ों और छींटोंकी आमदनी बढ़ने लगी है। सूततक वहींसे रंगकर आने लगे हैं।

लड़ाईके पहले जर्मनी सारी दुनियांको रासायनिक रंग देता था; दुनियांमें जितना रंग खर्च होता था उसका सैकड़े ८५ तो केवल जर्मनीसे बनकर आता था। लड़ाई छिड़नेसे जर्मनीकी रफ्तनी बन्द हो गई और सारी दुनियांमें रंगके लिये हाहाकार मच गया। जीती, जागती जातियोंने तो कुछ दिनोंतक कोशिश कर अपने यहां ही रंग बनाना आरम्भ कर दिया, पर बेचारा भारतवर्ष बड़ी मुश्किलमें पड़ा। यहां तो रंगका अकाल ही हो गया, रंगका भाव बेतरह बढ़ गया है। दस पैसे या तीन आनेको जो रंगके डब्बे मिलते थे वे कुछ दिनोंतक तीन तीन रुपयोंको भी नहीं मिलते थे। और मिलें क्यों न? भारतने तो अपनी पुरानी चीजोंको लात मारी थी; देशी वनस्पतिके रंगोंको विदा कर विदेशी चमकीले, भड़कीले रंगोंपर लट्टू हो गया था!

जब शुरू शुरूमें इन विदेशी रंगोंकी चढ़ाई हुई थी उस समय देशी रंगरेजोंने उन्हें काममें लानेसे अनिच्छा प्रगट की। क्योंकि एक तो वे नई चीजें थीं, दूसरे लोग उनका यथोचित व्यवहार नहीं जानते थे। इस उदासीनताका फल यह हुआ कि धीरे धीरे रंगरेज़ोंका रोजगार ही मिट्टीमें मिल गया; विदेशसे रंगीन मालकी आमदनी बढ़ने लगी। उस समय देशी मिलोंमें भी कपड़ा या सूत रंगनेका प्रबन्ध नहीं था, इन नये रंगोंका व्यवहार

जाननेवाले कारीगर भी देशमें नहीं थे। इस कारण रंगीन सूतके लिये देशी मिलोंको बाहर ताकना पड़ता था। इसके लिये जब कभी थोड़ा बहुत प्रयत्न भी किया जाता था तब उसका फल उपहासजनक ही होता था। पाठकोंको याद होगा कि स्वदेशी आन्दोलनके आरम्भमें जो किनारीदार देशी धोतियां बिकती थीं उनकी किनारियां बिल्कुल भद्दी होती थीं, धोनेपर रंग छूट जाता था और सारी धोती काले पीले धब्बोंसे भर जाती थी। यह दशा देशी मिलोंके व्यवसायकी सफलतामें बहुत बड़ी बाधक थी। अतएव मिलोंकी सफलता तथा गरीब रंगरेज और छीपीगरोंको रोजी फिर लौटनेका उपाय ढूंढा जाने लगा। बम्बईके प्रसिद्ध रासायनिक अध्यापक टी० के० गज्जरने इन प्रश्नोंको एक हद्दतक हल किया। उन्होंने इसका वर्णन सूरतवाली औद्योगिक सभाकी अभ्यर्थना समितिके सभापणमें स्वयं किया है। उन्होंने देखा कि देशी रंगरेज़ बेकार बैठते जा रहे हैं, देशी मिलोंको कुछ विशेष सफलता नहीं हो रही है तथा बाहरके रंगीन मालकी आमदनी बढ़ती जा रही है। उसी समय जर्मनीके रंगके व्यवसायी हिन्दुस्तानके बाजारमें रंग बेचनेकी उत्कंठा प्रकट कर रहे थे। यह सब देखकर प्रोफ़ेसर साहबने जर्मनी वालोंको सुझाया कि यदि वे लोग भारतवर्षमें रंगसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रयोगशालायें खोलें, तथा यहांके विद्यार्थियों और रंगरेजोंको रंगनेकी तरक़ीब सिखावें तो दोनोंका उपकार हो। भारतका रोजगार थोड़ा बहुत पलट जाय और जर्मनीको

रंग वेचनेके लिये एक वहुत वड़ा वाजार मिल जाय। भला, ऐसी फायदेकी वातें जर्मन क्यों न सुनते ? उन्होंने झट अपने खर्चसे प्रयोगशालायें खोलीं और लोगोंको रंगनेकी शिक्षा मुफ्त दी। धीरे धीरे वम्वई, सूरत, अहमदावाद, दिल्ली, कानपुर, अमृतसर, इत्यादि प्रधान प्रधान स्थानोंमें जर्मन रंगोंका उपयोग सिखाया जाने लगा। प्रो० गज्जरके उद्योगसे वहुतसे लोगोंने रंगना सीखा ; वम्वई, अहमदावादकी मिलोंमें सूत रंगनेके कारखाने खुले। मद्रास हातेमें भी जहांकी छींट जगत प्रसिद्ध थी, इन लोगोंने वड़ा काम कर दिखाया। सिर्फ मदुरामें कोई ४७ हजार सौराठी रंगरेजोंको वेरोजगार होनेसे वचाया गया। मदुरामें जो ग्लासगोका रंगा लाल (Turkey Red) सूत आया करता था वह विल्कुल वन्द हो गया। लोग धीरे धीरे अलकतरेके रंगोंसे देशमें ही सूत रंगने लगे। विदेशसे रंगीन सूत मंगानेकी उतनी जरूरत न रही। इतना लाभ तो अवश्य हुआ। पर देशका पुराना रोजगार,-पुरानी चालपर वनस्पतिके रंगसे रंगनेका व्यापार-फिर भी न चमका। वह मिट्टीमें मिल गया। आजकल सव कोई विदेशके रंगपर ही भरोसा रखते हैं; जव वहांसे माल आना वन्द हो जाता है तो यहां हाहाकार मच जाता है। देशी रंगरेजोंके हाथ पैर वंध गये हैं, उनके माट और नादोंमें केवल विदेशी रंग ही घोले जाते हैं, देशी जड़ी वूटीका व्यवहार विल्कुल उठ गया है। १९०३-४में ९८ लाख तथा १२-१३ में १५२ लाख रु०का रंग वाहरसे आया। १६-१७ में लड़ाई रहते हुए भी ११४ लाख रु०का रंग विदेशसे आया!

रंग और रंग बनानेके द्रव्योंकी आमदनी रफ्तनी–सरकारी रिपोर्टके अध्ययनसे स्पष्ट होता है कि विदेशी रंगोंकी आमदनी दिनों दिन बढ़ती जा रही है तथा भारतवर्षमें उत्पन्न होनेवाले वनस्पतिजात रंगोंकी रफ्तनी घटती जा रही है। साथ ही साथ रंगे हुए कपड़े या सूतकी आमदनी भी बढ़ रही है। १६०३-४ में ६८ लाख रुपये की लागतका विदेशी रंग हिन्दुस्तान आया था पर १८७६-७ में इसका कुल सातवां हिस्सा आया था! यह विदेशी माल बढ़ कर १६०७-८ में १०४ लाख, १६१०-११ में १३४॥ लाख, १६१२-१३ में १५२ लाख तक पहुंच गया!

विदेशसे जो रंग आते हैं उनमेंसे तीन प्रकारके रंग सर्वप्रधान हैं:—(१) अनीलीन (अलकतरेसे बने हुए रंग); (२) अलीज़ेरीन (मजीठसे बने हुए); और (३) कृत्रिम नील (Synthetic Indigo)। नं० १ और २ की कीमत १८७६-७ में कोई पांच लाख रुपयोंकी होगी। पर यही रकम बढ़ते बढ़ते १६०३-४ में ८२'७ लाख और १६१२-१३ में ११३ लाख रुपयेसे भी ज्यादा हो गई! १६११-१२ कोई १४० लाख पाउण्ड वजनका रंग (नं० १ और २) आया। १६१२-१३ में वही बढ़कर कोई १८२ लाख पाउण्डसे भी अधिक हो गया। यदि लड़ाई न छिड़ती तो न मालूम भारतवर्ष और कितना विलायती रंग खर्च करने लगता। अन्य रंगोंकी तरह कृत्रिम नीलकी बढ़ती आमदनीमें भी लड़ाईके कारण धक्का पहुंचा है। १६१३-१४में ६'७ लाख पाउण्ड वजनका कृत्रिम नील भारतमें आया था, पर १६१५-१६ में कुल १८ हजार

पाउण्ड आ सका इन रंगोंके अलावा रंगीन मालकी आमदनी भी बढ़ती जाती है, जिससे रंगरेजों और छीपीगरोंका रोजगार और भी मिट्टी हो गया है। १८७६-७७ में कुल २'८ करोड़ रुपयोंका रंगीन सूती माल आया था, वह बढ़कर १९०३-४ में ८ करोड़; १९११-१२ में १२'२५ करोड़; १९१२-१३ में १४'१७ करोड़ और १९१३-१४ में १७'८६ करोड़ तक पहुंच गया था।

भारतवर्ष बहुत जमानेसे नील और लाखके रंग तथा आल हल्दी, कुसुम और हर्रे, बहेड़ा इत्यादि द्रव्योंकी रफतनी करता आया है। पर जबसे कृत्रिम नील और रासायनिक रंगोंका प्रचार हुआ है तबसे इन चीज़ोंकी रफतनी बराबर घटती जा रही है। १९०३-४ में १७६ लाख रुपयेका रंग इत्यादि माल बाहर गया था सही पर वह १८७६-७ में बाहर भेजे गये मालका आधा ही था। इधर यह रफतनी और भी घटती गई है। १९०४-५ में १४० लाख, १९१०-११ में १३१ लाख, और १९१२-१३ में कुल ११० लाख रुपयोंका माल बाहर गया था। हां, इधर लड़ाईके बादसे नील बहुत तेज हो गया है, कृत्रिम नीलके सबसे बड़े देश जर्मनीके मालके बन्द होनेके कारण भारतसे नीलकी रफतनी बढ़ गई है। १९१५-१६ में ३१३ लाख तथा १९१६-१७ में २९८ लाखके रंग द्रव्य बाहर गये। पर यह तेजी तो चन्दरोजा है, लड़ाई बन्द होनेसे फिर सस्ते कृत्रिम रंगों (नील और अन्य) से बाजार पट जायगा और भारतकी दशा पहलेसे भी बुरी हो जायगी। क्योंकि अब तो उसे जर्मनीके अतिरिक्त इङ्गलैण्ड, अमेरिका और

जापानके कृत्रिम रंगोंका भी सामना करना है! विदेशी रंगोंकी आमदनीके कारण कुसुम, आल और लाखके रंगका तो सत्यानाश ही हो गया है, नीलकी कमर ही टूट गई है, उसके भी खड़े होनेकी आशा कम है।

लड़ाईके पहले जर्मनी बेलजियम और फ्रान्ससे ही अधिक रंग भारतवर्षमें आया करता था। अब इधर मित्र राज्योंने कृत्रिम रंग बनानेमें बड़ी तरक्की की है। इंग्लैंडको छोड़ दो और नये देशोंसे रंग आने लगा है। इंगलैंडने (१९१८-१९ में) अलीजेरीन रंग प्रायः १५९२ हजार पा० (वजन) तथा अनीलाईन रंग ११०५ हजार पाउण्ड वजन भारतवर्ष भेजा। उसी साल अमेरिका (संयुक्त राज्य) ने ८७४ हजार पाउण्ड (वजन) अनीलीन रंग भेजा। अमेरिकाकी यह आमदनी एकाएक बढ़ गई है, क्योंकि वहांसे १९१३-१४ में कुल २०० पा० और १९१५-१६ में २४०० पाउण्ड (वजन) रंग आया था! उसी तरह जापानने भी १९१६-१७ में २१ हजार पाउण्ड (वजन) रंग भेजा था, इसके अलावा उसने कोई २७०० पाउण्ड (वजन) कृत्रिम नील भी भेजा था। इसके पहले जापानसे रंगकी आमदनी बिल्कुल नहीं थी। यह नयी आमदनी भारतवर्षके लिये और भी बुरी हुई!

लड़ाईके पहले किस देशसे कितनेका रंग आया करता था उसका ब्यौरा नीचे दिया जाता है—

सन्	१९०४-५	१९०७-८	१९१०-११	१९१२-१३
बेलजियम लाख पा०	३·१४	·६६	·६६	·७५
फ्रांस ”	·६०	·२०	·३८	·४०
जर्मनी ”	·२६	४·२१	६·००	६·८
युनाईटेड किङ्गडम	·३१	·४१	·४८	·५०
स्ट्रेटसेटिलमेंट	·४४	·४२	·४८	·६२

भारतवर्षसे जो रंग बनानेके द्रव्य बाहर जाते हैं उनमें नील, त्रिफला कत्था इत्यादि मुख्य हैं। कौन देश कितना माल मांगता है उसका विवरण नीचे दिया जाता है।

युनाइटेड किङ्गडम

सन्	१९०४-५	१९०७-८	१९१०-११	१९१२-१३
कत्था कीमत पा०	३७११०	५७८३३	६८१२६	४४१११
नील ”	१२६८४५	१२६८३०	४२८१५	१५२७४
त्रिफला ”	१४८८३०	२०८६२३	१७३०९१	१८२४७८

आस्ट्रिया-हंगरी

नील	कीमत पा०	५७१९९	५२०८६	२६१४१	२९२४२

बेलजियम

कपड़ा और चमड़ा रंगनेके द्रव्य पा०	४००९९	५४६८१	६६६५२	४८४२२

जर्मनी

कपड़ा और चमड़ा रंगनेके द्रव्य पा०	८५१६६	१०३८८०	१०९४०७	९६८६२

मिसर

नील	पा०	१२१०६७	७८३११	४४६४०	२०९४९

अमरिका-संयुक्तराज्य

त्रिफला	पा०	?	५१४	९०२७०	५४९०१

लड़ाईके जमानेमें रंगद्रव्योंकी रफ्तनी

सन्	१९१५—१६	१९१८—१९
नाम द्रव्य	कीमत हजार रुपये	
नील	१०७८०	१२४८५
चिफना	७०५२	४९१४
हल्दी	७९८	१६००
अन्य	२६६६	१४०२
कुल कीमत	३१२०२	२०४९९

भारतके प्रधान वनस्पतिजात रंग-नील—यह एक प्रकारका छोटा पौधा होता है जिसके पत्तोंको जलमें सड़ाकर नीला रंग तैयार किया जाता है। इन्हीं पत्तोंके लिए नीलकी खेती होती है और इन्हीं पत्तोंसे नील रंगकी 'टिकिया' तैयार करनेके लिये भारतवर्षके कई प्रदेशोंमें निलहे साहबोंने बड़ी बड़ी कोठियां खोल रखी हैं। नीलका जिक्र बहुत पुराने इतिहासमें पाया जाता है, परन्तु भारतवर्षके पुराने लेखोंमें इसका पूरा वर्णन नहीं मिलता। इसमें सन्देह नहीं कि जब यूरोपवालोंने १६ वीं, १७ वीं शताब्दियोंमें यहांसे नीलका रंग खरीदना शुरू किया था उस समय यह रंग पश्चिमीय भारतमें बहुतायतसे मिलता था और सूरत बन्दरसे बाहर भेजा जाता था। पहले पोर्चुगीज़ लोग यहांसे नील खरीदकर लिसबन ले जाते थे और फिर उसे डच लोगोंके हाथ बेचते थे।

अनन्तर डच लोगोंने निजकी कम्पनी खड़ीकर भारतसे नील मंगाना शुरू किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी नील खरीदकर विलायत भेजा करती थी। उस समयतक इङ्गलैंड, जर्मनी और फ्रांसमें लोग 'वोड' (Woad) नामकी लकड़ीसे रंग बनाते थे। जबसे नीलकी आमदनी हुई तबसे इनका रोजगार मिट्टीमें मिलने लगा, ऊँसा कि आजकल हिन्दुस्तानमें कृत्रिम नीलके कारण हुआ है। 'वोड' के सौदागरोंने बड़ा हल्ला मचाया; अपनी अपनी सरकारोंके यहां पुकारें पहुंचाईं, लोग कहने लगे कि नील बुरी चीज है, विष है, "शैतानका मसाला" (Devil's Drug) है। इसका मंगाना, बेचना तथा व्यवहार करना बन्द कर देना चाहिये। और हुआ भी ऐसा ही। पर फल कुछ न हुआ। नीलका रंग सस्ता पड़ता था, इस कारण ऐसी अड़चनोंके रहते हुए भी नीलकी आमदनी होती ही रही। इसके लाभको देखकर अमेरिकाके औपनिवेशिकोंने भी इसकी खेती शुरू कर दी। उन लोगोंने तो यहांतक तरक्की की कि भारतका—गुजरातका—नीलका व्यापार बिलकुल बन्द हो गया। पर, सौभाग्यसे या दुर्भाग्यसे, अमेरिकनोंने नील छोड़कर ईख और काफीकी खेती शुरू की। तबसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी बङ्गालमें स्वयं नीलकी खेती करने लगी। इससे इतना लाभ होने लगा कि कम्पनीके कर्मचारी कम्पनीकी नौकरी छोड़कर नीलकी खेती करने लगे। पर निलहे साहबोंसे तथा रैयतोंसे आगे चलकर अनबन हो गयी; बहुत जगह दंगे भी हुए। अन्तमें १८५६ में रैयतोंकी रक्षाके

कानून बने, तथा बंगालसे नीलकी खेती एकदम उठ गई। तब निलहे लोग बिहार तथा संयुक्त प्रान्तमें खेती करने लगे। यहां भी निलहे साहबों तथा रैयतोंमें अनबन हुआ ही करती थी, पर १९१६ तक कोई सरकारी कानून रैयतोंकी रक्षामें नहीं बना। परन्तु महात्मा मो० क० गान्धीजीके उद्योगसे मोतिहारीकी प्रजा की रक्षाके लिये न्यायशीला बिहार सरकारने भी अब कानून बना दिया है। बिहार, संयुक्तप्रान्तके अतिरिक्त मद्रास, पञ्जाबमें भी नीलकी खेती होती है। पर बिहारका ही नील सबसे अच्छा होता है। नीलवालोंपर सबसे बड़ी आफत जर्मनोंने ढाई। उन्होंने एक प्रकारका नकली नील तैयार किया जो बहुत सस्ता पड़ता है, और सब तरहसे उपयोगी भी है। इस कृत्रिम नीलका व्यापार १८९७ से अच्छी तरह शुरू हुआ है।

१८९७ ई० से भारतमें नीलकी अवनति हो रही है। सस्ते कृत्रिम नीलके कारण भारतका नील ठहर नहीं सकता। नीलकी खेती उठती जाती है, कोठियां बन्द होती जाती हैं। १९०१ में ६२३ नीलकी कोठियां थीं, जिनमें १७३ हजार आदमी काम करते थे; पर १९०३ में कुल ५३१ कोठियां और ८२ हजार नीलसे सम्बन्ध रखनेवाले रह गये! जहां १८९५ ई० में करीब १३ लाख एकड़ भूमिमें नीलकी खेती होती थी, वहां १९१४-१५ में कुल १४८ हजार एकड़में नीलकी खेती हुई, और वह भी हरसाल घटती जाती थी। १८७६-७ में प्रायः तीन करोड़ रु०की कीमतका १००,००० हु० नील बाहर गया था, १८८६-७ में ३'७ करोड़का

१३८००० रु० नील भेजा गया; १८९६-७ में ४½ करोड़का १७०,००० रु० माल भेजा गया। तभीसे नीलकी अवनति शुरू हुई है। १९०३ में कुल एक करोड़से कुछ ऊपरका ६०,००० रु० माल विदेश गया था। १९०६-७ में ७० लाख, १९१०-११ में ३५ लाख, १९१२-१३ में कुल २२ लाख रुपयोंका नील विदेश भेजा गया !!

लड़ाईके समयमें नीलवालोंके अच्छे दिन आये। कृत्रिम नीलका आना बन्द था; जर्मनीका बाजार सारी दुनियांके लिये बन्द हो गया था। इस कारण भारतके नीलकी बड़ी मांग हुई थी। लड़ाईके पहले १९१३-१४ में जिस मालका दाम कलकत्तेमें २६२) था, वह १९१४-१५ में १००५) तक चढ़ गया था! खरीददारोंमें युनाइटेड किंगडम, अमेरिका-संयुक्त राज्य, तथा मिसर—ये तीनों देश प्रधान रहे। अमेरिकामें इसकी बड़ी मांग थी। दाम और मांग बढ़नेके कारण नीलकी खेती भी बढ़ी थी। १९१४-५ में जो १४८ हजार एकड़में खेती हुई थी, वह १९१५-१६ में ३५३ हजार और १९१६-१७ में ७५६ हजार एकड़ हो गई! १९१४-१५ में ८९ लाख रुपयाका १७ हजार रु० नील बाहर गया, १९१५-१६ में २०७ लाखका कुल ३४ हजार रु० नील विदेश भेजा गया। १९१६ में कम माल भेजनेका कारण यह था कि बहुत सा नील भारतवर्षमें ही रंगके काममें खर्च हो गया! बाहरसे जो मांग आती थी उसमें संयुक्तराज्य-अमेरिकाका नम्बर अव्वल था; मिसर, ईरान भी अधिक माल लेते थे। जापानने माल लेना

प्रायः छोड़ दिया है, उल्टे वहांसे कृत्रिम नीलकी आमदनी शुरू हो गई है। पर, जैसा कि अनुमान किया जाता था, १९१७-१८ से नीलकी रफ्तनी कम रही है, क्योंकि इङ्गलैंडने कृत्रिम रंग बनानेमें बड़ी तरक्की कर ली है। तथा उसके रंगोंके प्रचारके लिये अन्य विदेशी कृत्रिम रंगोंकी आमदनीको भारत सरकारने टैक्स बैठा कर रोकनेकी चेष्टा की है।

आजकल ऐसा उपाय किया जा रहा है जिसमें लड़ाईके बाद भी कृत्रिम नीलकी प्रतियोगितामें भारतका नील ठहर जाय। पूसा-कृषि—विभागमें इसका पूरा प्रयत्न हो रहा है। कृषि विभागकी रिपोर्टमें बताया गया है कि पांच बातोंको हल कर देनेसे नीलका भविष्य सुधर सकता है:—(१) अच्छे तथा उचित परिमाणमें नीलके बीजका बन्दोबस्त करना। (२) यह उपाय करना कि जिसमें नीलके पौधोंमें खूब अधिक पत्ते हों। (३) नीलके रंग तैयार करनेकी तरकीबमें सुधार। (४) उनको बाजारमें बेचनेका अच्छा प्रबन्ध तथा, (५) मिलावटका रोकना। वैज्ञानिक अन्वेषणका काम जारी है। इसके लिये तथा अन्य कई प्रकारके खर्चोंके लिये १९१८ से नीलकी रफ्तनी पर फी मन एक रुपयाका 'सेस' बैठाया गया है। यह सब कोई स्वीकार करते हैं कि भविष्यमें नीलकी बिक्री जापान चीनके बाजारोंमें ही हो सकती है। इस प्रचारके लिये, तथा 'कोअपरेटिव'के सिद्धान्तों पर बढ़िया माल तैयार करने और बेचनेके लिये नीलवालोंका एक 'संघ' अभी कलकत्तेमें खुला है।

नीलकी रफ्तनीकी कीमत

सन्	१२—१३	१४—१५	१५—१६	१६—१७	१८-१९
युना० किं० हजार पा०	१५	५६०	९६७	६९८	१७०
अम० संयुक्तराज्य ,,	१३	११	२४५	२७५	१५८
मिसर ,,	२१	६	७६	२२९	११८
ईरान ,,	३	२	१	८९	१८
जापान ,,	६	३	४३	१७	३२९
श्याम ,,	३५	८	१	८	१५
फ्रांस ,,	८		२	२	
आस्ट्रिया हंगरी ,,	२९	१			
जर्मनी ,,	५				
अन्य दूसरे २ देश ,,	१२	९	५१	९०	२४
कुल कीमत हजार पा०	१४७	६००	१३८६	१४०८	८३२

कुसुम—इसकी खेती बहुत जगह होती है। इसके फलसे तेल निकलता ही है जिसका वर्णन पिछले अध्यायमें किया जा चुका है। इसके फूलसे भी बहुत बढ़िया रंग तैयार होता है। जो सस्ता पड़ता है। इसका बनाना भी सरल है, तथा यह आसानीसे छूट भी जाता है। जिन गुणोंके कारण विलायती रंगोंकी मांग बढ़ रही है, वे गुण—सबके सब—कुसुममें पाये जाते हैं। और यही कारण है कि कुसुम रंगकी चाल थोड़ी बहुत अब तक है। तेलके कारण कुसुमकी जो खेती करनी पड़ती है

उसके साथ साथ रंग भी बन जाता है। किसी समय इस कुसुम रंगका यहां बड़ा व्यवसाय था। १८७३-४ में कोई साढ़े-सात लाखका कुसुम रंग बाहर गया था, पर १९०३-४ में कुल ६७॥ हजार रुपयोंका रंग ही भेजा गया! बंगालमें इसकी अच्छी खेती थी, वहींसे सबसे अधिक कुसुम बाहर जाता था। पर अब तो केवल नाम मात्र रह गया है। देशमें जहां तहां व्यवहार होता है। इधर कुछ दिनोंसे तेलके लिये कुसुमकी खेती बढ़ानेका उद्योग हो रहा है।

हल्दी—की खेतीपर नये रासायनिक आविष्कारोंका कोई बड़ा असर नहीं पड़ा है। क्योंकि हल्दीका व्यवहार रंगके अतिरिक्त मसालेमें भी होता है। जबतक कोई रासायनिक मसाला न निकाला जायगा तबतक हल्दीका व्यवहार ज्योंका त्यों बना रहेगा। १९११-१२ में १२'७ लाख तथा १९१३-१४ में १३'१ लाख और १९१८-१९ में १६'७ लाख रुपयोंकी हल्दी बाहर गयी। तथा उससे कई गुना अधिककी हल्दी देशमें काम आई। मद्रासमें सबसे ज्यादा हल्दीकी खेती होती है; उसके बाद बंगाल बिहार तथा बम्बईका नम्बर है। दुनियाके बाजारमें फारमोजाकी हल्दीके बाद ही भारतकी हल्दीका नम्बर है।

आल—की खेती पहले राजपुताना, मध्यभारत, बरार, मध्य-प्रदेश, संयुक्तप्रान्तमें बहुतायतसे होती थी। पर आजकल तो मध्यप्रदेशके दो एक छोटे इलाकोंको छोड़ और कहीं इसकी खेती होती ही नहीं। आलकी जातिका एक पौधा पूर्व बंगाल, आसाम

और बर्मामें भी होता है, पर वहां भी उसकी खेती बहुत कम है। आलकी खेतीसे बहुत लाभ होता था; इससे बहुत ही गहरा लाल रंग तैयार होता था। पर कृत्रिम रासायनिक रंगोंने इसे एक-दम मार भगाया और कितने किसानोंको तबाह कर डाला।

लाखका रंग—उसी तरह लाखके रंगकी हालत है। १८६९-७० में कोई दस लाखकी लागतका लाखका रंग भारतवर्षसे विदेश जाता था; उसकी विदेशमें बड़ी मांग थी, पर १८९६ से तो इसका बाहर जाना ही बन्द हो गया है, अब इस रंगको कोई नहीं पूछता। किसी समयमें लाखके व्यापारियोंको इस रंगसे अच्छी खासी आमदनी होती थी, पर अब तो यह उनके सिरपर एक बला सी रहती है। वे इसी फिक्रमें रहते हैं कि जिस तरह हो सके इस बेकाम चीज़को हटा दें। विदेशी रंगोंकी कृपाका यह एक बड़ा अच्छा फल है! हां, देशमें जहां तहां रेशमी सूतको रंगनेके लिए इसका व्यवहार होता है। मैसूरके जुलाहे अबतक इसीसे काम लेते हैं।

त्रिफला—आंवला, हर्रे, बहेड़ा—इन तीन फलोंसे भारतके जंगलात विभागको अच्छी खासी आमदनी होती है। इनके इकट्ठा करनेमें आसपासके गरीबोंको कुछ रोजी भी मिल जाती है। इनकी, विशेष कर हर्रेकी, चमड़ा तैयार करने और रंगनेमें बड़ी जरूरत पड़ती है। इससे सारी दुनियामें इनकी मांग है। १९०६-७ में ४३·९ लाख; १९०९-१० में ६० लाख; १९१२-१३ में ६२ लाख; १९१५-१६ में साढ़े ७० लाख और १९१८-१९ में

प्रायः ५० लाख रुपयोंकी त्रिफला बाहर गयी। नीलके बाद इसका ही नम्बर है।

चमड़ा कमाने और रंगनेके द्रव्य—त्रिफलाके अतिरिक्त और बहुत से द्रव्य हैं जिनसे चमड़ा रंगा और कमाया जाता है और जो भारतवर्षमें बहुतायतसे पाये जाते हैं, सिर्फ इनको काम लायक बनाकर बाजारमें लानेका यत्न होना चाहिये। चमड़ा तैयार करने (कमाने) वाले इसे अवश्यही खरीदेंगे। कारण यह है कि दरख्तके छिलकोंसे चमड़ा तैयार करनेकी पुरानी चाल उठती जाती है, उसके बदले चमड़ा रंगनेके अर्क (tan extracts) का अधिक व्यवहार होने लगा है। इससे बहुत सम्भव है कि शीघ्र ही अमरिका, योरपके चरसेवालोंको हिन्दुस्तानी माल मंगानेकी अधिक जरूरत होगी। यह सब सोच विचार कर जंगलात विभागने उन द्रव्योंकी जिनसे ये अर्क बन सकते हैं, उन्नति करने, उनको किस रूपमें बाजारमें बेचनेसे अधिक लाभ हो सकता है इत्यादि बातोंकी छानबीन शुरू की है। इसके लिये एक विशेषज्ञ भी रखा गया है।

दक्षिण भारतकी टैनरियोंमें अवरम (मद्रासमें; इसीको बम्बई वाले तारवाड़ (Tarwad) कहते हैं) के छिलकोंका बहुत ज्यादे प्रयोग होता है। इससे अच्छा चमड़ा 'कमानेवाला' और कोई छिलका नहीं पाया जाता। दक्षिण भारत तथा मारवाड़में यह पेड़ बहुतायतसे मिलता है। और इसीसे भारतवर्षमें मद्रास और उसके बाद बम्बई हातेमें ही अधिकांश 'टैनरियां' पाई जाती

है; उत्तर भारतसे भी वहुतसे चमड़े 'कमानेके लिये' दक्षिण भारत भेजे जाते हैं। पर ज्यों ज्यों 'टैनरियोंकी संख्या वढ़ती जाती है, इस छालकी मांग भी वढ़ती जाती है; लड़ाईके जमानेमें तो इस छिलकेकी कीमत दूनी हो गयी थी। इससे चमड़ा कमानेमें खर्च ज्यादा पड़ता था; और इसी लिये 'म्युनिशन वोर्ड'ने लड़ाईके लिये जरूरी चमड़ोंको छोड़कर दूसरे चमड़ोंका कमाया जाना ही वन्द कर दिया था। भारतकी टैनरियोंका भविष्य चमड़ा कमानेवाले इन द्रव्योंके मूल्यपर ही निर्भर करता है। मैहार, मध्यभारतके सरकारी कारखानेमें वैसे नये द्रव्योंका पता लगाया गया है, जिनसे चमड़ा अच्छी तरह 'कमाया' जा सकता है। उनकी उपयोगिता सिद्ध करनेके लिये प्रयागकी सरकारी टैनरीमें उनसे चमड़े कमाये गये हैं। जिन इलाकोंमें तारवाड़ (अवरम) के छिलके नहीं मिलते वहां इन नये छिलकोंसे वड़ा लाभ पहुंचेगा। यद्यपि ये छिलके या पत्तियां अवरमसे घटिया हैं, तथापि दो चार किस्मके छिलकोंको मिला देनेसे एकका दोप दूसरेके गुणसे दूर हो जाता है और अच्छा चमड़ा तैयार होता है। पता लगाया गया है कि तारवाड़के अतिरिक्त ववूलकी छीमी (फली), और छिलके; धौके छिलके और पत्तियां, करन्दके पत्ते; कहुआ (अर्जुन), साल, सैनकी छालसे वहुत अच्छा चमड़ा कमाया जा सकता है। उसी तरह खैरसे भी चमड़ा तैयार किया जाता है। १९१०-११ में कोई १११ हजार पाउण्डका खैर वाहर भेजा गया था, पर १९१३-१४ में कुल ६२ हजार पाउण्डका माल वाहर गया।

कपड़ा रंगने और छापनेका व्यवसाय—भारतवर्षमें घर घर रंगीन कपड़ेका व्यवहार है। हर रोज, नहीं तो ब्याह शादी, पर्व त्यौहार पर तो लोग अवश्य रंगीन वस्त्र पहनते हैं। पढ़े लिखे भलेमानुसोंके यहांसे चमकीले, भड़कीले रंगोंकी चाल उठती जाती है सही; पर औरतों, बच्चोंमें तो इसका व्यवहार बराबर बना हुआ है। जो सुखी हैं उनके रंग बिरंगे तरह तरहके कपड़े मौजूद हैं। जो गरीब हैं, वे एकही कपड़ेको कच्चे रंगोंमें रंगते हैं, धुलाते हैं और फिर उसीको दूसरे रंगमें रंगते हैं और इस तरह अपना शौक पूरा करते हैं। इस कारण कच्चे रंगोंकी बड़ी मांग है। ये कपड़े कभी कभी तो घर पर ही रंगे या छापे जाते हैं, और नहीं तो रंगरेजों और छीपीगरोंके यहांसे तैयार होकर आते हैं। इस कारण भारतवर्षका कोई ऐसा शहर या कसबा नहीं है जहां कुछ रंगरेज या छीपी न रहते हों। इन लोगोंने कभी अपनी कलामें बड़ी तरक्की की थी, जगह जगह पर, इलाके इलाकेमें इस कलाकी विशेषता पायी जाती थी और पायी जाती है।

रंगनेकी कलामें यहांके लोगोंने बड़ी तरक्की की थी; पुश्तोंसे रंगने और छापनेका काम करते करते इन लोगोंने ऐसी हाथकी सफाई हासिल की है कि उसका मुकाबला कोई नहीं कर सकता। यह सब कुछ सच है, पर तो भी इस कलामें आजकल पश्चिमीय देशोंमें कितनी तरक्की हुई है उसका इन्हें पता नहीं इसमें कोई शक नहीं कि बहुत सी बातें हैं जो मशीनोंसे नहीं हो

सकतीं, उनके लिये हाथके हुनरकी ही जरूरत है, और इसमें हिन्दुस्तानी रङ्गरेज बहुत ही सिद्धहस्त हैं। पर कुछ ऐसी भी चीजें हैं जो कलोंके द्वारा ही अच्छी तरह हो सकती हैं, कलोंकी सफाई और तेजी हाथोंमें नहीं आ सकती। इस कारण मुनासिब है कि मशीन और हाथकी कारीगरीका उचित मिलन हो, तभी यह कला जीवित रह सकती है अन्यथा नहीं। दूसरी कमी यहांके रंगरेजोंमें पक्के रंगोंके व्यवहारका अभाव है। वे जानते नहीं कि किस तरह धूप, पानी, साबुन और धोबीकी चोट या भट्टीसे रंग बचाये जा सकते हैं। इसी एक कमीके कारण यहांके रङ्गरेजोंको विदेशी रङ्गरेजोंके सामने नीचा देखना पड़ता है। यह बात नहीं है कि यहां ऐसे रंग तैयार नहीं हो सकते, पर वैसी रासायनिक विद्याका ही इनमें अभाव है।

इधर कुछ दिनोंसे कपड़ेकी देशी मिलोंने बड़ी तरक्की की है। इससे कपड़ा बुननेके साथ साथ कपड़ा और सूत रंगनेका भी विलायती ढंग चल निकला है। कपड़े, ऊन और रेशमकी मिलोंने अपना 'रंगघर' भी बनाया है, यहीं उनके रङ्गके काम होते हैं। इस विभागका कैसे आरम्भ हुआ उसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त कुछ शहरोंमें सिर्फ सूत या कपड़ा रंगनेके कारखाने भी खोले गये हैं जहां विलायती ढंगपर रंगाई होती है। भारतवर्षमें रासायनिक तथा रंगके कारखानों (Chemicals, Dyes) की कुल संख्या ३०६ (१९०५-६), २०३ (१९१३-१४) थी। पर अबतक रंग

बनानेका कोई कारखाना नहीं खुला है, हां, नीलकी कोठियां बहुत सी हैं।

मि० एच० आर० बौंडने बम्बईकी औद्योगिक सभा (१६१५) के लिये एक लेख लिखा था उसमें उन्होंने कुछ उपायोंका उल्लेख किया था जिनसे यहांके छीपीगरोंकी तरक्की हो सकती थी। पहली बात तो यह है कि उन्हें पक्के रंगोंका तैयार करना सिखाना। दूसरी बात है हाथ तथा मशीन दोनों प्रकारसे छापनेका प्रबन्ध करना। जहां हाथसे कपड़ा छपना ही अच्छा और सुलभ है वहां हाथसे छापना, पर जो काम मशीनोंमें हो सकता है वह मशीनों द्वारा ही करना। जैसे साड़ी की किनारीको हाथसे छीपियोंने छापा, तथा बीच की जमीनमें छोटे छोटे बेल बूटे मशीनोंमें छापे गये। मिलवालोंको उचित है कि ऐसी मशीने मंगावें, विशेषज्ञोंको रखकर रङ्गका काम शुरू करें; भाफकी सहायतासे कपड़ा रङ्गं, तथा जहां छीपी की जरूरत है वहां छीपीगरोंको काम दें। इससे दोनोंको लाभ होगा। तीसरी बात बढ़िया बढ़िया 'छाप' बनाने तथा उनसे छपे कपड़ोंको बेचनेसे सम्बन्ध रखती है। यदि बड़े बड़े पुतलीघरवाले रङ्गने और छापनेका व्यवसाय शुरू करें तो वे धन खर्चकर अच्छे अच्छे कारीगरोंसे नये सांचे बनवा सकते हैं, नया फैशन निकाल सकते हैं, या बाजारका रुख़ देखकर नया रङ्ग या नया छापा बाजारमें चला सकते हैं। यदि दोनों—मिलवाले तथा रङ्गरेज और छीपी—मिल जुलकर काम करें तो भारतका पुराना हुनर मरनेसे बच जाय।

कपड़ा रङ्गनेकी कलाके चार प्रधान विभाग किये जा सकते हैं :—(१) मामूली रङ्गना और छापना, छींट उखाड़ना। (२) बंधन वाली रङ्गाई (Tie-dyeing)। (३) मोमी कपड़ा बनाना तथा उसपर चित्रकारी करना। (४) भिलमिल, चुमकी, पन्नी बैठाकर कपड़ा रङ्गना।

मामूली रङ्गाई और छपाई—जैसा कि कई जगह उल्लेख किया जा चुका है, सम्पूर्ण भारतवर्षमें थोड़ा बहुत रङ्गका काम होता है। रङ्गनेका मामूली काम हर जगह होता है। पर प्रत्येक प्रान्तमें कुछ न कुछ विशेषता पाई जाती है। हर इलाकेमें खास खास तरहकी रङ्गाईका काम अच्छा होता है, तथा विशेष विशेष रङ्गका प्रान्त विशेपमें अधिक प्रचार पाया जाता है। जैसे पंजाब और काश्मीरमें बढ़िया मुलायम रेशमके सूतकी रङ्गाई बहुत ही ऊंचे दर्जे की होती है। इसी रेशमसे शालदुशाले पर फूलकारीका काम किया जाता है, वेलबूटे उखाड़े जाते हैं, जो सारे भारतवर्ष तथा अन्य अन्य देशोंमें बड़े आदरसे खरीदे जाते हैं। उसी तरह मध्यप्रदेशमें 'आल'के रङ्गका गाढ़ा लाल रंग बहुत अच्छा होता है। राजपुताना, मध्यभारतके रङ्गरेज पतली-से पतली मलमलपर दोनों तरफ दो किस्मका रङ्ग रंगा करते हैं। अलवर, कोटा, और कुछ कुछ नासिकमें भी ऐसे रङ्गका काम होता है, इस बारीकीकी रङ्गाईको देखकर तबियत खुश हो जाती है। उसी तरह बीकानेरी साफा, पगड़ी जो इन्द्रधनुषके रङ्गमें रङ्गी जाती है, बहुत अच्छी होती है। मद्रासमें 'छई'

(chay) की जड़से गाढ़ा लाल रङ्ग बनता है, इसीसे मद्रासके प्रसिद्ध रङ्गीन रेशमी रूमाल रङ्गा जाते थे।

उसी तरह छापे और छींटके भी अलग अलग इलाके हैं। एक इलाकेका काम दूसरे इलाकेसे बिल्कुल अलग होता है। विहारमें हाजीपुर, (मुजफ्फरपुर) में कपड़े छापे जाते हैं। युक्त प्रान्तमें लखनऊ, कन्नौज, फर्रुखाबाद, जहांगीराबाद (बुलन्दशहर) और जाफरगञ्ज (फतहपुर) में कपड़ा छापनेका काम बढ़िया होता है। यों तो प्रायः सब जगह थोड़े बहुत छीपीगर पाये जाते हैं, पर इन इलाकोंका काम बढ़िया होता है। इन युक्त प्रान्तीय छीपियोंकी विशेषता यह है कि ये लोग सफेद या हल्के रङ्गकी जमीनपर बहुत बढ़िया बेल बूटा छापते हैं, इन बेलबूटोंका अंग अंग सफाईके साथ छापा जाता है। ये योरपके छपे बूटोंसे कहीं कम नहीं उतरते। उसी तरह पञ्जाबमें कमालिया, सुलतानपुर, लाहौर, अमृतसर, गुरुदासपुरमें छपाईका काम बढ़िया होता है। पञ्जाबका काम युक्तप्रान्तसे बिल्कुल अलग है। उसी तरह राजपुताने और मध्यभारतमें इन सबसे अलग और बहुत ऊंचे दर्जेकी छपाई होती है। यहां अजमेर, सांगानेर, जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, कोटा, उज्जैन इसके लिये मशहूर स्थान हैं। यहांकी छपाई एक से एक बढ़िया होती हैं; बेलबूटों और फूल पत्तियोंके देखकर धोखा हो जाता है, मालूम होता है जैसे कारीगरने ताजे फूल पत्ते लाकर रख दिये हों। कहीं भारतमें ऐसी छपाई विरली ही होती है। उसी तरह पश्चिम

भारतमें अहमदाबाद, बड़ौदा, भरौंच, कैरा, सूरत, बम्बई, खान्देश, धारवार, नासिक प्रसिद्ध हैं। यहां लोग बहुधा कपड़ोंको पहले अंडीके तेल, सज्जी, मोम या गोंदमें भिगो लेते हैं, तब जहां जहां जैसी जरूरत होती है वैसे रङ्गसे रङ्गते हैं या ब्रशसे पोतते हैं, फिर तैयार हो जानेपर उस कपड़ेको साफ करते हैं। जहां जहां रङ्ग नहीं पड़ा होता है वहांका मोम या तेल छूट जाता है और सफेद जमीन निकल आती है। इन सबसे मद्रासकी बात अलग है, वहांकी छींट सब जगहसे न्यारी है।

बन्धनवाली रंगाई—इसमें किसी विशेष हुनरकी तो जरूरत नहीं है, पर यदि इसके परिश्रम तथा बनानेवालेके धैर्यका ख्याल किया जाय तो आदमी अचम्भेमें आ जाय। मान लिए, कि एक छोटा सा रूमाल रंगना है। उसमें कई किस्मके रङ्ग होंगे, जगह बजगह जमीन सादी रहेगी। अब जहां जहां सादी जमीन रहेगी उन हिस्सोंको सूतसे बांधा, फिर उनको मोम या अन्य किसी तरल पदार्थमें डुबाया जिससे उन हिस्सोंपर रङ्ग असर न करे। फिर इन बन्धनोंको खोलकर दूसरी जगह बन्धन लगायँगे और उन्हें जरूरतके मुताबिक खास रंगमें डुबायँगे, फिर इन अंशोंको खोलकर तीसरे अंशोंको बांधकर भिन्न प्रकारके रङ्गमें डुबायँगे। और फिर इसी तरह बांधते, रंगते और खोलते जायंगे जबतक कि पूरा रूमाल न रंग जाय। जब सब हिस्सा रङ्ग चुका, और जहां जैसे रङ्गकी जरूरत थी वैसा रङ्ग पहुंच गया तो समझिये कि रूमाल या कपड़ा पूरा पूरा रङ्गा गया। इस

मामूली काममें बहुत ज्यादा परिश्रम और धीरजकी जरूरत है। यह काम राजपुताना, मध्यभारत और गुजरातमें बहुधा होता है। मद्रास और बरारमें भी कभी कभी ऐसे कपड़े दीख पड़ते हैं। मथुरा और मेरठमें भी ऐसी रङ्गाई होती है।

कभी कभी रेशमी या सूती धागोंको ही जगह जगहपर, आड़े तिरछे बांधकर, भिन्न भिन्न रङ्गोंमें रंगते हैं। फिर उनसे जो कपड़ा बुना जाता है उसमें बड़ा भला पानीके ढेवका रङ्ग निकल आता है; इसे 'खंजरी' रङ्ग कहते हैं, और इस तरहके रङ्गीन कपड़ोंको 'मशरू' कहा जाता है। युक्तप्रान्तके बनारस, आजमगढ़, जालौनमें ऐसे कपड़े बहुतायतसे तैयार किये जाते हैं, तथा मुसलमानोंके यहां इनकी बड़ी कद्र होती है। उसी तरह गुजरातमें एक प्रकारकी ब्याहू (शादियाना) साड़ी बनती है जिसे 'पटोला' कहते हैं। इसमें ताने बानेके रेशमी सूत नाना प्रकारके रङ्गोंमें रङ्गे जाते हैं। ये सूत ऐसे निशानेसे रङ्गे जाते हैं कि कपड़ा बुनते समय जिस रङ्गके सूतकी जहां जरूरत होती है वह सूत ठीक उसी जगह ऊपर आता है। इस प्रबन्धका फल यह होता है कि तैयार होनेपर एक बहुत ही अच्छी, बहुरङ्गी, खूबसूरत साड़ी बन जाती है।

मोमी कपड़ा और चित्रकारी, छींट उखाड़ना—मद्रास प्रान्तकी जो पालमपूरी छींट मशहूर है, जिन कालीकटकी रङ्गीन छींटोंसे अंगरेजीमें 'कलिको' शब्दकी उत्पत्ति हुई है, उनमें 'छपाई' का जितना काम होता है उससे अधिक हाथकी रङ्गाई

तथा चित्रकारी रहती है। मद्रास प्रान्तके ये 'छपे कपड़े', जो बाजारमें 'काटन प्रिन्ट' के नामसे पुकारे जाते हैं, तीन प्रकारके होते हैं। पहला प्रकार तो उन रङ्गीन कपड़ोंका है जिनमें सिर्फ हाथसे ही रङ्गाई और चित्रकारी की जाती है। ये चित्र हिन्दू देवी देवताओंके होते हैं और मन्दिरोंमें चँदवेका काम देते हैं। रामायण, महाभारत या पुराणोंके चित्रोंसे अंकित ये कपड़े मछलीपट्टम, कलहस्ती (आर्काट), सालेम, मदुरा, पालाकोलू (कृष्णा जिला) में बहुतायतसे बनाये जाते हैं। कुछ ऐसे भी पालमपूरी कपड़े बनते हैं जिनमें पहाड़, नदी, जङ्गल, पशु, वस्ती इत्यादिके चित्र अङ्कित रहते हैं। ये मामूली कामोंमें व्यवहार होते हैं। उसी तरह कुछ ऐसे 'पालमपूरी' भी तैयार किये जाते हैं जिन्हें मुसलमान 'जा नमाज'के काममें लाते हैं। उनमें देवी देवताओंके चित्रके बदले वृक्ष, पशुपक्षियोंके चित्र अङ्कित किये जाते हैं। मछलीपट्टममें इसका बड़ा कारबार है।

दूसरे प्रकारके रङ्गीन कपड़ोंपर कहीं हाथसे और कहीं लकड़ीके छापेसे चित्र उखाड़े जाते हैं। ऐसे रंगीन कपड़ोंकी विलायतमें बड़ी मांग है। ऐसे कपड़े पोनेरी, मछलीपट्टम, कुम्भाकोनममें बहुत बनते हैं। विलायतमें खूब बिकते हैं। तीसरे प्रकारका कपड़ा वह है जिसमें एक ही किस्मके बड़े बड़े बेल बूटे बराबर बराबर दूरीपर छापे जाते हैं। इन रङ्गीन टुकड़ोंसे गलीचे, तकिये, कुर्सी परके गद्दे बनाये जाते हैं। विलायतमें इनकी भी बड़ी चाह है।

झिलमिल या पन्नी देकर रंगना--पहले कपड़ेको किसी लस्सेदार पदार्थसे छापते हैं, तब उसपर सोना चांदीके वरक या चमकीली चमकी वगैरह छिड़क देते हैं। जब लस्सा सूख जाता है तब उसे ब्रशसे साफ कर देते हैं। इस प्रकारकी छपाई तो बहुत जगह होती है, पर लाहौर, जयपुर, सांगानेर, अहमदाबाद, नासिक तथा जिला गोदावरीका काम बढ़िया होता है।

पांचवां अध्याय।
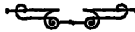
चमड़ा, हड्डी और रोयेंका व्यवसाय

चमड़ा और उसका व्यापार—चमड़ेका देशी व्यवसाय—सब किस्मके चमड़ेके कारखाने और टैनरियां—हाथी दांत—सींगकी चीजें—पंख, रोयें इत्यादि—मूंगे—संख, सीपी इत्यादि।

चमड़ा और उसका व्यापार—इस विभागका सबसे मूल्यवान द्रव्य चमड़ा है। भारतवर्षसे हरसाल सब मिलाकर कोई १२ से १६ करोड़ रुपयोंका चमड़ा बाहर जाता है। तथा उससे अधिक नहीं तो उतने ही दामका और चमड़ा देशमें ही खर्च हो जाता है। इस तरह यहां कोई २५-३० करोड़ रुपयोंका चमड़ा हरसाल बाहर भेजा जाता है और यहां खर्च होता है। आस्ट्रेलिया, अरजेनटीने (दक्षिण अमेरिका) जैसे देशोंको छोड़कर, जहां पशुपालनेका बहुत बड़ा व्यवसाय होता है, विरला ही कोई देश होगा जो इतने मूल्यका चमड़ा इस तरह विदेश भेजता होगा। भारतवर्षमें एक तो दरिद्रताके कारण सब कोई जूते नहीं पहन सकते, दूसरे, धार्मिक विचारोंके कारण चमड़ोंके उतने व्यवहारोपयोगी द्रव्य नहीं बन सकते जितने कि पश्चिमीय देशोंमें बनते हैं। इनके अतिरिक्त सारी दुनियामें मांग बढ़नेके

कारण चमड़ोंका दाम भी बढ़ रहा है। इन्हीं कारणोंसे यहांसे चमड़ोंकी रफ्तनी बढ़ती जा रही है।

परन्तु भारतवर्षको इस रोजगारसे जैसा चाहिए वैसा लाभ नहीं होता। एक तो यहां लोग गरीबीके कारण, या अपनी अज्ञानताके कारण पशुओंकी अच्छी सेवा नहीं करते; उन्हें भर-पेट खानेको नहीं देते। दुबले पतले, मरियल पशुओंकी कोई गिनती नहीं कर सकता। दुर्भिक्ष या अनावृष्टिके समयमें तो इनकी अवस्था और भी हीनतर हो जाती है। इन सब कारणोंसे खालोंकी कीमत घट जाती है। फिर यहां पर रोग छुड़ानेके लिए अथवा मालिकोंकी प्रसन्नताके लिये पशुओंको 'दागा' जाता है, इससे भी चमड़ोंकी कीमत घट जाती है। जिन पशु-ओंसे बोझ ढोने या गाड़ी खींचनेका काम लिया जाता है उनके भी चमड़े घटिया होते हैं। पशुओंको मारना हिन्दुओंके लिये पाप है, इससे ये पशु ज्यादातर बूढ़े बीमार होकर या आहार बिना ही मरनेको छोड़ दिये जाते हैं। इन कारणोंसे चमड़े तो व्यर्थ होते ही रहते हैं; इनके अलावा भी देहाती चमारोंकी अज्ञानतासे खाल खींचनेमें बहुतेरे चमड़े बेकार हो जाते हैं। इनसे भी जो चमड़े बच जाते हैं वे इन चमारोंके यहां जाकर खराब हो जाते हैं। क्योंकि इन्हें चमड़ा 'कमाने' की पूरी हिकमत नहीं आती। इन कारणोंसे हरसाल लाखोंका माल बेकार हो जाया करता है। बड़े बड़े शहरोंमें—जैसे कलकत्ता, बम्बई इत्यादि—मांसके लिये बड़े बड़े पशुवध किये जाते हैं।

वहांकी खालें अच्छी होती हैं। इन शहरोंके अतिरिक्त आगरा, दमोह, रहटगढ़, खुराय इत्यादि स्थानोंमें भी बड़े बड़े कसाईखाने (Slaughter Houses) हैं जहां रोज हजारों पशु मारे जाते हैं। वहां मांसका बड़ा भारी रोजगार है; ये लोग 'मांस' सुखाकर वर्मा चालान करते हैं। यहांकी खालें भी अच्छी होती हैं। एक और कारण है जिससे भारतवर्षको इस चमड़ेके व्यवसायसे पूरा लाभ नहीं होता। विदेशमें—विशेषकर आस्ट्रिया—जर्मनीमें कुछ ऐसे नियम बनाये गये थे कि जिससे वहां तैयार चमड़े नहीं जा सकते थे; वहां हमलोग सूखी खालोंको ही बेच सकते थे। इससे यहांकी टैनरियां बढ़ नहीं सकती थीं। सूखी खालें जर्मनी चली जाती थीं।

व्यापारियोंने चमड़ोंके दो विभाग किये हैं—एक तो गाय बैल, भैंस, भैंसे इत्यादि बड़े पशुओंके चमड़े, जिसको 'हाइड' (Hide) कहते हैं। और दूसरा भेड़, बकरी, बछड़े इत्यादि छोटे छोटे पशुओंके चमड़े जिन्हें 'स्किन' (Skin) कहते हैं। यहां से जो चमड़े बाहर भेजे जाते हैं उनकी दो श्रेणियां होती हैं—एक तो सिर्फ नमक मिलाकर सुखाई हुई 'खाल' छोटी या बड़ी (Undressed Hide or Skin), और दूसरीमें 'कमाये' हुए चमड़े बड़े या छोटे (Dressed Leather or Skin)।

जर्मनों, आस्ट्रियनोंकी व्यापार नीतिके कारण तथा बढ़िया चमड़ा तैयार करनेके अच्छे कारखानोंके नहीं रहनेके कारण 'खालों' की ही रफ्तनी यहांसे अधिक होती है। कलकत्तेसे

सिर्फ नमक मिलायी हुई सूखी खाल—बड़ी और छोटी—बाहर जाती है। बम्बईसे खालके साथ साथ थोड़े तैयार चमड़े-बड़े और छोटे—भी बाहर जाते हैं। भारतवर्षमें चमड़ा तैयार करनेके सबसे अधिक कारखाने—टैनरी—मद्रास हातेमें पाये जाते हैं। इस कारण मद्रासले जितने बड़े चमड़े बाहर जाते हैं वे सब तैयार किये हुए होते हैं, तथा छोटे छोटे चमड़ोंका भी दो तिहाई अंश तैयार किया हुआ होता है। १८९८ तक तो मद्रासले सूखी खाल बाहर जाती ही नहीं थी, पर अब धीरे धीरे छोटी छोटी सूखी खालों (Skin) की रफ्तनी बढ़ने लगी है क्योंकि बाहर वाले दाम अधिक देते हैं। कराची और वर्मासे भी सूखी खाल (बड़ी और छोटी) ही भेजी जाती है।

लड़ाईके पहले जर्मनी बड़ी बड़ी सूखी खालोंका सबसे बड़ा खरीदार था। सैकड़े ४८ माल वहीं जाता था; उसके बाद आस्ट्रिया—हंगरीका नम्बर था जो सैकड़े १६ माल खरीदता था। उनके बाद इटली, स्पेन, अमेरिका इत्यादि देशोंका नम्बर था। जिस तरह जर्मनी गाय—बैलकी खाल सबसे अधिक लेता था उसी तरह आस्ट्रिया—हङ्गरी भैंसकी खाल अधिक खरीदता था; अमेरिका, आस्ट्रिया दोनोंमें इसके लिए बड़ा ऊपरी रहती थी। छोटी छोटी सूखी खालोंका बड़ा खरीदार अमेरिका था, उसके बाद फ्रांस, इङ्गलैण्ड, हालैण्ड, जर्मनीका नम्बर था। इङ्गलैण्ड बहुत कम सूखी खाल—बड़ी या छोटी खरीदता था, वह बना बनाया चमड़ा ही अधिक लेता था। अमेरिका तथा जर्मनी-

वाले कम खर्चमें अच्छा चमड़ा तैयार करनेकी हिकमत जानते हैं, इसी कारण सूखी खाल यहांसे ले जाते है। खालकी तिजारत तो एक प्रकारसे जर्मनोंने अपनी मुट्ठीमें कर ली थी, उसका खरीदना और बाहर भेजना बिलकुल उनके अधिकारमें था; दाम भी वे लोग सुविधाजनक ही रखते थे। योरपकी कुल बिक्री जर्मनी (वीथ्रैन, हैम्बर्ग) के व्यापारियोंके हाथ थी। खाल रफ्तनी करनेके लिये जर्मनोंकी बहुत सी आढ़तें शहरों तथा मुफस्सिलमें खुली हुई थीं।

बड़े छोटे दोनों प्रकारके तैयार चमड़ोंकी सबसे अधिक मांग इङ्गलैण्डसे आती थी। इसके बाद अमेरिका, जापानका नम्बर था।

लड़ाई छिड़नेके कारण जर्मनी, आस्ट्रियाके बाजार बन्द हो जानेसे बड़ी बड़ी सूखी खालोंका बाज़ार बिलकुल मन्दा पड़ गया। खाल, चमड़े निष्पक्ष राज्योंसे होकर शत्रुओंके यहां कहीं न पहुंच जायं इसको रोकनेका पूरा प्रबन्ध किया गया।

धीरे धीरे पता लगा कि देशी चमड़ोंसे सिपाहियोंके बढ़िया बढ़िया 'बूट' बनाये जा सकते हैं। जबसे यह पता लगा तबसे भारत सरकारने देशी चमड़ोंके व्यवसायको अपने हाथमें कर लिया। अगस्त १६१६ से बड़ी बड़ी खालोंका कमाना, उनके बने चमड़ोंका बेचना, उनकी रफ्तनी इत्यादि सब कुछ सरकार की खास निगरानीमें होता रहा। किसीको माल बाहर भेजने या सरकारके अतिरिक्त दूसरेके हाथ बेचनेका अधिकार नहीं था।

देशमें जितने चमड़े कमाये जा सकते थे सब सरकार खरीद लेती थी। क्योंकि इंग्लैंडमें सूखी खालसे चमड़ा तैयार करनेका पूरा प्रबन्ध नहीं था इस लिये सूखी खालोंको सरकार नहीं खरीदती थी। परन्तु इस डरसे कि कहीं ये खालें उदासीन राज्योंसे होकर शत्रुओंके पास न पहुंच जांय इस लिये उनकी रफ्तनी भी बन्द थी। हां, जबसे इटालियन हमारे साथ हुये तबसे उनके हाथ, सरकारकी आज्ञासे, ये खालें बेची जा सकती थीं। पर अब (१९१९) तो चमड़े और खालका व्यापार खुल गया है।

जहां १९१३ में कुल पांच लाख सूखी बड़ी खालें कलकत्ते और करांचीसे इटाली रवाना की गई थीं वहां १९१५ में करीब ४० लाख बड़ी बड़ी खालें भेजी गईं। ये खालें कोई २ करोड़ जोड़े बूटके उपरले चमड़ेको काफी थीं। यद्यपि १९१६में इटलीकी रफ्तनी कम हो गई, पर तौ भी शान्तिके समयसे कई गुणा अधिक ही रही। अमरिका संयुक्तराज्यने भी सूखी खालों, छोटी बड़ी दोनोंकी मांग बढ़ाई। छोटी छोटी खालोंकी तो सैकड़े ८० अमरिकासे ही मांग आती है। लड़ाईके जमानेमें जर्मनी, अस्ट्रियाकी कमी अमरिकाने पूरी कर दी है; अब सूखी खालोंका सबसे बड़ा खरीदार अमरिका ही हो गया है। लड़ाईके पहले अमरिका हर दर सैकड़े ११ बड़ी खाल और सैकड़े ७७ छोटी खाल लेता था। पर आजकल तो हरदर क्रमशः सैकड़े ५१ और ८७ माल ले रहा है। इंगलैंडमें सूखी खालकी मांग धीरे धीरे बढ़ रही है। वहांके व्यापारी कह रहे हैं कि यदि सरकार इस बातका भरोसा

दिलाचे कि लड़ाई खतम होनेपर जर्मनों, आस्ट्रियनोंको बेरोक-टोक, खाल खरीदनेकी इजाजत न मिलेगी तो इंगलैंडमें भी मरे चमड़ोंको तैयार करनेके कारखाने खोले जायं तथा इस व्यापारको इन देशोंके चंगुलसे बचाया जाय।

नीचे दिये गये नक्शोंसे खाल और चमड़ेके व्यापारका पता लग जायगा।

सूखी खाल (बड़ी) की रफ्तनी (कीमत)

सन्		११-१२	१३-१४	१६-१७	१७-१८	१८-१९
जर्मनी कीमत हजार पा०		१४९४	२०४४			
हालैण्ड	,,	५४	१९७			
आस्ट्रिया हंगरी	,,	९१९	१२२९			
इटली	,,	४९२	५६३	१००८	७७७	४६९
स्पेन	,,	३०१	२९६	२४८		२१
अमरिका	,,	२२८	६९८	२५७२	३९१	१९५
युनाइटेड किङ्गडम	,,	२१२	१६६	७९५	८५७	९८६
बेलजियम	,,	२०	९७			
फ्रांस	,,	४८	७०	१७१	७	१९
अन्यदेश	,,	१९७	१७१	२०१	२५	५०
कुल कीमत हजार पाउण्ड		३९८५	५५३१	४९९५	२०५७	१७४३

सूखी खाल (छोटी) की रफ्तनी।

सन्	११-१२	१३-१४	१६-१७	१७-१८	१८-१९
अमरिका हजार पाउण्ड	१७६२	१६६८	४०२२	२५९२	३३९०
फ्रांस "	१४४	१२४	२१९	७७	३३९
युनाइटेड किङ्गडम "	१४०	१४९	१८१	३८७	३५७
हालैण्ड "	१०२	१५९			
जर्मनी "	६२	७७			
अन्यदेश "	९८	९३	८१	२२९	३९५
कुल कीमत हजार पाउण्ड	२३१०	२२६०	४६०३	३२९५	४४८१

तैयार चमड़े (बड़े) की रफ्तनी।

सन्	११-१२	१३-१४	१६-१७	१७-१८	१८-१९
युनाइटेड किङ्गडम हजार पा०	९६७	१०३१	२८७२	३२६१	४७२९
मिसर "	९	५			
अन्यदेश "	१२	२३	९	८	१८
कुल	९८८	१०५९	२८८१	३२६९	४७४५

तैयार चमड़े (छोटे) की रफ्तनी।

सन्	११-१२	१३-१४	१६-१७	१७-१८	१८-१९
युनाइटेड किङ्गडम हजार पा०	१६२९	१४०४	२२२९	६५५	१२०८
अमरिका "	१८९	२०३	८२६	२०४	२७०
जापान "	९५	८८	११५	२२	७२
अन्यदेश "	७८	६४	५१	२३	५१
कुल कीमत हजार पाउण्ड	२००१	१७५९	३२२१	९०४	१७०१

लड़ाईके जमानेकी रफ्तनीपर ध्यान देनेसे पता चलता है कि तैयार चमड़ों (बड़े) की रफ्तनी बहुत बढ़ी है, तथा सूखी खालों (बड़ी छोटी)की रफ्तनी घट गयी है। खालोंका बाहर जाना बन्द था, जितनी खालें होती थीं वे या तो देशी टैनरियोंके लिये खरीदी जाती थीं, या ब्रिटिश सरकार अपने लिये अथवा इटली और अमरिकाके लिये खरीद कर भेजा करती थी। इधर देशी कारखानोंमें बड़ी बड़ी खालें बहुत ज्यादे 'कमाई' जाती हैं; इन तैयार चमड़ोंका परिमाण बहुत ज्यादा—दुगुनेसे अधिक—बढ़ गया है। लड़ाईके पहले जितने तैयार चमड़े बाहर जाते थे उनसे दूनेसे अधिक चमड़े तो इस समय बाहर जाते ही थे, उनके अलावा भी बहुत से चमड़े कानपुर, बम्बई मद्रासकी टैनरियोंमें फौजी बूट इत्यादि सामानोंके बनानेमें खर्च होते थे। इस विभागमें भारतने ब्रिटिश सरकार तथा मित्र शक्तियोंको बड़ी सहायता पहुंचाई है; क्योंकि देशी चमड़ोंसे मित्र शक्तियोंकी सेनाके कमसे कम $\frac{1}{4}$ वें हिस्सेके लिये जूते बने थे। उत्तर भारतसे जो खालें विदेश—जर्मनी अमरिका जाया करती थीं, उनका अधिकांश लड़ाईके जमानेमें दक्षिण भारत जाया करता है। इस लड़ाईसे चमड़ोंके व्यवसायकी बड़ी उन्नति हुई है, भारतवर्षमें अब बढ़िया चमड़े बनने लगे हैं। हां, छोटी छोटी खालोंकी तरक्की नहीं हो सकी; क्योंकि चमड़ा कमानेकी 'छालों' के अभावके कारण केवल बड़ी खालें 'कमाई' जाती थीं, छोटी खालोंको छोड़ देना पड़ता था, क्योंकि ये युद्धमें विशेष उपयोगी नहीं थीं।

चमड़ेका देशी व्यवसाय—देशी छोटी छोटी खालें बहुत ही अच्छी होती है, उनसे ऊंचे दर्जेका चमड़ा तैयार हो सकता है। पर यहांकी बड़ी खालोंसे बढ़िया चमड़ा तैयार करना मुश्किल है। देशमें जो चमड़े खर्च होते हैं वे प्रायः बहुत ही मामूली दर्जेके होते हैं, तथा उनको तैयार करनेकी देहाती तरकीब भी ऐसी भद्दी है कि अच्छी खाल भी खराब हो जाती है। हर जगह हर देहातमें चमार रहते हैं जो चमड़ा भी तैयार (tan) करते हैं तथा जूते वगैरह भी बनाते हैं। देहातोंमें मसा-लोंसे भरे कच्चे चमड़े लटकते हुए प्रायः नज़र आते हैं। कहीं कहीं मोचियोंके यहां नादोंमें भी चूनेके पानीमें डूबे हुए चमड़े पाये जायंगे। इसी तरह बहुत सी बढ़िया खाल तैयार करते समय बरबाद कर दी जाती है, उनसे भद्दे चमड़े तैयार किये जाते हैं। अनुमान किया जाता है कि इस तरह अज्ञानसे करोड़ोंका सामान हर साल बरबाद कर दिया जाता है। यदि देशमें अच्छी टैनरी खुले, या देशी चमारोंको चमड़ा तैयार करनेकी शिक्षा दी जाय तो देशका बहुत सा धन बरबाद होनेसे बच जाय। हरसाल करोड़ोंकी लागतके देशी जूते, घोड़े बग्घीके साज, मशक, 'मोट' इत्यादि सामान देहातोंमें बनाये जाते हैं और व्यवहारमें आते हैं। यदि ये सब सामान अच्छे, टिकाऊ, मजबूत चमड़ोंके बनें तो इन चीजोंकी उम्र भी बढ़ जाय तथा किसानोंको उनसे अधिक लाभ उठानेका मौका मिले और उतनी कीमतकी सालाना बचत भी हो। पर पढ़े लिखे हिन्दुओंका ध्यान इधर नहीं जाता क्योंकि

चमड़ेका व्यवसाय निकृष्ट व्यवसाय समझा जाता है; चमारके स्पर्शसे लोग पतित हो जाते हैं।

हालतक देहातोंमें खाल खींचने, कमाने और जूता बनानेका काम चमार ही किया करता था। मरे पशुओंकी खाल उसीकी होती थी, और वह बदलेमें, सस्ती कीमत पर, देशी जूते बनाकर देहाती गृहस्तोंको दिया करता था। पर जबसे खालोंकी कीमत बढ़ी है तबसे चमारोंने खाल कमाना प्रायः बन्द कर दिया है; वे अब इन खालोंको चरसा गुदामवालोंके हाथ बेच डालते हैं; और फिर जूता बनानेके लिये तैयार चमड़ा खरीदते हैं! कभी कभी यह भी देखा जाता है कि मरे पशुओंकी खालोंको चमारके हाथसे बिकवा कर मालिक दाम ले लिया करते हैं।

इधर कुछ दिनोंसे अंगरेजी ढंगकी टैनरी और चमड़ेके कारखाने खुलने लगे हैं। कानपुरमें टैनरी और चमड़ेसे सामान बनानेका एक बहुत बड़ा अड्डा है। बम्बईमें भी नये ढंगके चमड़े बनते हैं और कानपुरसे घटिया नहीं होते। इसी तरह आगरा, दिल्ली इत्यादि कई शहरोंमें भी इन देशी तैयार चमड़ोंसे अंगरेजी ढंगके जूते, बूट, ट्रङ्क, इत्यादि बनानेके कई कारखाने हैं जहां मशीनों तथा हाथोंसे काम होता है। उसी तरह कानपुर, बम्बई, कलकत्ता, कटक, मद्रास, मैसूरमें भी चमड़ेके जूते, बूट, घोड़े बग्घीके साज, ट्रङ्क तथा अन्य सामान तैयार होते हैं। ये सब नये ढंगके कारखाने फौजी विभागकी कृपाके फल हैं। फौजी विभागमें हर साल इन कारखानोंसे लाखोंकी लागतके बूट, साज़ इत्यादि खरीदे

जाते हैं, और उसकी देखा देखी अन्य विभागवाले भी बहुत सा चमड़ेका माल इन कारखानोंसे लेने लगे हैं। फल यह हुआ है कि कानपुर, बम्बईमें चमड़ेके कई बड़े बड़े कारखाने चल निकले हैं। इधर स्वदेशी आन्दोलनने भी अंगरेजी जूता बनानेवाले देशी कारखानोंको बड़ी सहायता दी है, ये सस्ते 'स्वदेशी अंगरेजी' जूते लोगोंको खूब पसन्द आये हैं। ज्यों ज्यों इन सस्ते जूतोंका प्रचार बढ़ता गया त्यों त्यों देशी कारखानोंकी जड़ मजबूत होती गयी और दिल्ली, आगरे और कानपुरके जूतेका व्यापार बहुत दृढ़ हो गया। लड़ाईके कारण जबसे विलायती तैयार चमड़ों तथा जूतोंका आना कम हो गया है तबसे इन लोगोंने और भी उन्नति कर ली है। इधर सरकारने भी फौजी विभागके लिये लाखों जोड़े बूट, साज वगैरह कानपुर, बम्बईसे खरीदे हैं। दक्षिण भारतमें—विशेषकर मद्रासमें पहलेसे ही अच्छा चमड़ा तैयार होता आता था। अब इधर उन लोगोंने 'क्रोमलेदर' नामका बहुत बढ़िया चमड़ा बनाना शुरू किया है। यह हलका, चिकना, मुलायम, मजबूत और खूबसूरत होता है। इसके बने तल्ले और उपरले मुलायम तथा टिकाऊ होते हैं। पानीमें भींगनेपर भी यह मुलायम ही रहता है तथा बिगड़ता नहीं। इससे मद्रास प्रान्तमें चमड़ा तैयार करनेके साथ साथ चमड़ेके सामान—जूता, साज इत्यादिका भी रोजगार बढ़ रहा है। मैसूरका चमड़ेका कारखाना बहुत बढ़िया समझा जाता है।

लड़ाईके पहले भारतवर्षसे चमड़े—सूखे और तैयारकी

रफ्तनी बढ़ती जाती थी सही, पर देशमें चमड़ा तैयार करनेकी हुनरकी वैसी तरक्की नहीं होती थी। हरसाल लाखोंके विलायती जूते तो बाहरसे आते ही थे। (१९१३-१४ में प्रायः ८० लाख रु० के जूते आये)। इनके अतिरिक्त भी कोई २५-३० लाखका बढ़िया चमड़ेका सामान भारतवर्ष आया करता था। इसमें किताबकी जिल्द बांधनेके बढ़िया चमड़े, मशीन चलानेवाले बेल्टोंके चमड़े, तथा चमड़ेकी फैन्सी चीजें शामिल हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये सब सामान यकायक हिन्दुस्तानमें नहीं बनने लगेंगे, पर इसमें कोई शक नहीं कि प्रयत्न करनेसे यहां भी बढ़ियासे बढ़िया चमड़ा तैयार हो सकेगा। पर उसका पूरा उद्योग होना चाहिये। लड़ाईने चमड़ेके व्यापारको बहुत सहायता दी है सही; अभी सरकारने इलाहाबाद जैसी जगहमें 'टैनिङ्ग' सिखानेके लिये स्कूल खोला है। यदि यहां वाले अच्छी तरह टैनिंग करना न सीखेंगे तो सब दिन कच्चा माल ही भेजते रहेंगे। कई साल हुए विलायतकी 'सुसाइटी आफ आर्ट्स'ने किताबोंकी जिल्दके लिये चमड़ेकी जांच करनेको कमिटी बैठाई थी। उस कमिटीने कहा था कि हिन्दुस्तानसे जो छोटे छोटे चमड़े (तारवाड़की छालसे तैयार किये हुए) २' उनमें ज्यादा दिन तक ठहरनेकी शक्ति नहीं होती। कुछ दिनोंमें उनमें कीड़े लग जाते हैं। इसका फल यह हुआ कि देशी तैयार छोटे छोटे चमड़ोंकी रफ्तनी कम हो गयी। यही अज्ञानताका फल हैं। एक बात और है जिस ओर सरकारी विभागने लोगोंका ध्यान आकर्षित किया

है। यहां घरेलू पशुओंको दागनेकी चाल बहुत प्रचलित है। इससे चमड़े खराब हो जाते हैं और उनका मूल्य घट जाता है। इस दागनेकी प्रथासे शायद एक करोड़ सालका नुकसान होता है। जहां तक हो सके इसको रोकना चाहिये। १९१५ में ४३ बड़े बड़े चमड़ेके कारखाने और टैनरियां थीं जिनमें ६७८१ मजदूर काम करते थे। युक्तप्रान्त, मद्रास और बम्बईमें अधिकांश कारखाने हैं। 'म्युनिशन बोर्ड' ने मद्रास और बम्बई हातोंके बहुतसे छोटे छोटे कारखानोंका भी पता लगाया है। इस हिसाबसे १९१७ में कुल ३३२ कारखाने और २४५३३ काम करनेवाले थे। देशमें चमड़ेके कारखाने खुलें, इसका व्यवसाय बढ़े इसके लिये सरकारने सितम्बर १९१९ से सूखी खाल और चमड़ोंकी रफ्तनी पर सैकड़े १५ का महसूल लगा दिया है। हां, यदि ब्रिटिश साम्राज्यवाले अपने लिये खाल खरीदेंगे तो उन्हें सिर्फ सैकड़े पांचका महसूल देना पड़ेगा। इससे व्यवसायको बड़ा लाभ हुआ है; शीघ्र ही यहांके बने जूते विलायत जाने लगेंगे।

सब किस्मके चमड़ेके कारखाने और टैनरियां—जहांतक पता लगाया जा सकता था, उससे मालूम होता है कि सम्पूर्ण भारतवर्षमें ऐसे कारखानोंकी संख्या (१९१७ में) ३२४ और वहां काम करनेवालोंकी तादाद २८३३५ थी। अंगरेजी ढङ्गके सस्ते जूतोंकी चाल बढ़ रही है। कलकत्ता, आगरा दिल्ली; कानपुर, कटक, मैसूर इत्यादि जगहोंके बने अङ्गरेजी जूते देशमें व्यवहृत होते ही हैं। इसके अतिरिक्त उनकी रफ्तनी भी होती है। हर

साल कोई ६।८ लाख रुपयोंके जूते कलकत्ते, बम्बईके बन्दर-गाहोंसे बाहर जाया करते हैं। नेटाल, केपकोलोनी, मोरिशश, मिसर इत्यादि देशोंमें इनकी अच्छी बिक्री होती है। शहरोंमें तो आजकल देशी या अङ्गरेजी जूते बनानेवाले मोचियोंकी दूकानोंकी कतारके कतार नजर आती हैं। कलकत्तेमें चीनी मोची जूता बनानेका बहुत बड़ा रोजगार करते हैं। अङ्गरेजी जूतोंके अतिरिक्त देशमें तरह तरहके देशी जूते भी बनते हैं। ये रङ्ग बिरङ्गे, हलके मुलायम जूते बड़ी खूबसूरतीसे बनाये जाते हैं। उनपर कहीं कहीं बेल बूटे उखाड़े जाते हैं; कहीं झूठे सच्चे जरका काम किया जाता है। कभी कभी शौकीन मिजाज रईसोंके लिये जूतोंमें नग भी जड़े जाते हैं। अङ्गरेजी जूतोंकी चाल चल पड़नेपर भी देशी जूते बहुत बनते और खर्च होते हैं। जो लोग देशी 'सलीमशाही' या 'दिल्लीवाल' जूतोंको बराबर पहननेसे घृणा करते हैं उन्हें भी शादी-ब्याहके अवसरपर इन देशी जूतोंको पहनना पड़ता है। बिहारमें, कटक, पटना, सारन; युक्तप्रान्तमें, रामपुर, लखनऊ, आगरा, झांसी, सहारनपुर; पञ्जाबमें, रावलपिण्डी, डेरागाजी खां, होशियारपुर; पेशावर, कोहाट सीमाप्रान्तमें, मध्यप्रदेशमें चन्दा; राजपुतानामें जयपुर, बीकानेर; बम्बई हातेमें सूरत, अहमदाबाद, पूना, रत्नगिरी, हैदराबाद; दक्षिण भारतमें रायचूर, सालेम, त्रिचिनापल्ली, मद्रास, मैसूर इत्यादि स्थान देशी जूतोंके लिये प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त पेशावर, बन्नू, कोहाट, डेराजात और क्वेटामें तलवारोंके म्यान, पेटी वगैरह

बहुत ही बढ़िया नकाशीदार बनती है। जगह जगहपर तोशदान, बारूदकी थैली वगैरह बनाई जाती है। मद्रासमें चमड़ेकी बोतल, लाहौर, सिरसा, हिसारमें चमड़ेके हुक्के तथा नैपाल, होशियारपुर, बिलासपुरमें कलम, चुरट और कपड़ा रखनेके चमड़ेके बक्स बढ़िया बनते हैं। कांगड़ा, होशियारपुरके साबरके बने मोजे, पतलून, कोट पञ्जाब भरमें मशहूर हैं। अफगानिस्तानके पोस्तीन, बन्नूके गुर्गावी जूते सब जगह मशहूर हैं। कानपूरके जीन और साज तो हिन्दुस्तान भरमें बढ़िया समझे जाते हैं। इनके अलावा भी जयपुर, बीकानेर, काठियावाड़, इन्दौरमें रङ्ग बिरङ्गे खूबसूरत ज़ीन और साज तैयार होते हैं। सिन्ध-हैदराबादके नकाशीवाले साबरके चादर, गोरखपुरके साबरके 'टेबिल कवर' मशहूर हैं। अलवरमें जिल्द बांधनेके रङ्गीन चमड़े अच्छे बनते हैं। गुजरातमें बढ़ियासे बढ़िया गेंड़ेकी ढाल बनती थी, पर अब तो इसकी चाल जाती रही। कोई शौकीन साहब भले ही नुमाईशके लिये एकाध ढाल बनवा लेते हैं।

भविष्यमें हम लोगोंको देखना होगा कि देहातोंमें जो चमड़े बरबाद कर दिये जाते हैं या बढ़िया खालोंसे घटिया चमड़े बनाये जाते हैं वे सब रोक दिये जायं। ऐसा करनेसे कामलायक खालोंकी संख्या बढ़ जायगी। इन खालोंको कमानेके लिये नई नई टैनरियां खोलनी पड़ेंगी। इन टैनरियोंकी सफलताके लिए चमड़ा कमानेके छिल्कों, पत्तों, तथा अन्य द्रव्योंका परिमाण बढ़ाना पड़ेगा। छानबीन कर पता लगाना होगा कि किस

वृक्षकी छाल या पत्तीसे चमड़े कमाये जा सकते हैं तथा वे कहां बहुतायतसे पाये जाते हैं। मैहार-मध्यभारतमें जैसी प्रयोग-शाला खुली है वैसी शालायें कानपुर, कलकत्ता, बम्बई इत्यादि कारवारी शहरोंमें खोलनी पड़ेंगी। इन मसालोंका प्रश्न हल करना सबसे जरूरी है। तब फिर चमड़ेके कारखानोंमें काम करनेके लिए पढ़े लिखे लोगोंको जाना होगा; अपढ़ मूर्खों से यह व्यवसाय न चल सकेगी। लड़ाईके पहले जर्मनी हिन्दुस्तानी खालोंको तैयारकर बहुत सा सामान इङ्गलैंड भेजा करता था। अगर हमलोग टैनरियां बढ़ायें तो यह बाजार हाथमें चला आवे तथा देशमें जो विदेशी चमड़े और जूते वगैरह आते हैं वे सब भी बन्द हो जायं। फिर मसोपोटामिया और आफ्रिकामें भी बहुत सा सामान बेचा जा सकता है। इस समय इस व्यवसायको बढ़ानेकी बड़ी आवश्यकता है। यदि अभी चूक गये तो फिर वही पुरानी हालत आ जायगी जब कि हम लोग सिर्फ सूखी खालें ही भेजा करते थे। हालसे खालोंकी रफ्तनी पर जो टैक्स बैठाया गया है आशा है उसीकी आमदनीसे सरकार खाल 'कमाने'की वैज्ञानिक शिक्षाका प्रचार करेगी तथा इस व्यवसायकी भावी उन्नतिका पथ सुगम कर देगी।

हाथी दांत—देशी हाथी दांत बढ़िया नहीं होते तथा उतनेसे जरूरतें भी नहीं पूरी होतीं। हिन्दुस्तान बहुत पुराने जमानेसे दूर दूरसे हाथी दांतकी जातिकी हड्डी मंगाता आया है। राजा महाराजोंके सिलाखानोंमें बहुतसे पुराने हथियार ऐसे मिलेंगे

जिनकी मूठोंमें ऐसी हड्डियां लगी हुई हैं। ये सब बेशक हिन्दुस्तानकी चीजें नहीं हैं। मालूम होता है उन जमानोंमें भी सुदूर 'साइबीरिया', ग्रीनलैंडसे ये हड्डियां आया करती थीं। आजकल भी अफ्रिकासे बहुत सा हाथी दांत हरसाल आया करता है। आफ्रिकाके हाथी दांत घने दानेके होते हैं, उनपर काम अच्छा बनता है। पुराने 'मरे हुए' हाथी दांतोंकी अपेक्षा जीते, ताजे दांतोंपर काम बढ़िया बनता है।

हाथी दांतोंकी तराशीके लिये पांच इलाके मशहूर हैं—दिल्ली, मुर्शिदाबाद, मैसूर, त्रावंकोर और मौलमीन। दिल्ली, मुर्शिदाबादमें हाथीदांत तराशकर बढ़िया बढ़िया सन्दूकचे, अंगुस्तानोंके बक्स, छोटे छोटे खिलौने (जैसे हाथी, ऊंट, घोड़े, गाड़ी इत्यादि), शतरञ्ज गंजीफेकी गोटियां बनायी जाती हैं और विलायत तक भेजी जाती हैं। पर इन सबसे भी कहीं ऊंचे दरजेका काम मैसूर, त्रावङ्कोरमें होता है। बर्मा मौलमीनमें छुरे छुरियां, दाव वगैरहकी मूठें, शतरञ्ज गञ्जीफेकी गोटियां, कुर्सी, बुद्धदेवकी मूर्त्तियां इत्यादि चीजें तराशी जाती हैं। हाथीदांत तराशनेका रोजगार तो पुश्तैनी है ही, पर इसमें कोई खास जातिके कारीगर नहीं है। बढ़ई, सुनार, हिन्दु मुसलमान, सब इसका रोजगार करते हैं।

हाथीदांत तराशनेके अलावा खरादनेका भी रोजगार कई जगह होता है तथा चूड़ी, बक्स, खिलौने इत्यादि खरादकर भी बनाये जाते हैं, पर यह कुछ कम हुनरका काम है। आगरा,

अलवर, बीकानेर जोधपुर, अमृतसर, लुधियाना, पटियाला, त्रिपुरा, गोदावरी इत्यादि स्थान इसके लिये प्रसिद्ध हैं। पञ्जाबमें सिक्ख लोग हाथीदांतके कंघे बहुत दाम देकर खरीदते हैं। अमृतसरमें बढ़िया कंघे बनते हैं; राजा महाराजा हजारोंकी लागतसे हाथी दांतकी कुर्सियां, हौदे बनवाया करते हैं।

लकड़ियोंपर हाथी दांतकी पच्चीकारीका काम भी बहुत जगह होता है, पर मैसूर, होशियारपुर और मुङ्गेर प्रसिद्ध हैं। सस्ती चीजोंपर हाथी दांतकी जगह मामूली हड्डियां लगाई जाती हैं। बम्बई, बड़ौदा, अहमदाबाद, सूरतमें सन्दलके सन्दूकचों पर हाथीदांतकी बहुत ही अच्छी पच्चीकारी की जाती है, ये 'सन्दली' बक्स विदेशी बाजारोंमें बड़ी चाहसे खरीदे जाते हैं। त्रिपुरा, ढाका, भरतपुरमें हाथीदांतसे बहुत बारीक सूत तराशकर निकाले जाते हैं, इन बारीक सूतोंसे पंखे, चटाई बुनी जाती हैं। हाथीदांतोंपर छोटी छोटी तस्वीर बनानेकी कला उत्तर भारतमें कई जगह प्रचलित है।

सींगकी चीजें—भैंसेके सींगकी मूंठ, कंघे, हार, चूड़ियां, छड़ी इत्यादि बहुत सी चीजें कटक, मुंगेर, खुलना, सिरामपुर, हुगलीमें बनाई जाती हैं। राजकोट, काठियावाड़, बड़ौदा, मैसूर, मदुरा, रत्नगिरि, सावन्तवाड़ी इत्यादि स्थानोंमें भी सींगके खिलौने, कंघे, बक्स, मूठ वगैरह तरह तरहके बढ़िया सामान बनते हैं।

पंख, रोयें इत्यादि—कुछ दिन पहले लाखोंकी लागतका मोरपंख विदेश भेजा जाता था। पर अब पङ्खके लिए सुन्दर

पक्षियोंके मारनेकी मनाही हो गयी है, इससे इसकी तिजारत कम होती जाती है। बनारस, नैपाल, झांसी, औरङ्गाबाद, मैसूर इत्यादि स्थानोंमें मोरपङ्खके पंखे, मोरछल वगैरह बनते हैं। कुछ दिनोंसे ब्रश, झाड़नके लिये रोयें—सूअरके बाल—इत्यादिकी तिजारत बढ़ रही है। देशमें भी अच्छे अच्छे ब्रश, झाड़न बनने लगे हैं।

सींग, रोयें, सूअरके बालकी रफ्तनी।

सन्		११-१२	१२-१३	१४-१५	१६-१७
ब्रश, झाड़नकी लिये द्रव्य हजार	रु०	१४९२	१४०५	१५६०	२००६
सूअरके बाल	,,	१२८७	१६५८	१२८५	१२६१
सींग इत्यादि	,,	२१६२	२४६२	८६७	७८७

मूंग—मूंगे इटलीसे आते हैं और बङ्गालमें सबसे अधिक खर्च होते हैं। धनी मानी सज्जन अब भी मूंगोंके हार बनाया करते हैं।

संख, सीपी इत्यादि—दक्षिणभारत तथा बर्मामें सङ्ख,सीप पाये जाते हैं तथा आफ्रिकासे भी हजारोंके सङ्ख भारतवर्षमें आया करते हैं। बम्बई और बङ्गालमें ही इनकी अधिक आमदनी होती है। सङ्खकी चूड़ी, अंगूठी इत्यादि चीजें बनती हैं, ढाकेमें इसका बहुत बड़ा रोजगार है। सीपके बटन, अंगूठी बनती है तथा पत्थरको बनी चीजोंपर सीपकी पच्चीकारी की जाती है। मेहशी (चम्पारन, बिहार)में सीपके बटन बनानेका अच्छा कारखाना है।

छठा अध्याय।

रेशेदारद्रव्य और व्यवसाय।

रेशेदारद्रव्य—रूई—रूई (कपास) की पैदावार और व्यापार—रूई ओटना-सूत कातने और कपड़ा बुननेकी देशी मिलें—देशी मिलोंमें बने कपड़े और सूत—देशी सूत—देशी सूतकी रफ्तनी—देशी मिलोंके कपड़े—देशी कपड़ोंकी रफ्तनी—विदेशी कपड़ोंकी आमदनी—गंजी मोजे इत्यादि—हाथके करघे—देशी करघोंके बने कपड़े—जूट—जूटकी खेती और मिलोंका प्रचार—कहां कितना जूट जाता है?—जूटका व्यवसाय और युद्ध—जूटका भविष्य—कागज—देशी कागजकी मिलें—विदेशी कागजकी आमदनी—कागजके व्यवसायका भविष्य—रेशम—रेशमका इतिहास—रेशमी मालकी रफ्तनी—विदेशी रेशमकी आमदनी—रेशमका व्यवसाय (वर्त्तमान और भविष्य)—भारतके बढ़िया रेशमीमाल—ऊन और पशम—ऊनका व्यवसाय—ऊनी मालकी आमदनी, रफ्तनी—कसीदाकाढ़ी, जरदोजी, गुलकारी इत्यादि।

रेशेदार द्रव्य—यहां हर तरहके रेशेदार द्रव्योंसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यवसायोंका उल्लेख किया जायगा। इसमें रेशेदार

घास, पात, दरख्तोंके छिलके, रुई, रेशम, ऊन, पशम इत्यादि सब शामिल हैं। घास या छिलकोंकी बनी टोकरियोंसे लेकर महीनसे महीन, मकड़ोंके जालेकी तरह पतले कपड़ोंके व्यवसाय-का वर्णन होगा। भारतवर्षमें यों तो तरहके तरहके वनस्पति-जात रेशे और छिलके पाये जाते हैं, पर उनमें रुई और जूट सबसे अधिक महत्वके हैं। उनके बाद नारियलके छिलके, सन, 'सीसल' (agave) के पत्ते, सावई घास इत्यादिका नम्बर है। जीव जन्तुओंसे जो रेशे मिलते हैं उनमें रेशम, पशम, ऊन और रोयें उल्लेख योग्य हैं।

पृथ्वीपर भोजन सामग्रियोंके बाद रेशोंकी बुनावटसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यवसायोंका ही नम्बर है। भोजनके बाद ही आच्छादनका दर्जा है। देश, काल, पात्र, हवा पानी, सर्दी गर्मी के ख्यालसे पृथ्वीपर नाना प्रकारके आच्छादनके द्रव्य बनते हैं, इनकी गिनती करना मनुष्यशक्तिके बाहर है। रोजगारोंमें आच्छादनका रोजगार बहुत पुराना है। जातियोंकी सभ्यता, सुख दुःखका पता इसीसे लगता है। यद्यपि यह गर्म मुल्क है तथा यहांके लोग गरीब हैं, पर तो भी सालमें आच्छादन तथा बुनावटसे सम्बन्ध रखनेवाले (Textiles) व्यवसायोंके मालकी आमदनी-रफ्तनीका मूल्य, सब मिलाकर कोई १७५ करोड़ (१९१२-१३) रुपयोंके लगभग होगा। इसके अलावा करोड़ोंकी लागतका माल देशमें ही उपजता है और खर्च होता है जिसका पूरा पूरा हिसाब मिलना कठिन है।

रूई—आज जिस योरप और अमरिकामें रूईके व्यवसायकी इतनी उन्नति है, जहां अरबोंकी लागतका माल हरसाल बनता और खर्च होता है, उसी अमरिका तथा योरपमें, सुनकर आश्चर्य होगा,— प्रायः चार सौ वर्ष पहले रूईका कुछ भी रोजगार नहीं था। कुछ ही सौ वर्ष हुए होंगे कि वहांके निवासियोंको रूईकी कोई जानकारी तक नहीं थी। पर अब वही देश है जहां अरबोंका माल तैयार होता है और खर्च होता है। पर हिन्दुस्तानमें सूत कातने और कपड़ा बुननेकी कला बहुत ही पुरानी है। हजारों वर्ष पहले भी भारतवासी बढ़ियासे बढ़िया कपड़ा तैयार करते थे और विदेश भेजते थे। यहांके वस्त्रोंको खरीदकर अन्य देशवाले अपना शरीर ढकते थे और शौक पूरा करते थे, अपने अपने समाजमें बड़ाई पाते थे। ईसवी सनके आरम्भमें, इतिहासवालोंने ऐसा लिखा है कि अरब लोग यहांसे सादे रंगीन सूतीमाल खरीदकर लाल समुद्रकी राह योरप पहुंचाते थे। मध्ययुगमें जब पोर्चुगीज, अंगरेज, फरासीसी, डच, वलन्देज़ कम्पनियां सीधे भारतवर्षसे व्यापार करनेके लिये खुलीं उस समय भी करोड़ोंकी लागतका सूती माल—सादा और रंगीन—योरप जाता रहा। धीरे धीरे १७ वीं सदीमें इङ्गलैंडमें सूती कपड़ा तैयार होना शुरू हुआ। जिस मैन्चेस्टर, लङ्काशायरसे हरसाल करोड़ोंका सूतीमाल देश-विदेश जाया करता है वहीं १७ वीं सदीके पहले न कोई बड़ी बस्ती थी, और न कोई सूतका कारखाना ही था। धीरे धीरे वैज्ञानिकोंने नये नये आविष्कार

किये, इंगलैंडमें भाफसे मशीनें चलने लगीं, कलोंमें सूत काते और कपड़े बुने जाने लगे, तरह तरहकी नई नई मशीनें निकाली गयीं। उधर १८ वीं सदीमें अमरिकामें रूईकी खेती भी होने लगी, तथा हिन्दुस्तानसे गये सादे और रंगीन सूती मालपर रुकावटें डाली जाने लगीं, उनपर विलायत पहुंचने पर भारी टैक्स बैठाया जाने लगा। धीरे धीरे फल यह हुआ कि कुछ दिनोंमें दुनियामें रूईके व्यवसाय की काया ही पलट गयी। जहां भारतसे करोड़ोंका सूती माल बाहर जाया करता था वहां अब हर साल बाहरसे माल आने लगा। दुनियाके उद्योग-धन्धोंके इतिहासमें ऐसी कायापलटका अद्भुत उदाहरण खोजनेपर भी कहीं न मिलेगा।

सिर्फ कलकत्तेसे १८०१ में ६ हजारसे ऊपर, १८०२ में १४ हजारसे ऊपर और १८०३ में १३ हजारसे ऊपर कपड़ेकी गांठें विलायत गयीं। पर १८२६ के बादसे इस रफ्तनीकी संख्या कभी एक हजार गांठतक भी नहीं पहुंच सकी। उसी तरह कलकत्तेसे १८०१ में १३ हजार गाठें अमरिका गयी थीं, पर १८२९ होते होते यह रफ्तनी घटकर केवल तीन सौ गाठोंपर जा अटकी! डेन-मार्कने १८०० में कोई १४०० गांठे लीं थीं, पर १८२० के बादसे १५० से अधिक कभी नहीं खरीदीं। पोर्चुगालने १७९९ में कोई दस हजार गांठे ली थीं, पर १८२५ के बादसे कभी एक हजार भी नहीं खरीदीं। कलकत्ते की जो हालत थी वही दूसरे बन्दर-गाहोंकी भी दशा थी।

अब इधर विदेशी सूती मालकी आमदनीका इतिहास सुनिये। १६५८ में बाहरसे आये सूती मालका दाम कोई ५० लाख पाउण्ड था। १८७७ में बढ़कर यह १६० लाख पाउण्ड तक पहुंच गया। १६०७-८ में वही माल कोई ३२५ लाख पाउण्ड तथा १६१३-१४ में कोई ४४५ लाख पाउण्डकी लागतका खरीदा गया।

भारतके सूतके कपड़ोंके व्यवसायका पुनर्जन्म, नये रूप रङ्गमें, १८५१ ई० में हुआ। उसी साल बम्बईकी सबसे पहली सूतकी मिल खुली। तबसे विलायती ढङ्गपर, कलोंके करघोंमें, भाफ या बिजलीके सहारे चलनेवाली मशीनोंसे सूत कातने, कपड़ा बुननेका व्यवसाय बढ़ रहा है। इन ६०।७० वर्षोंमें काटन मिलोंने असाधारण उन्नति की है। १६१५।१६ में इन मिलोंमें कोई २१ करोड़की नकद पूंजी लगी हुई थी; कलोंसे चलनेवाले कोई एक लाखके ऊपर करघे काम कर रहे थे, लगभग ६७ लाख तकुओंसे सूत काता जाता था; और प्रायः तीन लाख कर्मचारी इस व्यवसायमें लगे हुए थे। इन्हीं मिलोंमें ७२। करोड़ पाउण्ड वजनका सूत काता गया था और ३५। करोड़ पाउण्ड वजनका कपड़ा बुना गया था।

मशीनोंके बने देशी, विलायती कपड़ोंने देशके पुराने, हाथसे चलनेवाले, करघोंकी कमर तोड़ दी है। अब भी देशमें लाखों हाथके करघे हैं सही, पर उनसे जुलाहोंको पूरा लाभ नहीं होता। वे लोग किसी तरह दुःखसे जिन्दगीके दिन पूरे कर

रहे हैं। हां, इधर कुछ दिनोंसे करघोंकी उन्नतिकी चर्चा हो रही है।

रूई (कपास) की पैदावार—कपासके पौधे बहुत किस्मके होते हैं। पर साधारणतः इसे दो प्रधान जातियोंमें बांट सकते हैं एक जातिकी रूईसे मोटे सूत तैयार होते हैं, और दूसरी जातिकी रूई (लम्बे धागेवाली, Long stapled)से महीनसे महीन सूत तैयार होते हैं। किसी जमानेमें हिन्दुस्तान यहींसे उपजने वाली रूईसे महीनसे महीन सूत तैयार करता था, विश्व-विख्यात ढाकेकी मलमल बुनता था; आध सेर रूईसे २५० मील लम्बा सूत कात सकता था। पर अब वहीं कपासकी खेती ऐसी गिर गयी है, कपासके पेड़की जाति ऐसी हीन हो गयी है कि ४० नम्बरसे महीन सूतके लिये बाहरवालोंका मुंह ताकना पड़ता है। तीस चालीस वर्ष पहले तक यहां लम्बे धागेकी रूई बोई जाती थी, पर आजकल उसका प्रायः अभाव सा है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस जातिकी रूई (छोटे धागेकी रूई) से देशी चरखोंपर, देशी रीतिसे महीनसे महीन सूत तैयार होगा; जिस रूईसे देशी चरखों पर ४०० नम्बर तकका महीन सूत काता जा सकता उसीसे कलोंमें केवल मोटा सूत ही निकलेगा, महीन नहीं। यह मानी हुई बात है कि देशी चरखोंपर बड़ी बारीकीसे काम हो सकता है, तथा कलवालोंको अब भी उनके मुकाबलेमें उन्नति करनेकी जरूरत है। पर यह भी सच है कि आजकल यहां कपासकी खेती बहुत गिर गयी है, देशी बिनौलेसे

बढ़िया माल पैदा करनेके लिये बड़ी सावधानी और उन्नतिकी जरूरत है।

इधर कृषि विभागवालोंने उन्नतिकी बड़ी चेष्टा की है। उन लोगोंने जैसा कि पिछले एक अध्यायमें लिखा जा चुका है यह निश्चय कर लिया है कि अन्धाधुंध विदेशी कपासकी खेती शुरू कर देनेसे ही भारतमें कपासकी उन्नति नहीं हो जायगी। देशी कपासके अच्छे बीज तैयार करने होंगे, उन्हें मिलावटसे बचाना होगा, तथा कृषकोंके पास अच्छा, पुष्ट बीज पहुंचाना पड़ेगा। खेतीकी प्रथामें कुछ उन्नति करनी पड़ेगी तथा ऐसा तैयार माल बाजार पहुंचाना होगा जो दागी न हो, साफ हो तथा मिलावटसे बचा हुआ हो। तभी कपासकी उन्नति होगी। हां, जहां सम्भव है वहां धीरे धीरे विदेशी कपासका भी प्रचार करना चाहिये कि जिसमें देशमें लम्बे धागेकी कपास उपजे, पर उसमें देश, काल, पात्रका ज्ञान रखते हुए सावधानीसे चलना पड़ेगा। अबतक इजिपशियन, अपलैंड अमेरिकन, अपलैंड जौर्जियन तथा कम्बोडियन जाति (Egyptian, Upland American, Upland Georgian, and Combodian varieties.) की विदेशी कपास बोयी गयी है तथा उनमें सफलता भी हुई है। पर लोगोंका यह कहना कि केवल लम्बे धागेकी कपासका ही प्रचार करना चाहिये, बड़ी भूल है। यदि यहां मोटे सूतकी कपास अच्छी तरह उपजती है, उससे पूरा लाभ होता है तो उसकी खेती छोड़ देनेका कोई कारण नहीं है। उसीको विदेशमें बेचकर

लम्बे धागेकी रूई खरीदेंगे इसमें कोई हानि नहीं है, यह तो लाभकी बात है। उचित है कि देशी कपासकी खूब तरक्की की जाय जिसमें लम्बे सूत निकलने लगें तथा जहां सम्भव हो विदेशी कपास भी बोयी जाय।

ब्रिटिश भारतमें कपासकी उपज।

सन्	१९०४-५	१९०७-८	१९१२-१३	१९१६-१७
एकड़ भूमिमें बोई गई	१३०१७०९२	१३९०९२६९	१४१३८४९७	२१२१२०००
उपज रूईकी गांठ	३९४३६०२	३७८२४०१	४५६३०००	४२७३०००

(४०० पाउण्ड वजनकी एक गांठ)

भारत वर्षमें जो कपास उपजती है उसका प्रायः आधेसे एक तिहाई तक बाहर भेज दिया जाता है। शेषका देशमें व्यवहार होता है। कुछ अंश तो योंही सीधे काममें लाया जाता है और कुछ अंश सूत कातने तथा कपड़ा बुननेके काममें आता है। सूत और कपड़ेका भी एक अंश बाहर जाता है जिसका विवरण आगे चल कर दिया जायगा।

कच्ची रूईकी रफ्तनी

सन्	१९०४-५	१९०७-८	१९१३-१४	१९१७-२८
कच्ची रूई (वजन) ह०	५६५७७४३	८५६२०१४	१०६२६२१२	७३०८०००
दाम पाउण्ड	११६२३१२५	१७१३५०१३	२७३६१६५५	२८४३८२६६

कौन देश भारतसे कितनी कच्ची रूई खरीदता है।

सन्		१९११-१२	१९१३-१४	१९१६-१७	१९१७-१८
जापान	हजार पाउण्ड	९९०६	१२९३४	१७३२२	२०५१२
जर्मनी	,,	२२२४	४००२		
इटली	,,	१८७०	२१२१	२४९०	२२६८
बेलजियम	,,	२००६	२८२१		
आष्ट्रिया-हंगरी	,,	१३०७	१९४९		
युनाइटेड किंगडम	,,	१२०६	९५७	१७९२	३९६६
फ्रांस	,,	८१२	११५९	६४८	६२१
स्पेन	,,	३७६	४४९	७००	५३
हांगकांग	,,	१२३	२६५	१४६	११९
चीन	,,	१२९	२२६	७२३	३३०
अन्य	,,	१५५	२८९	२४७	५६९
कुल जोड़	,,	१९६८४	२७३६२	२४०६८	२८४३८

इसके साथ साथ यह भी मिलान कीजिये कि भारत वर्ष लम्बे धागेकी कितनी कच्ची रूई बाहरसे मंगाता है।

कच्ची रूईकी आमदनी।

सन्		१९११-१२	१९१२-१३
युनाइटेड किंगडम	हजार पा०	९०४	६७०
अमरिका संयुक्त राज्य	,,	२६७	६४७
जर्मनी	,,	५६	६२
मिसर	,,	२७	३४
अन्य देश	,,	६७	७०
कुल जोड़	,,	१३९१	१४८३

रूईका बाजार संसार व्यापी है, सर्वत्र इसकी मांग है। अब तक अमेरिका, मिसर और भारतवर्ष रूई उत्पन्न करनेवाले देशोंमें सर्व प्रधान थे। पर इधर रूस और चीनने भी कपासकी खेती शुरू कर दी है। १९१३ में रूसमें कपासकी बड़ी अच्छी फसल थी, वहांकी रूई भी बढ़िया है। चीनमें भी रूईकी खेती बड़ी तेजीसे बढ़ती जा रही है; १९१३ में कोई ५०० पाउण्ड वजनवाली दस लाख गांठोंकी फसल कूती गई थी। यदि रूस और चीनको फसल बढ़ती गयी तो भारतकी रूईके दो बाजार, जापान और जर्मनी, बन्द हो जायं तो ताज्जुब नहीं। आज कल जापान हो कच्ची रूईका सबसे बड़ा खरीदार है। अगर चीन रूई पैदा करने लगें और अपनी जरूरतसे अधिक माल उपजावें तो जापानको वहांका माल सस्ता पड़ेगा।

रूई ओंटना—पौधोंसे कपास आती है, उसको काममें लानेके पहले ओंटना पड़ता है। ओंटनेसे रेशे (रूई) अलग और बीज (बिनौले) अलग हो जाते हैं। पहले किसान हाथसे चलाये जानेवाली चर्खियोंसे कपास ओंटा करते थे। पर अब तो रूई उपजानेवाले इलाकोंमें कपास ओंटनेके बड़े बड़े कारखाने खोले गये हैं, वहां भाफकी शक्तिसे चलाये जानेवाली मशीनोंमें कपास ओंटी जाती हैं तथा उनकी गांठ तैयार की जाती हैं। इनसे काम तो अधिक अवश्य होता है, पर हानि भी होती है। एक तो रूईके रेशे टूट जाते हैं, दूसरे कारखानोंमें असावधानीके कारण अच्छे खराब सब तरहके बिनौले एक साथ मिल जाया करते हैं

तथा मशीनके आघातसे विनौलोंकी उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती है, वे झुलससे जाते हैं और फिर वही बीज किसान अपने खेतोंमें बोते हैं। इससे कपास की फसल खराब होती जाती है। मशीनके विनौले भी कपासकी अवनतिका एक कारण है।

रूई ओटने और गांठ तैयार करनेके पेंच।

सन्	१९११	१९१२	१९१५	१९१७
कारखाने	१२७२	१६२८	१६५५	१७७४
काम करनेवाले	१०७०९४	११४८८१	१२९२७०	१२१०५७

यह संख्या सम्पूर्ण भारत वर्ष (ब्रिटिश भारत तथा देशी रजवाड़ों) की है।

सूत कातने और कपड़ा बुननेकी देशी मिलें— जैसा कि ऊपर कह आये हैं, रूईके व्यवसायका पुनर्जन्म १८५३ के लगभग हुआ। उस साल बम्बईका पहला कारखाना खुला था, पर इसके पहले १८३८ में कलकत्तेके पास घुसड़ीमें, रूईकी मिल खुल चुकी थी। परन्तु यथार्थमें आधुनिक रूपमें रूईका व्यवसाय १८५३ से ही शुरू होता है। इसमें बम्बई हाता बहुत चढ़ा बढ़ा है। वहीं सबसे अधिक पुतलीघर हैं। १९१८ में कुल भारत वर्षमें २६६ 'काटन मिलें' थीं, उनमेंसे १७३ मिलें तो सिर्फ बम्बई हातेमें थी। इस व्यवसायमें एक बात और भी महत्वकी है। इसमें अधिकांश कम्पनियां हिन्दुस्तानियोंकी हैं तथा पूंजी भी विशेषतः भारतवर्षकी है।

नीचे लिखे कोष्ठकसे कपासके व्यवसायका और भी पूरा परिचय मिलेगा :—

काटन मिलोंकी उन्नति ।

पांच वर्षों की औसत	मिलोंकी संख्या जो काम कर रही थीं	पूंजी (जहांतक मालूम था) लाख रु०	काम करनेवाले (हजार)	करघे (हजार)	सूत कातनेकी तकुये (हजार)
१८७९-८० से १८८३-४ तक	६२	६५७'६	५१'०	१४'५	१६१०'६
१८८४-८५ से १८८८-९ ,,	९३	८८७'९	९५'७	१८'२	२२९६'८
१८८९-९० से १८९३-४ ,,	१२७	११६१'७	११६'१	२५'३	३२६३'८
१८९४-९५ से १८९८-९ ,,	१५६	१४१९'५	१५०'०	३६'६	४०४६'१
१८९९-०० से १९०३-४ ,,	१९५	१६८७'९	१७१'६	४२'०	५०००'९
१९०४-०५ से १९०८-९ ,,	२१८	१८७८'७	२१६'४	६०'०	५५४९'१
१९०९-१० से १९१३-४ ,,	२५७	२२४३'३	२४३'८	८८'१	६४०६'४
१९१५-१६	२६७	२२९१'५	२९२'२	१०८'४	६६९५'७
१९१७-१८	२९९	२४६५'०	२८४'०	११४'८	६६१४'२

मिलोंमें से १७३ बम्बई हातेमें, १४ बंगालमें, १९ युक्तप्रान्तमें, १३ मद्रासमें, ९ मध्यप्रदेश बरारमें, ४ पंजाबमें, ४ फ्रेंच भारतमें और शेष देशी राज्योंमें हैं ।

ऊपरके अंकोंसे यह भी स्पष्ट होगा कि पूंजी बढ़कर कोई साढ़े तीनगुणासे भी अधिक हो गई हैं, पर काम करनेवालोंकी संख्या कोई ५॥ गुना अधिक हुई है, करघोंकी संख्या उससे भी अधिक (प्रायः आठ गुना) तथा तकुओंकी संख्या प्रायः सवा चार गुना बढ़ गयी है। इस पूंजीके अलावा मिलवालोंने कर्ज लेकर भी कारखाना बढ़ाया है जिसका ऊपर हिसाब नहीं दिया गया है, तथा कुछ मालिकोंने अपनी पूंजीका ब्यौरा नहीं दिखाया है।

देशी मिलोंमें बने कपड़े और सूत—ऊपर लिख चुके हैं कि देशी मिलोंमें कपड़े बुननेके लिये करघे और सूत कातनेके तकुए दोनों मौजूद हैं। देशी तथा विदेशी रूईसे सूत कातकर कपड़े बनाये जाते हैं। देशी मिलोंमें दोनों चीजें, सूत और कपड़े बनती हैं। सूत (Yarn) का कुछ अंश तो मिलोंमें ही कपड़े बुननेमें खर्च हो जाता है और कुछ अंश देशी जुलाहे करघोंमें कपड़ा बुननेके लिये खरीदते हैं, कुछ अंश योंही डोरी, दरी, वगैरह बनानेमें खर्च होता है। इनके अतिरिक्त एक बहुत बड़ा हिस्सा विदेश भेजा जाता है।

देशी सूत—सूत कई प्रकारके होते हैं; मोटे, मामूली और पतले। नं० १ से १५ तकके सूत मोटे, नं० २६-४० तकके सूत मामूली, और नं० ४०से ऊपरके सूत पतले (महीन) कहलाते हैं। देशी रूईसे महीन सूत नहीं बनते इस कारण देशी मिलोंमें मोटे सूत ही अधिकांश तैयार होते हैं। देशी मिलोंके कपड़े भी इसी कारण मोटे होते हैं। अब इधर बम्बईकी मिलोंमें अम-

रिका और मिसरकी रूईसे महीन सूत कातनेका उद्योग किया जा रहा है, पर तोभी देशी मिलोंमें तैयार हुए सूतमें मोटे सूतकी ही अधिकता रहती है। भारतवर्ष अपनी जरूरतोंके लिये काफी मोटा सूत कात लेता है; इतनाही नहीं, बहुत सा सूत बाहर भी भेजता है। विदेशसे जो सूत यहां आता है उसमें बहुत कम मोटा सूत रहता है, उसका विशेष भाग महीन सूतोंका ही होता है। क्योंकि देशी रूईसे महीन सूत नहीं बन सकते हैं।

नीचे लिखे कोष्ठकसे देशमें बने तथा बाहरसे आये सूतका मिलान होगा।

	सन् १९१४—१५ ई०		सन् १९१८—१९ ई०	
	देशमें बना	बाहरसे आया	देशमें बना	बाहरसे आया
	मिलियन पा०	मिलियन पाउण्ड	मिलियन पाउण्ड	मिलियन पाउण्ड
नं० १-२५ तक	५९१	१	५६८	८
नं० २६-४० ,,	५८	२९	७२	१९
नं० ४० से ऊपर	२	७	४·८	६·७
बे-तफसील	१	६	१	४

इस विवरणसे पता चलता है कि देशी मिलोंमें जितने सूत काते जाते हैं उनमें सैकड़े ९१ से ऊपर तो मोटा सूत रहता है मामूली सूत सैकड़े ६ और महीन सूत सैकड़े ५ से भी कम रहता है। उसी तरह बाहरसे जो सूत आता है उसमें केवल २५ सैकड़े मोटा, ६५ सैकड़े मामूली और १७·५ महीन और १५ सैकड़े बेतफसील (Unspecified) का सूत रहता है।

१९०८-९ तक देशी मिलोंमें मामूली सूतका कातना बराबर

बढ़ता गया, उस साल कुल ५८ मिलियन पाउण्ड मामूली सूत देशी मिलोंमें काता गया। पर तबसे वैसी क्रमागत उन्नति नहीं हो रही है। आजकल यह सूत कुल ५० मिलियन और ६१ मिलियन पाउण्डके बीचमें घटता बढ़ता रहता है। बम्बईकी मिलोंमें मिसरकी रूईसे महीन सूत तैयार होने लगा है। १९१५-१६में कोई १८ मिलियन पाउण्ड महीन सूत काता गया। देशी मिलोंको उचित है कि महीन सूत कातनेका प्रयत्न करें, क्योंकि इसका अभाव उनकी उन्नतिका बाधक है, देशी धोतियां महीन नहीं होती इस कारण लोग उन्हें वैसी चाहसे नहीं खरीदते जैसी विलायती धोतियोंको। यदि देशमें अच्छी कपास अधिक परिमाणमें उपजने लगे, तथा देशी मिलोंमें महीन सूत तैयार होने लगे तो महीन कपड़ेका बनना मामूली बात हो जायगी। जब तक यह नहीं होता तबतक देशी धोतियोंका सर्वप्रिय बनना कठिन है।

बम्बईकी मिलोंमें ही सबसे अधिक सूत-मोटा और महीन काता जाता है। सैकड़े ७५ सूत बम्बईमें, मद्रासमें ७, युक्तप्रान्तमें ६, तथा बंगालमें ५ और मध्यप्रदेशमें ५। सैकड़े सूत तैयार होता है। मध्यप्रदेश, युक्तप्रान्त, बंगाल, पञ्जाबमें केवल मोटे सूत ही काते जाते हैं; मामूली सूत बम्बई और मद्रासमें, तथा महीन सूत सिर्फ बम्बईमें तैयार होता है।

भारतकी मिलोंमें काते हुए सूतका विवरण।

सन्	१९११—१२	१९१३—१४	१९१५—१६
नं० १-१० तक पा० (वजन)	११६१७९४९४	१३०७८३७४८	१४५३०६७९७
नं० ११-२० ,,	३३६३३०७९०	३६११९०८२१४	३८६१८७६०३
नं० २१-३० ,,	१४९३३२२४७	१६६९९४६०७	१६९७४३६१६
नं० ३१-४० ,,	२०२८०९५४	१९७१२१९८	१८५७२९९४
नं० ४० से ऊपर ,,	२११९९४६८	२६९८६८६	१९६२९८७
वांटस इ० ,,	७०४२४६	६७८५९८	६५०५६२
कुल जोड़ ,,	६२५०३०१९९	६८२७७६८५१	७२२४२४५७९

१९१६-१७ में कुल ६८१,१०७,००० पाउण्ड (वजन) तथा १९१७-१८ में ६६०,५७६,००० पाउण्ड (वजन) सूत देशी मिलोंमें काता गया। अब इसके साथ बाहरसे आये हुए सूतका मिलान कीजिये।

बाहरसे आया हुआ सूत

सन्	१९११-१२	१९१३-१४	१९१५-१६
नं० १ से २५ तक पा० (वजन)	१५४९४४८	२१५०२१३	१३२८३५६
नं० २५ से ऊपर ,,	३५४५२७१२	३५२०२४५४	३३११२६१७०
बे-तफसीलका ,,	४९५६७५०	६८१८५००	५९६२३९८
कुल जोड़—	४१९५८९१०	४४१७११६०	४०४२६९२४

१९१६-१७ में कुल २९५३०,००० पाउण्ड तथा १९१७।१८ में १९४००००० पाउण्ड (वज़न) सूत बाहरसे आया।

१९१३-१४ में सूत तथा कपड़ेका बाज़ार मन्दा पड़ गया था; देश तथा विदेशमें देशी माल (सूत और कपड़े) गुदामोंमें भरे पड़े थे। साथ साथ नया माल भी धड़ाधड़ तैयार हो रहा था। इनके अतिरिक्त विलायती सूत और कपड़ोंकी भी आमदनी

बढ़ रही थी। चारों तरफसे लोग कह रहे थे कि जरूरतसे ज्यादा माल बन रहा है तथा बाहरसे मंगाया भी जा रहा है। उधर बम्बई और पंजाबके बाजार बंकोंके फेल होनेके धक्केसे सम्हलने भी नहीं पाये थे। इन सब कारणोंका फल यह हुआ कि बाजार मन्दा पड़ गया, सूत और कपड़ेकी दर घट गयी। १९११-१२ में कुल ५९० मिलियन पा० वजन सूत भारतकी मिलोंमें बने थे, पर १९१२-१३ में इसकी तादाद ६५० मिलियन तक पहुंच गयी। १९१३-१४ में गुदामोंमें माल पड़े रहनेके कारण कुछ थोड़ा सूत बना (६४४ मिलियन पा०)। पर उसके बाद ही लड़ाई छिड़ गयी। बाहर की आमदनी कम हो गई ; देशी मिलोंके मालकी मांग बढ़ने लगी, क्योंकि पुराने विदेशी माल (जो देशमें मौजूद थे) के अतिरिक्त नये मालका आना कठिन हो गया। देशी मिलोंको लड़ाईके कारण पहले पहल तो बड़ा नुकसान हुआ था, क्योंकि कलपुर्जे, रासायनिक द्रव्य, रंग इत्यादि द्रव्योंकी बड़ी मंहगी हो गयी थी। योरपसे इनकी आमदनी तो बन्द हो ही गयी थी, तथा दूसरे देशोंसे ऐसे मालका आना शुरू ही नहीं हुआ था। इस कारण कपड़ा बुननेका खर्च बहुत ही बढ़ गया। कुछ इधर रेल स्टीमरोंके मसोपोटेमियां चले जाने तथा शेप्रके फौजी माल ढोते रहनेके कारण बम्बईकी मिलोंमें कोयलेकी भी बड़ी मंहगी हुई। युद्धके आरम्भमें मिलवालोंको बड़ी कठिनाई हुई थी। पर धीरे धीरे दशा सुधरने लगी, विदेशसे थोड़ा बहुत जरूरी सामान आने लगा, रेल द्वारा कोयला ढोनेका

उचित प्रबन्ध किया गया; तथा ताताके बिजलीके कारखानेसे भी अच्छी सहायता मिलने लगी; इधर अच्छी फसल होनेसे कपड़े-की मांग भी बढ़ गयी। फिर क्या था, बम्बईवालोंको अधिकसे अधिक नफा होने लगा, कपड़ेके बाजारमें फिर फाटकेकी चाल चल गई। दाम दुगुना, तिगुना बढ़ गया। मध्यवित्त और गरीबोंके दुःखका ठिकाना न रहा, उन्हें नंगे रहनेकी नौबत आयी। बंगालके देहातोंमें कहीं कहीं स्त्रियोंने लाजके मारे आत्महत्या तक कर डाली। यह सब देख सुनकर सरकारकी ओरसे कपड़ेका व्यापार नियन्त्रित करनेका विचार किया गया, देशी मिलोंमें सरकारी देखरेखमें लागत तथा मुनासिब मुनाफेपर कपड़ा बुननेके प्रबन्ध करनेका विचार हुआ। इसका फल यह हुआ कि बड़े बड़े शहरोंमें कपड़ेका भाव गिरने लगा। फिर नवम्बरमें मित्रदलकी जीत हुई, जर्मनोंने मित्रदलकी शर्तोंको मानकर लड़ाई बन्द करनेकी प्रार्थना की, जो स्वीकार भी हुई। इसका असर कपड़ेके बाजारपर भी पड़ा। आजकल (१९१८) अखबारोंमें रोज इसका समाचार छप रहा है। आज करांची, तो कल कलकत्ता, परसों बम्बईके कपड़ियोंकी हालत खराब हो रही है, दर गिरनेके कारण उन्हें नुकसान हो रहा है, किसी किसीका कारबार एकदम फेल हो रहा है। अब १९२० में फिर वही हालत है, कपड़े पहलेकी तरह मंहगें बिक रहे हैं।

इस लड़ाईके जमानेमें देशी मिलोंने एक बातमें तरक्की की थी। १९१५ से १९१७ तक देशी मिलोंके काते हुए सूतका

विदेशसे आये हुए सूतसे मिलान करनेसे यह स्पष्ट होता है कि देशी मिलोंने महीन सूत कातनेमें बड़ी उन्नति की है। इधर जो अधिक अधिक सूत तैयार होने लगे हैं उनमें ३१ से ४० नम्बर तथा ४० से ऊपरके सूतोंका ही ज्यादा हिस्सा था। तथा उसी परिमाणमें वाहरसे आनेवाले इन महीन सूतोंकी आमदनी भी घटती गयी है। लड़ाईके पहले देशी कपड़ोंमें जिन महीन कपड़ों-के दर्शन नहीं होते थे वे अब देशमें वनने लगे हैं।

लड़ाईके जमानेमें वाहरसे जो सूत आता रहा है उसमें जापान वालोंने बड़ी तरक्की की है। जापानसे जो महीन तथा रेशमकी तरह चमकदार (mercirised) सूत आता था वह दो वर्षोंमें दसगुना बढ़ गया है।

देशी सूतकी रफतनी—हिसाब लगाकर देखा गया है कि प्रायः २४६ मिलियन पाउण्ड सूत देशी मिलोंमें तथा २६२ मिलि-यन पाउण्ड सूत हाथके करघोंमें हर साल भारतवर्षमें खर्च होता है। और प्रायः २०० मिलियन पा० सूत वाहर जाया करता है। भारतकी मिलोंमें कातेहुए सूतके विवरणसे स्पष्ट होता है कि दिनों दिन अधिक सूत काते जा रहे हैं, पर सूतकी रफतनीके विवरणसे स्पष्ट होता है कि देशी सूतकी रफतनी घट रही है। १९०२-६ में २९७ मिलियन पाउण्ड १९०८-९ में २३५ मिलियन, १९११-१२ में १५१ मिलियन १९१३-१४ में १९७ मिलियन और १९१६-१७ में १६० मिलियन पाउण्ड सूत वाहर गया। इस घटतीके दो कारण हैं—पहला कारण यह कि देशी मिलोंमें सूत-

का खर्च बढ़ रहा है, वहां अधिक परिमाणमें कपड़े तैयार हो रहे हैं जो या तो देशमें खर्च होते हैं या विदेश भेजे जाते हैं। यह दशा अवश्य ही सन्तोषजनक है। क्योंकि इससे दो फायदे होते हैं:—एक तो विदेशी कपड़ेकी आमदनी घटती है और दूसरे सूतके बदले कंपड़ा बाहर भेजनेसे देशको अधिक नफा होता है। परन्तु सूतकी रफ्तनी घटनेका एक दूसरा भी कारण है जो अवश्य ही सन्तोष जनक नहीं है। यह कारण जापानकी उन्नति है। जो जापान १८८८-६ में २३ मिलियन पाउण्ड (वजन) से सभी अधिक सूत भारतसे खरीदता था; वह दस वर्षों बाद (१८९९-१९० में) केवल एक लाख अस्सी हजार पाउण्ड (वजन) सूत लेने लगा, वही जापान अब बिल्कुल सूत नहीं खरीदता। उल्टे उसने १९१६-१७ में कोई ३० लाख पा० तथा १९१७-१८ में ३४॥ लाख पा०की (१ पा०=१५ रु०) कीमतका सूत और सूती कपड़ा वगैरह भारतवर्ष भेजा। अवश्य ही यह जापानके कलाकौशलकी तरक्कीका एक ज्वलन्त उदाहरण है। जापान भारतसे तथा अमरिकासे रूई खरीदता है और वहीं उसी भारतवर्षमें अपने बढ़िया कारखानोंमेंसे सस्ता सूत और कपड़ा तैयार कर भारतवर्ष भेज देता है। इसको कहते हैं विज्ञानकी कुशलता तथा व्यापारकी दूरदर्शिता। जापान सिर्फ भारतसे सूत खरीदना ही नहीं बन्द कर रहा है, परन्तु भारतके सूतके बाजारोंको छीन रहा है। भारतीय सूतके लिये जापानके बाजार बन्द हो जानेके बादसे चीनमें ही भारतका सूत अधिकांश खर्च होता था। सैकड़े ९०

माल चीन ही खरीदता था। पर अब यहां भी शांघाई और जापानकी मिलोंसे सामना करना पड़ता है। १९१३ में १७८ मिलियन पाउण्ड सूत चीनने खरीदा, यह १९१२ के खरीदसे कम था। उसी साल चीनने जापानसे १९१२ की अपेक्षा ३४ मिलियन पाउण्ड अधिक सूत खरीदा था।

जापानकी इस उन्नतिका क्या कारण है, अवश्य ही उसकी व्यापार बुद्धि। यह हम लोगोंकी भूल है कि इस उन्नतिका मूल कारण वहांकी सरकारको समझते हैं; और इसी कारण यहां की सरकारकी शिकायत करते हैं क्योंकि यह, यहांके मिल वालोंको चीनी व्यापार बनाये रखनेमें सहायता नहीं देती। यथार्थमें सरकारकी सहायता या उसका अभाव उसका उतना बड़ा कारण नहीं है जितना कि व्यापारियों और कारखाने वालोंकी दूरदर्शिता और सहयोग। इसी विषयका वर्णन करते हुए प्रसिद्ध व्यापारी सर दोराब ताताने * अपने एक लेखमें इस ह्रासके सच्चे कारणोंका, बड़ी उत्तमतासे, वर्णन किया है। जापानके मिलवालोंने एका करके अपनी सभा द्वारा निश्चित किया कि भारतसे जितनी रूई खरीदी जायगी वह सभा द्वारा ही खरीदी जायगी, तथा वह सब एक कम्पनीके जहाजोंमें ही लदाकर लाई जायगी। फल यह हुआ कि जहाज कम्पनीको लाखों गांठें

* Sir Dorab Tata's Presidential Address to the Bombay Ind. Conference (1915) & his article on 'Japanese Industrial Invasion' submitted thereat

ढोनेको मिली। इतना बड़ा रोजगार मिल जानेसे उस कम्पनीने ढोलाई की दर कम कर दी। जहां देशी मिलोंको शांघाई तक सूत भेजनेमें फी टन १२ रु० भाड़ा देना पड़ता है; वहां जापानियों-को भारतसे जापान तक रूई ले जानेका किराया (यह शांघाईसे कहीं अधिक दूर है।) फी टन सिर्फ ८॥० रुपयेसे भी कम देना पड़ता है। इस बचतका कारण सिर्फ मिल जुलकर काम करना है, और कुछ भी नहीं। उसी प्रकार जापानवालोंने निरन्तर परिश्रम करके अपनी मिलोंमें बने सूतकी तरक्की की, तैय्यार मालमें गड़बड़ न होने दी, यदि दाम लिया पहले दर्जेका तो उस गांठमें माल भी रखा पहले दर्जेका, यह नहीं कि कुछ बढ़िया और कुछ घटिया माल भेजकर गाहकोंका नुकसान किया। फिर अपने एजंटोंको भेज भेजकर चीनी जुलाहोंकी जरूरतोंको अच्छी तरह जाना, उन्हें किस नम्बरके, किस रंगके सूतके कितने बड़े बंडलके खरीदनेमें सुभीता होता है इसका खूब अच्छी तरह छान बीन किया। कभी बंडल पीछे एकाध पाउण्ड अधिक सूत भेज कर, कभी कभी एकाध लच्छी अधिक सूत रखकर जांचने लगे। इस रीतिसे अपने सूतकी शोहरत बढ़ती देख कर जापानियोंने वैसाही करना शुरू किया। इधर भारतकी मिलोंकी असावधानी वैसी ही बनी रही, उन लोगोंने इस बातको जांचनेका कभी उद्योग नहीं किया कि क्यों चीनका बाजार मन्दा पड़ता जा रहा है, उन लोगोंने अपना एजंट भेजकर यह जाननेका कभी प्रयत्न नहीं किया कि किस उपायसे भारतके सूतोंकी सर्वप्रियता बढ़ेगी।

यहां माल 'पैक' करनेकी असावधानी यहां तक बढ़ती गई कि चीनी व्यापारियोंको चिट्ठी लिख कर भारतके मिलवालोंको साव-धान करनेकी जरूरत पड़ी! इन सब कारणोंसे आज चीनका बाजार भी धीरे धीरे छिनता जा रहा है।

चीनके बाद स्ट्रेटसटिलमेंट, शाम, मिसर, अदन, ईरान और आफ्रिकामें देशी सूत जाया करता है। शामकी मांग धीरे धीरे बढ़ती जाती थी, अब तो यह और भी बढ़ेगी क्योंकि सुलहका चाहे और कोई फल हो या न हो, परन्तु यह तो निश्चित है कि भविष्यमें भारतवर्ष तथा ईरान, शाम, अरब, और आफ्रिकाके बीच व्यापारकी बड़ी तरक्की होगी। यदि चीनका बाजार बन्द भी हो जायगा तो भारतके कपड़े और सूतके लिये अरब, मसोपोटेमिया, शाम, ईरानके बाजार खुल जायंगे। हमारी रेल-लाइनोंसे मसोपोटेमियामें व्यापारकी वृद्धिमें बहुत बड़ी सहायता मिलेगी।

भारतकी मिलोंके सूतकी रफ्तनी

सन्		१९०९-१० से १९१३-१४ औसत	१९१६-१७
चीन	पाउण्ड (वजन)	१६९९५३०००	१४२७९६०००
मिसर	,,	२१८३०००	७२१३०००
ईरान	,,	२०३००००	५४८२०००
स्ट्रेटसेटिलमण्ट	,,	४४११०००	४७७६०००
युनाइटेड किंगडम	,,	६८३०००	२९६१०००
अरब (मस्कट) छोड़कर	,,	१४४०००	११९४०००
शाम	,,	३०५०००	११०८००
अन्यदेश	,,	१२११५०००	३०५००००
कुल	,,	१९२८४४०००	१६८६८००००
कीमत रुपया		९१३४५०००	७९४९१०००

देशी मिलोंके कपड़े—यों तो देशी मिलोंमें मोटा पतला, धुला हुआ, कोरा, सादा रंगीन,—सब तरहका कपड़ा तैयार होता है, परन्तु इनमें मोटे कपड़े ही अधिक हैं। मोटे सूतके बने कोरे लांगक्लाथ, मार्किन, ड्रिल, जीन, और मोटी धोतीके बाजारमें ही देशी मिलोंको विलायती मालके साथ प्रतियोगिता करनेका मौका मिलता है। अन्य प्रकारके बढ़िया विलायती मालकी बराबरीका देशी माल नहीं बनता, इस कारण इन दोनोंमें कोई प्रतियोगिता नहीं है। हां, इधर लड़ाईके जमानेमें जबसे विलायती मालका आना बहुत कुछ बन्द हो गया था उस समय देशी मिलोंमें भी महीन कपड़े, बढ़िया धोतियां बनने लगी थीं। अब लड़ाई खतम हो जानेके बाद इन दोनोंमें थोड़ी बहुत चढ़ा उपरी रहेगी, जो बढ़िया और सस्ता होगा वही अन्तमें टिकेगा। देशी मिलोंमें जो कोरा लांगक्लाथ तैयार होता है उसका ताना २० से २४ नं० के सूतका और बाना १६ से ३० नं० सूतका होता है। उसी तरह कोरी धोतीका ताना २० से ३० न० और बाना १६ से ३६ न० सूतका होता है। परन्तु विदेशसे जो माल आता है उसमें कोरा मार्किन, लांगक्लाथ वगैरह प्रायः २६ से ३४ न० के बानेके होते हैं। उसी तरह लांगक्लाथ पर की धोती ३२ न० के ताने और ३६ के बाने, नैनसुखकी धोती ४० के ताने और ५० के बाने तथा मलमल पर की धोती ६० के ताने और ६० के बाने की होती है। इससे स्पष्ट है कि इन कपड़ोंमें विलायती और देशी मिलोंकी प्रतियोगिता बहुत कम है। विलायती कपड़ों

के साथ देशी कपड़ोंका मुकाबला हो नहीं सकता, क्योंकि देशी कपड़े मोटे सूतके और विलायती महीन, चिकने सूतके बनते हैं। जब कि १९१३।१४ में देशी मिलोंमें ११६'४ करोड़ गज कपड़े (जो प्रायः सब मोटे ही थे) तैयार हुए थे, तब भारतने विलायतसे ३१५'६ करोड़ (देशी मालका प्रायः तिगुना) गज महीन कपड़े मंगाये थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि मोटे कपड़ेके अलावा महीन कपड़ोंकी यहां बहुत बड़ी मांग है। यदि भारतमें महीन सूत तैयार होने लगे, यदि भारतवर्षकी कपास अच्छी होने लगे तो यह भी सम्भव हो जाय। कपासकी उन्नति कैसी जरूरी है वह इसी एक बातसे स्पष्ट हो जायगी।

देशी मिलोंके बने कपड़ोंका वर्णन।
(मिलियन गज)

सन्	१९०८-१० से १३-१४ तक	१५-१६	१६-१७	१७-१८
कोरे और धुले थान :—	पांच वर्षों का औसत			
मार्किन और लांक्लाथ	२८८'१	४१९'६	४२७'८	४५०'६
धोती	२६९'५	३२२'६	३००'९	३२५'०
टेबुलक्लाथ, भाड़न, शीटिंग इत्यादि	११९'८	१५१'४	१९२'१	१३७'१
चादर	६४'१	७५'२	६७'८	५४'०
ड्रिल, जीन	२६'८	४६'३	५९'५	७८'६
अन्य	६६'१	७८'८	९१'१	९५'१
रंगीन थान	२५१'४	३४६'६	४४१'९	४७३'१
कुल जोड़	११०५'५	१४४१'५	१५७८'१	१६१४'०

कपड़ा बुननेमें भी बम्बईका ही अव्वल नम्बर है। बम्बई हातेकी मिलोंमें ही देशी कपड़ोंका सैकड़े प्रायः ६० से कुछ कम हिस्सा बुना जाता है। युक्तप्रान्त और मध्यप्रदेशमें प्रायः चार

सैकड़े, तथा मद्रासमें प्राय ३ सैकड़े बुना जाता है। रंगीन कपड़ोंका सबसे अधिक अंश मद्रासमें बुना जाता है; उसके बाद मध्यप्रदेश तब बम्बईका नम्बर है।

देशी कपड़ोंकी रफ्तनी—बाहर भेजे जानेवाले देशी कपड़ोंमें आधेसे अधिक रंगीन थान होते हैं और शेष कोरे कपड़े। किसी समयमें चीन बहुत बड़ा खरीदार था, पर अब वह बहुत कम माल लेता है। आजकल अदन ही सबसे बड़ा खरीदार है; ईरान, शाम, पूर्वीय आफ्रिकामें भी देशी कपड़ोंकी बड़ी मांग है। आशा की जाती है कि शान्ति स्थापित हो जानेके बाद यह मांग और भी बढ़ेगी। कौन देश कितना माल खरीदता है उसका व्यौरा नीचे दिया जाता है।

सन्		१९०९-१० से १३-१४ तक पांच वर्षों का औसत	१५-१६	१६-१७	१७-१८
अदन और उसके आश्रित राज्य	गज	१०२५४०००	१९४२३०००	६३२५००००	१६९८५०००
ईरान	,,	७३१४०००	१३५७३०००	५२१९१०००	५७६८२०००
शाम	,,	१२४६८५००	१३६७२०००	३०७०२०००	३०४०७०००
पूर्वीय आफ्रिकाके आश्रित राज्य	,,	५३८९०००	७२०७०००	३०७२८०००	८५६६०००
पूर्वीय आफ्रिकाके अन्य बन्दरगाह	,,	१६३३५०००	१३८०९०००	१९८५८०००	९८४४०००
स्ट्रेटसेटिलमेंट्स	,,	१३९५६०००	१७७२२०००	२०५११०००	१७९००००
सीलोन	,,	९५९९०००	९८७६०००	१०६५००००	११२०२०००
अन्य देश	,,	१४९०९०००	१८१८३०००	३५९५५०००	३६८६४०००
कुल गज		९०२२००००	११३४६५०००	२६३८४५०००	१८९४५००००
दाम रुपया		२०८९५०००	२४६३९०००	५४७६२०००	५५३८२०००

विदेशी कपड़ोंकी आमदनी—जिस तरह दुनिया भरमें चीन ही सूतका सबसे बड़ा खरीदार है उसी तरह भारतवर्षमें ही सूती कपड़ोंका सबसे बड़ा बाजार है। और इस बड़े बाजारका एकमात्र अधिकार,—इजारा—मैनचेस्टर और लंकाशायरको है। लड़ाईके पहले कोरे कपड़ोंका सैकड़े ९९, धोये कपड़ोंका सैकड़े ९८ और रंगीन कपड़ोंका सैकड़े ९२ मैनचेस्टर और लंकाशायरसे ही आता था, कोरे और धोये कपड़ोंका तो विलायत ही पूरा मालिक है, सिर्फ रंगीन कपड़ोंमें इटालियन, डच और जर्मन छींट और छापेकी थोड़ी बहुत आमदनी होती थी। जापान और अमरिकाका व्यापार नाममात्रका था। इसी कारण लंकाशायरकी तेजी मंदीका भारतके कपड़ेके बाजार पर बहुत बड़ा असर होता है। लड़ाई छिड़ जानेसे लंकाशायरका व्यवसाय गड़बड़ा गया था, मिलके मजदूर और कारीगर सेनामें भर्ती होनेसे कारखानोंमें मजदूरोंकी कमी हो गयी, रंग मंहगा हो गया तथा मालकी ढुलाईकी दर चढ़ गयी। इन सब कारणोंसे भारतमें कपड़ेकी आमदनी कम हो गयी, माल मंहगा पड़ने लगा। बाजार सूना देखकर जापान और अमरिकाने भारतमें प्रवेश शुरू किया। अमरिका कोरा ड्रिल और जीन भेज रहा है, तथा जापान कोरा लांगक्लाथ, मार्किन, चादर, ड्रिल और जीन। धोये कपड़ोंमें जापानी जीन और ड्रिल बहुत आ रहे हैं। रंगीन कपड़ोंमें जापानी चारखाने, ड्रिल, जीन, और कमीजके कपड़े आते हैं। जापानसे रंगीन कपड़ोंकी आमदनी बेतरह बढ़ रही है।

जहां १९१५-१६ में जापानसे ३३४६००० गज रंगीन कपड़े आये थे, वहां १९१६-१७ में उसी जापानसे २१,९३६,००० गज रंगीन माल आया। एक ही वर्षके अन्दर ६ गुनेसे भी अधिक तरक्की हुई। लड़ाईके जमानेमें जापान और अमरिकाने किस कदर सूती माल भारतवर्ष भेजा था उसका विवरण नीचे दिया जाता है। जापानियोंका व्यापार 'सुरसा' की तरह अपना बदन बेतरह बढ़ा रहा है, यह अवश्य ही भारतवर्षके लिये अच्छा नहीं है। इसलिये इससे बचनेके लिये भारतके व्यापारियोंको हनूमानका रूप धारण करना चाहिए।

जापान और अमरिकासे आये सूती मालकी कीमत।

सन्	१२-१३	१३-१४	१४-१५	१५-१६	१६-१७	१७-१८
अमरिका पाउ०	२६६०००	१७३०००	१७३०००	२५७०००	२०४०००	२३००००
जापान:—						
सूती मोजें, गंजी ,,	४१५०००	५५६०००	४४४०००	३७६०००	८५०००	६११०००
सूती थान पाउण्ड	७३०००	११८०००	१९२०००	४६१०००	१६२१०००	२१७९०००
सूत ,,	२५०००	९३०००	८२०००	५२०००	३५४०००	५५३०००
अन्यसूतीमाल ,,	१६०००	३६०००	१८०००	६९०००	२१७०००	१०६०००

ये अंक स्पष्ट कहे देते हैं कि जापान हिन्दुस्तानी बाजारको अपने हाथमें ला रहा है। धीरे धीरे तीन वर्षोंमें उसने अपनी शक्ति कितनी बढ़ा ली है, उसके कारखाने कितने फैल गये हैं उसका अन्दाज १९१५ से १९१८ तककी आमदनीके मिलान करनेसे पूर्ण रूपसे स्पष्ट हो जाता है। जहां १९१५।१६ में सिर्फ ६॥ लाख पाउण्डकी कीमतका सूती माल आया था वहां १९१६-१७

में जापानने कोई ३०॥ लाख और १९१६ में ३४॥, लाख पाउ-एडके लगभगका माल भारतवर्ष भेजा!

तीन क़िस्मके सूती मालकी आमदनी होती है—कोरा, धुला और रंगीन। धोये और रंगीन कपड़ोंकी आमदनी कोरेकी अपेक्षा अधिक बढ़ रही है। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि धोये और रंगीन कपड़ोंको व्यवहार करनेकी चाल बढ़ती जाती है, लोग कोरे कपड़ोंकी अपेक्षा उन्हें अधिक पसन्द करते हैं। दूसरी बात यह है कि देशी मिलोंमें कोरे कपड़े बहुतायतसे बनने लगे हैं, अतएव इस देशी मालसे ही भारत-वर्षकी बढ़ती हुई जरूरतें धीरे धीरे पूरी होने लगी हैं।

भारतवर्ष हरसाल कितनेका विदेशी सूती माल (सब तरहका) खरीदता है उसका वर्णन नीचे दिया जाता है :—

सन्	१९०९-१० से १३-१४ तक पांच वर्षों का औसत	१९१५-१६	१९१६-१७	१९१७-१८
सूत रुपये	३७९१८०००	३६७७००००	४०४८९०००	४२९५२०००
सूती थान :—				
कोरा „	२१०८५६०००	१८०८६१०००	१६८६९८०००	१८४३२३०००
धोया „	११२०१३०००	१०६८३८०००	१२७९३५०००	१४२०४८०००
रंगीन, छपे „	१३१५५९०००	८५५६९०००	१५०८८४०००	१६१४५८०००
कटेहुए थान „		४३६४०००	८९४७०००	९४२१००००
कुल थान „	४५४४३६०००	३७७६३२०००	४५६४६४०००	४९७२५००००
गंजी, मोजा रु०	९२८६०००	६४०००००	१४१३४०००	१०२५२०००
रुमाल, शाल सूती „	५२२००००	१४९३०००	१७८८०००	१५९००००
सूत (सिलाईके) „	२६१००००	४३७६०००	५५३२०००	६१८९०००
अन्य „	११५३३०००	६०८६०००	१२२३९०००	८७९३०००
कुल जोड़	५२११८०३०००	४३२७५५०००	५३०६४६०००	५६७०२६०००

इस ५०-५६ करोड़ रुपयोंके सूती मालका सबसे बड़ा अंश कोरे, धोये और रंगीन थानका है। ये थान कोई ४५-५० करोड़की लागतके होते हैं।

गंजी, मोजे इत्यादि—कोरे धोये या रंगीन सूती थानोंके अतिरिक्त भी बहुत प्रकारके सूती माल विदेशसे आया करते हैं। इनमें गंजी, मोजे, रूमाल, सिलाईके सूत, और सूती शाल शामिल हैं। लड़ाईके पहले रूमालका सैकड़े ७५ युनाइटेड किंगडमसे और शेष जापान, जर्मनीसे आता था। सिलाईका सूत भी प्रायः ६० सैकड़ा यहींसे ही आया करता था। गंजी, मोजेका व्यापार जापान और जर्मनीमें बंटा हुआ था; जापान सैकड़े सत्तर माल भेजा करता था। जापानने इस विभागमें बेहद तरक्की की थी, क्योंकि लड़ाईके दसवर्ष पहले वह इसका सातवां हिस्सा भी नहीं भेज सकता था। पहले तो जापानी माल रद्दी होते थे, इसके मोजे, गंजी, बनियाइन एक ही धुलाईमें बेकार हो जाते थे; माल सस्ता पड़ता था अवश्य, पर चीज किसी काम की नहीं होती थी। उससे जापानकी बड़ी बदनामी होती थी, कोई समझदार सहजमें जापानी गंजी लेना पसन्द नहीं करता था। लड़ाई छिड़ जानेसे जापानी गंजी मोजोंकी आमदनी कोई दुगनी, अढ़ाई गुनी हो गयी, पर चीजें वैसी ही भद्दी रहीं। पर धीरे धीरे अब कुछ दिनोंसे जापानी मालकी तरक्की हो रही है। सूती शाल जर्मनीसे ही अधिक आया करता था।

रूमाल, मोजे, गंजी, सूत इत्यादिकी आमदनी।

सन्	१९१२-१३	१९१३-१४	१९१५-१६	१९१६-१७
मोजा, गंजी रुपये	९१७७०००	११९७६०००	६९०००००	१४१५४७००
रूमाल, शाल सूती	५५८६०००	८८९२०००	१४९३०००	१७८८०००
सिलाईके सूत	४०११०००	६९०००००	४२९६०००	५५४२०००
अन्य	११९१७०००	१५२०९०००	६०८६०००	१२२३९०००

मोजे गंजीकी आमदनीका विवरण मज़ेदार है, क्योंकि इससे जापानकी उन्नतिका पता लगता है। कहांसे कितना मोजा, गंजी आया करता है उसका विवरण दिया जाता है।

	जापानसे	युनाइटेडकिङ्गडमसे	जर्मनीसे	अन्य देशोंसे	कुल
सन्	लाख रु०	लाख रु०	लाख रु०	लाख रु०	लाख रु०
१९११-१२	६६	६	१४	७	९३
१९१२-१३	६२	६	१८	६	९२
१९१३-१४	८३	७	२३	७	११०
१९१४-१५	६६	६	५	२	७९
१९१५-१६	५६	६	१	१	६४
१९१६-१७	१२७.५	११.५	×	२	१४१

१९१६-१७ से ज्यादेका मोजा गंजी कभी नहीं आया था; और इसमें सैकड़े ९० जापानका माल था, सैकड़े ८ युनाइटेड किंगडमका। इससे अधिकका माल जापानने पहले कभी नहीं भेजा। १९१५-१६ में उसने सिर्फ ६४ लाखका माल भेजा था, पर १९१६-१७ में एकही वर्ष वाद इतनी तरक्की की कि वहांसे १२७.५ का माल आ पहुंचा!!

हाथके करघे—अबतक कलोंमें बने कपड़े और सूतका वर्णन किया गया है। पर ये 'काटन मिलें' ६०-६५ वर्ष पहले

नहीं थीं, इनका तो इसी समयमें आरम्भ और प्रचार हुआ है। परन्तु कपड़ा बुनने और सूत कातनेकी चाल भारतके लिये नयी नहीं है। यद्यपि इस बातमें सन्देह है कि मिसर, चीन और भारतवर्षमें किसने पहले पहल कपड़ा बुननेकी चाल निकाली थी,– हो सकता है कि तीनों जगहोंमें स्वतन्त्र रूपसे कपड़ा बुननेकी चाल पड़ी हो,–पर यह इतिहाससे अवश्य निश्चित है कि बहुत ही पुराने जमानेसे, आजसे तीन हजार वर्षों पहले भी भारतवर्षमें रूईसे कपड़ा बुना जाता था। सिकन्दरके जमानेमें तो विदेशियोंने भारतवासियोंको अच्छेसे अच्छे सूती कपड़ोंको (सादे, रंगीन, छींट इत्यादि) पहनते देखा था, और उसकी तारीफ भी की थी। रोमके बादशाह अगस्टस सीज़रके जमानेमें तो रोमकी रानियां ढाकेकी मलमलसे अपनी शोभा बढ़ाया करती थीं। उस समय तथा उसके बाद बहुत दिनोंतक अरब लोग भारतवर्षके इन अद्भुत कपड़ोंको दूर दूरतक पहुंचाते रहे, उन्हीं कपड़ोंको खरीदकर अरब, ईरान, तुर्किस्तान, ग्रीस, रोम, इत्यादि देशोंके धनी, मानी, राजा, रईस अपना शौक पूरा करते रहे। उस समय कपड़े भी एकसे एक बढ़िया और आला दरजेके बनते थे। ढाकेकी मलमल ऐसी बारीक और बढ़िया बनती थी कि मकड़ीका जाला उनके सामने तुच्छ जंचता था। जाड़ेके दिनोंमें यदि ओसकी बूंदोंसे भरी घासपर वे बारीक कपड़े बिछा दिये जाते तो किसी तरह लोग पहचान नहीं सकते कि कपड़ा कहां है और ओससे भरी घास कहां है। इसकी गिर-

तीके दिनोंमें डाकूर टेलर्ने १८४६ में, ढाकेमें एक मलमलका थान देखा था जो २० गज लम्बा और १। गज चौड़ा, पर केवल सात छटांक भारी था! उन्हीं साहबने ढाकेमें ऐसा बारीक सूत देखा था जो लम्बाईमें तो १३४६ गज़ था पर वजनमें सिर्फ २२ ग्रेन। उस हिसाबसे एक पाउण्ड रूईमें २५० मील लम्बा सूत बन सकता था; यह सूत आजकलके हिसाबसे ५२४ नम्बरका होता! कलोंपर ऐसा बारीक सूत तैयार करना आजकल भी—विज्ञानके जमानेमें भी—असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। पर तौ भी ये सूत उसी पुरानी चालके, सीधे सादे चरखों, तकुओं या चरखियोंपर काते जाते थे। ये सूत पानी पड़ने पर फैलते नहीं थे और न धुलाने पर उनके बने कपड़े ही कमज़ोर हो जाते थे, जैसा कि आजकलके कलके बने कपड़ोंकी हालत होती है। यह ढाकेकी मलमल धोनेपर सिकुड़ती थी और अधिक मजबूत बन जाती थी। अब भी बीसवीं सदीके विज्ञानको पुराने सीधे सरल भारतवर्षसे बहुत कुछ सीखना है।

सतरहवीं सदीमें भी ईस्टइंडिया और डच कम्पनियां लाखों-का सूती माल हिन्दुस्तानसे ले जाया करती थीं; योरपका बाजार इन मालोंसे भरा रहता था। हिन्दुस्तानी चीजोंकी सफाई, सुन्दरता और बारीकीसे योरपके लोग मोहित हो रहे थे, उन्हें अपने देशकी चीजें पसन्द ही नहीं होती थीं। इस कारण वहांके ऊन और रेशमके कारीगर बैठते जाते थे। अपना सत्यानाश होते देखकर उन लोगोंने अपनी अपनी सरकारोंके पास पुकार

पहुंचाई। सन् १७०० में इंगलैंडके राजा तीसरे विलियमने कानून द्वारा (Acts 11 & 12 of William VII Cap. 10 (1700)) इंगलेंडमें हिन्दुस्तानी रेशम, छींट इत्यादिका व्यवहार रोकना चाहा। सरकारने आज्ञा दी कि जो स्त्रीपुरुष हिन्दुस्तानी रेशम या छींटको बेचेंगे या व्यवहार करेंगे उनको २०० पाउण्ड जुर्माना देना पड़ेगा! इसी तरह अन्य देशोंने भी कानून बनाकर हिन्दुस्तानी मालका आना बन्द किया। उधर धीरे धीरे इंगलैंडमें आर्कराईट, हारग्रीव्स इत्यादि महापुरुषोंके आविष्कार हुए, धीरे धीरे इन आविष्कृत कलों द्वारा कपड़ा बुना जाने लगा और सूत तैयार होने लगा। अनन्तर कोयले और जलके संयोगसे उत्पन्न वाष्पसे इंजिन चलने लगे और उन्हीं इंजिनों द्वारा करघे भी चलाये जाने लगे। फिर तो लंकाशायरका भाग्य चमक उठा, वह लाखों करोड़ोंका माल तैयार करने लगा। और उसी तैयार मालको वाष्प परिचालित स्टीमरों और रेलगाड़ियोंकी सहायतासे सारी दुनियामें पहुंचाया। उसी मैन्चेस्टर और ब्लैकबर्नके जुलाहे जो हिन्दुस्तानसे सूत मंगाया करते थे, वही लंकाशायर जिसकी हिन्दुस्तानके मुकाबलेका कपड़ा किसी तरह बना लेनेसे बड़ी तारीफ होती थी, वही अब लाखोंका माल हिन्दुस्तान भेजने लगा। कलोंके करघोंपर खर्च कम बैठनेके कारण सस्ते मालसे सारा हिन्दुस्तान पट गया और धीरे धीरे गरीब जुलाहोंका रोजगार मिट्टीमें मिल गया। किसी समय जिसका रोजगार उन्नतिके शिखर पर चढ़ा हुआ था वह अब धूलमें लोटने लगा।

जिसके रोजगारकी हिन्दुस्तानी कपड़ोंके आतंकसे बचने तककी आशा नहीं थी वही अब विश्वविजयी बन बैठा !

हिन्दुस्तानने भी देखा कि कलोंके करघे बिना अब रक्षा नहीं होती, इससे धीरे धीरे यहां भी कपड़ेको मिलें खुलीं और खुल रही हैं। इनका आरम्भ और प्रचार दिखाया जा चुका है। पर इतना होते हुए भी हाथोंके करघे अबतक चलते ही हैं। लंका-शायर तथा बम्बई, अहमदाबाद की मिलोंसे निरन्तर आघात पाते रहनेपर भी हिन्दुस्तानी करघोंकी जान बिलकुल नहीं निकली है। अब भी कोई तीस लाख जुलाहे करघे चलाते हैं, और प्रायः उतने ही और स्त्रीपुरुष, बालबच्चे इन करघोंकी आमदनीसे जीते हैं। जहां हिन्दुस्तानी मिलोंमें लड़ाईके पहले हरदर कुल २३२ मिलियन पाउण्ड (वजन) सूतका सालाना खर्च था, वहां देशी करघोंमें अब भी, इस गई गुजरी हालतमें भी, सालाना २५० मिलियन पाउण्ड (वजन) सूत खर्च होता था। जहां देशी मिलें कोई ११० करोड़ गज कपड़ा (लड़ाईके पहले) तैयार करती थीं, वहां हिसाब लगानेसे पता लगता था कि देशी करघे कोई ११५ करोड़ गज सूती माल तैयार करते थे। यह तो हुआ सूती कपड़ोंका हिसाब। इसमें करघों पर तैयार किये गये रेशमी और ऊनी मालको भी जोड़ना होगा, तब इसका पता चलेगा कि इस हीन अवस्थामें भी करघोंसे भारतके कितने स्त्रीपुरुष जीते हैं और कितना धन कमाते हैं।

सब किसीको मालूम है कि कपड़ा तैयार करनेमें दो चीजोंकी

जरूरत पड़ती है—सूत कातना और उससे कपड़ा बुनना। अब पुरानी रीतिसे चरखों पर सूत कातनेकी चाल प्रायः बिलकुल उठ गई है; सब कोई कलोंके तकुओं पर काते हुए सूतको ही व्यवहार करते हैं। परन्तु कपड़ा बुननेमें पुरानी नई दोनों चालें—अर्थात् कल और हाथके करघे—प्रचलित हैं। आजकल भी भारतीय व्यवसायोंमें कृषिके बाद ही हाथके करघोंका नम्बर है। पर प्रायः यह विवाद उठता रहता है कि इन करघोंका रहना अच्छा है या नहीं। करघोंको जीवित रखना उचित है या उन्हें बिलकुल उठाकर मिलोंका प्रचार करना ही लाभकारी है। इसकी बहस अब भी होती रहती है। एक पक्षका कहना है कि करघोंके दिन गये; जिस प्रकार बैलगाड़ीसे मोटर गाड़ी अच्छी है, नावोंसे और बनजारोंके लदने बैलोंसे स्टीमर और रेलगाड़ी अच्छी है, उसी प्रकार पुराने करघोंसे कलके करघे अच्छे। यदि एक कारीगर कलोंके सहारे ६ या १० कारीगरोंके बराबर काम कर सके तो क्यों नहीं कलोंका ही प्रचार किया जाय?

इसके उत्तरमें दूसरे पक्षका कहना है कि कलोंके करघोंका प्रचार तो अवश्य ही अच्छा है, देशमें मिलोंका खुलना भी अवश्य ही लाभदायक है, पर उसके साथ साथ देशी करघोंको भी जिलाये रखना और उनकी उन्नति करना परमावश्यक है। कलोंके हजार प्रचार होनेपर भी करघोंकी मांग बनी रहेगी, क्योंकि करघों पर अब भी ऐसी चीजें बनती हैं जो कलोंमें सुभीतेसे तैयार नहीं हो सकतीं, तथा कलोंके कपड़ोंको देहात देहात, गांव

गांव पहुंचानेके लिये रेल, स्टीमर सड़क इत्यादिकी बड़ी उन्नतिकी जरूरत है जिसके होनेमें बहुत देर है। तथा सबसे बड़ी बात तो यह है कि इन लाखों जुलाहोंकी रोजी मिट्टीमें मिलाकर उन्हें मजदूरा बना देना और कलोंमें सिर्फ मजदूरोंके लिये काम करने-को भेजना समाजके लिये कभी अच्छा न होगा। आजकल ये जुलाहे-विशेषकर गांवोंमें, जहां इनकी बहुत बड़ी संख्या है,—खेतीबाड़ी भी करते हैं और बेकारीके दिनोंमें कपड़ा भी बुनते हैं। जब खेतीसे छुट्टी रहती है, या जब खेती मर जाती है तब ये जुलाहे बालबच्चों समेत कपड़ा बुननेमें लग जाते हैं। इस प्रकार वे लोग दो चार पैसे कमा लेते हैं और खेती बाड़ीकी आमदनीमें मिलाकर किसी प्रकार दिन काट लेते हैं। यदि करघे उठ जायं तो उन्हें या तो खेती पर ही भरोसा करना पड़ेगा—जैसा कि लाखों जुलाहोंको करना पड़ा है—और खेतिहरोंकी संख्या बढ़ानी पड़ेगी, या उन्हें बालबच्चे समेत घरबार छोड़, शहरोंमें जाकर मजदूरी ढूंढ़नी पड़ेगी। यदि वे लोग सबके सब स्त्री पुरुष, बालबच्चे समेत—शहरोंमें रहने लगें और मिलोंमें काम करने लगें तो अवश्य ही उनके स्वास्थ्य, चरित्र और स्वभाव पर बुरा असर पड़ेगा। जिन लोगोंने हावड़ा हुगली, बम्बई अहमदाबाद की मिलोंमें काम करनेवाले मजदूरोंकी अवस्थाका निरीक्षण किया है, अथवा जिन लोगोंने लंकाशायरकी मिलोंके मजदूरोंको देखा है या उनकी अवस्थाका वर्णन पढ़ा है, उन्हें यह अवश्य ही प्रतीत हो गया होगा कि मिलोंकी आबहवा उनके चरित्रके लिये कितनी

बुरी है। इसी लिये यह सब देख सुनकर विलायतके भावुकोंने पुरानी अवस्थाके लौटानेकी पुकार आरम्भ कर दी है; वहां भी 'गांवोंको लौट चलो' ('Back to the country again') की पुकार सुन पड़ने लगी है। जो लोग भारतवर्षमें मिलोंका प्रचार ही देखना चाहते हैं उन्हें इसका भी ध्यान रखना उचित है कि भारतवर्षमें कोयलेकी कमी है; यहां मिलोंको चलानेके लिये कृत्रिम शक्तिके उत्पादनके लिये यथेष्ठ कोयले नहीं मिलते; और न बिजलीकी शक्तिका ही देशमें अधिक प्रचार हुआ है। तथा, जैसा कि पिछले अध्यायोंमें वर्णन किया जा चुका है, मिल-वालोंको यथेष्ठ योग्य मजदूर नहीं मिलते हैं, इसके अभावसे भी उन्हें क्षति उठानी पड़ती है। पर करघोंके लिये न कोयलेकी जरूरत है और न उनके लिये मजदूरोंका ही अभाव है।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, विलायतसे जो सूत और सूती कपड़े आते हैं उनका अधिकांश महीन सूतका होता है। क्योंकि देशी मिलोंमें महीन कपड़े नहीं बुने जाते पर करघोंमें महीनसे महीन कपड़े बुने जा सकते हैं, हजारों वर्षोंसे देशी करघोंमें महीन कपड़े बनते आये हैं और अब भी बनते हैं। फरासडंगा (चन्दन नगर), शान्तिपुर (बंगाल), ढाका, बिहार, मऊ इत्यादि स्थानोंमें जुलाहे अब भी महीनसे महीन सूती कपड़े तैयार करते हैं। इनके अतिरिक्त अंगोछी, झाड़न, लिहाफ़, रजाई, फर्श, दोसूती इत्यादि जातिके बहुत मोटे कपड़े अब भी देशी करघोंमें हर जगह बनते हैं और व्यवहारमें आते हैं। देशी

विदेशी मिलोंने ऐसे मोटे कपड़े बनाये थे पर उन्हें वैसा लाभ न हुआ, इस कारण उसका बनना धीरे धीरे कम कर दिया। मोटा कपड़ा बुनना तो करघोंका ही काम है, इसमें उन्हें पूरी सफलता होगी, इस विषयमें वे लोग कलोंकी प्रतियोगितामें पूर्ण रूपसे सफलता पावेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं है। यदि उन्नतिकी जाय और उचित रूपसे काम किया जाय तो महीन कपड़ोंमें भी करघे वाले विलायती कलोंका सामना कर सकते हैं। यह तो सूती कपड़ोंके विषयकी बात है। रेशमी और ऊनी कपड़ोंमें तो करघोंको उन्नति करनेमें और भी सुगमता है। अब भी बरहमपुर (बंगाल) के गरद; आसामकी अंडी, मूंगा; भागलपुरके तसर, बाफ्ता; बनारसके सिल्क, रसलपुरा (मध्यप्रदेश) और मऊ इत्यादि स्थानोंके रेशमी कपड़ोंकी अच्छी मांग रहती है। पंजाब लुधियाने, अमृतसर, काश्मीरमें आजकल भी बढ़ियासे बढ़िया ऊनी कपड़े तैयार होते हैं।

यदि हम करघोंको जिलाये रखना चाहते हैं तो उन्हें खूब मोटे और खूब महीन कपड़े बुननेके लिये उत्साहित करना होगा। महीन कपड़ोंको धोने और चिकने बनानेके लिये अच्छे कारखाने खोलने पड़ेंगे यहां पर विलायती ढंग पर मलमल, नैनसुखकी तरहके (करघोंके बने) कपड़े धोये और तैयार किये जायं। यदि ऐसा न किया जायगा तो करघेवालोंका एक बहुत बड़ा अभाव बना रहेगा।

दूसरी बात जो सबसे महत्त्व की है वह अच्छे, सुगम, और

ज्यादा काम देनेवाले करघोंके प्रचार की है। इसका बहुत कुछ प्रयत्न हो चुका है और कई प्रकारके 'फ्लाईशटल लूम, (Fly-shuttle Loom) देशमें चल भी रहे हैं। उनमें हावल साहबका 'सिरामपुर लूम' (Havell's Serampore Loom) चर्चिल साहबका अहमदनगर लूम; कैप्टन मैक्सवेलका सालमेशन आरमी लूम (मुक्ति फौजवालोंका करघा), जापानी हैंडलूम, मि० आलफ्रेड चैटरटनका मद्रास लूम, तथा विलायतकी हैटरसली कम्पनीका 'डोमेस्टिक लूम' विशेष उपयोगी निकला है। इन करघोंमें कुछ तो ऐसे हैं जो बहुत ही सस्ते और सरल हैं, और कुछ, जैसा कि हैटरसली लूम—दामी हैं। इनको चलानेकी शिक्षा देनेके लिये जगह जगहपर स्कूल खोले गये हैं; सिरामपुर (बंगाल) में तो एक बड़ा सा सरकारी विद्यालय (Serampore Weaving Institute) ही खोला गया है जहां तरह तरहके कपड़े बुनने की वैज्ञानिक शिक्षा दी जाती है। यहांके पास किये हुए लड़के दूर दूरमें करघोंके कारखाने चला रहे हैं।

देशी करघोंके बने कपड़े-मोटिया-गाढ़ाके अतिरिक्त दो जातिके अच्छे कपड़े करघोंमें बुने जाते हैं। (१) लांक्लाथ और फूल बूटेदार सूती कपड़े (Damask), तथा (२) मलमल-सादी और फूलदार (जमदानी)।

(१) लांक्लाथ कई प्रकारके होते हैं। मोटे चारखानेदार खेश या गवरून कहलाते हैं। धारीदार पतले लांक्लाथको 'सूसी' कहते हैं, इनके पायजामे बनाये जाते हैं। ये सब रंगीन,

सादे दोनों प्रकारके होते हैं, फूल बूटे दार कपड़े (Damask) महीन सूतके होते हैं।

पंजाबमें झंग, मुलतान, शाहपुर, डेराइस्माईल खांके खेश अच्छे होते हैं। उसी तरह लुधियानेमें चारखाने गवरून (Drills) विलायती मालके मुकाबलेके बनते हैं। कोहाट, पेशावरकी रंगीन, चारखानेदार लुंगी हिन्दुस्तान भरमें मशहूर हैं। इनके अतिरिक्त कई जगह पगड़ी और लुंगी अच्छी बनती है।

युक्तप्रान्तमें मोटे बनातोंमें 'गाढ़ा' और पतले बनातों (Broad Cloths) में तंजेब मशहूर हैं। बनारस, बुलन्दशहर, फैजाबाद, जौनपुर, मिरजापुर, रायबरैलीकी तंजेब बढ़िया होती हैं। आगरेके नाखूनी गवरून अब भी मशहूर हैं। रामपुरके फूल बूटेदार सूती कपड़े—जैसे रामपुरी पलंगकी चादरें इत्यादि दूर दूर तक बिकते हैं।

मध्यप्रदेश और बरारमें धोती और साड़ी अच्छी बनती हैं। इनके कोरे चौड़े, रंगीन और नक्काशीदार होते हैं। नागपुर, भंडारा, बुरहानपुरमें बढ़ियासे बढ़िया किनारीदार धोती, साड़ी तैयार होती है।

बंगालमें बरहमपुर (मुर्शिदाबाद) चटगांव, शान्तिपुर (नदिया) के सूती कपड़े पुराने जमानेसे मशहूर होते आये हैं। टिपरामें भी कपड़ेका अच्छा व्यवसाय है। ढाका—जहांको मलमल मशहूर है।—अन्य प्रकारके कपड़ोंका भी केन्द्र है।

बिहारमें, यों तो थोड़े बहुत कपड़े हर जगह बनते हैं, पर

पटना जिलेके 'विहार' तथा 'जहानाबाद' के कसबोंमें अच्छे चारखाने तैयार होते हैं।

बम्बईमें—बेलगांव, धारवार, बीजापुर साड़ीके लिये, तथा नासिक पगड़ियोंके लिये प्रसिद्ध हैं। सिन्धमें भी मोटे डोरिये, और चारखाने बनते हैं। हैदराबाद (सिन्ध) के 'इजार' बहुत अच्छे होते हैं।

मद्रासमें—गोदावरी और राजमहेन्द्रीके इलाकोंमें कपड़ोंका अच्छा व्यवसाय है। उसी तरह मैसूरकी बनातें भी अच्छी होती हैं।

(२) मलमल सादी और फूलदार। सादी मलमलके लिये ढाका तो जगत्प्रसिद्ध है ही, अरनी, चन्देरी (ग्वालियर) कोटा, रोहतक और बनारसकी मलमल भी बहुत बढ़िया होती हैं। ढाकेकी फूलदार मलमल जमदानी कपड़े बहुत अच्छे होते हैं। शान्तिपुर—नदियाकी जमदानी साड़ियोंका हावड़ेमें अब भी अच्छा व्यापार है। युक्तप्रान्तमें—बनारस, टांडा (फैजाबाद), जैस (रायबरेली), महमूद नगर (लखनऊ), मऊ (आजमगढ़), सिकन्दाराबाद (बुलन्दशहर) सादे, डोरिये और फूलदार मलमलके लिये प्रसिद्ध हैं।

जूट—जिस जूटका आजकल बहुत बड़ा व्यवसाय है, जिसके ढेरके ढेर विलायत (स्काटलैंड) रवाना होते हैं तथा जिसकी मिलें कलकत्तेके आसपास हुगली नदीके दोनों किनारे दिखाई देती हैं, वही जूट आजसे कोई सौ वर्ष पहिले विलायतके

लिये बिल्कुल नयी चीज थी। १८२०-३० के लगभग विलायतमें कुछ लोगोंने जूटको काममें लानेकी चेष्टा की थी, परन्तु सफलता नहीं हुई, उल्टे जूटकी बड़ी बदनामी हुई और कारखानेवालोंको अपना माल बेचते हुए यह शर्त्त करनी पड़ती थी कि मालमें किसी प्रकारके जूटकी मिलावट नहीं है। ईस्ट इंडिया कम्पनीके अफसर बहुत दिनोंसे इस चेष्टामें थे कि रूसमें उपजनेवाले सन, (Hemp) की बराबरीका कोई रेशेदार द्रव्य भारतवर्षमें मिल-जावे, वे लोग तरह तरहके पाट, सन, पटुये इत्यादिको उपयोगमें लानेकी चेष्टा करते रहे; पर, १८३८ के पहले सफलता नहीं हुई। उस साल डंडी (स्काटलैंड) के एक उत्साही कारबारीने जूटसे माल तैयार करनेमें बड़ी सफलता हासिल की। बस फिर क्या था धीरे धीरे जूटको धोने, रंगने, उसके टाट, चटाई बुननेकी कलें तैयार हुई और भारतवर्षसे कच्चे जूटकी रफतनी बढ़ने लगी। कुछ दिनोंके बाद क्रीमियाकी लड़ाई (१८५४) के कारण रूससे सन (Hemp flax)की आमदनी बन्द हो गयी, उसके बाद ही अमरिकाका अन्तर्युद्ध छिड़ गया, इसके कारण भी वहांसे कपासकी रफतनी बन्द हो गयी। डंडीवालोंने यह कमी हिन्दुस्तानी जूटसे पूरी की। यह रफतनी दिनों दिन बढ़ती ही गयी, यहांतक कि यह १९०८-९ में कोई ९ लाख टन हो गयी।

डंडीके स्काच-कारबारियोंको जूटकी कृपासे अच्छा धन कमाते देख अंगरेजोंको भी जूटकी ओर ध्यान दौड़ाना पड़ा। जौर्ज आकलैंड नामका एक अंगरेज ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी

नौकरी छोड़ व्यापार धन्धेमें लगा था। १८५३ में बंगाल पहुंच कर उसका कागजकी मिलोंसे सम्बन्ध हुआ। इसी सम्बन्धमें वह डंडी पहुंचा और वहां उसे एक बड़े मशीन बनानेवालेसे मुलाकात हुई। उसने ही उसे सुझाया कि जूटके कपड़े, बट, सूत वगैरह तैयार करनेकी कलें अगर हिन्दुस्तानमें खोली जायं तो बड़ा लाभ हो। आकलैंडके जीमें यह बात बैठ गई और उसके उद्योगसे १८५५ में रिशड़ा (सिरामपुर) में जूटकी सबसे पहिली मिल खुली। बड़ी अच्छी सायतमें यह पहिली मिल खुली थी; क्योंकि तबसे जूट मिलोंकी संख्या बढ़ती ही गई है। १८८१ में कोई ५००० कलके करघोंमें बंगालमें जूटके माल तैयार होते थे; १९०१ में १६ हजार, १९११में ३३ हजार, १९१६-१७ में कोई साढ़े ३९ हजारसे भी अधिक कलके करघे जूट मिलोंमें चल रहे थे। इन मिलोंकी संख्या १९१६-७ में ७४ थी, और उनमें काम करनेवाले लोगोंकी संख्या २६१ हजारसे भी अधिक। इनमें १६·६ करोड़ नकद रुपये लगे हुए थे। १९१७-१८ में ७६ मिलें, ४०·६ हजार करघों, ८३४·० हजार तकुओं और २६६·० हजार मजदूरों समेत काम कर रही थीं। भारतवर्षका जूटका व्यवसाय बहुत ही बढ़ गया है; देशमें जितना जूट खर्च होता है तथा जितना कच्चा और तैयार जूट बाहर जाता है उसका सालाना मूल्य साठ करोड़ रुपयोंके लगभग होगा।

इस वर्णनसे यह न समझना चाहिये कि डंडीकी मिलोंके पहले भारतमें जूटका व्यवहार नहीं होता था। इसके पहले

भी बंगाल, तथा पूर्वीय बिहारमें गांव गांव, घर घरमें इसका व्यवहार था; हर जगह इसकी डोरी, सुतली तथा टाट और चट्टी बनाई जाती थी और लाखोंका सामान देशविदेश भेजा जाता था। डा० फ़ार्ब्स रायलने अपनी किताब (Fibrous Plants of India) में, १८५५ में, कलकत्तेके व्यापारी हेनलीके लिखे वर्णनके आधार पर बंगालके जूटके धन्धेका वर्णन किया था।* उसमें लिखा था कि जूटका व्यवहार 'बस्ता' या 'चट' बनानेमें होता है। इसके बनानेवाले बंगालकी प्रत्येक बस्ती, प्रत्येक स्थान में पाये जाते हैं। मर्द, औरत, छोटे, बड़े, सब किसीको जूटसे रोज़ी मिल जाती है। गृहस्थ; मल्लाह मांझी, नौकर चाकर, पालकी ढोनेवाले,—हर पेशेके लोग फुरसत मिलते ही तकुये घुमाकर पाट की रस्सी कातने लग जाते हैं; इसी सुतलीसे चट्टी, 'कनवास' बुना जाता है। उस समय इस सुतलीसे चट्टी बुननेका काम प्रायः विधवाओंके हाथमें था; वे इसीसे दिन काटती थीं। और यही कारण था कि बंगालकी चट्टी इतनी सस्ती पड़ती थी। १८५०-१ में भी अच्छा पाट बाहर भेज दिया जाता था, और घटिया माल चट्टी बनानेके काममें आता था। विधवाओं द्वारा बुने गये थे कनवास इतने सस्ते होते थे कि कभी कभी कनवास और कच्चा जूट दोनों एक ही दर पर बिकते थे। उस समय भी यह कनवास या चट्टी दूर दूर विदेश भेजी जाती थी। १८५०-१

* Quoted by D. R. Wallace in the Romance of Jute in Bengal, 1908.

में कलकत्तेसे बाहर गये जूट (कच्चा और तैयार माल) का इस प्रकार हिसाब लगाया गया है।

सन् १८५०-५१ में कलकत्तेसे बाहर गया जूट।

	जूट (कच्चा माल)	बोरे और पट्टी
	मन	संख्या
विलायत (युनाइटेड किंगडम)	७६८६४५	६९६२६
फ्रान्स	११९११	×
डेनमार्क	१२८	२१८०
उत्तर अमरिका	९२४२	११९०४२७
कारोमंडल किनारा	५९८	१९५५१५०
मालाबार	×	२०५४००५
पिनांग, सिंगापुर	×	१०४३६००
लङ्का	×	३५७२९०
न्यू साउथ वेल्स	५४	३२१२५
ट्रीष्ट	४०१	×
जावा	×	२४२५५०
पेगू	×	६७२९५०
मोरिशस	×	२११९८०
उत्तमाशा अन्तरीप	×	८२७५०
मोचाम	×	१५०००
अरब और फारसकी खाड़ियां	×	४०००
कुल	७८१२२९ म०	९०११७११
दाम रु०	१९७०७१५	२१५९७८२ रु०

आजकल विदेश जानेवाले जूटके कच्चे और तैयार मालका परिमाण अवश्य ही बहुत बढ़ गया है, जहां १८५०-१ में सब किस्मके जूटकी रफ्तनीका मूल्य केवल ४१-४२ लाख रुपया था, वहां १९१६-१७ में इसका मूल्य ५७.६ और १९१८-१९ में ६५.२

करोड़ रु० तक पहुंच गया था ! भारतवर्षने, विशेषकर बंगालने, जूटके व्यवसायमें बहुत तरक्की की है ; बंगालमें जूटकी खेतीका बहुत कुछ प्रसार हुआ है, जूटकी मिलोंकी संख्या और आयतन बहुत ही बढ़ गये हैं सही ; पर इसका एक फल यह भी हुआ है कि घरों, गांवोंमें जो चट्टी बुननेकी चाल थी वह मिलोंकी प्रतियोगिताके कारण बिल्कुल उठ गई है। सिर्फ देहातोंमें गृहस्थ लोग अपनी जरूरतके लिये थोड़ी बहुत डोरी, सुतली कात लिया करते हैं, अन्यथा देहातोंसे, गरीबोंकी झोपड़ियोंसे जूटकी सुतली कातने और टाट बुननेकी चालका एकदम बहिष्कार हो गया है ! किसानोंको जूटका दूना दाम अवश्यही मिल रहा है, पर बेकारीके दिनोंमें या फुरसतके समय जो लोगोंको दो पैसे कमानेका मौका मिल जाता था वह बिल्कुल ही जाता रहा है। जहां सैकड़े ७२ लोग सिर्फ कृषि कर्मसे ही जीते हैं वहांके लिये इस व्यवसायका गांवोंसे उठ जाना अवश्य ही बुरा है।

जूटकी खेती और मिलोंका प्रचार—बंगाल, आसाम और बिहारके कुछ हिस्सोंमें जूटकी खेती होती है। १९१६-१७ में २७०२००० एकड़ भूमिमें जूटकी खेती हुई थी, जिसमें ८३०५००० गांठें जूटकी उपजी थीं, प्रत्येक गांठ ४०० पाउण्ड वजन की थी। १९१९ में २८.२ लाख एकड़में जूटकी खेती हुई थीं। यह जूट कुछ तो देशकी मिलोंमें तथा अन्य रीतिसे खर्च होता है और कुछ विदेश भेजा जाता है। कच्चा जूट जितना बाहर जाता है उससे कहीं अधिक देशी मिलोंमें खर्च

होता है। इसका कारण यह है कि यहां जूटकी मिलोंने बड़ी तरक्की की है। १८७९-८० से लगायत १९१३-१४ तकका हिसाब लगानेसे मालूम हुआ है कि इस बीचमें कच्चे जूटकी रफ्तनी दूनी हो गई है। पर इसी बीचमें देशकी जूट मिलोंकी संख्या प्रायः तिगुनी हो गई थी! इन मिलोंकी संख्या जितनी बढ़ी थी उससे कहीं अधिक उनका आयतन बढ़ाया गया था। क्योंकि इसी बीचमें इन मिलोंमें काम करनेवालोंकी संख्या ५॥ गुनी, करघे छ गुने और तकुये प्रायः आठ गुने हो गये थे! इसीका फल था कि कच्चे जूटकी रफ्तनी उतनी नहीं बढ़ी जितनी जूटके बने बोरे और टाट की। जहां कच्चे जूटकी रफ्तनी दूनी हुई थी, वहां जूटके बने मालकी रफ्तनी १६ गुनी हो गयी! लड़ाई छिड़नेसे जूट अन्य राज्योंमें नहीं जा सकता था, इस कारण जूटके मालकी रफ्तनी १६ गुनासे ३० गुनासे भी हो गयी!

जूट मिलोंका प्रसार

सन्	मिलोंकी संख्या	पूंजी*	काम करनेवाले	करघे	तकुये
१८७९-८०	२२	१२८००००० रु० तथा १६९२२५० पा०	२७४९४	४९४६	७०८४०
१८८९-९०	२६	१२६४५००० ,, १७५७००० ,,	५९५४१	७७०४	१५६८६६
१८९९-००	३४	३५८००००० ,, १५८१२५८ ,,	१०२४४९	१४११९	२९५२०२
१९०९-१०	६०	७१४०५००० ,, २९१३२५८ ,,	२०४१०४	३१४१८	६४५८६२
१९१३-१४	६४	८०१७१००० ,, ३३८३२५८ ,,	२१६२८८	३६०५०	७४४२८९
१९१६-१७	७४	१४०२'४ लाख रु०	२६२५५२	३९६९७	८२४३१५
१९१७-१८	७६	१४९८'४ ,, ,,	२६६०३८	४०६९८	८३४०५५

* कुछ जूटमिल कम्पनियोंकी रजिष्ट्री विलायतमें हुई है। इस कारण उनकी पूंजी विलायती सिक्केमें है, शेषकी हिन्दुस्तानमें रजिष्ट्री हुई है।

जूटकी रफ्तनी।

सन्	कच्चा माल	तैयार माल		
		बोरा	टाट, चट्टी	दाम सब किस्मका तैयार माल
१८७९-८० से १८८३-८४ तक पांच वर्षों का औसत	३७५००० टन	५४'९ मिलियम	४'४ मिलियन गज	१२४'९ लाख रु०
१८९४-९५ से १८९८-९९ तक पांच वर्षों का औसत	६१५००० टन	१७१'२ ,,	१८२ ,, ,,	५१८ ,, ,,
१९०८-१० से १९१३-१४ तक पांच वर्षों का औसत	७६४४०० टन कीमत २२२०'२ लाख रु०	३२९'१ ,,	९७० ,, ,,	२०२४'८ ,, ,,
१९१६-१७	५३९८०० टन कीमत १६२८'८ लाख रु०	८०५'०९ ,,	१२३०'९ ,, ,,	४१६७'१७ ,, ,,
१९१७-१८	२७८१०० टन कीमत ६४५'३ लाख रु०	७५८'३९ ,,	११९६'८२ ,, ,,	४२८४'३१ ,, ,,
१९१८-१९	३९८००० टन कीमत १२७२'० लाख रु०	५८३'० ,,	११०३'२१ ,, ,,	५२६५'२ ,, ,,

कहां कितना जूट जाता है ?—जूटकी रफ्तनी कलकत्ते और चटगांवसे ही अधिक होती है, मद्राससे तो सिर्फ सैकड़े १ की रफ्तनी होती है। लड़ाईके पहले युनाइटेड किंगडम सबसे अधिक कच्चा माल मंगाता था, वहां १९१३-४ में १६२६०६६ गांठें (४०० पा० वजनकी) गई थीं। इसके बाद जर्मनी (८८६९२८ गांठें १९१३-१४ में) और अमरिका संयुक्तराज्य (६५९३६६ गांठें) का नम्बर था। इनके बाद फ्रान्स, आस्ट्रिया, इटली, स्पेनका स्थान था। फिर क्रमशः रूस, बेलजियम, जापान, ब्राजिल, हालैण्ड और ग्रीसका नम्बर आता था। लड़ाई छिड़ जानेसे शत्रुदलमें जूट नहीं पहुंच सकता था, पर उसकी कमी युनाइटेड किंगडम, संयुक्तराज्य, फ्रान्स, रूस और इटलीने पूरी कर दी थी, लड़ाईके कारण वहांसे जूटकी अधिक मांग आने लगी थी।

जूटके बने बोरोंके सबसे बड़े खरीदार आस्ट्रेलिया, संयुक्त-राज्य और चीली थे। इन देशोंमें गेहूं, ऊन इत्यादि पैक करनेके लिये बस्तोंकी जरूरत रहती है। जूटकी चट्टीकी सबसे अधिक मांग संयुक्तराज्य (अमरिका) से आती है, वह दो तिहाई से भी अधिक माल खरीदता है। शेष अरजेनटीने, इङ्गलैण्ड, कनाडा और आस्ट्रेलियाके हिस्से पड़ता है। लड़ाईके जमानेमें रसद ढोने तथा खाइयोंकी रक्षाके लिये अनगिनत बोरोंकी जरूरत हुई थी, मित्रराज्योंने बहुतसे बोरे हिन्दुस्तानसे खरीदे थे। जहां १९१३-१४ में कुल ३६८७५९ हजार बोरे और १०६११५२ हजार

गज चट्टी बाहर गई थी, वहां १६१६-१७ में ८०५०६५००० बोरे और १२३०६५१००० गज चट्टियां बाहर गयीं।

जूटका व्यवसाय और युद्ध—लड़ाईके कारण जूटकी मिलोंको बड़ा लाभ हुआ। यह समय उन लोगोंके लिये 'स्वर्ण युग' था। लड़ाई छिड़ते ही कच्चे मालका बाहर जाना बन्द हो गया। शत्रुओंके यहां तो, जो तिहाईसे भी अधिक कच्चा माल खरीते थे, मालका जाना बिल्कुल ही बन्द था; दूसरे मित्र राज्यों या अन्य देशोंमें भी माल भेजनेमें कठिनाई होती थी. क्योंकि ढोनेके लिये जहाज ही नहीं मिलते थे। फिर इसके बाद तो सरकारकी आज्ञा बिना जूटका बाहर जाना ही बन्द हो गया क्योंकि सम्भव था कि अन्य राष्ट्रोंसे होकर जूट शत्रुओंके पास पहुंच जाता। इन सबका फल यह हुआ कि कलकत्तेमें कच्चे जूटका भाव बिल्कुल ही गिर गया; गरीब किसान लोग अपनी फसल खरीदनेके लिये ढूंढ़ने पर भी लोग नहीं पाते थे। माल सस्ता बिकता हुआ देखकर कलकत्तेकी जूट मिलोंने थोड़ा बहुत जूट खरीद कर अपने गोदामोंमें भर रखा। अब इधर लड़ाई छिड़नेके बाद ही इङ्गलैण्ड, फ्रान्स, रूस, इटली संयुक्तराज्यने बोरे और चट्टियोंकी मांग बेतरह बढ़ा दी, क्योंकि इनके बिना लड़ाईका काम ही नहीं चल सकता था। कलकत्तेकी जूट मिलोंके पास आर्डर की वर्षा होने लगी, बाजारमें इन बोरोंकी दर बेतरह बढ़ गई, पर कच्चे जूटका भाव वैसा नहीं बढ़ सका, क्योंकि बाहरके खरीदार बिल्कुल नहीं थे, तथा सरकारी आज्ञा बिना मालकी

रफ्तनी हो ही नहीं सकती थी। मिलवालोंने इन बढ़ती हुई मांगोंको पूरा करनेके लिये मजदूर भी मनमाने पाये क्योंकि लड़ाई छिड़ जानेसे बहुतसे सरकारी काम बन्द हो गये थे। बस फिर तो मिलवालोंके नफाका ठिकाना न रहा, सस्तेसे भी सस्तेमें कच्चा माल खरीदा और मंहगेसे मंहगे दाम पर बोरे और चट्टियोंको मित्रराज्योंके हाथ बेचा। मिलोंने बहुत ही नफा उठाया पर बेचारे किसानोंको नफेके बदले नुकसान ही रहा।

लड़ाईके जमानेमें जूट मिल कम्पनियोंको सब खर्च और सरकारी टैक्स (इन्कम टैक्स, सुपर टैक्स इत्यादि) बाद देकर जो मुनाफा हुआ उसका ब्यौरा नीचे दिया जाता है।

जूट मिल कम्पनियोंका मुनाफा (खर्च और टैक्स बाद देकर)

		१९१४	१९१५	१९१६	१९१७
कुल मुनाफा	हजार पाउण्ड	९८२	४८२०	६२०९	४४४७
कर्जका सूद	हजार पाउण्ड	१५९	१५९	१५४	१४२
खालिस मुनाफा	हजार पाउण्ड	८२१	४६६१	६१५५	४३०५
अर्थात् लगी हुई पूंजी पर फी सैकड़ा	,,	१०	५८	७५	४९

जूटका भविष्य—इस तरहका लाभ सब दिन नहीं हो सकता। इस कारण भविष्यकी चिन्ता अवश्य करनी पड़ेगी। दिनोंदिन जूटकी मांग बढ़ती जाती है, उसकी उपयोगिता अधिक होती जाती है। चट्टी, बोरे, सूत, डोरी तो जूटकी बनती ही है, अब इसकी मिलावट बहुत किस्मके कपड़ोंमें भी पायी जाती है; इसके बने कालीन और गलीचे सस्ते और भड़कीले होते हैं। इसीसे कहते हैं कि जूटकी मांग बढ़ती जाती है, पर माल जितना चाहिये उतना नहीं पैदा होता। भारतवर्ष ही इस समय

इसका एकमात्र मालिक है, पर यहां काफी जूट पैदा नहीं होता। दुनियांमें इस समय प्रायः दस मिलियन गांठोंकी सालाना जरूरत है, पर भारतवर्ष सिर्फ आठ मिलियन गांठ पैदा करता है। फलतः जूटका दाम भी बढ़ता जाता है, पिछले चालीस वर्षोंमें इसका दाम दूना हो गया है। यदि जूट इस तरह मंहगा होता गया तो लोग जूटके बदले किसी सस्ते पदार्थको व्यवहार में लानेका यत्न करने लगेंगे। जहां जूटकी खेती अभी लाभदायक नहीं है वहां दाम बढ़ जानेसे, आगे चलकर खेती लाभदायक हो जायगी। फिर यह भी सम्भव है कि कृत्रिम नीलकी तरह कृत्रिम जूट भी बनने लग जाय। मेक्सिको, अलजीरिया, गोल्ड-कोस्ट, कोंगो, फिजी, फारमोसा इत्यादि स्थानोंमें जूटकी खेती करनेकी चेष्टा की जा रही है। कहीं कहीं पर कुछ सफलता भी हुई है, यदि वहां पूरी सफलता हो गयी तो भारतवर्षको अवश्य ही धक्का पहुंचेगा। यही नहीं, लड़ाईके जमानेमें जर्मनोंने कागज और पोआलके बोरे बनाये थे; उनकी खाइयोंसे हमारी विजयिनी सेना कुछ वैसे बोरे लायी थी जो बहुत ही मजबूत थे और पानीमें भी नहीं गलते थे। यदि इसमें व्यावहारिक रूपसे सफलता हुई तो फिर जूटके बुरे दिन आयंगे। इसीसे कहा जाता है कि जूटके भविष्य पर अवश्य ही ध्यान रखना पड़ेगा।

इसमें दो बातोंकी बड़ी आवश्यकता है। एक तो यह कि पैदावार बढ़ाना और दूसरा सस्ता माल पैदा करना। कृषि विभाग के मि० फिनलोने पता लगाया है कि "ककिया बम्बई" जातिका

जूट अच्छी फसल देता है। इनकी कृपासे नये प्रान्तोंमें जूट बोने का प्रयत्न किया जा रहा है; और 'ककिया' जातिके जूटका प्रचार कराया जा रहा है। उन्होंने इस बातका भी पता लगाया है कि बंगालके 'भील', खालोंके जलमें एक प्रकारका उद्भिद (Water Hyacinth) बहुतायतसे पाया जाता है जिससे बड़ी अच्छी खाद तैयार हो सकती है। इससे सस्ती खाद मिल नहीं सकती। इन उपायोंसे आशा की जाती है कि देशमें जूटकी पैदावर भी बढ़ेगी और माल भी सस्ता पड़ेगा।

कागज—कहा जाता है कि मुसलमान शासक भारतवर्षमें पहले पहल कागज लाये। उन्होंने भी चीनियोंसे इसका व्यवहार सीखा था। पुरानेसे पुराने समयमें हिन्दुस्तानमें लोग ताड़के पत्तों और भोजपत्रपर लिखा करते थे। आजकल भी दक्षिणमें ताड़के पत्तोंपर लिखनेकी प्रथा प्रचलित है। संस्कृतके पुराने पुराने ग्रन्थ ताड़के पत्तोंपर लिखे मिले हैं। बंगाल, विहार, उड़ीसा, मद्रास हातेमें ऐसी पोथियां बहुतायतसे मिलती हैं। भोजपत्र पर दुआ तावीज, यन्त्र मन्त्र लिखनेकी चाल आजतक चली आती है। सबसे पुरानी हाथकी लिखी संस्कृतकी पोथियां काश्मीर और नेपालमें पायी गयी हैं, बहुत सम्भव है कि यहां चीनसे कागज़ बनानेकी विद्या आई हो।

मुसलमानोंके जमानेमें हाथसे कागज बनानेका रोजगार बहुत कुछ चढ़ा बढ़ा था। आजकल भी बहुत जगह मुसलमान कागज़ी मिलते हैं, परन्तु मोटे, भद्दे कागजोंका बनाना ही

उनके हाथ रह गया है। यद्यपि यहांके लोगोंको सैकड़ों वर्षोंसे कागज बनानेकी विद्या मालूम है, पर नयी रीतिसे, मशीनोंकी सहायतासे बढ़ियासे बढ़िया कागज़ बनानेकी हिकमत अंगरेज ही यहां लाये हैं। उन्हीं लोगोंके उद्योगसे यहां भी नये ढंगपर कागज बनने लगा है।

देशी कागजकी मिलें—मिलोंमें कागज बनानेका व्यवसाय अब बहुत कुछ दृढ़ हो गया है, कोई पचास वर्षोंसे यहांपर कागजकी मिलें खुली हुई हैं। सबसे बड़ी मिलें टीटागढ़ पेपर मिल कम्पनीकी हैं जिनमें एक टीटागढ़में और दूसरी काकनारा (दोनों कलकत्तेके पासही हैं) में चल रही हैं। ये दोनों मिलाकर कोई १५ हजार टन कागज सालाना तैयार करती हैं। इनके बाद रानीगंजमें 'बंगाल पेपर मिल कम्पनी' की मिल है जहां ६,७०० टन माल सालाना तैयार होता है। तीसरी मिल लखनऊकी है जहां २५,०० टन कागज तैयार होता है। बम्बई हातेमें पूनामें एक मिल है जहां सालमें एक हजार टन कागज तैयार होता है। देशी रजवाड़ोंमें ग्वालियर और त्रावंकोरमें एक एक मिल हैं।

लड़ाईके पहले देशी मिलोंमें २५ हजार टन कागज तैयार होते थे, और ५० हजार टनसे भी ऊपर कागज और दफ़्ती बाहरसे आती थी। लड़ाईके कारण बाहरसे माल कम आता था, खर्च भी अधिक पड़ता था। इसीसे देशी मिलोंको तरक्की करनेका अच्छा अवसर मिला था, जहां लड़ाईके पहले कुल २५ हजार

टन कागज देशी मिलोंमें बनते थे, वहां १६-१७ में ३१ हजार टनसे अधिक माल तैयार हुआ। नीचे लिखे विवरणसे देशी 'पेपर मिलों' का पूरा हाल मालूम होगा।

पेपर मिल

सन्	१९१३	१९१४	१९१५	१९१६-१७
मिलोंकी संख्या:—	९	१०	११	×
पूंजी (लाख रुपया)	.५४	५१॥	४९॥	×
काम करनेवाले (प्रतिदिन)	४५९७	४५६२	४६६५	×
तैयार माल (टन)	२७०००	२८७००	२०९६१	३१९००
मूल्य (लाख रुपया)	८०	८२	९०	×

विदेशी कागजकी आमदनी—देशी पेपर मिलोंमें जितना माल तैयार होता है उससे दूना माल विलायतसे आता है। हमलोग विदेशसे तरह तरहके कागज, दफ्ती, लिफाफे और चिट्ठीके कागज मंगाया करते हैं। बढ़िया लिफाफे और चिट्ठीके कागज देशी मिलोंमें नहीं बनते हैं, अतएव उनके लिये विदेश पर भरोसा करना उचित ही है, पर मामूली कागजोंके लिये भी विदेश जाना पड़ता है क्योंकि जर्मनी, आस्ट्रिया, स्वीडन, नारवेके लिखने तथा छापनेके कागज बहुत ही सस्ते पड़ते हैं, वैसा बढ़िया माल देशी मिलोंमें तैयार नहीं हो सकता। लड़ाईके पहले युनाइटेडकिंगडम, जर्मनी, आस्ट्रिया, स्वीडन, नारवेसे छापेके कागज आते थे, तथा लिफाफे और चिट्ठीके कागज युनाइटेडकिंगडम और स्वीडन नारवेसे। जबसे लड़ाई शुरू हुई है तबसे शत्रुदलसे कागजका आना बिल्कुल बन्द है, उनकी जगह स्वीडन, नारवे, जापान और अमरिका-संयुक्तराज्यने ली है।

विशेपकर पिछले दो देशोंने तो लड़ाईसे बहुत ही लाभ उठाया है अब सीधे स्वीडन नारवेसे जहाजोंको आने जानेका प्रवन्ध होगया है इस कारण वहांसे अधिक माल आने लगा है। उसी तरह जापानियोंने भी अपनी जहाज कम्पनियोंकी सहायतासे अधिक माल भेजना शुरू किया है। वह अपनी जरूरतसे अधिक कागज तैयार करता है। बचे बचाये कागजोंको अनायास ही अपने जहाजों पर लादकर भारत भेज रहा है। शत्रुओंके स्थानको अन्य देशोंने किस प्रकार दखल किया है उसका विवरण नीचे दिया जाता है।

कहांसे कितने कागज और दफ्ती आती है

	१९०९ से १९१४ तक फी सैकड़ा	१९१५-१६ फी सैकड़ा	१९१६-१७ फी सैकड़ा	१९१८-१९ फी सैकड़ा
युनाइटेडकिंगडम	५७·८	५८·४	४७·५	२०·०
नारवे	६·५	१७·३	१८·४	२२·०
जापान	·४	२·९	१२·७	२५·६
अमरिका संयुक्तराज्य	·७	२·३	९·२	२२·०
स्वीडन	३·१	११·२	८·३	५·५
जर्मनी	१७·१	·७	·१	
आष्ट्रिया	८·६	×	×	
अन्य देश	८·७	६·२	३·८	४·९

इस लड़ाईका यह परिणाम हुआ है कि नारवेने प्रायः ७ गुना, जापानने ६० गुना, अमरिकाने ३० गुना, अधिक माल भेजना शुरू किया है।

हर साल कितनेके कागज, लिफाफे विदेशसे आया करते हैं उनका विवरण नीचे दिया जाता है :—

विदेशी कागज, लिफाफों इत्यादिकी आमदनी।

	कागज, दफ्ती		चिट्ठी, लिफाफे इ०	
	गैर सरकारी खरीद	सरकारी खरीद	गैर सरकारी खरीद	सरकारी खरीद
सन्	लाख रु०	लाख रु०	लाख रु०	लाख रु०
१९०५-६	७०	४	३८	४
१९१०-११	११२	९	५२	५
१९१३-१४	१५९	८	७०	२०
१९१५-१६	१४४	६	५७	१६
१९१६-१७	२१२		७८·५	११·२
१९१७-१८	२११		६४·४	१४·७

कागजके व्यवसायका भविष्य—ऊपर दिखाया जा चुका है कि देशी पेपरमिलें जितना कागज तैयार करती हैं, प्रायः उससे दूना माल विदेशसे मंगाना पड़ता है। फिर भी देशी मिलोंमें जितना माल तैयार होता है उसका भी बहुत सा हिस्सा विलायती सामानके जरियेही होता है। १९१६-१७ में भी, यद्यपि लड़ाई चल रही थी, हम लोगोंने ८५०० टन सामान मंगाये जिनसे कि देशी पेपर मिलोंने कागज़ तैयार किये। इसमें ८४३० टन तो सिर्फ लकड़ीकी मुलायम लुगदी (Wood pulp) थी जो नारवे, स्वीडन और जापानसे आयी थी। १९१२-१३ में तो इसका डेवढ़ा माल मंगाया गया था, क्योंकि उस साल १३२५० टन 'पल्प' आया था। इसके अतिरिक्त कागज तैयार करने, साफ करने, आदिके रासायनिक मसाले भी आया करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि लड़ाईके पहले देशी मिलें जाहिरा प्रायः २५ हजार टन कागज़ तैयार करती थीं, पर सचमुचमें उसका आधा ही देशी माल था, और आधा विदेशी माल

('पल्प') के आधार पर बनाया गया था। जापानने पहले पहल १९१६-१७ में कुल १७५ टन लुगदी (pulp) भेजी थी, पर १९१७-१८ में २१०० टन भेजा। देशी मिलोंमें १९१७-१८ में प्रायः ३२ हजार टन कागज़ बना।

योरप, अमरिकामें कागज़का व्यवसाय दो भागोंमें बंटा हुआ है। कुछ कारखाने तो लकड़ी और घाससे 'पल्प' तैयार करते हैं, और कुछ कारखाने इस 'पल्प' से रंग विरंगे कागज बनाते हैं। 'पल्प' का उपयोग कागज़के अलावा और भी दूसरे दूसरे कामोंमें होता है—जैसे कचकड़े, कृत्रिम रेशम, कृत्रिम काठ इत्यादि। पर भारतवर्षमें ये दोनों काम एक ही को करने पड़ते हैं—पेपरमिलोंमें ही 'पल्प' भी तैयार किये जाते हैं। इसका कारण यह है कि अबतक यहां घास या लकड़ीसे कागज़ बनाने लायक मुलायम 'पल्प' (Paper pulp) तैयार करनेका कोई कारखाना नहीं है। देशी पेपरमिलोंमें साबई, भबर, मूंज नामक घासोंसे 'पल्प' तैयार किये जाते हैं। ये घास बंगाल, विहार, छोटा नागपुर, उड़ीसा, नेपाल और युक्तप्रान्तमें पाये जाते हैं। इनके अलावा चीथड़े, खराब सन, जूट, पुराने बोरे, रस्सी, कागज़ इत्यादिसे भी पल्प तैयार किया जाता है।

दुनियांमें आजकल जितना पल्प तैयार किया जाता है, उसका सैकड़े ६० भाग लकड़ीसे और शेष घाससे बनता है। कागज़ बनाने तथा कचकड़े, कृत्रिम रेशम, लकड़ी इत्यादिके लिये 'पल्प' की मांग है। दिनों दिन कागज़का व्यवहार बढ़ता

जाता है, क्योंकि जैसा कि ग्लैडस्टनने कहा था, "कागज़के व्यवहारसे ही जातिकी सभ्यताका पता चलता है।" यह अवश्य ही निश्चित है कि कागज़का प्रचार बढ़ता ही जायगा तथा 'पल्प' से नये नये वैज्ञानिक पदार्थ बनते ही जायंगे। इस लिये 'पल्प' की मांग बढ़ेगी, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। केवल कागज़की मांग ही तो दस वर्षमें सैकड़े २५ बढ़ती जाती है। इस समय संसारमें प्रायः दस मिलियन टन कागज हर साल ख़र्च होता है, उनमेंसे सिर्फ ८० हजार टनके लगभग भारतवर्ष खर्च करता है। पर यह निश्चित है कि शिक्षाके प्रचारसे कागज़का खर्च यहां भी शीघ्र ही दूना तिगुना हो जायगा।

आजकल फिनलैंड, स्कैनडिनेविया, कनाडा, अमरिका–संयुक्तराज्यके जंगलोंसे सालाना तीस मिलियन टन लकड़ी काटकर 'पल्प' बनता है, तब कहीं दुनियांकी कागज़की तृष्णा बुझती है। इधर यह तृष्णा दिनों दिन बढ़ती ही जाती है। उधर देवदार और सनौवरके जंगल साफ होते चले जा रहे हैं, उनमें फिरसे जंगल लगानेकी कोई नियमित चेष्टा नहीं की जा रही है। इससे जान पड़ता कि शीघ्र ही 'पल्प' का अकाल पड़ जायगा। इधर भारतवर्षके 'जंगलात-विभागवालों' ने पता लगाया है कि बांस और 'सबना' 'जातिकी घाससे बहुत बढ़िया और सस्ता 'पल्प' तैयार हो सकता है। ये दोनों प्रकारके द्रव्य हिन्दुस्तानमें इस बहुतायतसे पाये जाते हैं कि कुछ ही दिनोंमें भारतवर्ष २० मिलियन टन पल्प (अर्थात् दुनियामें

आजकल जितना पल्प तैयार होता है उसका दूना) तैयार कर सकता है।

ये द्रव्य ऐसी जगहोंमें (आसाम, बर्म्मा इत्यादि) पाये जाते हैं कि वहां पल्पके कारखाने सुगमतासे चलाये जा सकते हैं। इधर जंगलातवालोंने पल्प बनानेकी उलझनोंको सुलझानेमें भी सफलता प्राप्त की है। बांसकी गांठोंको गलाने, पल्पको धोने और साफ करनेकी सरल वैज्ञानिक रीति भी निकाली है। शीघ्र ही एक ऐसा कारखाना खुलनेवाला है जहां बांस और 'सभवा' घाससे पल्प तैयार किया जायगा। व्यापारकी दृष्टिसे इस कार्यमें सफलता होनेमें कोई सन्देह नहीं है, बल्कि देवदार और सनौवरकी लकड़ियोंसे तैयार किया गया 'पल्प' बांसके पल्पसे कहीं मंहगा पड़ता है। 'देशी पल्प' विलायती पल्पसे सस्ते पड़ेंगे, पर एक दूसरी बातमें उन्हें बड़ी मुश्किलोंका सामना करना पड़ेगा। ये जंगल ऐसी जगहोंमें हैं कि जहांसे ढुलाईका खर्च बहुत ज्यादा पड़ेगा। जबतक देशमें पहाड़ों, जंगलोंमें चलनेवाली सस्ती बिजलीकी रेल और ट्राम गाड़ियों तथा नदियोंमें तेज स्टीमरोंका प्रचार न बढ़ेगा तबतक यह मुश्किल बनी ही रहेगी, और यही इस व्यवसायकी पूरी उन्नतिकी बाधक होगी। पर इतने पर देशी पल्प सस्ते ही पड़ेंगे, क्योंकि उनके बनानेका खर्च बहुत ही कम है। बहुत छानबीन करने पर निश्चित किया गया है कि चार जगहों पर पल्प बनानेके कारखाने खुल सकते हैं। आशा है वे शीघ्र ही खुलेंगे। उन्हें बैठे-बैठाये, हिन्दुस्तानमें ही

कोई ८० हजार टन पल्प बेचनेका मौका मिलेगा, क्योंकि इतना कागज़ तो यहां हर साल खर्च होता ही है। इस सस्ते पल्पके साथ सुदूर अमरिका और योरपके पल्पको सामना करनेमें मुश्किलें होंगी। हिन्दुस्तानी बाजार हाथमें कर लेनेके बाद देशी पल्प आस्ट्रेलिया, चीन, दक्षिण आफ्रिका इत्यादि देशोंमें सहज ही फैल सकता है; फिर यदि यह तरक्की करता गया और विलायती पल्प मंहगा होता गया तो योरप, अमरिकामें भी देशी पल्पका प्रचार होना कुछ मुश्किल नहीं है। आशा है उस समयतक देशी जहाज भी बनने लगेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि कारखाने खोलने और पल्प तैयार करनेके लिये मशीनों और रासायनिक द्रव्योंकी जरूरत होगी, और उनके लिये विदेशका ही मुंह ताकना पड़ेगा। पर, यदि औद्योगिक कमीशनकी राय मान ली गयी, और पूरी आशा है कि मान ली जायगी, तो ये दोनों अभाव भी शीघ्र ही दूर हो जायंगे, तथा देशमें ही मशीन वगैरह बनने लगेंगी। इतना होते हुए भी विदेशी मशीनों और सामानोंको लेकर शीघ्र ही 'पल्प' के कारखाने खुल जायंगे, इसकी पूरी आशा की जाती है।

रेशम—वस्त्र बनानेके जितने रेशेदार पदार्थ मिलते हैं उनमें रेशम सबसे मजबूत, मुलायम, चमकीला और बहुमूल्य है। इसके सूत वैसे रेशोंसे तैयार होते हैं जो एक प्रकारके कीड़के मुंहकी राळसे बनते हैं। रेशमके कीड़े पत्ते खाते हैं, तथा अपने मुंहसे एक प्रकारकी राल उगलते हैं जो हवा लगते ही कठिन हो जाती

है। इसी रालके सूखनेसे कीड़ेकी देहके चारों तरफ एक प्रकार-का वेष्ठन बन आता है, जिसे कोष वा ककून (Cacoon) कहते हैं। ये कोष गर्म पानीमें रखकर गलाये जाते हैं। गल जानेपर ६ से २० कोषों तकके रेशोंको मिलाकर रेशम कर सूत तैयार किया जाता है। इसीको अंगरेजीमें "रीलिंग" (Reeling) कहते हैं। रेशमके सूत तैयार करनेका एक और दूसरा उपाय है। जिन जातिके कोषोंको उबालने पर रेशे नहीं निकलते उनको धुन लिया जाता है (जैसे रूई धुनते हैं) और तब सूत कातते हैं।

रेशम दो प्रकारके होते हैं—(१) जंगली रेशम और (२) असली रेशम। जंगली रेशम उन कीड़ोंकी रालसे बनते हैं जो जंगलोंमें गाछ वृक्षकी पत्तिओंको खाकर जीते हैं। असली रेशमके कीड़े घरोंमें पाले जाते हैं और तूंतके पत्ते खाते हैं। जंगली रेशमके कीड़े भी घरोंमें पाले जा सकते हैं। (१) जंगली रेशमके तीन प्रकारके कीड़े भारतवर्षमें पाये जाते हैं। (क) तसर, (ख) अंडी, और (ग) मूगा। तसरके कीड़े भागलपुर, छोटा नागपुर, उड़ीसा, तथा मध्यप्रदेशके छत्तीसगढ़, नागपुर, नरबदा, जब्बल-पुर नामक इलाकोंके जंगलोंमें पाले जाते हैं। ये आसन, साल, हर्रे, सिद्ध इत्यादि वृक्षोंके पत्ते खाकर जीते हैं।

अंडीके कीड़े उत्तर बंगाल और आसाममें पाये जाते हैं, और ये कीड़े विशेष कर अंडीके पत्ते खाकर ही जीते हैं। आसाममें कसेरूके पत्ते भी खिलाये जाते हैं। अंडीके कोष उबाले नहीं जाते; इसे रूईकी तरह धुनकर सूत कातते हैं; यह

सूत टसर या तूंतके रेशमकी अपेक्षा मजबूत और टिकाऊ होता है। कृषि विभागकी ओरसे नयी जगहोंमें अंडीके कीड़ोंको पालनेका प्रचार करनेका यत्न किया जा रहा है।

मूंगा आसामका कीड़ा है; इसका सूत मूंगेके रंगका होता है, इसीसे इसका यह नाम पड़ा है। यह आजकल नागा पहाड़, सिलहट, कछार, त्रिपुरा और बर्म्माकी पहाड़ियोंमें पाया जाता है। इसके अंडे घरोंमें पाले जाते हैं तथा इसका सूत कोयोंको उबालकर तैयार किया जाता है। (२) असली रेशम या तूंतके रेशम (Mulberry silk) के कीड़े दो जातिके होते हैं। एक जातिके कीड़े सालमें एक ही बार अंडे देते हैं (Univoltine) ये कीड़े फ्रान्स, इटलीसे मंगाये जाते हैं, तथा पंजाब, काश्मीरमें पाले जाते हैं। दूसरी जातिके कीड़े, जिनका बंगाल, मैसूर, आसाम और बर्म्मामें बहुत प्रचार है, सालमें कईबार अंडे देते हैं (Multivoltine); पर इनसे घटिया रेशम तैयार होता है। ये कीड़े तूंतके पत्तोंको खाकर जीते हैं। बंगालके मुर्शिदाबाद, राजशाही, और मालदह जिलोंमें ये कीड़े बहुतायतसे पाले जाते हैं। मैसूर और काश्मीरमें भी इसका अच्छा व्यवसाय हो रहा है। बंगालमें 'पुंड' नामकी एक जाति है जिसका काम इन कीड़ोंका पालना है; इन्होंने इसमें बड़ी दक्षता प्राप्त की है। यह रेशम बहुत ही बढ़िया और चमकीला होता है। इससे तरह तरहके मुलायम, सादे, रंगीन कपड़े तैयार होते हैं। बरहमपुर (बंगाल) का मशहूर "गरद" इसीका बनता है।

रेशमका इतिहास—बहुतसे विद्वानोंका मत है कि सबसे पहले चीनवालोंने ही रेशमका व्यवहार निकाला, और वहींसे यह फैलता फैलता हिन्दुस्तान और शेष पृथ्वीपर फैल गया। ईस्वी सनके अढ़ाई हजार वर्ष पहले भी चीनमें रेशमका व्यवहार होता था। पर विद्वानोंका यह मत एकदम सत्य है ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसमें कोई शक नहीं कि चीनसे एक जातिके रेशम की (तूंतके रेशमका, जैसा कि आगे चलकर दिखाया जायगा) आमदनी हुई है; पर साथ ही यह भी कहना पड़ेगा कि इसके अलावा भी दूसरी जातिका रेशम भारतवर्षमें पाया जाता है जो यहींका है, खास देशी है—और इसमें विदेशी बू नहीं है। एम० एन० दे महाशयने, जिन्हें इस विषयका वैज्ञानिक ज्ञान है—कहा है कि यहां कुछ ऐसी जातिके रेशमके कीड़े पाये जाते हैं जो चीनमें कहीं नहीं होते। इसके साथ साथ संस्कृत साहित्यमें भी रेशमकी जिक्र है, उन सबसे प्रमाणित होता है कि एक जातिका (जंगली रेशम) रेशम तो देशी है, और दूसरी जातिका (असली रेशम, तूंतका रेशम) रेशम चीन देशकी चीज़ है।

संस्कृत साहित्यमें रेशम और रेशमी कपड़ेके लिये कौशेय, पत्रोर्ण, चीनपट्ट वा चीनांशुक—ये शब्द आते हैं। ऋग्वेद और रामायणमें क्षौम और कौशेय ये दो शब्द पाये जाते हैं। क्षौम वह कपड़ा है जो अलसीके छिलकेसे तैयार होता है (Linen तिसियौटा) तथा कौशेयका अर्थ है कोषसे (Cacoon) तैयार किया हुआ रामायणमें बार बार कौशेय और क्षौमका जिक्र

आता है। सीता स्वयम्बरके समय कौशेय वस्त्र पहनती हैं, यही उनके दहेजमें भी आता है। अयोध्याके राजमहलमें भी राम सीता कौशेय पहना करती हैं। यही कौशेय आजकलका 'तसर' है जो एक प्रकारका जंगली रेशम है। इसी कौशेय या जंगली रेशमका एक भेद 'पत्रोर्ण' भी है। पत्रोर्णका अर्थ होगा पत्रोंपर पाया गया या उससे पैदा हुआ 'ऊर्ण' यानी रोआं या रेशा। अमरकोशमें पत्रोर्णका अर्थ है 'सफेद या साफ किया हुआ कौशेय' टीकाकार क्षीरस्वामी कहता है कि यह लकुच या वट-वृक्षके पत्तोंपर पाया जाता है और कीड़ोंके मुखसे निकलता है। टीकाकार सर्वानन्द कहता है कि साफ किये हुए कौशेय (यानी तसर) को पत्रोर्ण कहते हैं। इसीसे जाहिर है कि यह "पत्रोर्ण" या तो साफ किया रेशम या खुद ही सफेद होता था। अब देखिये कि अर्थशास्त्रमें चाणक्यने लिखा है कि मगध (दक्षिण विहार) पुण्ड्र (उत्तर बंगाल) और स्वर्ण कुड्य (आसाम) इन तीन देशोंमें "पत्रोर्ण" पाया जाता है। और नाग, लकुच, वकुल, वट इत्यादि पेड़ोंसे इसकी सृष्टि होती है। इसमें कहीं भी तूंतका नाम नहीं है। इससे स्पष्ट है कि 'पत्रोर्ण' असली रेशम (तूंतका रेशम) नहीं था, वह जंगली रेशम था। वह कौशेय की जातिका एक प्रकारका बढ़िया रेशम था। "कौशेय" रेशममात्रका नाम था, तथा जिन्हें मालूम था कि रेशम किस प्रकार बनता है वे उसे पत्रोर्ण भी कहते थे, रामायणमें जो (पंजाबमें लिखी गई थी ?) पत्रोर्ण कहीं नहीं आया है, और न

उसमें चीन पट्टका ही कहीं उल्लेख है। परन्तु मार्कण्डेय पुराणमें रेशमके तीन प्रभेद बताये गये हैं—जैसे पत्रोर्ण, कौशेय, आंशुक।

पत्रोर्ण स्वभावतः सफेद या हलके पीले रंगका होता था (जैसा कि आसामका अंडी या मूंगा)। यह रंग देखनेमें भला मालूम ही होता है तथा इसको दूसरे रंगमें रंगनेमें भी सुगमता है। इससे इसकी विशेष प्रतिष्ठा थी। ऐसे गुणोंको देखकर मालूम होता है लोगोंने विदेश-चीनसे नयी जातिके कीड़े मंगाये जो वैसे ही सफेद रेशम देते थे तथा अधिक मजबूत भी होते थे। यही तूंतका रेशम (असली रेशम) है। यह जब पहले पहल यहां आया तो 'पत्रोर्ण' के रंगका होनेके कारण पत्रोर्णके नामसे ही पुकारा गया। धीरे धीरे बोलचालमें 'ऊर्ण' छुट गया और 'पत्र' रह गया जो फिर उस समयके प्राकृतमें 'पट्ट' हो गया। बस तबसे 'पट्ट' का अर्थ असली रेशमका कपड़ा हुआ। देखिये महाभारत सभापर्व, ५० में इतने किस्मके वस्त्रोंका उल्लेख है— "ऊर्ण" यानी ऊन; "रंकु" यानी तिब्बती पश्म; "कीटज" (कौशेय तसर); "पट्ट" अर्थात् असली रेशम; तथा चिकने चमकीले रूईके कपड़े, रोयें इत्यादि। यहां "कीटज" और "पट्ट" रेशमकी दो जातियों (जंगली और असली) को बताते हैं। उसी तरह चाणक्यने अर्थशास्त्रमें कौशेय, पत्रोर्ण तथा चीनभूमिज चीन-पट्टका उल्लेख किया है। मनुने अपनी संहितामें कौशेय और पट्टका अलग अलग ज़िक्र किया है। सुश्रुतने भी महाभारतकी

तरह तीन प्रकार बताये हैं। कालिदास और भट्टिने भी अपने अपने काव्योंमें 'चीनपट्ट' और 'पट्ट'का प्रयोग किया है।

पर यह निश्चय नहीं होता है कि कब और कहांसे चीनी रेशमके कीड़े भारतवर्षमें आये। महाभारतसे पहले इसका उल्लख कहीं नहीं है। जो हो इससे इतना तो निश्चित है कि महाभारतके समयमें (अर्थात् ईस्वी सनके पूर्व पांचवी सदीमें) 'पट्ट' भारतमें पहुंच गया था। उस समय पश्चिमोत्तर सीमाके राजाओंने आकर युधिष्ठिरको बहुतसे कपड़े भेंट किये थे जिनमें तसर और 'पट्ट' भी शामिल थे। उसी समयमें अर्जुन जब उत्तर दिग्वजय करने गया था तब उसे प्रागज्योतिष (आसाम) में ऐसी सेनासे लड़ना पड़ा था जिसमें किरात, चीन जातिके लोग शामिल थे। इससे प्रतीत होता है कि भारतवर्षमें दो मार्गोंसे (आसाम और काश्मीर होकर) "चीनी पट्ट" की आमद हो सकती थी। सर जार्ज वाटने (Dictionary of Economic Products of India) लिखा है कि तूंतके रेशमका प्रचार भारतवर्षमें सैकड़ो वर्षोंसे है। सम्भव है कि इसका प्रचार दो रास्तोंसे हुआ हो—(१) उत्तर भारतमें खुतन (मध्यएशिया) और ईरानसे, तथा (२) आसाम बंगालमें मनीपुर राज्यकी राहसे होकर चीनदेशसे। तूंतके कीड़े पालने और उससे सूत और कपड़े तैयार करनेकी चाल बहुत पुरानी है. इसमें कोई सन्देह नहीं। आजकल भी जो शब्द इस व्यवसायमें प्रयोग किये जाते हैं ये सब पुराने संस्कृतके विकृत रूप हैं। बंगालमें रेशमके कीड़ों—

को 'पालूपोका' कहते हैं। 'पालू' पल्लव यानी पत्तोंका अपभ्रंश है; 'पालू पोका' वह कीड़ा है जो पत्तोंको खाकर जीता है। उसी तरह 'देशी पालू' से यह मालूम पड़ता है कि रेशमी कीड़ोंमें कुछ देशी और कुछ वाहरसे आये विदेशी हैं। अवतक लोगोंकी यही धारणा थी कि जिस तरह चायके पेड़ चीनसे आये हैं उसी तरह रेशमके कीड़े भी चीनसे ही भारतवर्षमें पहुंचे। परन्तु उद्भिद्-विद्याविशारदोंने भारतवर्षकी वनस्पतिका निरीक्षण करके पता लगाया है कि आसामके जंगलोंमें चायके जंगली पेड़ वहुतायतसे पाये जाते हैं, तथा उसी तरह एक जातिके रेशमके कीड़े भी देशी जंगलोंमें अधिकतासे मिलते हैं।

अव जरा रेशमके पुराने व्यापारका भी वखान सुनिये। ईस्वी सनकी दूसरी सदीमें मालावार किनारेसे भारतीय रेशम लाल समुद्र होता हुआ रोम पहुंचता था। उसी तरह वैजन-टियम (कुस्तुनतुनिया) के ग्रीक वादशाहोंके दरवारमें भारतके रेशमी वस्त्रोंकी वड़ी चाह थी। इसके वाद कुछ पुराने फकीरोंने या तो भारतवर्षसे या चीनसे रेशमके कीड़े ले जाकर छठी सदीमें योरपमें रेशमका प्रचार किया। यही रेशम धीरे धीरे वारहवीं सदीतक सिसली, इटली, फ्रान्स और स्पेनमें फैलकर भारतके व्यापारसे स्पर्द्धा करने लगा। पर जव योरपका वाजार वन्द हो गया तो वगदादके खलीफोंने (१३ वीं सदी) रेशम मंगाना शुरू किया। इधर भारतवर्षमें मुसलमान वादशाहोंने रेशमके व्यवसायकी वड़ी उन्नति की। विशेषकर अकवरके शासनकालमें

तो रेशमका रोजगार चरम सीमापर पहुंच गया। अबुलफजलने "आईनेअकबरी" में भांति भांतिके रेशमका वर्णन किया है। "नूरजहां" वेगमने अपने पूर्व पतिके साथ वर्दवानमें रहते हुए वीरभूमिके रेशमको पसन्द किया था, जब वह दिल्लीपतिकी अधीश्वरी हुई तो उन्होंने वीरभूमिके रेशमका फैशन दिल्लीमें चलाया। अब क्या था सब कोई-बादशाह, वेगम, मुसाहब, सरदार इसे पहनने लगे। यात्री "वरनियर" ने शाहजहांके समयके साटिन, मखमल, गुलज़ार, कमखाब, चेली, तसर इत्यादि तरह तरहके रेशमका विस्तृत वर्णन किया है। वरनियर कहता है कि वंगालमें इतना सूती और रेशमी माल तैयार होता है कि वह मुगल साम्राज्यको कौन कहे, आसपासके कुल साम्राज्यों और योरप भरकी जरूरतोंके लिये काफी है।

मालदह (बंगाल) रेशमके व्यापारका केन्द्र था। सर जार्ज वर्डउड तथा डा० हण्टरने लिखा है कि इसका पूरा सबूत है कि १५७७ ई० में मालदहके शेख भीखूने तीन जहाजोंमें भरकर रेशमी माल फारसकी खाड़ी की राहसे रूस भेजा था। * इसी तरह विदेशी यात्रियोंने भी मालदहसे योरप भेजे जानेका वर्णन किया है। ईस्ट इंडिया कम्पनी भी मालदहसे बहुत सा रेशमी माल सालाना खरीदा करती थी। उस समय बंगालमें रेशमी कपड़े और रेशमी सूत दोनों चीजें तैयार होती थीं, वहांसे बहुत रेशमी सूत मछलीपट्टम, खम्भात और सूरत भेजा जाता था जहां रेशमी

* Sir George Birdwood—Indian Arts, p. 375.

कपड़ा बुननेका बहुत बड़ा व्यवसाय था। उसी तरह ट्रवर्नियर अपने भ्रमण वृत्तान्तमें कहता है कि कासिमबाजार (मुर्शिदाबाद) से सालाना बाईस हजार गांठें (प्रत्येक ५० सेर की) बाहर भेजी जाती हैं। कासिमबाजारमें डच, अंगरेज इत्यादि कम्पनियां, सैकड़ों कारीगरोंके द्वारा अपनी कोठियोंमें रेशमी माल तैयार कराया करती थीं। जब लंडनके पास स्पाइटलफील्ड्स (Spitalfields) में रेशमका कपड़ा बनने लगा तो उनकी रक्षाके लिये ईरान, हिन्दुस्तान और चीनके रेशमका व्यवहार रोक दिया गया। पर इतने पर भी पूर्वीय देशोंका माल सस्ता पड़ता था। पर जबसे कलके करघोंमें रेशमी कपड़े बुने जाने लगे तबसे इन देशोंके व्यापारकी कमर टूट गयी।

रेशमी मालकी रफ्तनी—भारतका रेशमका व्यापार जो किसी समयमें सभ्यसंसारको छाये हुए था, आजकल बिल्कुल गिरी दशामें है। यह रोजगार मरता जाता है। १९१३-१४ की सरकारी रिपोर्टमें लिखा गया है कि यह व्यवसाय प्रायः निर्मूल हुआ जाता है। * १७७२ में प्रायः १८०,००० पाउण्ड (वजन) काता हुआ रेशम बाहर गया; १७८५ में ३२४३०७ पा० और १७९५ में ३८०३५२ पाउण्ड। उसके २० वर्ष बाद सिर्फ बंगालसे ७३६०८१ पाउण्ड रेशम बाहर गया।" (मिलबर्नकृत, रेशमके

*—"An analysis of the trade statistics shows that the trade is on the down grade, and the indigenous industry almost in a state of jeopardy" Trade Review 1913—14, p. 28.

व्यापारकी उत्पत्ति और अभ्युत्थानसे)। १८०५ में कुल भारतसे ८३५२०४ पाउण्ड, १८२५ में ९१९४३६ पाउण्ड, १८३५ में ७२७५३५ पाउण्ड, १८६७-८ में २,२२६२०१ पाउण्ड रेशम वाहर गया।

१८५७ के लगभग विलायतमें रद्दी रेशम (चसम, waste silk) के उपयोगकी रीति निकाली गई। तबसे इस रद्दी रेशम (चसम) की रफ्तनी बढ़ती ही जाती है। इससे यद्यपि वाहर गये कच्चे रेशमका परिमाण बहुत कुछ बना हुआ है तथापि उसका मूल्य पहलेकी अपेक्षा बहुत कम है। जहां भारतसे रेशमके सूत और कपड़े वाहर जाते थे, वहां अब उनकी जगह पर चसम, कोप ही अधिक भेजे जाते हैं, तैयार मालकी रफ्तनी कमती जाती है। इस ह्रासका एक और दूसरा कारण है। ज्यों ज्यों चीन और जापानके बन्दरगाह योरपके व्यापारियोंके लिये खुलते गये त्यों त्यों बंगालकी चीजोंकी क़द्र कमती होती गयी; बंगालकी जगहमें चीन, जापान ही रेशमी माल भेजने लगा।

आज जितना बढ़िया और घटिया रेशमी माल देशमें तैयार होता है उसका अधिकांश तो देशमें ही खर्च हो जाता है, बहुत ही थोड़ा हिस्सा बाहर जाता है। उसके अलावा बहुत सा माल कच्चा और तैयार वाहरसे भी आता है। रेशमके व्यापारका बहुत बड़ा अनुभव रखने वाले एक सज्जनने (Mr. Natalis Rondset of Lyons) हालमें ही हिसाब लगाया था कि भारतमें सालाना १२,००,००० सेर रेशम तैयार होता है तथा १३२०,००० सेर रेशम

खर्च होता है। रेशमके कच्चे और तैयार मालकी रफ्तनी किस प्रकार कमती होती जाती है उसका ब्यौरा नीचे दिया जाता है।

रेशम (कच्चे माल) की रफ्तनी।

(इसमें चसम और कोषकी रफ्तनी शामिल है)

सन्	हजार पा० वजन	दाम हजार रु०	बढ़ती.घटती
१८६९-७० से दस वर्षोंका औसत	१७१०	८४८६	१००
१८७९-८० से दस वर्षोंका औसत	१५८१	५०२८	५९
१८८९-९० से दस वर्षोंका औसत	१६८०	५६८३	६७
१८९९-१९०० से दस वर्षोंका औसत	१८३१	५८९८	६९
१९१०-११ में	१८५१	५०५५	६०
१९१३-१४ में	१२०३	२४७४	२९
१९१४-१५ में	५१६	११९१	१४
१९१६-१७ में	१५४४	४९३२	

रेशम (तैयार माल) की रफ्तनी

(इसमें सूत, कपड़े, सब शामिल हैं)

सन्	दाम हजार रु०	कमी बेशी
१८६९-७० से दस वर्षोंका औसत	१९६४	१००
१८७९-८० से दस वर्षोंका औसत	२९११	१४८
१८८९-९० से दस वर्षोंका औसत	१७२०	८८
१८९९-१९०० से दस वर्षोंका औसत	८६०	४४
१९१०-११ में	७६९	३९
१९१३-१४ में	५६८	२९
१९१४-१५ में	३४५	१८
१९१६-१७ में	५४३	

इन विवरणोंको पढ़नेसे स्पष्ट होता है कि रेशमकी रफ्तनी घटती जा रही है। आजकल तो यह व्यापार करीब करीब नहींके बराबर हो गया है। कच्चे मालका जितना वजन घटा है उससे कहीं

अधिक उसका मूल्य घट गया है। मूल्य तो घटते घटते सैकड़े २९ रह गया है। इसका कारण यह है कि भारत रेशमके बदले 'चसम' अधिक भेजने लगा है। दूसरा कारण चीन, जापान, इटली, रूस, फ्रान्स इत्यादि देशोंके रेशमकी उन्नति है। जहां जापान १९०३-४ में सिर्फ ५०॥ लाख रु० का रेशमी माल भरत-वर्ष भेज सका था वहां उसने केवल दसही वर्षों में १४५ लाख रुपयेका माल भारत भेजा! इधर देशी रेशमी कीड़ोंमें रोग फैल गया है, उससे भी माल कम और घटिया पैदा होता है। किसानोंने रेशमके कीड़े पालनेकी अपेक्षा अन्य अधिक लाभदायी द्रव्योंकी खेती शुरू कर दी है।

विदेशी रेशमकी आमदनी—इधर तो देशसे रेशमकी रफ्तनी घटती जाती है और उधर विदेशी मालकी आमदनी बढ़ती जाती है। १८७६-७७ में ५८॥ लाख रुपयोंका सब तरहका रेशम देशमें आया; १८८१-८२ में वह बढ़कर १३५ लाख रुपये, १९००-०१ में १६६'५ लाख रुपये १९०४-५ में २११'८ लाख रु० १९०७-८ में ३०० लाख रुपये तथा १९१२-१३ में ४७६ लाख रु० हो गया! बाहरसे आये मालमें कच्चा रेशम, सूत, रेशमी थान वगैरह सब शामिल हैं। कच्चा रेशम चीन, जापान, स्ट्रेटसेटिलमेंट और स्यामसे आता है, तथा तैयार माल (सूत, तथा थान इ०) जापान, चीन, हांगकांग, फ्रान्स, इटली, और युनाइटेडकिंगडमसे आता है। इधर कुछ दिनोंसे कृत्रिम रेशम, चमकीले सूती कपड़े (mercirized cotton goods) जर्मनी इ० देशोंसे बहुत ही

आने लगे हैं। लड़ाई छिड़नेके बादसे चीन, जापानने रेशमी माल भेजनेमें बड़ी तरक्की की है। इन देशोंसे दोनों प्रकारके—कच्चे और तैयार माल अधिक परिमाणमें आने लगे हैं। स्याम भी धीरे धीरे अधिक माल भेजने लगा है। बाहरसे जितना रेशम आता है उसका अधिकांश सैकड़े—८०-९० तो बम्बई पहुंचता है। वहींसे बम्बई, पंजाब और युक्तप्रान्तमें फैलता है

विदेशी रेशम (कच्चा माल) की आमदनी

हजार रु०

सन्	१९०९-१०	१९१२-१३	१९१६-१७	१९१७-१८
चीन और हांगकांग	८८७७	१६०५२	१००८०	१०५९०
स्ट्रेटसेटिलमेंट	७०८	४९८	१६५	१५
अन्य देश	१८९	५९५	८२५	१००५
कुल जोड़	९७६९	१७१४५	११०७०	११६१०

विदेशी रेशम (तैयार माल) की आमदनी

	परिमाण हजार गज		मूल्य हजार रु०		
सन्	१९१२-१३	१९१३-१४	१९१२-१३	१९१३-१४	१९१६-१७
रेशमी थान गज	२९८२६	२७३३८	२०३६२	१९१८५	१९०६८
मिलावटी रेशम ,,	७२६१	८१६४	५८३७	६९५२	४८७१
रेशमी सूत ह० पा०	११४३	११६९	४०९४	४५८२	३८८२
अन्य	७०	६०	२३८	२९४	५८९
कुल जोड़—			४७६७६	४३६'३.	२८४४०

नीचे दिये गये विवरणसे मालूम होगा कि कौन देश भारतसे कितना रेशम खरीदता है और बदलेमें कितना रेशम भेजता है। भारतमें विशेष कर चीन, जापान, फ्रान्स और युनाइटेड किंगडम से रेशम आता है। जापानने रेशममें बड़ी तरक्की की है; वहांकी

सरकारने रेशमके व्यवहार पर बहुत ध्यान दिया है। इसका फल यह हुआ है कि इस समय जापान सारी दुनियांमें सबसे अधिक रेशम तैयार करता है। पिछले ३० वर्षोंमें उसने रेशमकी पैदावार तिगुनी कर दी है।

रेशमकी आमदनी-रफ्तनीका मिलान।

रफ्तनी				आमदनी			
सन्		१९१३-१४	१९०४-५			१९१३-१४	१९०४-५
युनाइटेडकिंगडम	(लाख रु०)	२	३	युना०	(लाख रु०)	२८	१७
फ्रांस	,,		१	फ्रांस	,,	२५	३१
अदन	,,	१	—	जापान	,,	१४५	५१
		—		चीन	,,	६४	३५

रेशमका व्यवसाय (वर्त्तमान और भविष्य)—रेशमके व्यवसायको दो भागोंमें बांट सकते हैं। (१) कीड़ोंका पालना। और (२) उसके कोषोंसे सूत तैयार करना और कपड़ा बुनना जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। यहां पर तसर, अंडी, मूंगा और तूंतके कीड़े पाये जाते हैं। पहले तीन जंगली हैं, और चौथा घरोंमें पाला जाता है तथा तूंतके पत्ते खाकर जीता है। तूंतके कीड़े दो प्रकारके होते हैं—एक तो वह जो सालमें एक ही बार अंडे देता है और दूसरा जो कई बार अंडे देता है। एकबार अंडे देनेवाले योरप (फ्रान्स इटली) में होते हैं और अधिक तथा बढ़िया रेशम पैदा करते हैं। कई बार अंडे देनेवाले भारतवर्षमें पाये जाते हैं, पर इनका रेशम कुछ घटिया होता है। इन देशी कीड़ोंमें 'पेब्राइन' (Pebrine) नामका रोग फैला हुआ है।

इस सम्बन्धमें काश्मीर, मैसूर, मुक्तिफौज, बंगाल सिल्क कमिटी तथा कृषिविभागके प्रयत्न विशेष उल्लेख योग्य हैं। काश्मीर दरबारने इटलीसे दक्ष कृमिपालकोंको बुलाकर विलायती ढंगपर कीड़े पालनेका काम जारी किया है। वहां हर साल बहुत से नीरोग कीड़े फ्रान्ससे मंगाये जाते हैं तथा पालनेवालोंको बांटे जाते हैं। इन्हें राज्यके नौकर कीड़े पालनेकी शिक्षा देते हैं तथा उचित सहायता पहुंचाते हैं। ये लोग सरकारी तूंतके पेड़ोंसे पत्ते तोड़कर कीड़ोंको खिलाते हैं और तैयार कोष सरकारके हाथ बेचते हैं। काश्मीर दरबार उससे सूत और कपड़े तैयार करता है तथा अच्छी खासी सालाना आमदनी करता है। इस समय एक बहुत ही अच्छी बिजलीसे चलनेवाली रेशमकी मिल काश्मीरमें है। उसी तरह १८६७ में मि० ताताने मैसूरके कृषि-पालकोंकी हीनावस्थाको देखकर एक फार्म खोला। जापानसे दक्ष कारीगर मंगाये और कीड़े पालनेसे लेकर कपड़ा बुनने तकका प्रबन्ध किया। आजकल इस ताता फार्मको मैसूर सरकार भी सालाना मदद देती है। इससे मैसूरके रेशमके व्यवसायको बड़ा लाभ पहुंचा है। मुक्तिफौजवालोंने भी जगह जगह कीड़े पालनेके फार्म खोले हैं, तथा लोगोंको वैज्ञानिक रीतिसे कीड़े पालनेकी शिक्षा दी है। बंगालके गिरते हुए रेशमके व्यवसायको जिलानेके लिये एक 'सिल्क कमिटी' कायम की गयी है। वह कमिटी फरासीसी ढंगपर रेशमके व्यवसायको जगानेका उपाय कर रही है। यह कमिटी विलायती और देशी तूंतके कीड़ोंके

संयोगसे एक नयी जातिके नीरोग कीड़ोंकी उत्पत्तिकी चेष्टा कर रही है, जो भारतके जलवायुके बिलकुल अनुकूल होंगे। कृषि-विभाग भी इसमें इनकी सहायता कर रहा है।

रेशमके व्यवसायकी सफलताके लिये सबसे पहले अच्छे नीरोग (जलवायुके अनुकूल) कीड़ोंकी जरूरत है। उसके बाद उनके पालनेका ज्ञान चाहिये। कृषिविभागवालोंने खोजकर निकाला है कि यहांके कीड़े 'पेवराइन' नामक रोगसे पीड़ित हैं। उन्होंने विदेशी और देशी कीड़ोंके संयोगसे एक नयी जातिका कीड़ा तैयार किया है तथा साथ ही नीरोग कीड़ोंको पालने और वेचनेके लिये फार्म भी खोले हैं। यदि धीरे धीरे नीरोग कीड़े फैल जायं तो व्यवसायको बड़ा लाभ हो। तसरके कीड़ोंमें भी रोग फैला हुआ है, उस ओर भी विभागका ध्यान गया है। विभागकी ओरसे अंडीके कीड़े पालने; रेशमके सूत तैयार करने, रंगने इत्यादि की शिक्षा भी दी जाती है।

यद्यपि बंगाल रेशमका घर है तथापि वहां सिर्फ एक रेशमकी मिल है। बम्बईमें दो रेशमकी मिलें हैं। कलकत्तेमें (१९१३-१४) १४७ और बम्बईमें १२४२ मनुष्य इन मिलोंमें काम करते थे। कृत्रिम रेशम, तथा जापान, चीन, इटली, आस्ट्रिया और रूसकी प्रतियोगितामें देखें कहांतक देशी रेशमका व्यवसाय ठहर सकता है। अभी गत वर्ष (१९१६) मि० आर० सी० रौबलीने रेशमके व्यापारके विषयमें जांच करके अपनी रिपोर्ट भारत सरकारके सामने पेश की है। उसमें उन्होंने परामर्श दिया है कि भारतको

अभीसे तैयार हो जाना चाहिये। उसे सारी दुनियाके व्यवसायियोंका सामना करना पड़ेगा। इसके लिये सरकारी मददसे काम करनेवाली एक बड़ी गैर सरकारी कम्पनी शीघ्र खुलनी चाहिये। इसके साथ ही एक 'इंडियन सिल्क एसोशियेशन' भी कायम करना पड़ेगा। ये भारतमें रेशम उपजाने, सूत और चसम तैयार करने, उन्हें विदेशी बाजारोंमें बेचने तथा बाहर दुनियामें रेशमके सम्बन्धमें क्या हो रहा है उसकी खबर रखने इत्यादि का काम करेंगे। यह काम सरकारकी सहायता बिना नहीं हो सकता है। देखें इस पर सरकार क्या करती है।

भारतवर्षके बढ़िया रेशमी माल—रेशमी कपड़ोंमें सोने, चांदीके तारसे फूल उखाड़ना, नक्कासी उतारना पुरानी चाल है। वेदोंमें भी सोनेके कपड़े और कमखावका जिक्र है। ऋग्वेदमें जो 'पेसस' शब्द आया है उसका अर्थ अध्यापक मैकडोनेल (Prof Macdonell) ने 'जरका कपड़ा' किया है। रामायण सुन्दरकाण्ड; महाभारत सभापर्वमें भी सोने, चांदीके तारवाले कपड़ोंका उल्लेख है। मेगीज़्थनीज़ने तो कमखावका विशदरूपसे वर्णन किया है। अब भी कमखाव, वाफता, आवरवांके कपड़े जगह जगहपर तैयार होते हैं तथा दूर दूरके लोगोंसे प्रशंसा पाते हैं। इसके लिये बनारस, आगरा, अहमदाबाद, बड़ौदा, सूरत, बुरहानपुर, औरंगाबाद, रामपुर, तंजौर और त्रिचिनापल्ली मशहूर हैं। मुर्शिदाबाद, बनारस, मुल्तान, अहमदाबाद, पूना, तंजौर इत्यादि स्थानोंके अमरू कपड़े (जिस रेशमी कपड़ोंमें केवल रेशमके फूल

बूटे उखाड़े जाते हैं) मशहूर हैं। उसी तरह आजमगढ़, बनारस इलाहाबाद, अमृतसर, ठट्ठा इत्यादि स्थानोंके संगी, गुलबदन, और मशरू मशहूर हैं। इन रेशमी कपड़ोंमें पानीके ढेपकी तरह धारियां रहती हैं। इनके अलावा बहुत तरहके धारीदार और चारखाने रेशमी कपड़े भी बनते हैं, ये कभी कभी दरियाई और गुलबहर भी कहलाते हैं। अमृतसर, महाबलपुर, मुलतान, बनारस, आगरा, आजमगढ़ मिरजापुर, मुर्शिदाबाद, बांकुरा इत्यादि स्थान इनके लिये प्रसिद्ध हैं। तरह तरहके सस्ते साटन, कीमती साड़ियां वगैरह अनेक स्थानोंमें बनती हैं, जिनका उल्लेख करना यहां असम्भव है।

ऊन और पशम—वेदोंके समयसे ही ऊन और पशमका व्यवहार चला आता है। "ऊर्णज," "रांकव" और "लोमज" वस्त्रों, कम्बलों, गलीचोंका उल्लेख वेदोंसे लेकर पुराणों तकमें पाया जाता है। वैश्योंका तो यज्ञोपवीत ऊनके सूतका ही बनता है। ऋग्वेद, रामायण, महाभारत और अर्थशास्त्रमें इसका जिक्र बारबार आता है। महाभारत सभापर्वमें लिखा है कि शक और रोमक जातियोंके राजाओंने 'रांकव' 'ऊर्णज' 'कीटज' 'पट्टज' वस्त्रोंका उपहार महाराज युधिष्ठिरको दिया था। काम्बोज देश (हिन्दुकुश और लद्दाख) शालके लिये प्रसिद्ध था। रामायण लङ्काकाण्डमें ऊन और पशमके गलीचोंका वर्णन है। अर्थशास्त्रमें भी जानवरोंके रोयें ऊन और पशम-विस्तृत वर्णन है। वैदिक 'पुशन' और फारसी 'पशम' ये दोनों शब्द एक ही प्रतीत होते हैं।

अर्थशास्त्रके समयमें भी—जैसा कि आजकल भी है—भारतकी समतल भूमिकी भेड़ोंके रोयें घटिया होते थे; उस समय भी हिमालयके इसपारके उसपारके पशमसे बेशकीमत समझे जाते थे। भुटान, नेपालके कम्बल गलीचोंका उस समय भी बड़ा मान था।

समतल भूमिमें जो भेंड़े हैं उनके रोयें मोटे होते हैं; उनसे मुलायम कपड़े नहीं बनते। इनका प्रयोग कम्बल इत्यादि मोटी चीजोंके तैयार करनेमें होता है। ये भेंड़े न अधिक रोयें ही देती हैं, और न ये रोयें अच्छे ही होते हैं। हिमालयके पहाड़ोंमें रहनेवाली भेंड़ोंके ऊन और पशम बहुत ही मुलायम और कीमती होते हैं। पशमसे काश्मीरी शाल, दुशाले, रामपुरी चादर इत्यादि कीमती माल तैयार होते हैं। ये पशम तिब्बती भेंड़ोंसे मिलते हैं। इधर कुछ दिनोंसे करमान (ईरान) से एक प्रकारकी मुलायम ऊन आने लगी है। आस्ट्रेलियासे भी बहुत सी मुलायम ऊन आती है। विलायतवालोंने सब प्रकारके अच्छे खराब रोंयेसे मुलायमसे मुलायम ऊन तैयार करनेकी रीति निकाली है। अब आजकल ऐसा माल भी बहुतायतसे भारतवर्ष आने लगा है। ये सब नकली पशम बम्बई पहुंचकर अमृतसर, लाहौर, लुधियाना, नूरपुर, काश्मीर तक भेजे जाने लगे हैं। वहां इन्हें असली तिब्बती पशममें मिलाकर शाल दुशाले तैयार किये जाते हैं और देशविदेशमें तिब्बती पशमके काश्मीरी दुशालोंके नामसे बेचे जाते हैं।

पंजाबमें सबसे बढ़िया ऊन हिसार जिलेकी होती है। उसके

बाद फीरोज़पुर, लाहौर, झंग, पेशावर, अमृतसर, मुलतान, रावलपिंडीकी भी ऊन अच्छी होती है। युक्तप्रान्तमें सबसे बढ़िया माल गढ़वाल, अलमोड़ा, नैनीतालके इलाकोंसे आता है। आगरे, और मिरजापुरकी भी ऊन अच्छी होती है। पर युक्तप्रान्त और पंजाबके कारखानोंके लिये ये ऊन काफी नहीं है। उन्हें राजपुताना, मध्यप्रदेश तथा सिन्धसे ऊन मंगवाकर कारखानोंमें देना पड़ता है। मध्यप्रदेशमें जब्बलपुर, नागपुर, वर्द्धा इत्यादि जिलोंमें भेंड़ें पाली जाती हैं। राजपुताना, मध्यभारतमें बीकानेर जयपुर, जोधपुर अजमेरमें ऊन होती है। बीकानेरकी ऊन गलीचोंके लिये हर जगह व्यवहार होती है। पश्चिम भारतमें दक्खन और खानदेशकी काली ऊन अच्छी होती हैं। सिन्ध, बलोचिस्तानमें बढ़िया ऊन होती है जो कराचीकी राह बाहर भेजी जाती है। दक्षिण भारतमें बिलारी, करनूल, मैसूरकी ऊन अच्छी होती हैं, पर यहांकी भेंड़ें मोटी ऊन देती हैं जिसका कम्बल बनता है। उसी तरह बंगाल, बिहारकी भेंड़ें ऊन नहीं बलिक रोयें देती हैं, इनसे अच्छे कम्बल तैयार होते हैं।

इनके अतिरिक्त पुरानेसे पुराने समयसे तिब्बत और अफगानिस्तानसे ऊन और ऊनी माल आता रहा है। आजकल भी तिब्बती ऊन बंगालमें कलिमपोंगकी राह; युक्तप्रान्तमें, काश्मीरमें, तथा पंजाबमें आया करती है। अफगानिस्तान, करमानसे भी ऊन पहुंचती है। समुद्री रास्तेसे तो आस्ट्रेलिया, जर्मनी और आस्ट्रिया की ऊन और ऊनी माल आता ही है।

ऊनका व्यवसाय--कई किस्मके ऊनी माल हिन्दुस्तानमें तैयार होते हैं। तरह तरहके जमावटी, मोटे कम्वल-गालीचे, नमदे वगैरह मोटे माल तो वनते ही हैं, उनके अलावा पट्टू, लोई, कश्मीरे, सर्ज इत्यादि कमीज, कोटके कपड़े भी जगह जगह तैयार होते हैं। फिर वढ़िया माल--शाल और चादर भी वनते हैं, और वह ऐसी खूवसूरतीसे तैयार किये जाते हैं कि सारी दुनिया पसन्द करती है।

ऊनी माल देशी करघोंमें तो एक जमानेसे वनते ही आते हैं, अव इधर कुछ दिनोंसे ऊनी चीजोंके लिये कलोंके करघे वैठाये गये हैं। आजकल भारतवर्षमें ६ ऊनकी मिले हैं। इनमें कान-पुरकी सवसे वड़ी है। इसमें ५५ लाख रुपये की नकद पूंजी लगी हुई है तथा ५७६ करघे, और २०२०८ तकुये चलते हैं और ३५२२ मजदूरे (१९१५) काम करते हैं। उसके वाद धारीवाल (पंजाव) की मिलका नम्वर है; इसमें भी (१९१५ में) १६ लाखकी नकद पूंजी, ४१६ करघे, ११६६० तकुये और १६९९ मजदूरे थे। इनके अलावा वम्वईमें दो, कालकत्तेमें १ और मैसूर वंगालमें एक मिल है, पर ये छोटी छोटी मिलें हैं। इन सव मिलोंमें फौज और पुलिसवालोंके लिये कपड़े और कम्वल तैयार किये जाते हैं, तथा तरह तरहके वढ़िया और घटिया कम्वल, रग, रैपर, सरज कश्मीरे, ऊनी मोजे गंजी, पट्टी, फलालैन, इत्यादि इत्यादि चीजें वनती है। इन मिलोंका वहुत सा सामान विलायती मालको मात करता है। इन मिलोंमें वढ़िया माल तैयार करनेके लिये

आस्ट्रेलियन ऊन मंगानी पड़ती है। लड़ाईके जमानेमें इन मिलोंने बड़ी तरक्की की, लाखोंका सामान तैयार कर सरकारी फौजको दिया।

इन मिलोंके अलावा बहुत जगहोंमें करघे चलाये जाते हैं जहां कारपेट, रग, कम्बल, पट्टू, पश्मीना तैयार होता है। इन करघों पर ऊनी गलीचे एकसे एक बढ़िया बनते हैं। कहा जाता है कि पुराने जमानेमें ईरानसे गलीचा बनानेकी कलामें बहुत कुछ शिक्षा मिली थी। आजकल बहुतसे सस्ते गलीचे, बाहर भेजे जाते हैं। उत्तर भारतमें अमृतसर, काश्मीर, लाहौर, मुलतान, होशियारपुर, बटाला, बहावलपुर गलीचोंके लिये प्रसिद्ध है। इनमें बढ़ियासे बढ़िया पशम लगाया जाता है और सारा काम हाथसे किया जाता है। पेशावर, क्वेटामें अफगान, तुर्कमान और ईरानी गलीचे बहुत बिकनेको आते हैं। सिन्ध, बलोचिस्तान-में भी गलीचे बनते हैं पर वैसे अच्छे नहीं। युक्तप्रान्तमें आगरा जेल तथा मिरजापुरके गलीचे अच्छे होते हैं। बिहारमें गयाके जिलेमें बढ़िया गलीचा तैयार होता है। राजपुताना और मध्य भारतमें जयपुर, बीकानेर तथा अजमेर प्रसिद्ध हैं। बम्बई, अहमदाबाद और पूना जेलमें भी अच्छा गलीचा बनता है। मद्रासके मछलीपट्टम, कृष्णा, उत्तर आर्काट और तंजौरके इलाकोंमें आजकल मामूली गलीचे बनाये जाते हैं।

शाल और चादर दो तरहसे तैयार किये जाते हैं—तिलीयाकानी और अमली। कानी दुशालोंमें जितने फूल बूटे वगैरह

बनाये जाते हैं वे सब करघों पर ही, शाल बुनते हुए, उखाड़े जाते हैं। यह बड़ी कारीगरीका काम है; बरसों की मिहनतसे कहीं एक बढ़िया दुशाला तैयार होता है। असली दुशालोंमें हाथसे सूईकी सहायतासे फूल बूटे उखाड़े जाते हैं। फर्द चादरों पर कारीगर लोग सूईसे फूल बनाते हैं। यह कम हिकमतका काम है, और इसी कारण ये शाल दुशाले सस्ते पड़ते हैं। काश्मीर ही शाल, दुशालोंका प्रधान स्थान है। पर जब १८३३ में काश्मीरमें अकाल पड़ा था उस समय बहुतसे काश्मीरी कारीगर अमृतसर, नूरपुर, लुधियाना, गुरदासपुर, सियालकोट, लाहौर इत्यादि स्थानोंमें आ बसे। तबसे इन स्थानोंमें भी दुशाले तैयार होने लगे। पर इन्हें काश्मीरीकी तरह बढ़िया माल नहीं मिलता, इससे यहांका काम काश्मीरकी अपेक्षा घटिया होता है। रामपुरके शाल चादर बहुत ही मुलायम और बढ़िया होते हैं, पर उनमें ऊनके साथ रेशम मिला होता है। इनके अलावा उत्तर भारतमें बढ़ियासे बढ़िया जामावार भी बनता आया है जो जमानेसे रईसोंके चोगेके लिये व्यवहृत होता है। जबसे विदेशी सस्ती ऊन विशेषकर जर्मनीके ऊनी कपड़े और सूत आने लगे हैं तबसे अमृतसर, लुधियाने इत्यादिके कारीगर लोग उनका ही व्यवहार करने लगे हैं। उन्हीं विलायती चादरों पर फूल बूटे बनाकर असली दुशालोंकी जगह पर बेचने लगे हैं। ये विलायती चीजें असली काश्मीरी मालकी तरह मुलायम, गर्म और खूबसूरत नहीं होतीं। विदेशी सस्ते मालसे काश्मीरी रोजगार

बन्द नहीं हो सकता। जबतक काश्मीर दरबार और ब्रिटिश सरकार मौजूद हैं तबतक यह कारीगरी भी मौजूद रहेगी, चाहे फैशन क्यों न बदल जायं। क्योंकि १८४६ की सन्धिसे दरबारको हर साल एक शाल और तीन रूमाल भारत सम्राट्के पास भेजना पड़ता है। दरबार इन चीजोंको ८ हजार रु० के ठेकेपर कारीगरोंसे बनवाया करता है। *

ऊनी मालकी आमदनी रफ्तनी—सन् १८७६-७७ में १०७ लाख रुपयोंकी कच्ची ऊन विदेश गयी; १९०३-४ में यह रकम बढ़कर १२७¾ लाख रुपया हो गयी। उसी तरह १८७६-७ में कुल ५ लाख रुपयोंकी ही विलायती ऊन (कच्चा माल) भारतवर्ष आयी थी, पर १९०३-४ में उसकी तायदाद बढ़कर ६'६ लाख हो गयी। इससे अधिक वृद्धि विलायती ऊनी कपड़ोंकी हुई। १८७६-७ में जहां ७८ लाखके ही ऊनी कपड़े आये थे वहां १९०३-४ में २१६ लाखके ऊनी कपड़े आये। इनके अलावा कारपेट, रग वगैरह अलग ही थे। १८७६-७ में साढ़े सात लाखका कारपेट, रग वगैरह आया था। वह १९०३-४ में २६ लाख तक पहुंच गया। इधर भारतके बने ऊनी माल (गलीचे, शालको छोड़कर) की रफ्तनी घटती जा रही है, वह पांच लाख रुपये (१८७६-७) से घट कर १ लाख (१९०३-४) हो गयी! परन्तु देशी सस्ते गलीचोंकी रफ्तनी बढ़ रही है, क्योंकि जहां १८७६-७ में ३॥

* The Kashmere Shawl Trade by Anand Koul in the East & West, Jan. 1915.

लाखका माल गया था वहां १९०३-४ में २६ लाखका माल विदेश भेजा गया।

१९०४-५ के बादसे ऊनी मालकी आमदनी रफ्तनीका व्यौरा नीचे दिया जाता है।

ऊनी मालकी रफ्तनी

सन्	१९०९-१०	१९१२-१३	१९१६-१७
	लाख रु०		
ऊन (कच्चा माल)	२८५	२६३	३७७.९
कारपेट, रग इ०		२२.४	२७.२
अन्य प्रकार	२४	३.३	२.७

ऊनी मालकी आमदनी

सन्	१९०९-१०	१९१२-१३	१९१६-१७
	लाख रु०		
ऊन (कच्चा माल)	१०.९	२०.२	२५.
तैयार माल :—			
ऊनी थान		१९४.२	१४०.९
शाल		४८.७	२.४
कारपेट, रग	२०८	१६.६	११.२
मोजे गंजी इ०		१२	१२.८
ऊनी सूत इ०		२०	१४.९
अन्य		१४	१४.७

कहांसे कितना ऊनी (तैयार) माल आता है

(इसमें ऊनी सूत भी शामिल हैं)

लाख रु०

सन्	१९०९-१०	११-१२	१३-१४	१६-१७
युनाइटेडकिंगडम	१३५'३	२००	२२१'३	१६२'४
जर्मनी	५३'२	११२	१०७'४	१'५
आष्ट्रिया हंगरी	४'६	८'७	११'५	'१
बेलजियम	'८	१'९	४'४	x
फ्रान्स	४'४	१०'९	२४'९	'६
अन्य देश तथा	९'६	६'४	१४'५	७
जापान				२४'७

भारतकी सीमा पारसे आया हुआ ऊन

	लड़ाईके पहले (हरदर) मन	१९१५-१६ मन	१९१६-१७ मन
तिब्बत से:—			
बंगाल (कलिम्पांगमें)	३८०००	६००००	६६०००
युक्तप्रान्त में	१३०००	१५०००	१६०००
काश्मीर में	९०१०	११०००	१५०००
पञ्जाब में	८०००	१००००	८०००
जोड़	६८०००	९६०००	१०५०००
अफगानिस्तानसे	१४१०००	२४६०००	१९८०००
अन्य स्थानोंसे	३७०००	६००००	३७०००
कुल	२४६०००	४०२०००	३४००००

भारतकी ऊनी मीलें

सन्	१९१३	१९१४	१९१५
मिलोंकी संख्या	७	७	६
पूंजी (लाख रुपया)	५८	१४६	२७१
करघे	११३१	१२०१	११५१
तकुये	४०७७०	४०८६४	४०७१२
काम करनेवाले	४०५३	४६६४	६५६६
सालाना तैयार माल (लाख रु०)	६१'६	८०	१२२

देशी ऊनकी रफ्तनी घट रही है, पर विदेशी ऊनी मालकी आमदनी वेतरह बढ़ रही है। इनकी आमदनीसे शाल दुशालेकी कारीगरीपर बुरा असर पड़ रहा है। क्या अच्छा होता कि भारतवर्ष कच्ची ऊन बाहर न भेजकर अपने यहां ही खर्च करता और उसका माल तैयार करता। हर्षकी बात है कि देशी करघोंके अतिरिक्त ६ मिलें भी चल रही हैं। इनको लड़ाईके समयमें उन्नति करनेका बड़ा अच्छा मौका मिला है। इन्होंने बहुत सा सामान फौजी विभागको दिया है। जर्मन और आस्ट्रियनोंकी आजकल जैसा बुरी दशा हो रही है, यदि यही हालत कुछ और दिनों तक बनी रही तो देशी मिलोंको उन्नति करनेका बहुत बड़ा मौका मिल जायगा। उस समय भारतवर्ष अपने यहांकी ऊनको बाहर न भेजकर यहां ही व्यवहार कर सकेगा।

कशीदाकाढ़ी, ज़रदोज़ी, गुलकारी, इत्यादि—सूईकी सहायतासे जो ऊनी, रेशमी, सूती कपड़ोंपर वेल बूटे उखाड़े जाते हैं, उनका थोड़ा बहुत वर्णन कर यह अंश समाप्त किया जायगा। कपड़ोंपर फूलबूटे उखाड़ना सचमुचमें स्त्रियोंका काम है।

उत्तर और पश्चिम भारतमें—विशेषकर पहाड़ी इलाकोंमें इस कलाकी बड़ी उन्नति हुई है। पंजाबकी 'फूलकारी' बड़ी प्रसिद्ध है। वहांके जाट, जमीदारोंकी स्त्रियोंकी चादरोंपर बड़ा मनोहर फूलकारीका काम किया जाता है। रोहतक, हिसार, गुड़गांव, दिल्ली इसके लिये प्रसिद्ध हैं। फूलकारीके तीन प्रभेद हैं—असली फूलकारी, बाग और चोबी। इनके अलावा, शीशेदार फूलकारी

का भी काम होता है जिसमें शीशे जड़े होते हैं जो रातको रोश-नीमें बड़े भले मालूम होते हैं। काश्मीरमें शाल चादरोंपर सूईके वेलबूटोंका जिक्र हो चुका है। वहां टेविलक्लाथ, तकियेके लिहाफ इत्यादि भी अच्छे वनने लगे हैं। योरोपियन लोग इन्हें वहुत पसन्द करते। रेशमी सूतोंसे कसीदा उखाड़नेकी चाल वाद-शाहोंके जमानेमें वहुत ही चढ़ी वढ़ी थी। आजकल भी काठिया-वाड़के 'छोकले' और ढाकेके कसीदे मशहूर हैं। पेशावरकी सोज़नी और काश्मीरके नमदे जिनपर तरह तरहके फूलवूटे वने रहते हैं, विशेष उल्लेख योग्य हैं।

जगह जगहपर मलमल, रेशम, इत्यादि धोनेवाले कपड़ोंपर चिकनका काम किया जाता है। लखनऊ इसके लिये सबसे प्रसिद्ध स्थान है। कलकत्ता, ढाका, पेशावर, भूपाल, कोटा, मद्रासमें भी चिकनका काम होता है। चोगा, कुरते, कुरतों अंगरखोंमें लगानेके लिये कंठे, कलगे, टोपियां, रूमाल, इत्यादि चीजों पर चिकनका काम किया जाता है। जव इस चिकनमें चांदी, सोनेके तारका व्यवहार करते हैं तो उसे कामदानी कहते हैं। उसी तरह जव साटिन, मखमल पर अधिक परिमाणमें चांदी, रेशमके तारका व्यवहार किया जाता है तो उसे 'ज़रदोज़ी' का काम कहते हैं। वनारस, लखनऊ, आगरा, दिल्लीमें अव भी वढ़ियासे वढ़िया ज़रदोज़ीका काम किया जाता है।

सातवां अध्याय

दवादारु और रासायनिक पदार्थ

वर्त्तमान अवस्था—औषधियोंका व्यवसाय--रासायनिक द्रव्य--रसायनशास्त्र और उद्योगधन्धे।

वर्त्तमान अवस्था—रोगोंकी परीक्षा, निदान, चिकित्सा आदि भारतवर्षके लिये नयी वस्तु नहीं है। चरक, सुश्रुत भारत वर्षके पुरानेसे पुराने वैद्य हैं, उनकी पुस्तकोंमें रोगीकी परीक्षा, रोगकी पहचान और उसकी चिकित्साका चमत्कारिक वर्णन वर्त्तमान है। आजकल भी भारतवर्षकी छोटी वड़ी, सब जगहोंमें कविराज और 'मिसर' वैद्य पाये जाते हैं। इस आयुर्वेदिक प्रणालीके साथ यूनानी प्रणालीका भी अच्छा प्रचार है। इन हकीम, वैद्योंको एलोपैथिक या होमियोपैथिक डाकृर हटा नहीं सके हैं। मुझे यहां भिन्न भिन्न प्रणालियोंके गुणदोष वर्णनसे प्रयोजन नहीं है। यहां तो इनसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यवसायोंका वर्णन करना है।

हकीम, वैद्योंके नुसखे देशी जड़ी बूटियोंसे ही तैयार होते हैं। कहा जाता है कि १५०० किस्मकी जड़ी-बूटियां हैं जिनमें रोग दूर करनेकी शक्ति है। इनको पहचानना, इनकी शक्तियोंका

पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त करना कोई सहज काम नहीं है। पर बहुधा देशी वैद्य, हकीमोंको इन बातोंकी कोई वैज्ञानिक शिक्षा नहीं दी जाती; रोगकी परीक्षा करनेकी पूरी जानकारी नहीं रहने, तथा दवाओं—जड़ी बूटियोंके गुणदोषका पूरा ज्ञान नहीं रहने, और उनको अच्छी तरह नहीं पहचाननेके कारण प्रायः गड़बड़ हुआ करती है; दवा खानेपर भी असर नहीं होता। दवा तैयार करनेकी प्रणाली भी अच्छी नहीं है। कारण क्या है? यह बात तो सब पर विदित ही है कि रोजगारमें ईमानदारी, सचाईकी कितनी जरूरत है, उसे लोग नहीं समझते; छोटे बड़े व्यवसायी हमेशे इसी चेष्टामें रहते हैं कि किसी तरह धनी हो जायं, सब कोई धनी होनेकी सीधी राह खोजता है, धीरे धीरे पहाड़पर चढ़ना कोई नहीं चाहता, क्योंकि यह कष्टसाध्य है। आप चाहे जो चीज खरीदें, चाहे खानेकी चीज हो, चाहे शौकीनी-की चीज हो, चाहे यह चीज मरीजके लिये खरीदी जाती हो चाहे तन्दुरुस्तके लिये, चाहे उसे विदेश भेजना हो या देशमें व्यवहार करना हो, आप यह निश्चय जानें कि उसमें मिलावट जरूर होगी। चावल खरीदें तो कंकड़, ज़रूर मिलेंगे, चीनी लें तो रेत खरीदनी ही पड़ेगी, अजवायन लें तो कंकड़ियां और पत्तियां जरूर रहेंगी। १९१७में भारत सरकारके वणिज-विभाग (कामर्स डिपार्टमेंट) ने वणिक सभाओंको व्यापारी चीजोंमें खाद मिलाने-की बुरी चालके सम्बन्धमें पत्र लिखा था। उसमें कहा था कि यह तो जानी हुई बात है कि बेचनेवाले जूट, रूईमें पानी मिलाते

हैं, तेल, चमड़ा, नील वगैरहमें दिनदोपहर मिलावटकी जाती है। इसको कानून द्वारा रोकनेसे कहांतक लाभ होगा ठीक नहीं कहा जा सकता। पर खाद्यद्रव्योंमें मिलावटका रोकना नितान्त आवश्यक है। जिन्होंने कलकत्तेके मिलावटी घीकी कहानी सुनी है उन्हें मालूम हुआ होगा कि धन कमानेके लिये लोग क्या क्या अनर्थ करते हैं। बंगाल, बिहारकी सरकारोंने खाद्यद्रव्यों की मिलावटको कानून द्वारा रोकनेकी चेष्टा की है। युक्तप्रान्तमें तो ऐसा कानून बहुत दिनोंसे है ही। देशमें खर्च होनेवाले खाद्यद्रव्योंमें मिलावटका कानून द्वारा रोकना सम्भव है, पर विदेश जानेवाले द्रव्यों—जैसे गल्ला, तेलहन, जूट, रूई इत्यादि की मिलावट इस तरह नहीं रोकी जा सकती। औद्योगिक कमिशनकी रायमें इसे व्यापारियोंपर छोड़ देना उचित है।

आजकल हम लोगोंकी ऐसी बुरी दशा है, यहांके लोगोंकी नैतिक अवस्था ऐसी हीन हो गयी है कि वे इसमें कोई लज्जाकी बात नहीं समझते, ऐसा करना बुरा है यह उनके ध्यानमें ही नहीं आता। इधर अगर चीजोंमें मिलावट है तो उधर वैद्यों हकीमों की अज्ञानता है। आपको ऐसे बहुतसे चिकित्सक मिलेंगे जिन्हें सफाईका बहुत थोड़ा ज्ञान है, जो खुद गन्दे घरोंमें रहते हैं तथा गन्दी, सड़ी, चीज रखते हैं। उन्हें औषधियोंके प्रस्तुत करनेकी शुद्ध प्रणाली आती ही नहीं। भला ऐसी हालतमें दवामें उचित गुणका न होना क्या अश्चर्य्य की बात है?

पुराने वैद्य रोगकी चिकित्सामें वनस्पतिके अतिरिक्त 'रसा

यन' का भी प्रयोग करते थे। उन्हें धातुओंको शोधने, भस्म करनेकी रीति आती थी, पर आजकल उसको चाल कम हो गयी है। हर्षकी बात है कि इधर कुछ दिनोंसे वैद्यक सम्मेलन और तिब्बी कान्फरेन्स होने लगी है, वैद्यों, हकीमोंको पढ़ाने तथा रोगकी परीक्षा करने, दवा देने तथा दवा तैयार करनेकी शिक्षा देनेकी कोशिशें हो रही हैं। वैज्ञानिक शिक्षा पाये हुए लोगोंने आयुर्वेदिक औषधालय खोले हैं; ढाका, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि स्थानोंमें वैज्ञानिक रीतिसे शुद्ध पवित्र देशी दवायें बनने लगी हैं। पर तौभी बहुत सी उन्नतिकी आवश्यकता है तब कहीं सर्वसाधारणका इन प्रणालियों पर पूरा विश्वास होगा, अन्यथा नहीं।

औषधियोंका व्यवसाय—इधर कुछ दिनोंसे लड़ाईके पहले तथा लड़ाईके समयमें, सरकार वैज्ञानिकों द्वारा यह जांच करा रही है कि देशी दवाओंके क्या गुण हैं, इनके व्यवहारसे शरीरपर क्या क्या प्रभाव होते हैं। मद्रास और बम्बईमें डाक्टरों की कमिटियां बनाई गयी हैं जो इन बातोंकी जांच कर रही हैं। सरकार यह भी जानना चाहती है देशी द्रव्योंसे अंगरेजी दवायों-का बनाना कहांतक सम्भव है। लड़ाईके जमानेमें जब कि विदेशी दवायें मिलती ही नहीं थीं तब तो इस ओर ध्यान दौड़ाना और भी आवश्यक हो गया था, वैज्ञानिकोंके अन्वेषणसे बहुत कुछ लाभ होनेकी आशा है।

एलोपैथिक प्रणालीको सरकार मानती है, सरकारी

अस्पतालोंमें इसी प्रणालीसे चिकित्सा होती है, इसीकी दवाका उपयोग होता है। इस कारण बाहरसे हर साल बहुत सी दवा आया करती है। १९१३-१४ में २६'४ लाख रुपयेकी पेटेन्ट दवायें आई थीं; बाहरसे आई हुई सब किस्मकी औषधियोंका मूल्य ११७ लाख रुपये था। बाहरसे आई हुई इन दवाओंकी मात्रा बढ़ती जाती है—इसका एकमात्र प्रमाण देशी अखबारोंके विज्ञापन हैं। असली अर्ककपूर, क्लोरोडाइन, सालसा, सिर दर्दकी दवा, पेट दर्दकी दवा इत्यादि औषधियोंके विज्ञापनोंसे सब कोई परिचित हैं। ये सब दवायें बहुधा विलायतसे ही आती हैं, सिर्फ यहां पर उन्हें खास खास कम्पनियोंकी शीशियोंमें भरकर, नये 'कवर', नये कागजमें लपेटकर बेचा जाता है। कुछ दिनोंसे देशी प्रयोगशालाओंमें (Laboratories) इन परिचित और परीक्षित औषधियोंको बनाने और बाजारोंमें बेचनेका प्रयत्न किया जाने लगा है। बंगालकी "केमिकल और फारमेस्युटिकल कम्पनी", बम्बईकी प्रो० गज्जरकी प्रयोगशाला, झंडू-फारमेसी इत्यादि संस्थाओंका इस सम्बन्धमें उल्लेख किया जा सकता है।

भारतवर्षसे बहुत सी जड़ी बूटियां बाहर भी जाया करती हैं। १९१३-१४ में २०'७ लाखके मूल्यका सामान बाहर गया था। जंगलात विभागकी रिपोर्टसे विदित होता है कि देशी जंगलोंमें वत्सनाभ (aconite), बेलाडोना (belladonna) कुचिला (Nuxvomica), पोडोफायलम (Podophyllum) रसौत,

बनफशा, अमलतास इत्यादि बहुतसे द्रव्य मिलते हैं और देश विदेशमें व्यवहार किये जाते हैं।

दवाओंमें सबसे अधिक परिमाणमें 'क्वीनाइन' तैयार की जाती है और इसका प्रयोग भी बहुत फैला हुआ है। इसने मलेरिया ज्वरवालोंका बहुत ज्यादा उपकार किया है। १८६२ ई० में सर क्लिमेंटस मार्कहैम (Sir Clements Markham) ने दक्षिण अमेरिकासे बीज लाकर सिनकोनाके पौधे लगाये थे। तबसे सरकारी और गैर सरकारी बागानोंमें दारजिलिंग और नीलगिरी पहाड़ोंपर सिनकोनाके वृक्ष लगाये जाते हैं तथा उनकी छालसे क्विनाइन तैयार किया जाता है। १९१३-१४ में पांच हजार एकड़ भूमिमें सिनकोनके वृक्ष लगे हुए थे। क्वीनाइनकी गोलियां दवाखानोंमें तो बिकती ही हैं, उसकी उपयोगिताके ख्यालसे सरकारी डाकखानोंमें भी बेचनेका प्रबन्ध है। जब कहीं किसी इलाकेमें ज्वरका प्रकोप होता है वहां थानोंमें पुलिसकी मार्फत यह मुफ्त भी बांटी जाती है।

रासायनिक द्रव्य—औषधियोंके अतिरिक्त रासायनिक द्रव्य भी बाहरसे मंगाये जाते हैं। इनकी आमदनी बढ़ती जाती है, तथा ज्यों ज्यों उद्योगधन्धोंकी वृद्धि होती जायगी त्यों त्यों इसकी जरूरत भी अधिक होती जायगी। क्योंकि आजकलकी दुनियांमें रसायनके बिना कुछ हो ही नहीं सकता, १९१२-१३ में ९३·२ लाख तथा १९१३-१४ में १०१ लाखकी लागतके रासायनिक द्रव्य मंगाये गये थे। परन्तु यह देश जितना बड़ा

है तथा यहां जितने प्रकारके द्रव्योंकी जरूरत होती है उसका ख्याल करनेसे इस एक करोड़के मालका सालाना खर्च होना कुछ भी नहीं है। इन द्रव्योंके प्रस्तुत करनेके लिये बहुतसे सामान देशमें ही मौजूद हैं, पर हममें उसकी योग्यता नहीं है, रसायनकी विद्याका उद्योगधन्धोंमें किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है उसकी शिक्षा ही देशमें नहीं मिली है, रसायनकी करामातोंका यहांके लोगोंको तनिक भी ज्ञान नहीं है। दोचार छोटे मोटे कारखाने खुले हैं, पर उनकी बनाई चीज़ें उस सफाई और स्वच्छताको नहीं पा सकतीं जिसको विदेशी कारखानोंने पाया है। देशी कारखानोंमें 'बंगाल केमिकल और फारमेस्युटिकल' तथा गज्जरकी प्रयोगशालाने बड़ा नाम कमाया है। 'बंगाल केमिकल' ने कई प्रकारका तेजाब, अमोनिया वगैरह बनाना शुरू कर दिया है। आशा की जाती है कि उद्योगधन्धोंकी बढ़तीके साथ साथ ऐसे कारखानोंकी भी बढ़ती होती जायगी।

भारतवर्षसे जो रासायनिक द्रव्य बाहर जाते हैं उनमें शोरा सबसे अधिक मूल्यवान है। यह उत्तर बिहार तथा युक्तप्रान्तमें बनाया जाता है। लड़ाईके जमानेमें बारूदके लिये इसकी बड़ी मांग हुई थी, इस कारण यह अधिक परिमाणमें बनाया भी गया था। १९१४ में ४१ लाख रु० मूल्यका १५,५०० टन शोरा तैयार हुआ था, पर १९१५ में ५६ लाख रु० का १८०९८ टन माल तैयार हुआ। १९१४-१५ में ४३ लाखका १६३९९ टन माल विदेश गया था। पर १५-१६ में ६९ लाखका २०७०२ टन शोरा बाहर

गया। लड़ाईके पहले इङ्गलैंडवाले वेलजियम और जर्मनीसे शोरा (पोटाशियम नाइट्रेट) मंगाया करते थे, पर जबसे लड़ाई छिड़ी तबसे वहांका माल बन्द हो गया। इधर भारतकी रफ्तनीको रोककर ऐसा इन्तजाम किया गया कि माल विलायत या मित्र राज्योंको छोड़ कहीं न जाने पावे। विहार—छपरेका शोरेका व्यापार बहुत पुराना है। मुगलोंके जमानेमें भी डच कम्पनियां पटनेकी कोठीसे छपरेका शोरा बाहर भेजा करती थीं। औद्योगिक कमिशनने कहा है कि उचित प्रबन्ध करनेसे शोरेका व्यवसाय दूना किया जा सकता है, तथा यदि बिजलीकी शक्ति सस्ती पड़ने लगे तो हवासे भी नाइट्रेट जातिके द्रव्य सहजमें बनाये जा सकते हैं।

रसायनशास्त्र और उद्योगधन्धे—रसायनशास्त्रका काम है प्रकृतिकी कार्यवाहीका देखना, और उसकी नकल करना। कोई फूल लाल होता है तो कोई पीला और कोई सफेद। रसायन शास्त्री उसे देखता है, वह इस बातका पता लगाता है कि प्रकृति लाल, पीले और सफेद रंग कैसे बनाती है, फिर पता लगानेपर शास्त्री जी उसी तरह कृत्रिम लाल पीले रंगको बनानेका प्रयत्न करते हैं। और इसी तरह वह सारी दुनियामें धन-धान्यकी वृद्धि करने, सारी पृथ्वीपर सुख सभ्यताका राज्य फैलानेका यत्न करते हैं। आजकल योरप और अमरिकामें जो लक्ष्मीका वास है, उसका एक मुख्य कारण रसायन भी है। जो चीज कुछ दिन पहले फेंक दी जाती थी, जिसे छूनेसे लोग

घृणा करते थे उसीसे आज रसायनवाले सोना बरसा रहे हैं। जहां जिस बातकी भावना भी नहीं हो सकती थी वहांसे इस रसायनके जादूने आश्चर्यमय पदार्थ पैदा किये हैं। यदि रसायनशास्त्री शान्तिके समयमें सोना बरसाता है तो लड़ाईके समयमें भयङ्कर रूप भी धारण कर सकता है, इस लड़ाईमें उसने दिखा दिया है कि प्रयोगशालामें बैठे दुबले पतले शास्त्रीके सामने बड़ीसे बड़ी सेना, बड़ासे बड़ा अस्त्र शस्त्र भी तुच्छ है। इसको देखकर अक्ल हैरान रह जाती है, बुद्धि काम नहीं करती।

देखिये मैं एक साधारण सा उदाहरण देता हूं। अलकतरा (Coal tar) तो सब किसीने देखा है, पर उससे कैसे कैसे आश्चर्यजनक पदार्थ रसायनवालोंने बनाये हैं उसका ज्ञान प्रायः लोगोंको नहीं है। देखिये यह अलकतरा कैसे भद्दे, काले रंगका है। पर उसीसे रसायनवालोंने बढ़ियासे बढ़िया, नेत्रोंको सुख देनेवाला, भांति भातिका, रंग निकाला है। बाजारोंमें जो कृत्रिम विदेशी रंग नजर आते हैं, उनमें बहुतसे इसी भद्दे अलकतरेके बने होते हैं, जिस कृत्रिम नीलके रंगने देशी नीलकी कमर तोड़ी वह इंडिगोटीन (Indigotine) इसी अलकतरेसे बनता है। फिर देखिये अलकतरेका स्वाद कैसा कड़ुआ होता है, पर जान कर आश्चर्य होगा कि उसीसे रसायनवालोंने खांड़से भी ५५० गुना अधिक मीठा एक पदार्थ (सैकरीन, saccharine) तैयार किया है। अखबारोंमें विज्ञापन देनेवाले जो 'खांड़का सत' बेचते हैं, जिसकी दो एक बूंदसे ग्लास भर शरबत तैयार होजाता

है वह इसी अलकतरेकी बनी है! रसायनका चमत्कार यहीं खतम नहीं होता। आप जानते हैं कि अलकतरेसे कैसी खराब बू आती है। पर उसीसे वैज्ञानिकोंने (टोनोन tonone) नामका पदार्थ तैयार किया है जिसकी सहायतासे घर बैठे, हर समय, हर मौसिममें कृत्रिम इत्र, तेल फुलेल बना सकते हैं जिनमें गुलाब, चमेली, जूही, गुलशब्बो इत्यादिके नाना प्रकारकी सुगन्ध वर्त्तमान रहेगी।

यह तो एक साधारण उदाहरण है। आजकल जिस चीज पर नजर दौड़ाइये, जिस उद्योगधन्धेकी बात लीजिये उसीमें रसायनका प्रभाव पायेंगे। कोई भी चीज इससे छूट नहीं सकती आप जिन जिन वस्तुओंको व्यवहार करते हैं सबमें रसायनकी सहायता ली गयी है। जिस विलायती खांड़ने देशी खांड़को बरबाद किया वह चुकन्दरकी चीनी रसायनकी सहायतासे बनती है, विलायती साबुन, रंग, एसेन्स, इत्र, तेल, फुलेल सब इसीसे बनते हैं। हमलोगोंका जो कपड़ेका व्यवसाय है वह इन्हीं रासायनिक द्रव्योंपर निर्भर करता है, देशी कागजकी मिलें इनके बिना चल ही नहीं सकतीं इनके बिना दियासलाई बन नहीं सकती, तेल, पेन्ट, वार्निश, बारूद वगैरह तैयार ही नहीं हो सकते, आपके जूते, ट्रंक इत्यादि सम्भव ही नहीं होते।

रसायनसे एक और काम होता है। देखिये खानोंमें सब खनिजपदार्थ शुद्ध रूपमें नहीं मिलते, उनमें कई पदार्थोंका मिश्रण रहा करता है। उदाहरणके लिये तांबे, सीसे, जस्तेकी खानोंको

लीजये। इनमें प्रायः गन्धकका संयोग पाया जाता है। भारत वर्ष और बर्म्मामें इन पदार्थोंकी जितनी खानें हैं उनमें गन्धकका संयोग है। अब अगर इनसे शुद्ध तांबा या शुद्ध सीसा, जस्ता निकालना चाहें तो गन्धकको अलग करना होगा। इसका अलग करना रसायनिक प्रक्रियापर ही निर्भर है। जबतक आप यह न जानेंगे तबतक आप शुद्ध तांबा नहीं निकाल सकेंगे। भारत अपनी अज्ञानताके कारण इस मिश्रित द्रव्यको बाहर भेज देता है और वहांसे शुद्ध तांबा, जस्ता, सीसा, गन्धक मंगाता है। एक बात और है जिसको यहां स्पष्टकर देना चाहता हूं। मान लिया कि हमलोगोंने शुद्ध तांबा बनानेका कारखाना खोला और उससे गन्धक अलग किया। पर यदि इस गैसके रूपमें निकलते हुए गन्धकको लौटालानेका उपाय न जानें तो वह गन्धक हाथसे जाता रहेगा, उतना द्रव्य व्यर्थ चला जायगा। हो सकता है कि गन्धक निकल जानेपर जो कुछ तांबा बचे वह यथेष्ट न हो, जितनेका माल मिले उससे कहीं अधिक खर्च ही हो जाय। इस लिये तांबेके साथ साथ उसके आनुषङ्गिक पदार्थ (bye-product) गन्धकको भी तैयार कर लेनेकी रसानिक प्रक्रिया सीखनी पड़ेगी। इसे सीख लेनेसे कोई भी पदार्थ बरबाद न होने पायेगा; कौड़ी कौड़ीका धन वसुल हो जायगा। देखिये, ताता कम्पनीके जमशेदपुरवाले लोहेके कारखानेमें हजारों लाखों टन 'कोक' तैयार होते हैं। ये कोक पत्थर कोयलेको जलाकर बनाये जाते हैं। भट्ठोंसे कोक बनाते समय

जो धूंआ निकलता है वह भी उपयोगी है। पर अभीतक वह धूंआ वाहर हवामें मिल जाता था। अब वहां एक नये प्रकारका भट्ठा बनाया गया है। जिसमेंसे धूआं भी बरबाद नहीं होने पाता। अब इस धूंएसे 'अलकतरा', रोशनी करनेवाली गैस, और अमोनिया तैयार होती है। इनकी आमदनीसे 'कोक'पर खर्च भी कम बैठता है। इसी तरह जो चीजें अबतक बरबाद हो जाती थीं या हवामें मिल जाती थीं उन्हें अब रसायनवाले लौटा कर अपने काममें लगा रहे हैं। यही कारण है कि रसायन शास्त्रकी सहायतासे बनी हुई चीजें इतनी सस्ती पड़ती हैं। अब तो हवाके नाइट्रोजन (नेत्रजन) से भी नाइट्रेट तैयार किया जाता है।

पर यह कब सम्भव हो सकता है? यह तभी सम्भव होगा जब कि देशमें रसायनका ज्ञान बढ़ेगा, लोग किताबी ज्ञानको व्यवहारमें लगावेंगे, जब कि कारखानोंके साथ साथ बड़े बड़े वैज्ञानिकोंका सम्बन्ध स्थापित हो जायगा; जब कि बड़े बड़े कारखानोंमें प्रयोगशालायें हों जहां १००-५० बड़े बड़े धुरन्धर वैज्ञानिक खोजमें लगे रहेंगे और वहींसे रसायनके संयोगसे नये पदार्थ, वा नयी रीतिका आविष्कार करेंगे। जर्मनीने जो रंग, इत्र, फुलेल, साबुन, और चुकन्दरकी खांड़में इतनी तरक्की की थी उसका क्या कारण था? कारण यह था कि वहांके बड़े बड़े कारखानोंमें प्रयोगशालायें थीं जहां खोज करनेके लिये सैकड़ों धुरन्धर वैज्ञानिक दिन रात परिश्रम करते रहते थे, और नये नये पदार्थोंकी सृष्टि करते थे। कृत्रिम रंगकी प्रक्रिया

निकाली इंगलैंडके वैज्ञानिक पर्किनने और उससे दौलत कमायी जर्मनीने। क्यों? क्योंकि जर्मनीकी प्रयोगशालाओंमें इस प्रक्रियासे रंग बनाने और बाजारमें सस्ते दरपर बेचनेकी रीति उन्हीं लोगोंने निकाली। इंगलैंड इस प्रयोगक्षेत्रमें पीछे था, वहां इस ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता था। पर लड़ाईने उसकी आंखें खोल दीं, उसने भी अब इस ओरका उचित प्रबन्ध कर लिया है। औद्योगिक कमिशनने भी इसके महत्वको दर्शाया है तथा भारत सरकारको खोजमें धन लगाने, प्रयोगशालाओंको खोलने, योग्य व्यक्तियोंको बहाल करने तथा उनसे और व्यापारियोंसे सम्बन्ध स्थापित करानेकी सलाह दी है। आशा की जाती है कि स्वर्गीय ताताके बंगलोरवाले कालेज जैसी बहुतसी प्रयोगशालायें देशमें खुल जायंगी। सर हालैंडने जनवरी १९१८ में रसायनिकोंकी सभामें, लाहौरमें, कहा था कि भारत सरकारको जिन जिन विषयोंमें रासायनिक प्रयोग और खोजकी जरूरत है उनका इस प्रकार विभाजन किया जा सकता है। (१) कृषि सम्बन्धी; (२) जंगलात सम्बन्धी; (३) दवादारू, रंग, तेल, इत्रयातसे सम्बन्ध रखनेवाला; (४) चमड़ा तैयार करने; (५) चीनी, अलकोहल बनाने; (६) शोरा साफ करने; (७) नमक और खारी मिट्टी बनाने, तथा (८) धातुओंसे सम्बन्ध रखनेवाले धन्धे। इन सबके लिये कमीशनने राय दी है कि पूसा, देहरादून बंगलोर और काली-माटीकी प्रयोगशालाओंका पूर्ण रूपसे विस्तार किया जाय।

आठवां अध्याय

खाद्यद्रव्य (इसमें मादक भी शामिल हैं)

इनका व्यवसाय—गल्लेकी रफ्तनी—चावल—गेहूं—दूसरे गल्ले—चाय—चायकी उपज—चायकी रफ्तनी—काफी—चीनी—विदेशी चीनीकी आमदनी—तम्बाकू—अफीम, गांजा, भांग—बरफ सोडा-वाटर इत्यादि—शराब, स्पिरिट इत्यादि—शराबकी आमदनी—मछलियोंका व्यापार—खाने पीनेकी दूसरी चीजें।

इनका व्यवसाय—इस अध्यायमें यद्यपि बहुतही प्रयोजनीय द्रव्योंका वर्णन आवेगा तथापि इनसे सम्बन्ध रखनेवाले कोई बड़े उद्योगधन्धे नहीं पाये जाते; इनके लिये बड़ी बड़ी मिलों, फैक्ट्रियोंकी जरूरत नहीं हुई है। अभीतक छोटे छोटे कारखाने ही इनके लिये पर्याप्त समझे गये हैं।

जमीनवाले अध्यायमें दिखाया जा चुका है कि भारत और बर्मामें कितनी जमीन जोतने बोनेके काममें आ रही है, तथा कितनी और इस काममें आ सकती है। वहां यह भी स्पष्टकर दिया गया है कि किस चीजकी खेती कितने एकड़ जमीनमें फैली हुई है। कितने खाद्यद्रव्य (सब प्रकारके) हर साल उपजते हैं इसका ठीक ठीक अनुमान करना असम्भव है। साधारण ज्ञानके लिये इतना कहा जा सकता है कि धान, गेहूं, जौ, बाजरा, मडुआ,

मकई, चना इत्यादि अनाज जो खानेके काममें आते हैं, १९१३-१४ में २०४५ लाख एकड़ भूमिमें बोये गये थे। इनके अतिरिक्त मसाले वगैरह १३'२ लाख, ईख २४'५ लाख, शाक भाजी ५९'३ लाख, अन्य खाद्यद्रव्य ९'४ लाख एकड़ अर्थात् सब मिलाकर २१५१ लाख एकड़ भूमिमें लगे हुए थे। यदि इनमें चाय, काफी, गांजा, अफीम, तम्बाकू वगैरह भी जोड़ दें तो प्रायः साढ़े १९ लाख एकड़ और भी बढ़ जायगा। इनके अतिरिक्त राई, सरसों, तीसी इत्यादि तेलहन हैं जो खाने और अन्य काममें भी आते हैं। ये प्रायः १४४ लाख एकड़में लगे हुए थे।

इतने बड़े देशमें जहां ३१ करोड़से भी अधिक आदमी बसते हैं तथा जहां इतनी जमीनमें खानेकी चीज़े बोयी जाती हैं खाद्य द्रव्योंका पूरा पूरा अन्दाजा लगाना कठिन है। देशसे बहुत सी खानेकी चीज़ें बाहर जाती हैं तो बहुत सी बाहरसे आती भी हैं। चावल, गेहूं, ज्वार, बाजरा, जौ, चना इत्यादि अनाज तो खाये जाते ही हैं, पर इनके अतिरिक्त भी बहुत से द्रव्य खानेके काममें आते हैं। चावल दाल, या रोटी दालके साथ साथ शाकभाजीका भी व्यवहार आवश्यक है—अतएव शाक, भाजी, तेल मसालेका भी अन्दाज लगाना होगा। बहुतसे जंगली फल मूल भी खाये जाते हैं उनको भी जोड़ना पड़ेगा। फिर भी देशमें शाकाहारी और मांसाहारी दोनों प्रकारके लोग बसते हैं, इस लिये पशुओं, मछलियोंको भी खाद्यद्रव्योंमें रखना पड़ेगा। इसीसे कहते हैं कि खाद्यद्रव्योंका पूरा पूरा हिसाब लगाना कठिन है।

भारतवर्षसे बहुत सा खाद्यद्रव्य बाहर जाता है, जिस साल जैसी फसल होती है, तथा बाहरसे जैसी मांग आती है वैसी रफ्तनी भी होती है। इसका विशेष वर्णन करनेके पहले यहां इतना कहना काफी होगा कि १९१२-१३ में कोई ६० करोड़ तीस लाख रुपयोंका गल्ला—चावल दाल, गेहूं इत्यादि बाहर गया। गल्लेकी रफ्तनी धीरे धीरे बढ़ती ही जाती है, घटती नहीं। गल्लोंके अलावा चाय १४'६ करोड़, अफीम ३'४ करोड़, काफी डेढ़ करोड़, मसाले ९१ लाख, फल, शाकभाजी ६१ लाख, घी तथा अन्य खाद्यद्रव्य ५४ लाख, तम्बाकू ४७'६ लाख, मछलियां ३६'२ लाख और चीनी १३'७ लाख रुपयोंकी लागतका माल १९१३-१४ में बाहर गया। हम लोगोंने उस साल इसके बदलेमें १४'६ करोड़की चीनी और उसके बने पदार्थ, २'४ करोड़के बिस्कुट, जमावटी दूध, बन्द किये हुए फल, मछलियां इत्यादि चीजें; २'२ करोड़की शराब, १'७ करोड़की सुपारी, लौंग इत्यादि मसाले, १'१ करोड़के खजूर छोहारा, किसमिस इत्यादि सूखे और टीनमें रखे फल, ७५ लाखके सिगरेट, तम्बाकू; ३१ लाखकी सूखी और बनी मछलियां, २७'६ लाखके गल्ले, २२ लाखकी चाय, बाहरसे मंगायीं। इस आमदनी रफ्तनीमें दो चीजोंका इतिहास ध्यान देने योग्य है। एक तो चीनी, और दूसरा अफीम। जहां १८७६-७ में कोई एक करोड़की लागतकी चीनी बाहर जाती थी वहां अब सिर्फ १३ लाखका माल विदेश जाता है, परन्तु उसके बदलेमें जहां १८७६-७ में सिर्फ ४० लाख

की खांड़ आयी थी वहां १९१३-१४ में १४'६ करोड़की आयी। उसी तरह जहां १२ करोड़की अफीम बाहर भेजते थे वहां अब सिर्फ ३'४ करोड़का ही माल भेजते हैं।

यहां कृषिसे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ प्रधान व्यवसायोंका परिचय दिया जाता है :—

गल्लेकी रफतनी—भारतवर्षसे जितनी चीजें बाहर जाती हैं उनमेंसे गल्ला, जूट और रूई प्रधान हैं। १९१३-१४ में गल्ला, आटा ४५'१ करोड़, जूट (कच्चा और तैयार माल) ५९'१ करोड़ तथा रूई (कच्ची और तैयार) ५३'१ करोड़ रुपयोंका बाहर गयी। गल्लोंका व्यापार घटता बढ़ता रहता है, क्योंकि देशकी फसल अधिकांशमें बरसात पर ही निर्भर है। गल्लोंमें सबसे अधिक चावल और गेहूंकी रफतनी होती है।

चावल—दुनियांमें जितना धान उपजता है उसका प्रायः आधा तो भारतवर्ष और बर्म्मामें ही होता है। भारतवर्षमें भी बर्म्मा ही सबसे बड़ा चावलका देश है; उसके बाद बंगाल, मद्रास, विहार और बम्बईका स्थान है। बर्म्माकी फसल कभी नहीं मरती क्योंकि वहां पानीका प्रायः कभी अभाव नहीं होता। परन्तु इसकी रफतनीका बढ़ना घटना कई बातोंपर निर्भर रहता है। पहली बात तो यह है कि यदि भारतवर्षमें पानी न हुआ और धान सूख गया तो बर्म्माका चावल यहीं आने लगेगा। परसाल (१९१८-१९) भी यही हुआ था। सरकार बर्म्माके चावलको कलकत्ता, मद्रास और बम्बईके बाजारोंमें भिजवाती थी। इसके

बाद जो चावल बचता है वह एशियाके अन्य देशोंमें तथा योरप जाता है। योरपके बाजारमें फिर इसे दो बातोंका सामना करना पड़ता है। एक तो वहां दूसरी जगहोंसे चावल आता है, दूसरे योरपवाले चावलके अलावा दूसरे दूसरे द्रव्य (जैसे मकई, आलू) से भी शराब (स्पिरिट) बनाते हैं तथा स्टार्च तैयार करते हैं *। इधर कई वर्षोंमें कितना चावल बाहर गया है इसका व्यौरा नीचे दिया जाता है :—

धान, चावलकी रफ्तनी

सन्	टन हजार	दाम लाख रु०	सन्	टन हजार	दाम लाख रु०
१९११-१२	२६२४	२९०५	१९१५-१६	१६६७	१५४६
१९१२-१३	२७६३	३२५६	१९१६-१७	१६४०	१८७३
१९१३-१४	२४५२	२६६४	१९१७-१८	१८६५	२०८१
१९१४-१५	१५६२	१७१६	१९१८-१९	२०५३	२३१७

रंगूनमें चावलकी मिलें बहुत हैं, इस कारण अब धानकी रफ्तनी बहुत कम हो गयी हैं, चावल ही अधिकतर विदेश जाता है। लङ्का, स्ट्रेट सेटिलमेंट, जर्मनी, हालैंड सबसे अधिक चावल खरीदते हैं। इनके अलावा आस्ट्रिया, जापान और युनाइटेड किंगडम भी बहुत सा चावल खरीदते हैं। जब जापानके यहां चावलकी फसल कम होती है तो वह बहुत ज्यादा चावल खरीदता है। पूर्वीय आफ्रिका (जहां एशियावासी अधिक हैं), दक्षिण अमरिका और वेस्टइंडीजवाले भी चावल मंगाते हैं।

* इधर कुछ दिनोंसे पूसा कालिजमें शकरकन्द, और सुथनीसे स्टार्च बनानेका यत्न किया जा रहा है। जो नमूने विलायत भेजे गये हैं उनकी अच्छी कीमत मिली है।

कौन देश कितना चावल मंगाता है ?

सन्	१२-१३	१३-१४	सन्	१२-१३	१३-१४
	लाख रु०			लाख रु०	
लंका	५०१	४९४	आस्ट्रिया हंगरी	१८४	२०५
जर्मनी	४६९	३१४	युनाइटेड किंगडम	१८५	१६९
हालैंड	२१६	३०४	जापान	२७२	१६२
स्ट्रेट सेटिलमेंट	४९६	२८७			

गेहूं—दुनियांके गेहूंका दसवां हिस्सा हिन्दुस्तानमें पैदा होता है, पर यह गेहूं अमरिकाके गेहूंसे घटिया होता है। कृषि-विभागवाले इसकी उन्नति की जो चेष्टा कर रहे हैं उसका वर्णन किया जा चुका है। गेहूंकी रफ्तनी मई, जून, जुलाई और अगस्त इन चार महीनोंमें ही होती है। इस समय विलायतके बाजारमें उत्तर या दक्षिण अमरिका अथवा रूसका गेहूं नहीं पहुंच सकता है, इसी लिये देशी गेहूंकी बड़ी मांग रहती है। कराची, बम्बई और कलकत्तेके बन्दरगाहोंसे गेहूं बाहर जाता है, पर इसमें कराची का नम्बर अव्वल है। कारण यह है कि कराचीसे सस्ते भाड़ेपर जहाज मिल जाया करते हैं, तथा कराची भारतवर्षके सबसे अधिक गेहूं उपजानेवाले प्रदेश पंजाबके नजदीक है। लड़ाईके पहले सैकड़े ७६ माल कराचीसे जाता था, पर लड़ाईके समयमें तो इसने और भी उन्नति की थी; उसने सैकड़े ९२ माल भेजा।

गेहूं और आटेकी रफ्तनी

	वजन हजार टन				दाम लाख रुपया			
सन्	१२-१३	१३-१४	१६-१७	१७-१८	१२-१३	१३-१४	१६-१७	१७-१८
गेहूं	१६६०	१२०२	७४८९	१४५४'४	१७६९	१३१३	९१५	१९००
आटा	६८'५	७९'४	७०१	७१'६	१०७	१२५	१२९	१५७

सन् १९१८ में कुल ७५६·७ लाखका गेहूं और आटा विदेश गया। नीचे उन देशोंकी खरीदका व्यौरा दिया जाता है जो भारतवर्षसे गेहूं खरीदते हैं।

कहां कितना गेहूं गया।

सन्	१९११-१२	१९१२-१३	१९१३-१४
	लाख रु०		
युनाइटेड किंगडम	१०११	१२५७	८५४
स्वीडन	१२	१०	१२
जर्मनी	१९	२४	२८
बेलजियम	१८०	१९२	१५२
फ्रांस	७४	१५२	१३५
इटली	१६	१११	४३

लड़ाईके समयमें कुछ दिनोंतक केवल सरकार ही गेहूं खरीद कर विलायत भेजती थी, पर जब दूसरी जगहोंसे गेहूं लानेकी व्यवस्था हो गयी तो गेहूं सरकारी आज्ञासे बाहर भेजनेका इन्तजाम कर दिया गया। लड़ाईके जमानेमें इटलीने बहुत सा गेहूं खरीदना शुरू किया था। मिसर सबसे अधिक आटा खरीदता है, उसके बाद मोरिशस, सीलोनका नम्बर है। लड़ाईके जमानेमें मसोपोटेमियामें भी बहुत सा आटा गया था। स्ट्रेटसेटिलमेंट, ईरान और नेटाल भी मांग बढ़ा रहे हैं।

दूसरे गल्ले—चावल गेहूंके अतिरिक्त जौ, चना, बजरा ज्वार इत्यादि अनाज भी बाहर जाया करते हैं। १९११-१२ में ८२६ लाख; १२-१३ में ८९७ लाख और १९१३-१४ में ४१२ लाख की लागतके माल बाहर गये। इनमें जौ और चने

ही प्रधान हैं। १९१२-१३ में ५५६ लाखके जौ और ११९ लाखके चने बाहर गये थे। जौ शराब बनाने तथा दवा (Malt extract) तैयार करनेके लिये मंगाया जाता है। जब विलायतमें जौकी फसल अच्छी नहीं रहती है तब देशी जौकी रफतनी बढ़ जाती है।

चाय—ईस्ट इंडिया कम्पनीको यह नहीं मालूम था कि चायके पौधे आसाम और जलपाईगोड़ी (बंगाल) केजंगलोंमें पाये जाते हैं। उस समय तक चीनसे चाय आती थी। यह देखकर लार्ड बेन्टिंकके समयमें एक कमिशन बैठाया गया था जिसने चीनसे पौधे और बीज लाने तथा चीनी मजदूरोंको चायकी खेती शुरू करनेके लिये भारतवर्ष लानेकी चेष्टा की। इसके पहले ही जङ्गली चायका पता लग चुका था, पर कमिशनवालोंको मालूम नहीं था। उसी समय जङ्गली पौधोंका फिरसे पता लगाया गया और १८३४ से चाय की खेती हुई। तबसे चायकी खेती बढ़ती ही गयी। सरकारी, गैर सरकारी, तौरपर चायका काम शुरू हुआ, धीरे धीरे सरकारने अपने बगीचोंको (कांगड़ा, कुमाऊं, देहरादून) गैर सरकारी कम्पनियोंके हाथ बेच दिया। चायकी आमदनी देखकर जैसे तैसे लोगोंने चायका काम शुरू किया, धड़ाधड़ कम्पनियां खुलने लगीं, उसका फल यह हुआ कि १८६५।६ में बहुत सी चाय कम्पनियोंका दिवाला निकला और व्यापारको बड़ा धक्का पहुंचा। पर फिरसे यह व्यवसाय सम्हल गया। १८८० के लगभग लंकाका काफीका व्यवसाय गिर पड़ा; उसके बदलेमें वहां भी चायकी खेती शुरू हुई। तबसे

वहां चायकी बड़ी उन्नति हो रही है। इस समय भारतवर्षके बाद लंकाका ही स्थान है।

१६१६ में कुल ६५१२०० एकड़में चायकी खेती होती थी। १६१५-१६ में हिन्दुस्तानमें रजिस्ट्री की गयी २२० ज्वायंट स्टाक कम्पनियां ४·६ करोड़ रुपयोंकी पूंजीसे चायका काम करती थीं। इनके अलावा विलायतमें रजिस्ट्री की गयी कम्पनियोंकी पूंजी कोई २२·८ करोड़की थी। इस समय आसाम, बंगाल (दारजिलिंग, जलपाईगोड़ी, चटगांव, मनीपुर); विहार (रांची, हजारी वाग); युक्तप्रान्त (गढ़वाल, अल्मोड़ा, देहरादून); पंजाब-कांगड़ा; त्रवं-कोर और मद्रास (नीलगिरी, मालाबार, कोयम्बटूर)में चायकी खेती होती है। इधर चायकी खेती जितनी बढ़ी है, उससे कहीं अधिक चायकी ऊपज बढ़ती जाती है, क्योंकि पौदोंमें खाद डालने इत्यादिका अच्छा बन्दोवस्त किया जाता है। चायके बगीचे योरोपियनोंके ही हाथमें हैं, देशी बगीचे बहुत ही कम नजर आते हैं। इस व्यवसायसे ६·३ लाख मनुष्योंको रोजी मिलती है; इनके सिवा बहुतसे लोग ऐसे भी हैं जो कभी चाय बगानोंमें और कभी अन्यत्र काम करते हैं। अवतक विदेशी कम्पनियोंके हाथ ही इसका व्यवसाय था, पर हालमें हिन्दुस्तानियोंकी भी छोटी छोटी कम्पनियां खुल रही हैं।

चायकी उपज—चायकी उपज बढ़ती ही जाती है। इसके लिये नये नये बाजारोंका ढूंढ़ना आवश्यक हो गया है। युनाइटेड किंगडम तो सबसे अधिक माल खरीदता ही है, उसके बाद

हालमें रूसने चायकी खरीद बढ़ा दी है। आशा की जाती है कि रूसी शराब 'वोडका' के घटने तथा वहां शान्ति स्थापित होनेसे देशी चायकी मांग और बढ़ जायगी। आशा है कि आस्ट्रेलिया, कनाडामें भी उसकी खपत बढ़ेगी। अमरिका संयुक्त राज्यमें भी चाय पीनेवाले बढ़ेंगे क्योंकि यहांसे भी शराबका बहिष्कार किया गया है। भारतवर्षमें विशेष कर शहरोंमें इसका व्यवहार बढ़ता जाता है, चायकी दूकानें, चायकी फेरी करनेवाले अधिक नजर आते हैं। हिन्दुस्तान चायकी कमिटीने हिन्दुस्तानमें चायका व्यवहार बढ़ानेका बहुत प्रयत्न किया है।

चायकी उपज।

सन्	१९१३-१४	१९१४-१५	१९१५-१६	१९१७-१८
कुल उपज मिलियन पा० (वजन)	३०७	३१३	३७२	३७१
कितना बाहर गया ,, ,,	२८९	३०१	३३८॥	३५९
दाम लाख रु०	१४९७	१५५२	१९९८	१७६७

भारतवर्षके अतिरिक्त लंका, चीन, जावा, फारमोज़ा, जापान, नेटालमें भी चायकी खेती होती है। सुमात्रा भी धीरे धीरे आगे बढ़ रहा है। पर इन सबमें भारत ही सबसे बड़ा व्यवसायी है। नीचे लिखे विवरणसे तीन बड़े बड़े चायके व्यवसायियोंका पता लगेगा।

सन्	१९१३	१९१४	१९१५
भारत मिलियन पाउण्ड (वजन)	३०७	३१३	३७२
लंका ,, ,, ,,	१९२	१९५	२१०
जावा ,, ,, ,,	६५	७१	९०

चायकी रफ्तनी—युनाइटेडकिंगडम सबसे अधिक (सैंकड़े

७५) चाय खरीदता है। उसके बाद रूस, चीन, कनाडा, संयुक्त राज्य (अमरिका) का नम्बर है। मार्च १९१६ से चायकी रफ्तनी पर टैक्स बैठाया जाने लगा है; १०० पाउण्ड (वजन) चायपर १॥ रु० के हिसाबसे यहांके बन्दरगाहोंमें टैक्स देना पड़ता है, तथा युनाइटेडकिंगडम पहुंचने पर प्रति पाउण्ड एक शिलिंगके हिसाबसे चुंगी लगाई जाती है। चायपर हिन्दुस्तानमें एक किस्मका सेस (चुंगी) बैठाया जाता है जिसकी आमदनीसे "टी एशोसियेशन' का खोजका काम चलता है तथा बाजारोंमें चायकी खपत बढ़ानेका उद्योग किया जाता है।

सन्		१९१४-१५	१९१५-१६
युनाइटेड किंगडम (लाख रुपया)		१२२४	१४७०
रूस	,,	१००	२१२
स्याम	,,	७	१७
ईरान	,,	१२	६०
लंका	,,	२०	२५
चीन	,,	३९	५२
कनाडा	,,	५९	५०
संयुक्तराज्य	,,	१९	१८
आष्ट्रेलिया	,,	५५	५३
कुल		१५५३	१९९८
सीमाकी राह		८	१०
कुल लाख रुपये		१५६१	२००८

चायको विदेश भेजनेके लिये पैकिंग बक्सोंकी जरूरत होती है; ये बक्स युनाइटेडकिंगडम, लंका, रूस, जापानसे आया

करते हैं। सबसे अधिक बक्स युनाइटेडकिंगडमसे आते हैं; जापानकी आमदनी बढ़ रही है। १६१६ में कुल ८१'८ लाखके बक्स बाहरसे आये।

काफी—काफी हब्श मुल्ककी चीज है। लोग कहते हैं कि दो सौ वर्षोंसे भी अधिक हुए कि बाबा बूदम इसे मक्कासे मैसूर लाये; जो हो, यात्री ट्रवरनियरने (१६६५-१६६६) इसे मैसूरमें पाया। इस समय यह मैसूर, कुर्ग, त्रवंकोर, तथा मद्रास (वयनाद, तथा नीलगिरी, शिवेरीकी पहाड़ियों)में पायी जाती है। १६१४-१५ में ८७ हजार एकड़ जमीनमें इसकी खेती होती थी। १६१३-१४ में १५३'६ लाख तथा १६१५।१६ में १६५'३ लाखकी काफी बाहर गयी। देशी काफीकी उन्नति ब्राजिलकी सस्ती काफी (Santos) के कारण नहीं हो रही है। युनाइटेडकिंगडम सबसे अधिक माल लेता है, उसके बाद लङ्का, जर्मनी, आस्ट्रियाका नम्बर है।

चीनी—चीनी बहुत ही आवश्यक पदार्थ है, तथा इसके बनानेका व्यवसाय भी बहुत पुराना है। परन्तु आजकल इस व्यवसायकी हीन दशा हो रही है। पर तोभी ईखकी खेती (१६१६-१७ में) २४१४००० एकड़में फैली हुई थी। आजकल देशमें गुड़, राब, तथा भूरे रंगकी खांड़ ही अधिक बनती है। विलायती चीनीकी तरह सफेद खांड़के कारखाने अभी खुलने लगे हैं। देशमें गुड़ और भूरे खांड़का ही विशेष उपयोग होता है, उसीसे मिठाई बनती है। १६१६-१७ में अनुमान किया गया था कि २६२६ हजार टन खांड़ (सब प्रकारकी) देशमें तैयार

हुई, पर यह देशके लिये यथेष्ट नहीं है, इसीसे हर साल बहुत सा माल बाहरसे मंगाया जाता है। १९१३-१४ में ८०३ हजार टन विदेशी खांड़ आयी।

चीनीका व्यवसाय बहुत पुराना है, ईस्ट इंडिया कम्पनीने भी इसके व्यापारसे खूब लाभ उठाया है। इसने कुछ दिनोंतक बंगालकी चीनीकी रफ्तनीको खूब ही बढ़ाया; पर आगे चलकर कुछ कारणोंसे ब्रिटिश सरकारने वेस्ट 'इंडीज' (क्यूबा)की ईखकी खेतीको विशेष उत्साह देना आरम्भ किया; और बंगालकी चीनीपर विलायती बन्दरगाहोंमें टैक्स बैठाया। धीरे धीरे स्वयं विलायतमें ही चीनी साफ करनेके कारखाने खुले, जिनके लिये खांड़की बहुत जरूरत हुई। इसके लिये मद्रासके सफेद खांड़की रफ्तनी बढ़ाई गयी, पर यह हालत बहुत दिनों तक नहीं रही। क्योंकि कुछ दिनोंके बाद ही विलायती ढंगपर खांड़ साफ करनेके विलायती कारखाने हिन्दुस्तानमें भी खुल गये। अब इन कारखानोंने खांड़का बाहर जाना रोका। इसी समय मोरिशस, जावा, इत्यादि स्थानोंमें भी ईखकी खेती बढ़ने लगी जिससे योरप-को भारतीय मालकी जरूरत नहीं रही, और उधर जर्मनी, आस्ट्रियाने चुकन्दर (बीट Beet) से चीनी बनाना आरम्भ किया। फिर उसी चीनीको खांड़के सबसे बड़े बाजार भारत-वर्षमें, अपनी अपनी सरकारोंके धनकी सहायता (Bounty) से बहुत ही सस्ती दर पर बेचना आरम्भ किया। भारतवर्षमें यद्यपि यह पुराना व्यवसाय था, पर तौभी यह पुराने ढंग पर ही

चलता था ; पुरानी चालके काठ या पत्थरके कोल्हूमें ईख पेरी जाती थी, जिससे बहुत सा रस ईखमें ही रह जाता था। फिर खंड़सारियोंको नये ढंगपर, सस्तेमें गुड़, सफेद या साफ खांड़ बनानेकी हिकमत ही नहीं आती थी। भला इस हालतमें ये लोग सस्ती, सफेद चुकन्दरकी खांड़से कहां तक सामना कर सकते थे। धीरे धीरे खंड़सारियोंने कारखाने बन्द कर दिये ; देशी चीनीकी रफतनी बिल्कुल बन्द हो गयी और देशी बाजारोंमें सिवा चुकन्दरी चीनीके दूसरा माल ही नजर न आता। पर कुछ दिनोंके बाद ब्रुस्लस (Brussels) की पंचायतसे चुकन्दरकी खांड़पर जो जर्मनी और आस्ट्रियाकी सरकारें सहायता देती थीं बन्द कर दी गयी ; इससे ईखके कारबारियोंको बहुत कुछ फायदा हुआ, पर भारतवर्षकी वही दशा बनी रही। क्योंकि चुकन्दरकी मारसे छुट्टी पाते ही जावा और मोरिशसवालोंने ऐसे ऐसे प्रबन्ध किये, रसायनकी सहायतासे ऐसी सुगमरीति निकाली कि चुकन्दरकी बढ़तीको बिल्कुल ही रोक दिया। जहां ब्रुस्लसकी पंचायतके दस वर्ष पहले ईखसे चुकन्दरकी खांड़ दूनी तैयार होती थी, वहां १९१३-१४ में ईख चुकन्दरकी बराबरीको पहुंच गयी। (१९१३-१४ में हिसाब लगाया गया था कि दुनियांमें ७ मिलियन टन ईख और ८॥ मिलियन टन चुकन्दर होगा) लड़ाईके बादसे तो चुकन्दरकी हालत और भी खराब हो गयी है। अबतक जो भारतका बाजार चुकन्दरके हाथ था वह जावा और मोरिशसकी ईखने ले लिया।

इस समय तो जावा ही भारतके बाजार पर अधिकार जमाये हुए है; पर जापानी चीनी भी बेतरह बढ़ती जा रही है।

विदेशी चीनीकी आमदनी—जैसा कि लिखा जा चुका है बाहरसे दो किस्मकी खांड़ आती है—ईख और चुकन्दर। जावा, मोरिशस ईख तथा जर्मनी आस्ट्रिया चुकन्दरकी खांड़ भेजते हैं। लड़ाईसे चुकन्दरकी आमदनी बन्द है; ईखकी आमदनी भी जहाजकी कमीसे कम हो गयी है। इसका फल यह हुआ है कि इन चार वर्षोंमें साफ चीनीका मूल्य दूनेसे भी अधिक हो गया है। चुकन्दरकी चीनी बम्बई, कराचीमें अधिक उतरती थी, तथा पंजाब, काश्मीर, अफगानिस्तान इत्यादि स्थानोंमें व्यवहार की जाती थी। जावाका माल पूर्वीय भारतमें अधिकतर खर्च होता है और कलकत्ते, रंगूनके बन्दरमें ही अधिक आता है। मोरिशसका माल बम्बई और कराची जाता है। लड़ाईके जमानेमें मोरिशसका माल कम आता था क्योंकि वहांसे माल विलायत रवाना हुआ करता था। लड़ाईके जमानेमें एक नये देश (जापान) ने चीनीमें बड़ी तरक्की की है। जहां १९१३-१४ में जापान कुल १३१ टन चीनी भेज सकता था, वहां १९१६-१७ में जापानने ११६०० टन माल भेजा!

चीनी (गुड़ मिठाई छोड़ कर) की आमदनी ।

सन्	१३-१४	१४-१५	१५-१६	१६-१७	१३-१४	१४-१५	१५ १६
	वजन हजार टन				मूल्य लाख रुपया		
ईख :—							
जावा	५८३	३१६'७	४१५	३७७'७	१०२६'७७	७४५'७६	१२६८'२७
जापान	'१	'७	११'५	११'६	'२६	२'०७	३७'२०
मोरिशस	१३९'६	८१'७	६९'४	२२'६	२५०'१३	१७०'२६	२१२'०६
मिसर	'०७	२'५	३'२	'२	'२३	७'४१	१०'०४
अन्य देश	५'४	५	१६'७	२७'७	१२'३८	१३'३१	५४'९६
जोड़	७२८'२	४०६'७	५१५'८	४४०'१	१२८९'८०	९३८'९९	१५८२'५५

सन्	१३-१४	१४-१५	१३-१४	१४-१५
	हजार टन		मूल्य	
चुकन्दर				
आष्ट्रिया-हंगरी	७४'	२१'४	१३७'६७	३८'३६
जर्मनी	'६८	'१	१'२४	'१८
अन्य देश	'०४७	'०१	'१४	'०४
जोड़	७४'७	२१'५	१३९'०५	३८'५८

सन्		१३-१४	१४-१५	१५-१६	१६-१७	१७-१८
दोनों किस्म	टन	८०२९७८	४२८०९६	५१५९०९	४४०१००	४७०७००
मूल्य	हजार रु०	१४२८२५	९७७५७	१५८२६३	१४७४०५	१५०४०४

साफ चीनीके अलावा गुड़, मिठाई और कृत्रिम चीनी (सैक-रीन) भी आया करती है। हमलोग मोरिशससे बहुत सा गुड़ मंगाते हैं। १९१२-१३ में ४०३४ हजार रुपयेका गुड़, २६४५ हजार रुपयोंकी मिठाई और १५१ हजारकी कृत्रिम चीनी भारत वर्ष आयी।

भारतवर्षमें ईखकी खेतीकी किस तरह उन्नति की जाय उसका प्रबन्ध कृषिविभाग कर रहा है। इसका वर्णन अन्यत्र

दिया गया है। देशमें सुगमतासे चीनी तैयार करनेकी शिक्षा दी जा रही है; अब काठ और पत्थरके कोल्हूकी जगह लोहेके कोल्हू चलते हैं; किसानोंको ईखका रस उबालने तथा बढ़िया गुड़ तैयार करनेकी शिक्षा दी जा रही है। साफ चीनी तैयार करनेके लिये नये ढङ्गके छोटे बड़े कारखाने भी खोले जा रहे हैं। पीलीभीतमें सरकारी कारखाना खोला गया है; गोरखपुरमें अच्छे कारखाने खोलनेमें सहायता दी गयी है। बिहारमें हालहीमें कोई आठ अच्छी फैक्टरियां खुली हैं, जिनमें २४ हजार टन तक ईख रोज पेरी जा सकती हैं। १९१५-१६ में १८ बड़ी बड़ी फैकृरियां कोई ८१ लाख रुपये की पूंजीसे चीनी तैयार करती थीं। कृषिविभागकी ओरसे पेशावरमें चुकन्दर बोनेका प्रबन्ध किया जा रहा है। १९१२-१३ में २५४७ हजार तथा १९१३-१४ में १३७५ हजार रुपयोंकी खांड़ बाहर भेजी गयी।

तम्बाकू—इसे सतरहवीं सदीके आरम्भमें पोर्चुगीज अमरिकासे लाये, तबसे इसका प्रचार निरन्तर बढ़ता ही गया है। आजकल तो विरलाही कोई पुरुष है जो किसी न किसी रूपमें इसे व्यवहार नहीं करता। इस "अति पवित्र" 'तमाल पत्र' ने पण्डित मूर्ख, धनी दरिद्र, बुड्ढे लड़के सब किसीको जिन्दगीके दुखोंसे कुछ देरके लिये रिहाई दी है। भारतवर्षमें यह या तो खैनी, सुरतीके रूपमें यों ही खाई जाती है या पानके साथ व्यवहृत होती है; अथवा हुक्केमें पी जाती है। इधर कुछ दिनोंसे सिगरेट सिगार और बीड़ीकी चाल भी चल पड़ी है।

अंगरेजी शिक्षा पाये हुए युवकोंने सिगरेट सिगारको ही भद्रोचित समझा है। सिगरेट, बीड़ीकी चाल वेतरह बढ़ती जाती है। ज्यों ज्यों सस्ते मालकी आमदनी बढ़ती जाती है त्यों त्यों दूर दूर देहातोंमें भी इसका दौरा होता जाता है। दूरसे दूर देहातमें भी आप बनियेके यहां 'कलम्बिया;' 'पिडरो' 'रेडलेम्प' मार्केके सिगरेट या हाथकी बनी बीड़ी पायेंगे! शहरके कुली मजदूरकी कौन कहे, देहातोंमें गाय चरानेवाले लड़के भी इसके स्वादसे वञ्चित नहीं है। स्कूली लड़कोंमें तो यह आफत ला रहा है। यह सब देख सुनकर देशमें लोगोंकी आंखे खुली हैं; सभा सुसाइटियां इसके निषेधकी चेष्टा कर रही हैं। बंगालकी सरकारने तो लड़कोंका तम्बाकू या सिगरेट पीना ही जुर्म करार दे दिया है।

उत्तर, पूर्व बंगालमें (विशेष कर रंगपुरके जिलेमें) तथा बिहार-मुंगेरमें, और मद्रासके कालिकट, डिंडिगल, त्रिचिनापल्ली और वर्म्माके रंगून मौलमीनके इलाकोंमें तम्बाकूकी अच्छी खेती और व्यवसाय होता है। मद्रास और वर्म्मामें बढ़िया सिगार तैयार होता है तथा विदेश भी भेजा जाता है; शहरोंमें बीड़ी बनानेका व्यवसाय फैल रहा है।

१९१३-१४ में ७५.२६ लाख रुपयोंका तम्बाकू बाहरसे आया था, उसमेंसे ५८॥ लाखके तो सिर्फ सिगरेट थे। इसमें ५३ लाखका सिगरेट युनाइटेडकिंगडम, तथा ५ लाखका मिसरसे आया। उसी साल भारतवर्षने भी ४७.९४ लाख रुपयोंका

तम्बाकू बाहर भेजा था जिसमें ३१'७७ लाखका कच्चा तम्बाकू, १५'३७ लाखका सिगार था। बंगाल, बिहार, मद्रास और बर्म्मामें कई बड़ी बड़ी फैक्टरियां सिगरेट, सिगार बनाती हैं।

अफीम; गांजा; भांग--पोस्तकी खेती (अफीमके लिये) युक्तप्रान्तके कुछ जिलों तथा इन्दौर, ग्वालियर, भूपाल, उदयपुर इत्यादि देशी राज्योंमें होती है। युक्तप्रान्तकी अफीम "बंगाल अफीम' कहलाती है। देशी राज्योंकी अफीम 'मालवा अफीम' के नामसे बाजारमें पुकारी जाती है। अंगरेजी राज्यमें अफीमकी खेती घटती जाती है, क्योंकि चीनी लोगोंने जो सबसे अधिक अफीम खरीदते थे, अफीम खानेसे कसम खा ली है। अब देशी अफीम वहां नहीं जाने पाती। अंगरेजी राज्यमें जो पोस्तकी खेती होती है वह सरकारी निगरानीमें; बिना सरकारी हुक्मके कोई पोस्त बो नहीं सकता। फिर इन किसानोंको कच्ची अफीम भी सरकारी कारखानेमें ही बेचनी पड़ती है, दूसरी जगह बेचनेकी आज्ञा नहीं है। सरकार इस अफीमको साफकर खाने लायक बनाती है। इस तैयार अफीमका कुछ हिस्सा तो देशी अफीमचियोंके लिये आबकारी विभागके हाथ बेचा जाता है और शेष या तो कलकत्तेमें नीलामकर दिया जाता है या सीधे सरकारकी तरफसे युनाइटेडकिंगडम, हांगकांग या स्ट्रेट सेटिलमेंटकी सरकारके हाथ बेचा जाता है। इन देशोंके लिये सरकारने १९१६-१७ में स्वयं कलकत्तेसे ४११५ सन्दूक तथा बम्बईसे ३२२५ सन्दूक अफीम भेजी। प्रत्येक

सन्दूक १४० पाउण्ड वजनका होता है, नीलाम करनेसे जो रकम आती है उसमेंसे अफीम विभागका खर्च निकाल देनेसे जो बचता है वह सरकारका नफा है। उसी तरह 'मालवेकी अफीम' जब बाहर भेजे जानेके लिये सरकारी अमलदारीमें आती है तब उस पर टैक्स (चुंगी) बैठाया जाता है। यह बम्बईके बन्दरगाहसे बाहर भेजी जाती है। कितनी अफीम बाहर जायगी उसकी तादाद सरकार ही ठीक करती है।

जबसे चीन सरकारने अफीम खरीदना बन्द कर दिया है तबसे अफीमकी रफ्तनी बिल्कुल कम हो गयी है। जहां १९१२-१३ में कुल ११२२ लाख रुपयोंकी अफीम देशी व्यापारियोंकी मार्फत बाहर गयी थी, वहां १९१३-४ में कुल ३४२ लाख, और १९१६-१७ में २०९ लाखका ही माल बाहर गया। १९१६-१७ में कुल ८७१० सन्दूक अफीम बाहर गयी थी उसमेंसे इंडो-चायनाने ३४४०, जावाने १९६५ और श्यामने १२०० सन्दूक माल खरीदा। इनके बाद जापान, हांगकांग, स्ट्रेट सेटिलमेंट, फारमोजा, मोरिशस लंका, और मकाओ भी थोड़ा थोड़ा माल खरीदते हैं।

जबसे चीनने अफीम लेना बन्दकर दिया है तबसे अफीमकी सहायतासे दवा तैयार करनेकी ओर सरकारका ध्यान गया है। लड़ाईके जमानेमें टर्कीसे 'मारफाईन' (Morphine) की आमदनी रुक जानेसे इस ओर और भी अधिक परिश्रम किया जाने लगा है। इसमें बहुत कुछ सफलता भी हुई है।

ब्रिटिश भारतमें १९१३-१४ में १७० हजार एकड़में अफीमकी

खेती हुई थी। इसके अलावा दो हजार एकड़में गांजा भी बोया गया था।

वरफ सोडावाटर इत्यादि—आजकल छोटे वड़े प्रत्येक शहरमें सोडा, लेमनेडके कारखाने मिलेंगे। वड़े वड़े शहरोंमें वरफके भी कारखाने खुल गये हैं। इन चीजोंकी खपत दिन पर दिन वढ़ती जाती है।

शराव स्पिरिट इत्यादि—सुरा, मदिरा, आसवकी चाल नयी नहीं है; पुराने जमानेमें भी ये चीज़ें वनती थीं और व्यवहृत होती थीं। आजकल भी शराव वनाई जाती है तथा विदेशसे भी मंगायी जाती हैं। देशी शराव वनानेकी भट्ठियां सरकारी निगरानीमें काम करती हैं, और वहींसे ये शराव आवकारी विभाग द्वारा जगह जगह पर वेचनेके लिये लैसन्सवालोंको दी जाती है। कई कम्पनियोंने विलायती ढंगकी ह्विस्की, व्रांडी, रम इत्यादि चुलानेका प्रवन्ध किया है। जौसे भी शराव (वीअर, beer) वनानेकी भट्ठियां खोली गई हैं, हिमालयकी तराईमें ये कारखाने फैले हुए हैं। १९१५ में १९ वुअरी (वीअर वनानेके कारखाने) १०१३ आदमियोंके लेकर, तथा १२ भट्ठियां (डिसटिलरी, व्रांडी, ह्विस्कीके लिये) ९१८ आदमियोंको लेकर काम कर रही थीं। इन कारखानोंसे वहुतसी वीअर सरकारी फौजी विभागवाले खरीदा करते हैं। १९१६ में ४,१०३,००० गैलन वीअर देशी कारखानोंमें तैयार हुई थी, यह १९१५ से कहीं अधिक थी। १९१३-१४ में तो पचास लाख गैलनसे भी अधिक वीअर तैयार

हुई थी। उसी तरह १९१३।१४ में देशी भट्ठियों (डिसटिलरी) से सवा दस मिलियन गैलन शराब बनाकर बेची गयी थी।

शराबकी आमदनी--विदेशी शराबकी आमदनी दिनपर दिन बढ़तीही जाती है। १९१२-१३ में २१३'३ लाख, १९१३-१४ में २२३'७ लाख रुपयोंकी भांति भांतिकी शराब बाहरसे आयी। विलायती शराब तीन भागोंमें बांटी जाती हैं--(१) जौकी बनी हुई--बीयर, एल, पोर्टर इत्यादि, (२) स्पिरिट-ह्विस्की, ब्रांडी, जिन, रम, इत्यादि। (३) वाइन-शेरी शैम्पेन, पोर्ट इत्यादि। इनमें बीअर जातिकी शराब ही सबसे अधिक आती है, उसके बाद स्पिरिट और तब वाइनका नम्बर है।

इंगलैंड और उसके बाद जर्मनी ही अधिक बीयर भेजते थे। इंगलैंडसे बहुत अधिक माल आता है, जर्मनीकी जगह अब जापानने ले ली है। जिस जापानसे १९१३-१४ में सिर्फ ५ हजार गैलन बीअर आयी थी वहींसे १९१६-१७ में कोई ६ लाख गैलन बीअर आयी!

विदेशी शारबकी आमदनी

सन्		१९१२-१३	१९१३-१४	१९१६-१७
स्पिरिट	हजार रु०	११६८३	१२७९०	१५३६४
बीयर, एल, पोर्टर	,,	६७०१	६५९१	५०८२
वाइन	,,	२८३७	२९११	२७८९
साइडर	,,	४२	७९	६६
कुल हजार रु०		२१३३३	२२३७१	२३३०१

मछलियोंका व्यापार-बंगाल, विहार, उड़ीसा, बर्म्मा, बम्बई और मद्रास प्रान्तोंमें मछलियोंका बहुत ज्यादा व्यवहार होता है। नदियों, तालावोंकी मछलियां जालमें फंसाई जाकर बाजारोंमें वेची जाती हैं। सुन्दरवन, उड़ीसा, और मद्रासमें नदियोंके मुहानों और समुद्रके किनारोंकी मछलियोंका भी शिकार किया जाता है। पर यह व्यापार आजतक निपढ़, गरीव मछुओंके हाथ चला आ रहा है; बड़े बड़े शहरोंमें मछलियों को वेचनेके लिये अमीर महाजन और उनके ठेकेदार (निकारी) भी हैं। ये लोग मछुओंको अपने चंगुलमें फंसाये हुए हैं। गरीव तथा अपढ़ मछुओंके हाथमें रहनेके कारण इस रोजगार की कोई विशेष उन्नति नहीं हो रही है; बड़े बड़े शहरोंमें रोजाना ताजी मछलियोंका पहुंचाना भी कठिन होता जाता है; दाम दिन दिन बढ़ता ही जाता है, तथा मछलियोंका वंश भी नाश किया जा रहा है। बंगाल, विहार और मद्रासमें मछलियोंके सरकारी विभाग भी खोले गये हैं। बंगाल सरकारने 'गोल्डेनक्राऊन' नामका जहाज खरीदकर मुहाने और बंगालकी खाड़ीमें मछली पकड़नेका भी कुछ दिनों तक प्रयत्न किया था। अभी उस दिन (दिसम्बर १९१८) मि० साउथवेलने, जो बंगाल विहारकी मछलियोंके विभागके अध्यक्ष हैं, एक वक्तृता कलकत्तेके अजायबघरमें दी थी। उसमें आपने बताया था कि यदि एक बड़ी कम्पनी खड़ी की जाय तो मुहाने, सुन्दरवन और बंगालकी खाड़ीसे मछलियोंको पकड़नेका अच्छा व्यवसाय किया जा सकता है।

उनकी रायमें वहां तपसी, वेगती, हिलसा इत्यादि जातिकी मछलियां बहुतायतसे मिलेंगी, तथा उनको अंगरेज, हिन्दुस्तानी सब कोई बड़ी चाहसे खरीदेंगे। सफलताके लिये उस कम्पनीको कई तेज़ मछली पकड़नेके स्टीमर खरीदने होंगे, उनमें मछलियोंको सड़नेसे बचानेका प्रबन्ध करना पड़ेगा। उसके अतिरिक्त इस कम्पनीको सूखी मछली तैयार करने, डब्बेमें भरकर तैयार मछ-लियोंको बाहर भेजने तथा मछलियोंका तेल और खाद तैयार करनेका भी एक कारखाना खोलना पड़ेगा। इन सब चीजोंकी बड़ी मांग है। सूखी मछलियों या डब्बेकी मछलियोंको दूर दूरके लोग शौकसे खरीदेंगे तथा तेलका व्यवहार दवा (Cod liver oil) और चमड़ा तैयार करनेमें होगा। सड़ी, गली मछलियोंसे बहुत ही उपयोगी तथा सस्ती खाद भी बनेगी। औद्योगिक कमिशनके सामने साक्ष्य देते हुए मि० एन० के० चौधरी महाशयने भी, जो उड़ीसाकी चिलका झीलकी मछलियोंका बड़ा रोजगार करते हैं, तेल निकालने और सूखी मछली तैयार करनेके विषयमें ध्यान दिलाया था। उनकी रायमें चांदबाली (बालासोर) में मछुओं को सिखानेके लिये स्कूल खोलने, नाव, डोंगी, जाल इत्यादि बनानेके भी कारखाने खुलने चाहियें। मद्रास—रामनाद, दक्षिण कनारामें भी मछलियोंको सुखाने, उनसे तेल निकालनेके कई कारखाने हैं। औद्योगिक कमिशनकी रिपोर्टमें लिखा गया

---

* Southwell's Lecture at the Indian Museum. Also Ind. Com. Report p. 46; N. K. Chowdhry.

है कि मद्रासकी मछलियोंके विभागने समुद्री मछली पकड़ने उनको सुखाने, डब्बोंमें भरने, तथा मछलियोंका तेल और खाद तैयार करनेकी अच्छी शिक्षा दी है। फल यह हुआ है कि समुद्रके किनारे किनारे कोई २५० फैकृरियां खुली हैं जो तेल बनाती है। ये सब मछुओंके हाथ हैं।

१९१३-१४ में ३१३६ हजार रुपयोंकी मछलियां बाहरसे आयी थीं। इनमें डब्बेमें आई तैयार मछलियां शामिल नहीं हैं। उसी तरह यहांसे १९१३-१४ में, सूखी, नमक डाली हुई मछलियां २११७ हजार रुपयोंकी, मछलियोंकी अंतड़िया और डैन ११६४ हजार, तथा फुटकर माल ६४३ हजार, कुल ३९२४ हजार रुपयोंका माल बाहर गया। इन अंतड़ियोंसे बहुत बढ़िया 'सरेस' लस्सा तैयार होता है।

खानेपीनेकी दूसरी चीजें-इस प्रकरणमें जिन खाद्य द्रव्योंका वर्णन किया गया है उनके अतिरिक्त भी कई प्रकारके द्रव्य हैं जो उल्लेख योग्य हैं। जैसे (१) डब्बे बोतलोंमें रखे मक्खन पनीर; हैम, बेकन, प्रभृति मांस; मछलियां; बारली, अरारूट इत्यादिके आटे; बिस्कुट, केक, जमे दूध इत्यादि तथा (२) सुपारी, लौंग, मिर्च इत्यादि मसाले और (३) खजूर, छोहारे, किसमिस इत्यादि सूखे कच्चे फल। देशमें बिस्कुट, केक बनानेके कारखाने खुले हैं तथा खुल रहे हैं। डब्बों, बोतलोंमें भरकर फल, अचार, मुरब्बे भी बाहर भेजे जाते हैं। लड़ाईके समयमें इन खाद्य द्रव्योंकी आमदनी बिल्कुल बन्द कर दी गयी थी, इससे योरोपियनों और साहबी

मिजाज भारतीयोंको बड़ा कष्ट हुआ था। पर ये सब चीजें ऐसी हैं कि इनको देशमें बनाना कुछ भी मुश्किल नहीं है। बम्बई और कलकत्तेमें इन्हीं बातोंको दिखानेके लिये तथा देशी कम्पनियोंको उत्साह देनेके लिये इन खाद्यद्रव्योंकी प्रदर्शनी की गयी थी।

विदेशसे आई खानेकी चीजें

	१९१३-१४	
डब्बे और बोतलमें की चीजें	५६'६९	लाख रु०
बार्ली, अरारूट इत्यादि	४७'७२	,,
बिस्कुट, केक	४५'८१	,,
जमा दूध	४८'५२	,,
अन्य	५६'६१	,,
कुल	२४७'३६	लाख रुपया

१९१३-१४ में ११२'८ लाखकी सुपारी, ३३'७ लाख रुपयोंकी लौंग तथा १६'६७ लाखके अन्य फुटकर मसाले विदेशसे आये। उसी तरह ६०'२१ लाखकी खजूर, २४'४४ लाखके बादाम, तथा ८'६१ लाखके अन्य सूखे फल, और १९'७ लाखके ताजे फल मूल १९१३-१४ में बाहरसे आये थे।

इनके बदलेमें भारतवर्षने भी १९१३-१४ में कुल ९१'४१ लाख रुपयोंके मसाले (अर्थात् ४३'४६ लाखकी काली मिर्च, २०'१३ लाखकी लाल मिर्चा, १८'४० लाखके अदरख और फुटकर ९'३६ लाख) बाहर भेजे। फलोंमें ताजे फल २९'९४ लाख तथा सूखे फल ३१'९७ लाखके बाहर गये थे। इनके अतिरिक्त भारतवर्ष ३४'८४ लाखका घी, और १९'५० लाखका फुटकर खाद्यद्रव्य

वाहर भेजता है। यदि फलोंको ताजा रखने और सड़नेसे वचाने का व्यवसाय यहांके लोगोंको मालूम हो जाय तो और भी अधिक परिमाणमें फल भेजे जा सकें। कृषिविभागकी ओरसे क्वेटा गुलिस्तान, चमनकी उपत्यकाओंमें फलोंके व्यवसायकी तरक्की करनेका यत्न किया जा रहा है। फलोंको पैककर दूर दूर भेजने की नई नई तरकीवें निकाली जा रही हैं। विदेशसे फलोंके वृक्ष मंगाकर लगाये गये हैं, उनसे भी भविष्यमें बड़ी आशा की जाती है। वलोचिस्तान, कुमाऊं, कुलु और काश्मीरमें फलोंका व्यवसाय वहुत कुछ वढ़ाया जा सकता है। अन्य अन्य प्रदेशोंमें भी फलोंकी उन्नतिकी ओर ध्यान दिया जा रहा ।

लड़ाईके जमानेमें सरकारी पल्टनोंको मेसोपोटेमियामें शाक भाजीकी रसद पहुंचानेमें पहले पहल वड़ी मुश्कलें पेश आई। पर धीरे धीरे एक वड़ी अच्छी तरकीव निकाली गयी है, जिससे आशा है कि भविष्यमें वड़ा लाभ होगा। क्वेटामें इन शाकभाजियोंको धूपमें सुखा कर, मशीनोंमें दवाकर ईंटे तैयार की जाती थीं। फिर शाकभाजियोंकी इन ईंटोंको सिपाही लोग उवाल कर पकाते थे और ताजी तरकारीका मज़ा पाते थे। यदि यह चाल निकल पड़ी तो वड़े शहरोंका वड़ा भारी अभाव दूर हो जायगा।

इस अध्यायमें जिन जिन खाद्यद्रव्योंकी आमदनी रफ्तनीका वर्णन किया गया है वे सव कृषिजात हैं। इनके उपजानेमें तथा इनको वाजार पहुंचानेमें—दोनों कार्योंमें वही पुरानी चालका

आश्रय लेना पड़ता है। जिस तरह खेतीके लिये पुराने औजार हैं, वैसेही उनको बाजारमें बेचनेके भी पुराने वसीले हैं। अगर योरप, अमरिकाकी तरह यहां भी औजारोंसे काम लिया जावे तो बड़ा लाभ हो। सब बातोंमें विलायतकी नकल तो लाभदायक नहीं होगी, पर तौ भी इतना अवश्य ठीक है कि खेतोंमें पानी पटानेमें तथा मालको बाजारके लिये तैयार करनेमें यदि मशीनों की सहायता ली जाय तो बड़ा लाभ हो। कूयें, झील या नदीसे पानी उठानेके लिये कलों, इंजिनोंका बैठाना बड़ा लाभदायक है, इससे कृषिका एक बड़ा भारी अभाव दूर हो जाता है। यदि यथेष्ट पानी मिल जाय, यदि इन्द्र भगवानकी ओर न ताकना पड़े तो फिर कृषकोंकी खुशीका ठिकाना न रहे। इसमें मद्रासमें जैसी सफलता हुई है उससे अनुमान किया जाता है कि सस्ते इंजिनोंसे पानी निकालने और सींचनेकी चाल सारे भारतवर्षमें फैल जायगी। यदि कृषक लोग अकेले या दस पांच मिलकर ऐसी मशीनें बैठा लें तो एक और लाभ हो सकता है। आजकल कृषक लोग खेतोंकी उपज ज्यों की त्यों बेच डालते हैं। पर यदि वे इंजिन बैठालेंगे तो धानकी जगह चावल, गेहूंकी जगह आटा, तेलहनके स्थानमें तेल बेच सकेंगे, अच्छी तरह ईख पेरकर चीनी तैयार कर सकेंगे, तथा अपने बैल गायोंके लिये चारे काट सकेंगे और खेतोंमें खाद डालनेके लिये हड्डियां पीस सकेंगे, इत्यादि। इससे गांवोंकी दशा ही पलट जायगी, वहांके लोगोंको रोजीका अभाव नहीं रहेगा।

बड़े बड़े शहरोंमें मैदा पीसने, धान कूटनेकी कलें बैठाई गयी हैं; रंगूनमें धानकी कलोंने बड़ी तरक्की की है। यदि इस प्रकारसे कलोंका प्रचार बढ़ जाय तो देशमें धनकी वृद्धि होगी, लोगोंकी बुद्धिका विकाश होगा तथा जीवनका आदर्श ऊंचा हो जायगा। पर भारतकी वर्तमान दरिद्र दशाको देखते सर्वसाधारणमें कलों और मशीनोंके प्रचारकी आशा करना शेखचिल्लीके मनोरथके समान है।

नवां अध्याय

लकड़ी और काठका व्यवसाय

जंगलोंसे लाभ—जंगलात विभागका काम— कड़ियोंका कारबार-दियासलाई ।

जंगलोंसे लाभ—भारतवर्ष और वर्म्मामें जो जङ्गल हैं उनसे देशको बड़ा लाभ है। प्रकृतिमें कोई भी चीज़ बेकार नहीं है; यदि जङ्गलोंमें वाघ, सिंह इत्यादि हिंस्र जन्तु रहते हैं तो जङ्गलोंसे बढ़ियासे बढ़िया लकड़ी भी मिलती है; जङ्गलोंके कारण देशमें वृष्टि होती है, नदियोंका वेग नियन्त्रित रहता है, जमीन कटकर पानीके साथ बहकर समुद्र गर्भमें जानेसे बचती है। कृषिकी उन्नति कहांतक जङ्गलोंसे सम्बन्ध रखती है, इसको हमलोग बहुत कम जानते हैं। प्रकृति, अन्तरिक्षमें काम करने-वाली अपनी शक्तियोंका प्रयोग जङ्गलोंके जरिये ही करती है। मेघ समुद्रसे जल लाकर जंगलोंकी सहायतासे दूर दूर पहुंचाते हैं। जङ्गलोंके कारण जमीन कटनेसे बचती है, तथा जङ्गलोंके कारण ही पानी अच्छी तरह जमीनमें जज़्ब हो जाता है जिससे कूंए खोदने पर थोड़ी दूरमें ही पानी निकल आता है और खेत सींचनेमें सुविधा होती है।

जिन देशोंने हर तरहसे तरक्की की है वहांके लोगोंका ख्याल है कि रकवेका २० फी सदी जङ्गल होना चाहिये, पर भारतमें इसका आधा भी जङ्गल नहीं है। जो हैं भी उनको नासमझीसे बड़ा नुकसान पहुंच चुका है। सौभाग्यसे सरकारने जङ्गलके लाभदायक महत्वको समझा है और जङ्गलात विभाग कायमकर उसके कई उद्देश्य नियत किये हैं। सबसे प्रधान उद्देश्य तो कुछ जङ्गलोंको बचाये रखना है, उनको बरबाद होनेसे रोकना है। क्योंकि इनके न रहनेसे पानीका अभाव होता है, नदीकी बेरोक बाढ़ और जमीनके कट जानेका भय होता है। दूसरा प्रधान उद्देश्य जङ्गलोंकी कीमती लकड़ियोंका व्यापार बढ़ाना, जगह जगहपर ईंधन सोख्ता, चारे तथा खाने पीनेकी जङ्गली चीजोंको बचाने और वृद्धिके उपायोंका अवलम्बन करना है।

जङ्गलोंके बरोकटोक काट डालनेसे कृषिकर्म गड़बड़ा जाते हैं। ग्रीस, ट्रिपोली, पैलेसटाइन, अरब आदि देशोंमें यह हो चुका है, भारतमें भी वैसा ही कुछ हो रहा है। यदि उद्गमके निकट नदियोंके जलके वेगकी रोक थाम न की जाय तो नदियों वा नहरोंका प्रवाह ठीक ठीक नहीं रहता। उदाहरणके लिये जमुना और उसकी शाखा नदियोंकी उपत्यकाओंकी जङ्गलोंकी ओर निगाह डालिये। वहां दिनों दिन वनका अभाव ही होता जाता है, इसीसे नदियोंमें बहकर जानेवाले पानीकी किसी प्रकार रोक नहीं। पानी गिरते ही बाढ़ आती है और आसपासकी खेती या बस्तीको नुकसान पहुंचाती है। इधर बाढ़के कारण अधिक

हानि होने लगी है। इसी बाढ़के कारण सहारनपुर–तराईकी भूमि, जिसमें कृषि होती थी, कम हो गयी। देहरादूनकी भी वही हालत है। नदियोंने अपना मार्ग भी बदल दिया है तथा अधिक वेगसे भी बहती हैं। नदियोंके मार्ग बदल जानेसे जो मैदान–गंगबरार–पड़ जाते हैं उनमें यदि बबूल, शीशम, खैरके जङ्गल लगानेका यत्न किया जाता तो बड़ा लाभ होता; इनसे बरसात का पानी थमता, मिट्टी बहने नहीं पाती, और नदियोंकी सतह धसकनेसे बच जाती। इधर कई सौ वर्षों में नदियोंकी सतह ५०-६० फीट नीची पड़ गई है, पानीके चश्मे नीचे पड़ गये हैं, कुंओंकी गहराई बढ़ती जाती है। खुशीकी बात है कि जङ्गलात विभागकी कृपासे इन बातोंका महत्व समझा जाने लगा है और जङ्गलोंको बरबाद होनेसे बचानेका प्रयत्न किया जा रहा है; जगह जगह पर मैदानमें नये जङ्गल लगानेकी कोशिशें हो रही हैं। *

जङ्गलात विभागका काम--१९१५-१६ में २४६००० वर्ग मील जङ्गल इस विभागके अधीन थे। इस जङ्गलसे कुल २८६ मिलियन वर्गफीट लकड़ियां और ईंधन तथा ११६ लाख रुपयों की अन्य वस्तुयें मिलीं। सब खर्च बाद देकर इस विभागसे १३२ लाख रुपयोंकी आमदनी हुई।

इससे स्पष्ट होता है कि जङ्गल बड़े बेशकीमती हैं, इनसे देशको बड़ा लाभ हो सकता है। पर इसकी जैसी चाहिये वैसी उन्नति

* मिस्टर मैक्सकिनकी सीखकी आधार पर लिखे 'सरस्वती' के नोटसे; भाग १९ संख्या ५।

नहीं हुई है। दूसरे देशोंमें जङ्गलोंका इससे कहीं अच्छा उपयोग हो रहा है। सबसे बड़ा अभाव जङ्गली लकड़ियों तथा अन्य वस्तुओंको बाजार पहुंचानेके सामानोंकी कमी है। पहाड़ोंपर दुर्गम जङ्गलोंमें कीमती लकड़ियां मौजूद हैं, पर इनको बाजार पहुंचाना कठिन है। लागतसे अधिक खर्च ही पड़ जाता है। पर, इन मुश्किलोंको योरप, अमरिकावालोंने आसान किया है; कलोंकी सहायतासे ऊंचीसे ऊंची पहाड़ियोंसे सामान लाकर बाजारोंमें पहुंचानेकी व्यवस्थाकी है। यदि ये बातें वहां सम्भव हैं तो भारतवर्षमें क्यों नहीं? इस अभावको दूर करनेकी बड़ी जरूरत है; नहीं तो बहुत सा कीमती माल योंही बरबाद चला जाता है। हिमालयकी पहाड़ियोंमें लकड़ीका चौपता (सिलीपर) ढोनेके लिये आदमियोंसे; बर्मा और अंडमनमें सागवानके तख्ते ढोनेके लिये भैंसों और हाथियोंसे तो सहायता ली जानी पुरानी बात है। इधर कुछ दिनोंसे आसाम-गोआलपाड़ामें सालकी लकड़ियोंको ढोनेके लिये ट्रामगाड़ी चलने लगी है। अंडमन, पंजाब-चंगामंगा और बर्मामें भी कई स्थानोंमें ट्राम हैं। हिमालय और बर्मामें कहीं कहीं रस्सों पर लटकाकर लकड़ियां लाई जाती हैं। जहां सम्भव है वहां नदियोंमें बहाकर लकड़ियोंको समतल भूमिमें पहुंचाते हैं। इतना कुछ होनेपर भी इसमें बड़ी उन्नतिकी आवश्यकता है, इसीके अभावसे बहुत सी हानि हो रही है। इसके लिये खास इंजिनियरोंको नियुक्त करनेकी आवश्यकता है।

जङ्गलात विभागका दूसरा अभाव व्यवसाय बुद्धिकी कमी है।

अबतक मशहूर लकड़ियां ही बाजारोंमें लाई जाती है ; नई जाति-की लकड़ियोंको बेचनेका कोई प्रबन्ध नहीं है। यह काम ठेके-दारोंका नहीं है ; वरन ठेकेदारोंके हाथ जङ्गलका बन्दोबस्त करना ही हानिकारक है। फिर भी बाजारोंमें बड़े बड़े कुन्दोंकी जगह छोटे छोटे टुकड़े बेचे जायं तो और लाभ हो ; ये टुकड़े अवश्य ही सूखे तथा वैसे होने चाहियें कि उनसे जरूरतकी चीजें आसानीसे बनाई जा सकें।

तीसरा अभाव खोज करनेके यथेष्ट प्रबन्धकी कमी है। और जो कुछ अन्वेषण होता भी है वह व्यवसायकी दृष्टिसे नहीं, इससे धनोत्पादनमें वैसी सहायता नहीं मिलती। अमरिका, योरपमें जङ्गलसे बहुत सा धन प्राप्त होता है, उससे लाखोंकी जीविका चलती है ; जङ्गली सामानोंको लेकर 'पल्प' टार, अलकोहल एसिटेट, गैस, राल, तारपीन तेल इत्यादि कितने ही उपयोगी पदार्थ बनते हैं। मैसूर राज्यके उत्साही शासक लोग भी ऐसा करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। विचार हो रहा है कि कडूर और शिमोगाके जङ्गलोंसे लकड़ियां काटकर 'बेंकीपुर' में कोयला तैयार किया जाय। वहांसे २५ मील दूर खानसे लोहा निकाला जायगा और इसी कोयलेकी सहायतासे गलाया जायगा। साथ साथ यह भी प्रबन्ध किया जा रहा है कि कोयला बनाते समय अलकोहल 'असिटेट' इत्यादि आनुषंगिक द्रव्य भी बना लिये जावें। * पर हमारे देशमें उसका शतांश भी

* The Modern Review Decr. 1918.

व्यवहारमें नहीं आता। इसके लिये उचित है कि जंगलात-विभागमें खोज करनेवाले योग्य विद्वानोंकी संख्या बढ़ाई जाय, तथा उनकी जांचके आधारपर उद्योगविभाग (Industries Department) से नये नये धन्धोंको खड़ा किया जाय या उत्साही कारबारियोंको पूरी सहायता दी जाय। यदि ऐसा न होगा तो केवल आनुमानिक जांचसे नये धन्धे न खुल सकेंगे। इनके भरोसे दियासलाईके कारखाने खोलनेमें जो असफलता हुई थी वही हालत दूसरोंकी भी होगी। जब लाहौर—जल्लोंके तारपीन तेलके कारखानेकी तरह छानबीनकर, व्यवसाय करनेके ख्यालसे कारखाने खोले जायंगे तभी लाभ होगा। इसीसे औद्योगिक कमिशनने राय दी है कि जङ्गलात विभागमें खोज करने-वालोंकी संख्या बढ़ाई जाय तथा उनकी खोजका औद्योगिक विभागसे घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जाय, तब भविष्यमें बड़ा लाभ होगा।

जंगलातके सम्बन्धमें एक और बात महत्वकी है हिन्दुस्तान-को चाय, काफी, नील, अफीम भेजनेके लिये हर साल बहुत से पैकिंग बक्सोंकी जरूरत होती है। सिर्फ चायके लिये १९१३-१४ में ८१ लाख रुपयोंके बक्स बाहरसे आये थे। उसी तरह पेन्सिल, दियासलाई इत्यादि जरूरी चीजोंके लिये भी खास तरह-की लकड़ियां चाहियें। ये लकड़ियां देशमें मिलती हैं सही, पर इनके जङ्गल एक जगह नहीं है, दूर दूरमें छितर बितर हो रहे हैं, प्रकृतिको इस बातकी गरज थोड़े ही है कि चायके बक्सकी

लकड़ियोंके सब वृक्ष एकही जगह पैदा हों, और पेन्सिल, दिया-सलाईके लिये सब वृक्ष दूसरी जगह इकट्ठे हों। परन्तु यदि ये वृक्ष एक जगह, सुगम स्थानमें होते तो कारबार करनेमें बड़ा लाभ होता। उसी तरह बहुत से ऐसे वृक्ष हैं जिनका बाहरसे लाकर लगाना बड़ा लाभकारी होगा; जैसा सिनकोना युकैलिपटस इत्यादि। इन बातोंपर जङ्गलात विभाग ध्यान दे रहा है और जिसमें खास खास; चीजोंके जङ्गल एक जगह हों इसका प्रयत्न कर रहा है। दक्षिण मालाबार नीलाम्बरमें सागवानके जङ्गल, पंजाब चंगामंगामें जलावन (ईंधन) के जङ्गल, सिन्धमें बबूलके जङ्गल; आसाममें रबरके पेड़, नीलगिरीमें युकैलिपटसके पेड़ लगाये जा रहे हैं। आसाम, बंगाल, बर्म्मामें बड़े बड़े जङ्गली पेड़ काट डालनेपर एक इलाकेमें एक ही प्रकारके पेड़ लगाये जा रहे हैं। इससे भविष्यमें लकड़ीके कारबारमें बड़ी सुविधा होगी।

लकड़ियोंका कारबार—मकान बनाने, घर गृहस्थीके सामान तैयार करने तथा जलावन इत्यादि अनेक कामोंमें लकड़ियोंकी जरूरत होती है। भारतवर्षमें अच्छे, खराब, हलके, मजबूत अनेक प्रकारके काठ मिलते हैं। अच्छे कामोंमें सागवान, शीशम, देवदार, चन्दन, आबनूस, वालनट (अखरोट) पादुक, तून, नीम, दुधी, अंजन, साल, बबूल, कटहल इत्यादि लकड़ियोंका व्यवहार होता है। चन्दन लकड़ियोंका राजा है, इससे खूबसूरत, बेलबूटेदार चीजें बनती हैं। इसके बाद सागवान, साल, शीशमका नम्बर है। मकान बनाने, मेज

कुर्सियोंको तैयार करनेमें इनका बहुत उपयोग होता है। शीशम, बबूल और बांस समतल भूमिवालोंके लिये अत्यन्त उपयोगी पेड़ हैं। विदेशमें सागवानकी बड़ी मांग है, उससे जहाज तैयार होते हैं, बढ़ियां कीमती मेज़कुर्सियां बनाई जाती हैं। बर्मा (आराकान, पेगू, मर्तबानके इलाकों) में यह सबसे अधिक पाया जाता है; उसके बाद मध्यप्रदेश (चन्दा जिला); त्रवंकोर और मद्रास (वयनाद, उत्तर कनाड़ा,) में भी सागवान होता है।

देशमें कितनी लकड़ी खर्च होती है इसका अन्दाज लगाना कठिन है। पांच सात लाख टन लकड़ियां तो सिर्फ रेल, स्टीमरसे देशमें व्यवहार करनेके लिये पहुंचाई जाती हैं। इनसे भी कई गुना अधिक काठ आसपासके बाग बगीचोंसे जंगलोंसे लाकर काममें लाया जाता है। भारतवर्षसे बहुत सी लकड़ी बाहर जाती है तथा बहुत सी लकड़ी बाहरसे भी आती है। यदि पहाड़ों जंगलोंसे लकड़ियोंको ढोकर बाजार पहुंचानेकी सुगम रीतिका प्रचार हो जाय तो अधिक माल बाहर भी जावे तथा बाहरसे आई लकड़ियोंकी भी जरूरत न पड़े। १९१३ में १८३ लाख रुपयोंकी लकड़ियां बाहर गयीं, उनमें अधिकांश सागवानकी लकड़ी थी। युनाइटेडकिंगडम सबसे अधिक माल लेता है।

विदेशसे भी उस साल प्रायः ८७ लाख रुपयोंकी लागतकी लकड़ियां आईं। इसमें श्याम और ज़ावासे सागवानकी लकड़ियां २५ लाख, अमरिका संयुक्त राज्यसे चार और डीलके काठ २४

लाख तथा आस्ट्रेलियाके ६ लाखके 'जरा वुड' थे। रेल लाइनोंके लिये बहुतसा 'सिलीपर' आस्ट्रेलियासे आया करता है।

बाहरसे आये काठका वर्णन यहीं नहीं खतम होता है। इसके अतिरिक्त भी बहुत सा काठका सामान देशमें आया करता है। जैसे १९१३-१४ में दियासलाई ६० लाख, चायके बक्स ५२॥ लाख; खिलौने तथा खेलकी चीजें ४४·१ लाख; गाड़ियां २५·३ लाख, मेज़ कुर्सियां २४ लाख; जहाजके हिस्से २२·५ लाख, के थे।

१९१५ में लकड़ी चीरनेकी ११८ बड़ी बड़ी मिलें थीं, जिनमें प्रायः ११ हजार आदमी काम करते थे। मेज़ कुर्सी बनाने, या देशी चारपाई, चौकी तैयार करने वाले बढ़ई और उनकी दूकानें हर जगह पायी जाती हैं। बरेलीमें काठका बहुत बड़ा कारबार है। यों तो देशभरमें लकड़ियोंको खरादने, उनपर फूलपत्ती उखाड़ने तथा उनमें हाथी दांत, हड्डी या पीतल वगैरह जड़नेका काम सब प्रान्तोंमें होता है। परन्तु इसके लिये युक्तप्रान्त, पंजाब, काश्मीर, गुजरात, मैसूर और बर्म्मा प्रसिद्ध हैं।

दियासलाई—सस्ती दियासलाईकी आमदनी बढ़ती जाती है, उसका प्रचार दिनों दिन अधिक होता जाता है। लड़ाईके पहले आस्ट्रिया हंगरी, नारवे स्वीडन और जापान ही अधिक माल भेजते थे। अब इधर जापान ही सबसे अधिक माल भेजता है, उसने दियासलाईके बाजार पर पूरा अधिकार जमा लिया है। १९१६ में १८·३ मिलियन ग्रुस बक्सोंमें १५·२ मिलियन तो सिर्फ

जापानसे आये थे, शेष स्वीडन, नारवेका माल था। परन्तु यही जापान १९१३ में सिर्फ ७·२ मिलियन ग्रुस बक्स भेजता था। भारतवर्षमें दियसलाईके कारखाने खुल सकते हैं या नहीं, इस विषयपर बहुत कुछ लिखा पढ़ी हुई है; देशी जंगलोंमें काम लायक लकड़ियां मिलती हैं, पर यहांके कारखाने बहुत कामयाब नहीं होते। इस समय बम्बई, मध्यप्रदेश और कलकत्तेमें दियासलाईके आठ कारखाने हैं, पर उन्हें विदेशी सस्ते मालके सामने सफलता नहीं होती। फिर दूसरी बात यह है कि उन्होंने कारखाना खोलनेमें भूल की है। उन्हें उचित था कि जंगलोंके पास कारखाना खोलते या वहींसे लकड़ी तैयार कराकर मंगाते। ऐसा करनेसे ढुलाई बच जाती। इन्हें विदेशी रसायन (केमिकल) के कारण भी असुविधा होती है।

दसवां अध्याय

धातु और खनिज द्रव्य और उनके व्यवसाय

खनिज द्रव्यका व्यवसायसे सम्बन्ध—प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतमें खनिज द्रव्योंका उपयोग—धातुओंके धन्धेकी वर्त्तमान अवस्था—खनिज द्रव्योंका उपयोग क्योंकर किया जाय—आजकल क्या हो रहा है?—धातुओंकी बनी चीजोंकी आमदनी-रफ्तनी—फैक्टरी एक्ट।

खनिज द्रव्यका व्यवसायसे सम्बन्ध—इस युगका नाम कलियुग वा लौह युग (Iron Age) है, यह यथार्थ ही है। मशीनोंके इस जमानेमें यदि कोई चीज मूल्यवान है तो वह लोहा है; उसकी उपयोगिताके सामने सोना, चांदी, हीरा, मोती, सब तुच्छ हैं। इस संसारमें सभ्यताका प्रचार करानेमें, सुख सम्पदाकी वृद्धिमें अगर किसी चीजने सहायता दी है तो वह लोहा है। फिर भी लोहा जो कुछ कर सका है उसका बहुत कुछ अंश कोयलेकी सहायतासे ही हुआ है। जिस दिनसे इस 'काले हीरे' (Black Diamond) का लोहेसे संयोग हुआ है उस दिनसे सभ्यताका और भी अधिक विकाश हुआ है। इस महायुद्धने

इनके महत्वको भलीभांति दर्शाया है। * इन दो धातुओंने अपने साथ साथ अपनी जातिकी अन्य अन्य धातुओंको भी ऊंचा किया है; उन सबकी भी इनके साथ इज़्ज़त बढ़ गयी है; आजकल धातुओंकी ही मांग है। जिस देशमें जितना खनिज धन है उसका ज़ोर उतना ही अधिक है; जहां इनकी कमी है वहां कमज़ोरी है; वहां अधीनता है। वहां सुख सम्पदाकी वृद्धि असम्भव है।

प्रकृतिकी कृपासे भारतवर्षका खनिज धन प्रचुर है, ज़रूरत की सब चीज़ें इसके भूगर्भमें वर्त्तमान हैं। मि० वालने अपनी किताबमें लिखा है कि यदि भारतवर्षको सारी दुनियासे अलग भी कर दिया जाय तौ भी यह एक ऊंचे दर्ज़ेके सभ्य देशके लिए जितने खनिज द्रव्योंकी ज़रूरत होती है उतनी सब चीज़ें अपने देशमें ही बिना किसीकी सहायताके पा सकेगा। † मि०

---

* cf. The following extracts from the Prime Minister's (Asquith) speech to the representatives of the Coal mining Industry (Oct. 25, 1916):—"The importance of coal in the great national and international struggle in which we are engaged is only exceeded by the importance of men. Coal is the basic element in the manufacture of all the munitions of war,.......... from the by-products of coal are obtained the ingredients used in the fabrication of high explosive. Coal in the source from which is generated our motive power whether on land or sea,...... (by this) the British navy lives and exercises its mastery of the Sea."

† "Were India wholly isolated from the rest of the world, or were her mineral productions protected from competition, there

वालको ऐसा कहनेका अधिकार था क्योंकि आप भारतवर्षके भूगर्भ (Geocaogill) विभागके अध्यक्ष थे। भारतवर्षमें हीरा, मोती, नीलम, पन्ना आदि शौकीनीके जवाहिरात मिलते हैं, यहां की खानोंमें सोना, चांदी जैसे उपयोगी धातु पाये जाते हैं ; यहां आजकलके उद्योगधन्धों, वाणिज्य-व्यापारके लिये अत्यन्त उपयोगी लोहा, तांबा, कोयला, मंगनीज़, बौक्साइट, क्रोमाइट, किरोसिन इत्यादि सब प्रकारके खनिज द्रव्य वर्त्तमान हैं। इनका वर्णन अन्यत्र किया जा चुका है। यहां उनको खानोंसे निकालने तथा व्यवहारोपयोगी बनानेसे सम्बन्ध रखनेवाले उद्योगधन्धोंका वर्णन किया जायगा।

प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतमें खनिज द्रव्योंका उपयोग-मनुष्योंकी सभ्यताके विकाशका इतिहास पढ़नेसे ज्ञात होता है कि आजकल क्रमशः अग्नि, धनुष, घट, जन्तु, लोहा,

cannot be the least doubt that she would be able, from within her own boundaries, to supply very nearly all the requirements, in so far as the mineral work is concerned, of a highly civilized country".

—Ball's Ecoo. Geology, p 1.

Also Cf. Sir T. H. Holland. F. R. S. Director Geological Survey of India : "But so far as I can find, with the exception of quicksilver, which *is the smallest item in the bill, there is* not one amongst the imported minerals and metals not known to exist in the country"—Development of the mineral resources of India 1905.

Also Cf. the Ind. Industrial Com. Report p 38. "The mineral deposits of the country are sufficient to maintain most of the socalled 'key' industries,".

लेखनकला, बारूद, वाष्प, विद्युत और व्योमयान इन दस चीजोंके व्यवहारने सभ्यताकी वृद्धि की है। जिस जातिने इनका व्यवहार सीखा उसीकी विजय हुई, उसीकी संसारमें धाक जम गयी। भारतवर्ष संसारके सबसे पुराने सभ्य देशोंमें से है, इस कारण यहां भी सभ्यताके इन साधनोंमें से सातका बहुत पुराने समयसे व्यवहार होता आया है। शेष तीन साधन बिल्कुल हालकी दशाके चिन्ह हैं। हमारे देशके स्तूप, टीले, खंडहर, स्तम्भ तथा इतिहास इस बातकी साक्षी देते हैं, कि पुराने जमानेमें भी धातुओंका बहुत कुछ प्रयोग होता था, खानोंसे धातुओंको निकाल तथा शुद्ध कर चीजें बनाई जाती थीं और दूर दूर तक पहुंचाई जाती थीं। भारतवर्षके जवाहिरोंकी प्रशंसा पुराने जमानेसे होती आई है; हिन्दुओं, बौद्धों और मुसलमानोंके राजत्वकालमें जो जो विदेशी यात्री आये सब कोई इसके जवाहिरोंकी प्रशंसा कर गये, सब कोई इसके धनको देखकर चकित स्तम्भित हो गये। आजतक उसके चिन्ह जहां तहां मिलते हैं :—भारत सम्राट्के मुकुटका उज्ज्वलतम हीरा 'कोहेनूर' हिन्दुस्तानी है; रूसके बादशाहोंके मुकुटका 'ओरलौफ' (orloff) तथा फ्रान्सका 'पिट्स डायमंड' ड्यूक आफ डिमनशायरका नीलम (Sapphire of the Woollen spoon) भी हिन्दुस्तानकी खानोंसे निकला था। दूसरे दूसरे देशोंको भारतने ही सोना, चांदी पहुंचाया और उनका व्यवहार सिखाया।

हमलोगोंने केवल इन कीमती धातुओं या पत्थरोंका ही उप-

योग नहीं सीखा था, उनके साथ साथ लोहा, तांबा जैसे उपयोगी द्रव्योंको भी जमीनकी आंतसे खोद निकाला था। आज भी जहां तहां खानोंके इलाकोंमें ऐसी खाई और धुस्स मिलेंगे जिनसे प्रतीत होगा कि वहां लोग अगले जमानेमें खानोंसे धातुओंको निकालते थे और सामान तैयार करते थे। अशोकके जमानेसे लेकर मुगलोंके जमाने तक यही हालत थी। अब भी दिल्लीका लौह स्तम्भ, मुर्शिदाबादकी 'जहां कुशा' तोप, लोहा ढालनेकी कलाके सबसे अच्छे नमूने मौजूद हैं। उसी तरह १८६४ ई० में सुलतानगंज (भागलपुर, विहार) में पाई गई ७॥ फीट की, एक टन वजनवाली, तांबेकी, बुद्ध-भगवानकी मूर्ति (यह आज कल बरमिंगहमके अजायब घरमें मौजूद है।); और ८० फीट ऊंची तांबेकी मूर्ति जिसे यात्री 'ह्वांगच्वांग' ने नालन्दमें देखा था—ये दोनों तांबा ढालनेकी पराकाष्ठाके नमूने हैं। उसी तरह बीजापुरका 'मालिके मैदान' जो संसारमें सबसे वजनी तोप है (प्रायः १४७० मन) पीतल बनानेकी बुद्धिका नमूना है।* प्रायः तीन हजार वर्ष हुए मैगिस्थीनीजने लिखा था कि भारतकी जमीनकी आंतमें असंख्य मूल्यवान पदार्थ पड़े हुए हैं, उससे बहुत सा सोना चांदी, तांबा लोहा हर साल निकाला जाता है और तरह तरहके काममें आता है। 'अर्थशास्त्र' में खानोंमें काम करनेवालों तथा धातुओंकी परीक्षा, आदि की पूरी व्यवस्था है। अभी हालमें मैसूरमें पाली भाषाका एक ग्रन्थ मिला है, उसमें लिखा है कि अशोकके समय खानोंके लिये एक स्वतन्त्र मन्त्री और विभाग ही

नियुक्त थे जो सोना, चांदी, हीरा, पन्ना, लोहा, तांबाको ख़ानोंसे निकाल कर क़ामलायक बनाते थे। उसने 'कालडिया' से पीतल, तांबेका काम जाननेवाले कारीगरोंको बुलाकर देशमें बसाया था। उन्हें यहां वाले 'वारक' (दो भाषा बोलनेवाले) कहते थे, तथा वे जैनी थे। उसी समयमें जैनी कारीगर खेतड़ी (राजपुताना) तथा श्रावन बेलगोला (मैसूर) में भी बसाये गये थे। प्रो० विलसनने लिखा है कि—लोहा ढालनेकी चाल तो इङ्गलैंडमें अभी हालमें चली है, परन्तु भारतवर्षमें लोहा गलाने, ढालने, जोड़ने, इस्पात बनानेकी चाल स्मरणातीत कालसे चली आती है। उसी तरह स्वर्गीय महात्मा महादेव गोविन्द रानाडेने १८६२ में लिखा था कि भारतवर्ष पुराने समयमें अपनी जरूरतोंके लिये तो लोहा तैयार करता ही था, इसके अतिरिक्त बहुत सा लोहा बाहर भी भेजता था, इसकी चीजें विश्व विख्यात थीं। यहींके इस्पातसे दमिश्ककी तलवारें बनती थीं जिनका सारी दुनियामें मान था, इसको ख़रीदनेके लिये ईरानी सौदागर पहाड़, जङ्गल, रेगिस्तान लांघकर भारत आते थे! हिन्दुस्तानी इस्पात विलायत तक पहुंचता था और छुरी, कैंची बनाने में इस्तेमाल होता था! दिल्लीमें जो उतनी बड़ी और भारी लोहे

Also Cf. Sir. T. H. Holland in the Development of mineral resources of India :—"The high quality of the native made iron and steel, and the artistic products in copper and brass once gave the country a prominent position in the metallurgical world."

की लाट है उसको देखकर अक्ल हैरान हो जाती है। मि० बाल (भूगर्भ विभागवाले) ने स्वीकार किया है कि इतनी बड़ी लाटका बनाना अभी हालतक तो बड़ेसे बड़े लोहेके कारखानेके लिये बिल्कुल असम्भव ही था, पर आजकल भी शायद ही कोई इतना लोहा गलाकर ऐसा एक स्तम्भ बना सके।" *

ईस्ट इंडिया कम्पनीके जमानेमें भी बहुत दिनोंतक यही हालत रही। उधर अठारहवीं सदीके पिछले हिस्सेमें (१७६० के बादसे) विलायतका औद्योगिक आन्दोलन (Industrial Revolution) शुरू हुआ। माल ढोनेके लिए नहरें खुलीं, सबसे बड़ा अविष्कार पत्थरकी कोयलेकी सहायतासे लोहा गलानेकी कलाका हुआ, फिर उसीके साथ साथ स्टीम इंजिनका अविष्कार हुआ जिसमें पत्थर कोयलेकी आंचसे वाष्प बनायी जाती थी और उसी वाष्पकी शक्तिसे इंजिन चलता था। बस इस कृत्रिम शक्तिकी सहायतासे नये किस्मके करघे चलने लगे, नये नये कारखाने बनने लगे, लोहा ढलने लगा और उससे मशीनें तैयार होने लगीं। इधर भारतवर्षमें शान्तिका राज्य स्थापित हुआ, मार काटकी जरूरत न रही, तलवार बरछे गलाकर फाल बना दिये गये। विलायती कलोंकी बनी सस्ती चीजें आने लगीं, धीरे धीरे स्टीमर और रेलने उन्हें कोने कोने तक पहुंचा दिया, झोपड़ियों तक लाकर हाजिर कर दिया! ऐसी दशामें दार्शनिक

* The Hon'ble Pandit Madan Mohan Malaviya's note of dissent, p 295. Report of the Ind. Ind. Commission.

भारत अपने धन्धोंको बिलकुल ही भूल गया। धीरे धीरे यहां तक हालत आ पहुंची कि आजकल, बीसवीं सदीमें, हिन्दुस्तानियोंको यह सुझाने, समझानेकी जरूरत हुई कि उनके पुरखा भी, खानोंसे धातुओंको निकालते थे और उनका व्यवहार करते थे!

धातुओंके धन्धेकी वर्तमान अवस्था—पुराना व्यवसाय प्रायः मर सा गया है, उसके स्थानमें विदेशी चीजोंने दखल जमाया है। देशी व्यवसायकी नैया डूब गई है और एक बड़े चट्टानसे टकराकर डूबी है। आजकल सिर्फ उसके टूटे फूटे अंग पानी पर तैरते दिखाई देते हैं। कहीं कहीं देहातों, जङ्गलोंमें लोहा गलाया जाता है, ठठेरे, कंसेरे पीतल कांसा बनाते हुए पाये जाते हैं, सौभाग्यसे कहीं पर शीशेकी चूड़ी और नकली मोती बनानेवाले नज़र आ जाते हैं। बस इतना ही हमलोंगोके हाथ रह गया है, पुरानी कारीगरीके ये ही 'भग्नावशेष' हैं। जिन इलाकोंमें हजारों आदमी बालू धोकर सोना निकालते थे, लोहा गलाते थे, तांबा तैयार करते थे, वहां अब वीरान पड़ा है, सघन जङ्गल बन गया है और कारीगरोंकी सन्तान खेतीबाड़ी कर किसी प्रकार कालयापन करती है। किसी जमानेमें यहां भी लोहा तांबा गलाया जाता था इसके सबूतमें सिर्फ पुराने ढेर और खाइयां भर रह गई हैं। सेन्ससकी रिपोर्ट पढ़नेसे पता लगता है कि ठठेरे, कंसेरे, लुहार, सुनार, बालू धोकर सोना बनानेवाले इत्यादि पेशेवालोंकी संख्या ४० लाखसे कम है। ३२-३३ करोड़की जन संख्यावाले देशके लिये यह संख्या क्या है?

इधर देशी कारीगरी गई और उधर विदेशी चीजोंकी आमदनी बढ़ती गई। बढ़ते बढ़ते उसकी सालाना तादाद ५० करोड़ रु० से भी अधिक हो गई! देखिये १९१३-१४ में आये विदेशी मालकी तादाद नीचे दी जाती है :—

१९१३-१४

गैर सरकारी खरीद :—

लोहा, तांबा इत्यादि धातुओंकी चीजें	२२०२'४ लाख रुपया
रैल इञ्जिन इत्यादि	१००३'४ लाख रुपया
पुतलीघरोंकी मशीनें इत्यादि	७७५'८ लाख रुपया
खानोंसे निकला तेल	४११'५ लाख रुपया
लोहे पीतलके बरतन इत्यादि	३९४'८ लाख रुपया
शीशा और उसकी बनी चीजें	१९४'५ लाख रुपया
कलपुर्जे, बाजे वगैरह	१८२'१ लाख रुपया
मोटरकार वगैरह	१५३'३ लाख [illegible]या
जवाहिरात	१०७'२ लाख रुपया
कोयला, कोक इत्यादि	१०६'६ लाख रुपया
सीमेंट, ईंट इत्यादि	१०६'७ लाख रुपया
रसायन	१०१'४ लाख रुपया
नमक	८७'६ लाख रुपया
पोरसीलेन, मिट्टीके बरतन इत्यादि	६३'४ लाख रुपया
अस्त्र, शस्त्र इ०	३५'५ लाख रुपया
साइकिल	३४'७ लाख रुपया
छुरी, कैंची	२८.३ लाख रुपया
घड़ी	२६.६ लाख रुपया
जेवरात	१९'६ लाख रुपया
जोड़	६०३५'४

सरकारी खरीद :—

रैलके इञ्जिन इत्यादि	४०२'६ लाख रुपया
लोहा, तांबा इत्यादि धातु	७९'८ लाख रुपया

मल, अस्त्र	५१'५ लाख रुपया
कोल, कोल	४१'४ लाख रुपया
धातुके छुरी कैंची बरतन	१४'२ लाख रुपया
मशीन, पुतली घरकी कलें	१०'५ लाख रुपया
कलपुर्जे	२०'५ लाख रुपया
तार विभागके सामान	१५'७ लाख रुपया
	६७०६'० जोड़

गैर सरकारी और सरकारी खरीद :—

सोना, चांदी	४९'४ लाख रुपया
कुल जोड़	६७५५'५ लाख रुपया

इसमें से सोना चांदी ७'० लाख, धातु २२'२ लाख, धातुके बरतन इत्यादि २४'१ लाख अर्थात् ४३'३ लाखके सामान फिर दूसरे दूसरे देशोंमें लौटा दिये गये। अतएव ६७ करोड़ १२'२ लाख (६७५५'५—४३'३=६७१२'२ लाख) देशमें रहा।

जिस देशमें कामलायक हर तरहके धातुकी खानें मौजूद हों, वहां यदि दूसरे देशोंसे सालाना ६७ करोड़से अधिकका माल मंगाना पड़े, तो उस देशको क्या कहेंगे ? ऐसी हालत क्यों हुई? क्या देशमें अब खानें नहीं हैं ? क्या वे सब बेकाम हो गईं ? नहीं, सब कुछ है, उनमें धन जैसेका तैसा भरा पड़ा है, वरन् भूगर्भ विभागने और भी नयी नयी खानोंको खोज निकाला है। पर देश-वासियोंके ज्ञानका लोप होगया है, उनमें अविद्याका अंधकार छा गया है, वे मोहजालमें फंसे हुए हैं। यही कारण है कि सब कुछ देख सुनकर भी, समझ बूझकर, भी सोये हैं।

आप कहेंगे कि क्यों हमारे देशमें खानें खोदी आ रही हैं,

कोयला, लोहा, अबरख, तांबा, मंगनीज, किरोसिन, सीसा, जस्ता इत्यादि धातु निकाले जाते हैं और विदेश भेजे जाते हैं। हर साल करोड़ोंका व्यापार होता है। हां, इसमें सन्देह नहीं कि १६१५ में भारतवर्षमें कुल १५ करोड़ ६८लाख रुपयोंकी लागतके खनिजद्रव्य खानोंसे निकाले गये थे। पर इसका बहुत ही थोड़ा अंश भारत सन्तानोंका है। नमक सरकारी है, शोरा किसी समय सरकारके हाथ था पर अब देशी नोनियोंके हाथ है। थोड़ा सा अबरक देशी लोगोंके हाथ है, कोयलेकी खानोंका भी थोड़ा अंश देशी कम्पनियोंका है। इसी तरह और भी कुछ छोटी मोटी धातुओं की खानें देशी आदमियोंके हाथ हैं; पर अधिकांश विदेशी कम्पनियोंकी सम्पत्ति है। जमीदारों या देशी रजवाड़ों या सरकारको सिर्फ थोड़ा सा 'मालिकाना' (Royalty) भर मिलता है। शेष नफा उन कम्पनियोंका है। ये कम्पनियां भी एक दो देशकी नहीं हैं यहां प्रायः सारे संसारके कारबारी पाये जाते हैं। यदि केवल ब्रिटिश साम्राज्यके ही कारबारी होते तो कुछ सन्तोषकी बात होती—क्योंकि हमलोग ब्रिटिश साम्राज्यके अंग हैं, और आशा है कि आज नहीं तो कभी हमलोग भी दूसरे दूसरे अंगोंसे उतना ही लाभ उठाने लगेंगे जितना कि वे लोग आजकल यहांसे उठाते हैं। पर हमारे दुर्भाग्यसे हमारी चीजोंहीसे हमारे दुश्मनोंने हमें नुकसान पहुंचाया! हमलोगोंने जर्मनों तकको यहांकी खानोंका मालिक होने दिया, उन्हें भारत माताकी आंतोंको फाड़कर धन ले जाने दिया। फिर वही धन उसी भारत

माताको नुकसान पहुंचानेमें खर्च हुआ। और आश्चर्य तो यह है कि लड़ाईके पहले हम लोगोंका इस ओर ध्यान ही नहीं था। जर्मन कम्पनियोंने वर्माकी उल्फरामकी खान अपने हाथों कर ली थी, त्रवंकोरके 'मोनेज़ाइट सैंड' पर अधिकार जमा लिया था।* पर हमलोगोंको इसकी खबर ही न थी।

खनिज धनका उपयोग क्योंकर किया जाय?—अब प्रश्न यह उठता है कि खनिज धनका उपयोग क्योंकर होना चाहिये। यह तो सब लोगोंपर विदित ही है कि खानों और कृषिमें बड़ा अन्तर है। पृथ्वी तलकी उत्पादिनी शक्ति हमेशा कायम रहेगी, यदि उसका दुरुपयोग न हो, यदि खेतोंमें बराबर

---

* "One of the most striking of the many revelations brought home to us by the war is the enormous hold that Germany had obtained over the world's metal markets and the vast ramifications of the German metal ring. For years past Germany had been gradually acquiring control not only of metals but of the raw materials of their production; her activities extended all over the world and embraced not only Europe but America, Australia, and India..............The whole of the wolfram output of Burma went to Germany, and the world was dependent on her for a great part of its supply of tungsten and of ferro-tungsten. Again, the monazite sands of Travancore were controlled by her, and she regulated the price and output of the mineral and the production from it of thorium nitrate, thereby controlling also the gas-mantle industry. These are only three of the many instances that might be adduced to show the thorough but insidious manner in which Germany had gradually acquired an industrial position of extraordinary power."—Presidential Address—Mining and Geological Institute of India, 1916. H. H. Hayden, F. R. S.

खाद डाली जाय तो उपज होती ही रहेगी, उसका ह्रास होना सम्भव है पर नाश होना मुमकिन नहीं। परन्तु पृथ्वीकी आंत की अवस्था भिन्न है। खानोंका धन धीरे धीरे कम होता जायगा, उस ह्रासको पूरा करनेके लिए अबतक न किसी प्रकारकी खादका आविष्कार ही हुआ है और न होना ही सम्भव है। खानोंकी सम्पत्ति धीरे धीरे कम होती जायगी, अन्तको उन्हें छोड़ देना होगा। खानोंका निकला प्रत्येक टन कोयला, अथवा प्रत्येक आउन्स सोना, या प्रत्येक गैलन किरोसिन तेल उसकी क्षमताको घटाता है, खानोंमें गड़ी सम्पत्तिको कम करता है। इस घटीकी पूर्त्ति हो नहीं सकती। यदि उस सोने तांबे या लोहेसे देशका उपकार हुआ, यदि उनका देशकी सुख समृद्धिकी वृद्धिमें उपयोग हुआ तब तो देशको लाभ पहुंचा, यदि नहीं हुआ तो उतना धन देशसे सब दिनोंके लिये चला गया, देश उतना गरीब अवश्य ही हो गया।

जैसा कि अन्यत्र दिखाया जा चुका है, देशकी खानोंको विदेशियोंके हाथ नहीं छोड़ना चाहिये। इसी सिद्धान्त पर सर टामस हालैंडने किरोसिन तेलकी खानोंमें योरपकी पूंजीका लगाना बुरा समझा है, इसी सिद्धान्त पर योरोपियन वणिक् सभाओंने जर्मनोंका भविष्यमें देशकी खानोंपर अधिकार जमानेकी नीतिका विरोध किया है। इसी सिद्धान्तको स्वीकार करते हुए साम्राज्य सभा (Imperial Conference) ने स्थिर किया है कि ब्रिटिश साम्राज्यकी खनिज सम्पत्ति तथा अन्य सम्पत्तिका उपभोग

भविष्यमें केवल साम्राज्यके हितके लिये ही होगा, अन्य राष्ट्रोंको उनसे लाभ उठानेका अधिकार न होगा। यही सरल, सीधी नीति भारतवर्षके लिये भी लगाई जा सकती है, यहां भी इस सिद्धान्तकी जरूरत है कि देशका खनिज धन देशके लिये है, इसको विदेशी कम्पनियोंके हाथमें जाने देना उचित नहीं है। १९०३ ई० में लार्ड कर्जनकी कलकत्ता वणिक् सभावाली वक्तृता (१६, फेब्रुअरी १९०३) पर टीका करते हुए कलकत्तेके 'स्टेट्समैन' ने भी इसी आशयकी बातें कही थीं। *

---

* "In the case of the mining industry, for instance, it (i. e. the development of the country's resources by English Capital) means not merely that the children of the soil must be content for the time being with the hired labourer's share of the wealth extracted, but that the exportation of the remainder involves a loss which can never be repaired............It is, in short, no mere foolish delusion, but an unquestionable economic truth, that every ounce of gold that leaves the country, so far as it is represented by no economic return, and a large percentage of the gold extracted by foreign capital is represented by no such return, implies permanent loss."

Also cf. The Statesman, March 5, 1903. "As we said in a previous article, the exploitation of the mineral resources of the country by the foreign capitalist stands on a different footing; for in this case the wealth extracted is not reproduced, and, on the not unreasonable assumption that it would sooner or later have been exploited with Indian capitalist may unquestionably be said to deprive the people of the country, for all time, of a corresponding opportunity of profit."

Quoted by G. B. Joshi, B. B., Head Master Govt, High School, Satara, in his "mining, metallurgy, mineral and metal works."

देशका खनिज धन देशका है, उसका लाभ देशको ही मिलना चाहिये। किसी भी देशी या विदेशी व्यक्तिको उससे अपना निजका खजाना भरनेका अधिकार नहीं मिलना चाहिये। यह धन राष्ट्रका है, उसीको लाभ मिलना चाहिये। आजकल यहां पर जमीनदार या अन्य व्यक्ति खानोंके मालिक बने बैठे हैं तथा 'मालिकाना' (Royalty) लेकरही सन्तुष्ट हो जाते हैं, उन्हें इससे कुछ ग़रज़ नहीं है चाहे खानोंका तहस नहस कर दिया जाय, चाहे ठेकेदार जल्द जल्द धनी बननेके लिये खानोंको बरबाद कर देवे और देशको सब दिनके लिये दरिद्र बना दें। पर यही आज-कल खानोंके सम्बन्धमें किया जा रहा है; औद्योगिक कमिशनने भी अपनी रिपोर्टमें मालिकोंकी इस लापरवाहीका उल्लेख किया है *। खानोंसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यापारियोंने (मेसर्स आइरन साइड, ली, टार्लटन प्रभृति) भी इस लापरवाही और बरबादीका अपने अपने साक्ष्यमें उल्लेख किया था। उन लोगोंने सलाह दी थी कि सरकारको उचित है कि उन खानोंको जो पड़ी हुई हैं अधिकारमें कर लेवे तथा जो खोली गई हैं उनमें व्यर्थ बरबादीको रोके। इन साक्ष्यों पर टीका करते हुए कलकत्तेके स्टेट्समैन (२०, जनवरी १९१९) ने भी लिखा था कि खानों पर देशकी

* The Coal royalty owners are the local Zemindars who under the Permanent Settlement are the owners of mineral rights. They are at present a class of mere rent chargers who take little interest in the working of their property, although great waste occurs, especially in the mines managed by the smaller interests." Ind. Ind. Commission Report, p. 19.

सरकारका ही अधिकार होना चाहिये ; ख़ास खास व्यक्तियोंको खानोंको बरबाद करानेका अधिकार नहीं मिलना चाहिये।

यह स्पष्ट है कि खानों पर केवल राष्ट्रका ही अधिकार है। उनको खोलनेका काम या तो स्वयं सरकारको करना चाहिये, या ग़ैरसरकारी कम्पनियोंको। जहां भारत सरकारने निजकी रेल लाइने खोलीं, जहां सरकारने साम्पत्तिक उन्नतिके लिये नहरें निकालीं, तथा और भी बहुतसे काम किये वहां यही आशा की जाती थी कि सरकार खानोंको भी खोलेगी, तथा कमसे कम जरूरी धातुओंको साफ करने, गलाने और उनसे सामान तैयार करनेके कारखाने स्थापित करेगी। जिस समय सरकारने रेल चलाकर देशकी आंखें खोलीं उसी समय कमसे कम उसे लोहेका कारखाना भी खोलना चाहिये था क्योंकि दोनोंमें बहुत बड़ा सम्बन्ध है। पर सरकारने ऐसा न कर बाहरसे लोहेका रेल-सामान मंगाना ही अच्छा समझा और देशके लोहेको पड़ा रहने दिया। फल यह हुआ कि देशमें उद्योगधन्धों की, वणिज व्यापार की सर्वांगीण उन्नति न हुई। माल भेजने और मंगानेके तो साधन मिल गये, पर माल तैयार करनेका साधन नहीं मिला। देशने सिर्फ कच्चे मालको ही बाहर भेजा, पर देशमें माल तैयार करना न सीखा, क्योंकि देशमें मशीनें न थीं, और न मशीनोंको बनाने के लिये लोहेके कारखाने ही थे। * यह बड़ी भारी भूल हुई

* "If the Government had started the manufactured iron on an extended scale at the time of the first opening of the railways,

जिसका फल इस लड़ाईके जमानेमें और भी स्पष्ट रूपमें दिखायी दिया।

सरकारके बाद ही ग़ैरसरकारी कम्पनियोंका स्थान है। पर ये कम्पनियां अन्य राष्ट्रकी कभी न हों, क्योंकि इनकी कमाई देशसे सब दिनके लिये निकल जाती है। सबसे उचित तो है कि देशकी कम्पनियां, देशके धनसे देशी खानोंको खोलें। यदि उन कम्पनियोंको देशमें यथेष्ट पूंजी न मिले तो बाहरसे ऋण लेना चाहिये। ऐसा करनेसे केवल सूद ही बाहर जायगा, कारबारका लाभ देशमें ही रह जायगा। ऋण लेनेमें सरकारको मदद देनी चाहिये। अगर देशी कम्पनियां खड़ी न हो सकती हों, और खानोंका खोलना नितान्त आवश्यक समझा जावे तो विदेशी कम्पनियां खोली जावें, पर शर्त्त यह रहे कि उसमें कमसे कम आधे तो अवश्य ही देशी हिस्सेदार हों जैसा कि जापान चीनने किया है। इस नीति पर चलनेसे ही देशको लाभ हो सकता है, अन्यथा नहीं।

आजकल क्या हो रहा है?—आजकल जो खानकी कम्पनियां हैं उनका प्रायः यही उद्देश्य रहता है कि जिस तरह हो धन पैदा करो, और जल्द पैदा करो। इसमें अगर खानोंका नाश

great benefits would have accrued to the state............, there was nothing inconsistent with principle in its undertaking the manufacture of its own iron any more than in its manufacture of salt or opium." Ind. Industrial Commission Report, p. 305.

भी हो जावे तो कोई हर्ज नहीं । आजकल इन खानोंके साथ जैसा वर्त्ताव किया जा रहा है उससे तो यही प्रतीत होता है । खानों-को खोलनेमें नये नये यन्त्रों, नये नये आविष्कारोंका, नये ढङ्गका उपयोग नहीं किया जाता । किस प्रकार वरवादी कम होगी और किस तरह यथा सम्भव अधिकसे अधिक माल मिलेगा इस ओर वहुत कम लोगोंका ध्यान है । औद्योगिक कमिशनने भी इस वातको स्वीकार किया है कि अनुचित रीतिसे काम करनेसे खानोंकी वरवादी की जा रही है ।* उदाहरणके लिये वंगाल और विहारका कोयला लीजिये । इससे सम्बन्ध रखनेवाले वड़े साहवों (स्वर्गीय आयरनसाईड, ली, टार्लटन) ने साक्ष्य देते हुए स्वीकार किया था कि कोयलेकी खानोंको खोदनेमें वड़ी वरवादी होती है । † सरकारको उचित है कि कोयलेके महत्व पर ध्यान रखते हुए इन वातोंको वहुत जल्द रोके । खान खोदनेमें अभीतक वहुत

---

* "We recorded a considerable amount of evidence regarding the injury to the mineral possibilities of the country caused by wasteful methods of working" ; p. 171.

† माइनिंग और जियोलाजिकल इंसटीट्यूटकी सभाने जलसोंमें भी ऐसी बातें कही जाती हैं। जनवरी १९१८ में सभापतिने कहा था कि भारतके उद्योगधन्धे बढ़ते ही जायंगे. इस कारण कोयलेका खर्च भी बढ़ता जायगा । इस लिये उचित है कि कोयलेको बरबाद होनेसे बचावें, उसका अपव्यवहार न करें, खान खोदनेकी बढ़िया तरकीब ढूंढें, और कहां कितना कोयला है उसका नये सिरेसे अन्दाजा लगावें ।

खानोंमें पुरानी चाल ही चली जाती है। नये औजार नहीं लाये जाते हैं। खान खोदकर ऊपरकी धरतीको गिरनेसे रोकनेके लिये खम्मे लगाये जाते हैं, पर इससे बहुतसा कोयला सब दिनके लिये छूट जाता है। यदि, जैसा कि बर्न कम्पनी कर रही है, उन स्थानोंको बालूसे भरनेकी चाल निकालें तो बड़ा लाभ हो। उसी तरह खानोंके अन्दरसे माल निकालने, पानी फेंकने, वहां हवा पहुंचानेके लिए इंजिन बैठाये जाते हैं, पर उनमें बेतरह कोयला बरबाद किया जाता है। इस बरबादीको रोकने और खर्च कम करनेका कोई यत्न नहीं किया जाता है। सिर्फ बर्न कम्पनीने बिजलीकी शक्तिसे खानोंमें सब काम करने और बरबादी बचाने की राह दिखाई है। उसी तरह यहां कोयलोंको खुले हुये चूल्होंमें जलाकर 'कोक' तैयार किया जाता है। पर यहां भी बरबादी होती है। यदि नये ढंगके चूल्होंमें कोक तैयार किया जाय तो बढ़िया माल भी तैयार हो तथा उसके साथ साथ 'कोल टार' (अलकतरा) और 'सलफेट आफ अमोनिया' भी उसी खर्चमें तैयार हो जाय। फिर भी खानोंसे रेल गाड़ीमें कोयला पहुंचानेके लिये प्रत्येक बड़ीबड़ी कम्पनियोंको निजकी 'साइडिंग' है जहां वे रेलोंमें कोयला बोझतो हैं। इनके नीचेकी धरतीका कोयला लाचारीसे योंही छोड़ देना पड़ता है, नहीं तो ऊपरके बोझसे धरती धंस जायगी। इसी तरह बहुत सी जगह छूटी हुई है और उनके नीचे लाखों टन माल दबा पड़ा है। यदि सब कम्पनियां मिलकर काम करने लगें, आसमानी रेल पर (Ropeway) माल ढोकर एक

जगह पहुंचानेकी व्यवस्था करें तो माल भी न बरबाद हो और रेलगाड़ियोंकी तंगी भी न रहे।

यहां सिर्फ एक कोयलेकी दशासे यह दिखानेकी चेष्टा की गई है कि अभी बहुत कुछ उन्नतिकी आवश्यकता है। इसके बिना बड़ा नुकसान हो रहा है। हर्षकी बात है कि बड़ी बड़ी कम्पनियोंने ऐसा करना शुरू कर दिया है, विशेष कर बर्न कम्पनीके अधीनकी कम्पनियोंने तो बड़ा अच्छा मार्ग दिखाया है, इसके अलावा उसने 'कुमार डोबी' नामक खानमें बड़ा कारखाना खोला है जहां कोयलेकी खानोंकी जरूरतकी चीजें बनाई जा सकेंगी, अब इन खानवालोंको स्काटलैंड, इंगलैंडसे सामान मंगानेकी आवश्यकता ही न रहेगी।

आजकल जितनी कम्पनियां काम कर रही हैं वे प्रायः सब की सब सीधे साधे कामकी ओर ही ध्यान दे रही हैं। जिन धातुओंको तुरत खानसे निकालकर काममें लाया जा सकता है उनकी खानें ही खुली हैं। पर जिनको व्यवहारोपयोगी बनानेमें कठिनता है उनको या तो यों ही छोड़ दिया जाता है, या उन्हें जैसेका तैसा खाद मिला हुआ माल ही रवाना किया जाता है। जैसे कोयला खानोंसे निकलते ही काम लायक हो जाता है, इस कारण यह सीधा काम सब कोई करने लगे हैं, कोयलेकी खानोंकी संख्या-देशी विदेशी दोनों बहुत ज्यादा है। १७-१८में १६८ ज्वायंट स्टाक कम्पनियां ६.७५ करोड़ रुपयोंकी पूंजीसे काम कर रही थीं। पर तांबा ऐसी धातुकी खानोंकी ओर बहुत कम ध्यान

दिया गया है, लोहेका काम भी अभी हालसे उठाया गया है। कारण यह है कि तांबेके साथ प्रायः गंधक इत्यादि दूसरी धातुका मिश्रण रहता है। अगर ताम्बा साफ करें तो गंधक भी निकल आवेगा। अगर आप गन्धकको व्यवहार करना न जानते हों, उस निकलती हुई गन्धकसे तेजाब न बना सकते हों तो गन्धक व्यर्थ निकल जायगी और शेष जो तांबा बचेगा वह भी खर्चके मुताबिक न होगा। इस कारण तांबेके साथ साथ गन्धक भी तैयार करनी पड़ेगी। उसी तरह लोहा तथा उससे ईस्पात तैयार करनेमें बहुत सी चीजों, बहुतसे रासायनिक प्रयोगोंकी जरूरत है, वह एक बड़े कारखानेमें ही हो सकता है। इन कारणों से आजतक मामूली काम ही चलता रहा, विशेष झंझटके कामोंमें हाथ ही नहीं लगाया गया। पर सौभाग्यसे ताता कम्पनीने लोहा और ईस्पातका एक बहुत बड़ा कारखाना खोला और उसको लड़ाईके कारण भी बहुत कुछ उन्नति करनेका मौका मिला। आज (१९१८ में) उसकी पूंजी बढ़ते बढ़ते १४ करोड़ रुपयों तक पहुंच गई है! ताताके साथ साथ 'बंगाल आयरन कम्पनी' (कुलटी वाली) भी तरक्की कर रही है। अब उसीके पास दो और गोरी कम्पनियां खुलेंगी, एक तो ताताकी तरह लोहा और ईस्पात बनायगी, दूसरी उसीसे रेल गाड़ीके डब्बे तैयार करेगी। ताता कम्पनीने ईस्पातकी चादर और स्टीमर तक तैयार करनेका अभिप्राय प्रकट किया है। वह दिन अवश्य बड़े सौभाग्यका होगा जब कि फिरसे भारतवर्ष अपने जहाजोंमें लादकर देशी मालको दूर दूरके बाजारोंमें पहुंचावेगा।

धातुओंकी बनी चीजोंकी आमदनी, रफ्तनी—इस अध्यायके आरम्भमें ही बताया गया है कि १९१३-१४ में रफ्तनी बाद देकर कुल ६७'१२ करोड़की विलायती धातु देशमें आयी। इन चीजों पर ध्यान देनेसे मालूम होता है कि ये चीज़ें अत्यन्त उपयोगी और कारआमद हैं। हम लोगोंकी देशरक्षा इन पर है, हम लोगोंका टिमटिमाता रूईका रोजगार इनके आसरे चलता है ; गोरी कम्पनियोंका जूट और चाय काफीका व्यवसाय इनपर अवलम्बित है। जूट और सूतका रंगना धोना इनके सहारे होता है ; कागज़की मिलें इनका आसरा देखती हैं ; रेलगाड़ियां इनसे चलती हैं ; घरोंमें रोशनी, कपड़ोंकी सिलाई, अमीरोंकी हवाखोरी सब इन्हीं विदेशी चीज़ोंपर अवलम्बित है। देशका ऐसा दुर्भाग्य है कि हाल तक एक कांटी, या पेंच बनाने तककी इसे क्षमता न थी। भला अब ताता कम्पनी, और बंगाल स्टील कम्पनीके कारण नाम लेनेको कुछ थोड़ा सा व्यवसाय हो गया है। पर इन कम्पनियोंमें भी वही सीधे सादे बीम, बरगे, छड़, रेलिंग, रेल ही ढलते हैं। कल पुर्जोंका बनाना अभी दूर है ; वैसा सौभाग्य होते दिन लगेंगे। देशमें बड़ी बड़ी इंजिनियरिंग कम्पनियां हैं सही, पर वे सब विलायती पूंजीसे विलायती व्यवसायियों द्वारा चलायी जाती हैं, और दर्जियोंका सा बिना महत्वका काम करती है। जैसे दर्जी विदेशी कपड़ोंसे, विदेशी कलोंपर, विदेशी सूतके सहारे कोट तैयार करता है, वैसे ही ये कम्पनियां विदेशी कलपुर्जोंसे देशमें कारखानें खोलती हैं। यह अवश्य ही सन्तोष

जनक दशा नहीं है। अबतक यहां कलपुर्जे न ढलने लगेंगे तबतक कारखानोंकी तरक्की हो नहीं सकती। युद्धके समयकी इनकी अवस्था ही इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

हमलोगोंने विदेशसे बहुत सी मोटरगाड़िया, मोटर साइकिल तथा अन्य सामान मंगाना शुरू किया है। १९०९-१० में ४८ लाख रुपयोंके ऐसे माल आये थे, पर १९१३-१४ में १५३·३ लाख के माल आये। १९१५-१६ में सिर्फ मोटरोंकी संख्या ३१२१ थी। इस व्यापारमें अमरिकाकी फोर्ड कम्पनीने बड़ी उन्नति की है; लड़ाईके जमानेमें तो इन सस्ती गाड़ियोंने योरपकी गाड़ियों को बिल्कुल हटा दिया था। फोर्डने जैसी उन्नति की है उससे तो अनुमान किया जाता है कि मोटर शक्तिका प्रचार और भी बढ़ेगा, तथा इसमें अमरिकाका ही बाजार सस्ता रहेगा। मोटर गाड़ियोंके अलावा उनके रबरके टायर ट्यूब भी बाहरसे आते हैं; ये टायर १९१३-१४ में २० लाख और १९१५-१६ में ५४ लाख रु० के आये। मोटरके व्यवसायमें युनाइटेडकिंगडम, अमरिका संयुक्तराज्य और फ्रान्स तो प्रधान थे ही, अब इधरसे जापानने भी टायर ट्यूब भेजना शुरू किया है; उसने १९१५-१६ में ९ लाख के ट्यूब वगैरह भेजे थे। इनके अलावा १९१३-१४ में २५ लाख की घोड़ा गाड़ी और ३५ लाख रुपयोंकी बाइसिकिल गाड़ी भी विदेशसे आई। मोटरोंकी आमदनीसे देशी गाड़ियोंका रोज़गार मन्दा पड़ गया है।

देशी मालके अलावा बाहरसे कोयला, कोक, इत्यादि आया

करता है। गैरसरकारी व्यापारियोंने १९१३-१४ में १०६'७ लाख तथा सरकारने ४१'४ लाख रुपयेका सामान बाहरसे मंगाया। इसमें कुछ कोक तो ऐसा था जो देशमें तैयार नहीं हो सकता और कुछ कोयला वगैरह ऐसा था कि बाहरसे मंगानेमें ही सस्ता पड़ता था। कोयलेकी खानें बंगाल या बिहारमें हैं। वहांसे स्टीमर या रेलसे माल बम्बई पहुंचाना कठिन है; यह भाड़ा ही मालको मंहगा बना देता है, इस कारण बम्बई और सिन्धवालों-को विदेशी माल ही सस्ता पड़ता है। युनाइटेड किंगडमके अतिरिक्त ट्रान्सवाल, आस्ट्रेलिया, जापान भी कोयला पहुंचाते हैं। नेटाल भी धीरे धीरे अधिक माल भेज रहा है। देशी कोयला भी सीलोन, स्ट्रेट सेटिलमेंट, न्यूजीलैंड जाया करता है। यदि विद्युत शक्तिका अधिक अधिक प्रचार होता गया तो बम्बईको बाहरसे कोयला मंगानेकी जरूरत नहीं रहेगी।

१९१३-१४ में १९४'५ लाख रुपयोंका शीशा और शीशेकी चीजें आईं। इसमें युनाइटेडकिंगडम (२६'२ लाख) जर्मनी (२८'५ लाख), बेलजियम (१९'३ लाख), आस्ट्रिया (८७'३ लाख) और जापान (१५'८ लाख) ही प्रधान थे। लड़ाईने इस सिलसिलेको बिल्कुल बदल दिया है, बेलजियम, जर्मनी, आस्ट्रिया की आमदनी बन्द है, जापान ही उनकी जगह ले चुका है। १९१६-१७ में उसने अपनी रफ्तनी १४ लाख रुपयोंसे ६० लाख कर दी है। देशमें शीशा बनानेके लिये बालू और चूना बहुत जगह मिलते हैं; चूड़ी इत्यादि गृहस्थोंके मामूली सामान बहुत जगहोंमें

बना करते हैं। अम्वाला, ग्वालियर, जव्वलपुर, बनारस इत्यादि स्थानोंमें पुराने कारवार मौजूद हैं। पूना (तलेगांव), अम्वाला इलाहावाद (नैनी) इत्यादि स्थानोंमें कारखाने खोलकर नये ढङ्गसे शीशा तैयार करनेमें भी सफलता हुई है। इस कारवारकी पूरी योग्यता विना रखे ही काम शुरू करनेके कारण सरकारी गैर-सरकारी कारखाने फेल हुए हैं सही, पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि यहां शीशे नहीं वन सकते। फिर भी बहुतसे लोगोंका कहना है कि शीशेका वढ़िया सामान भारतवर्षमें नहीं बन सकता क्योंकि यहांकी आबहवा और यहां की वालू इत्यादि सामान वैसी नहीं है। इतना मान लेनेपर भी यह कहना ही होगा कि जैसी चीजें वाहरसे आती हैं, आस्ट्रिया, जापान वगैरह जैसी चूड़ी, नकली मोती, शीशी, वोतल, इत्यादि सामान भेजते हैं वैसे सामान तो यहां अनायास ही वनाये जा सकते हैं। और इसके प्रमाण तलेगांव, नैनी और अम्वालाके कारखाने हैं। जरूरत सिर्फ इस बातकी है कि लोग स्थान, बाजार, ईंधन, वगैरहका पूरा अनुसन्धान कर उचित स्थानपर कारखाना खोलें; जहां तहां, जैसे तैसे कारखाना खोलनेसे नहीं चलेगा।

चीनी मिट्टीके बरतन भी यहां अच्छी तरह बन सकते हैं। आर्ट स्कूलोंमें बम्बई, लाहौर, लखनऊ, वृन्दावनमें इसकी शिक्षा दी जाती है। कलकत्तेका पाटरीवर्कस अच्छा सामान बनाता है। बर्न कम्पनीकी रानीगञ्ज वाली कोठीमें भी अच्छा माल तैयार होता है। मद्रास, बूंदी, पोर बन्दर, और कटनीमें सीमेंटके

कारखाने खुले हैं। सरकारने इनके मालको अच्छा बताया है। यदि यहां अधिक माल तैयार होने लगे और सस्ता पड़े तो देशको बड़ा लाभ हो। क्योंकि सस्ते सीमेंटसे नहरोंको पाट देनेसे जलकी बरबादी रुक जाय।

१९१३-१४ में धातुके बरतन (Hardware) ३६४·८ लाख रुपयोंके आये। इसमें घर गृहस्थीके धातुके सामान, बढ़ई वगैरहके औजार, लम्प, इनामिलके बरतन इत्यादि चीज़ें शामिल हैं। इनमें दो प्रकारकी चीजोंकी आमदनी महत्वकी है। एक तो इनामिल किये हुए लोहे पीतलके बरतन और दूसरी लम्प, लालटेन वगैरह। इनामिलके बरतनोंकी कीमत २७·६ लाख रुपयों की थी, इसमेंसे १६ लाखका सामान आस्ट्रिया और ६ लाखका जर्मनीसे आया था। लड़ाईके बादसे जापानने इनकी जगह दखल की है; १९१६-१७ में आये हुए १९·८ लाखके बरतनोंमेंसे प्रायः १८ लाखके बरतन सिर्फ जापानसे आये थे। जहां जापानने १९१३-१४ में सिर्फ ६·१ लाखके धातुके बरतन वगैरह (Hardware) भेजे थे, वहां १९१६-१७में उसने ५०लाखके सामान भेजे। इस प्रकारकी आमदनी बढ़नेसे देशी ठठेरोंकी अवनति होती जाती है; अब विदेशी कलईदार बरतनोंका ही प्रचार होता जाता है। किरोसिन तेलके व्यवहारके साथ सस्ते लम्प, लालटैन, भी अधिक आते हैं। १९१६-१७ में कोई २० लाख लालटैन, लम्प वगैरह आये थे जिनका मूल्य ३० लाख रुपयोंके लगभग था और इनमें सैकड़े ८० संयुक्त राज्यका और १४ जापानका था।

आस्ट्रिया हंगरीकी जगह इन्होंने ली है। १९१३-१४ में २८'३ लाख रुपयोंकी छुरी, कैंची आयी; इस विभागमें भी जापानने बड़ी उन्नति की है; १९१६-१७ में कुल १५ लाखमें ३'४ लाखका माल भेजा।

गानेवजानेके साज़, फोटो, बिजली इत्यादिके औजार, कलपुर्जे १८२'१ लाख रुपयोंके (१९१३-१४) आये थे। इनमें युनाइटेड किंगडम ही प्रधान है। पुतली घरोंकी मशीनें तथा अन्य सामान ७७५'८ लाख रुपयोंके आये थे। इसमें काटन, जूट मिलों, चाय काफीके बागानों, कोयले लोहेकी खानों इत्यादि सब प्रकारके कारखानोंकी मशीनें शामिल हैं। ज्यों ज्यों देशी पुतलीघरोंकी संख्या बढ़ती जाती है त्यों त्यों इनकी आमदनी भी बढ़ती है, क्योंकि इनके बिना देशी मिलें एक मिनट भी नहीं चल सकतीं। १९११-१२ के पहले हरदर ४९६ लाखकी मशीनें आती थीं, पर १९१३-१४ में इनका मूल्य ७७५'६ लाख रुपया था।

१९१३-१४ में लोहा, तांबा, जस्ता, अलमिनियम इत्यादि धातुओंकी आमदनी २२०२ लाख रुपयेकी थी। इसमेंसे लोहा और ईस्पात ही १६ करोड़का था। युनाइटेडकिंगडम, अमरिका संयुक्तराज्य, जर्मनी, बेलजियम ही सबसे अधिक लोहा और ईस्पात भेजते थे। लड़ाईके समयमें वहीं इसकी जरूरत बहुत बढ़ गई थी, इस कारण इनका यहां आना ही बन्द था; जहां १९१३-१४में १० लाख टनके ऊपर माल आया था वहां १६-१७में सिर्फ २॥ लाख टन माल आया! लोहेके अतिरिक्त तांबा, जस्ता, सीसा और अलमिनियम भी आते हैं।

रेल कम्पनियोंके लिये वहुत सा सामान, इंजिन, रेल, डब्बे इत्यादि-आया करते हैं। ज्यों ज्यों रेलका प्रचार वढ़ता जाता है त्यों त्यों अधिक सामान भी मंगाने पड़ते हैं। १६११-१२ तक सरकारी और गैरसरकारी खरीद सात करोड़ रुपयोंकी होती थी, पर १६१३-१४ में वह वढ़कर १४ करोड़ तक पहुंच गयी। पर तो भी यह यथेष्ट नहीं समझा जाता है क्योंकि इससे भी शीघ्र रेलोंके प्रचारका आन्दोलन किया जा रहा है।

१६१३-१४ में ८७·६ लाखका नमक वाहरसे आया। युनाइटेड किंगडम, जर्मनी, स्पेन, अदन, मिसर, शाम नमक भेजनेवाले देशोंमेंसे हैं। नमकका खर्च वढ़ता जाता है इससे अधिक नमककी जरूरत होती है। विदेशी नमकके अतिरिक्त वहुत सा नमक देशमें भी तैयार होता है तथा पहाड़ोंसे निकाला जाता है। पंजाव 'मेयो माइन' तथा कोहाट (सीमाप्रान्त) से सेंधा नमक आता है। राजपुताना-सांभर, डिडवान, पचभद्रा और पंजाव सुलतानपुरकी झीलोंके जलसे नमक तैयार किया जाता है। सिन्ध, वम्बई और मद्रास इलाकोंमें समुद्रजलसे भी नमक वनता है। भारतवर्ष और अदनमें १६१३ में ८१ लाख तथा १६१६ में १०८ लाख रुपयोंका नमक तैयार हुआ।

फैक्टरी ऐक्ट—इस भागके अन्तमें 'फैक्टरी ऐक्ट'का संक्षिप्त वर्णन करना उचित होगा। देशमें जितनी फैक्टरियां, पुतलीघर इत्यादि हैं, उन सवके निरीक्षणका अधिकार सरकारको है। सरकार इस कामके लिये इन्सपेक्टर वहाल करती है। पुतली

घरोंमें काम करनेवालोंकी रक्षाके लिये सरकारने नियम बनाया है कि छोटे छोटे बच्चे काम नहीं करने पावेंगे। बड़े बच्चों तथा स्त्रियोंको भी मर्दोंसे कम काम देना होगा। रातको स्त्रियां काम नहीं कर सकतीं। मजदूरों (कामदारों) से लगातार १२ घण्टेसे अधिक काम नहीं लिया जायगा, उन्हें दोपहरको खानेकी छुट्टी अवश्य मिलेगी, रविवारको छुट्टी होगी, इंजिनोंको घेरकर रखा जावेगा जिसमें कि मजदूर वगैरह उससे जख्म न पावें। कारखानोंमें सफाई, रोशनी, हवा इत्यादिका पूरा प्रवन्ध करना होगा कि जिसमें 'कामदारों' का स्वास्थ्य अच्छा रहे। अब धीरे धीरे कम्पनियोंको मजदूरोंके लिये रहनेका स्थान बनवानेकी ओर भी ध्यान दिलाया जा रहा है।

द्वितीय खण्ड समाप्त।

भारतकी साम्पत्तिक अवस्था

तृतीय खण्ड

पहला अध्याय

वनिज-व्यापार ।

विनिमयकी आवश्यकता—भारतके विदेशी व्यापारका इतिहास—विदेशी व्यापारका अर्थ—व्यापार नीति—भारतकी व्यापार-नीति—व्यापारनीतिका परिणाम—सीमाकी राहसे विदेशी व्यापार—भारतका आभ्यन्तरिक व्यापार ।

विनिमयकी आवश्यकता—सम्पत्तिकी उत्पत्तिके वाद ही विनिमयकी जरूरत होती है, मोची अपने बनाये जूतेको वेच कर चावल आटा खरीदता है, किसान चावल, गेहूं वेचकर जूता, कपड़ालत्ता मोल लेता है। इसीको धनका विनिमय-अदल वदल-खरीद फरोख्त कहते हैं। इसके विना समाजमें सुख सम्पत्तिकी वृद्धि नहीं हो सकती। इस विनिमयको सरल वनानेके लिये

समाजमें एक खास पेशेकी सृष्टि हुई—वनियोंकी इसी समय आवश्यकता हुई; ये कारीगरोंके यहांसे चीजें खरीद कर अपने यहां रखने लगे, वहां सब चीज़ें सब समय मौजूद मिलने लगीं। ऐसे लोगोंकी संख्या बढ़ते बढ़ते मेले, बाजारों और हाटोंकी सृष्टि हुई; सड़क, नदी, नहरसे वाहनों पर माल ढोये जाने लगे; बैल, घोड़े, खच्चरों और नावोंका उपयोग होने लगा। एक जगहकी बनी चीज दूसरी जगह ले जानेके लिये, बड़े बड़े व्यवसाय करनेके लिये सेठ, साहूकारों और महाजनोंकी जरूरत हुई, रुपयोंके अतिरिक्त, हुंडी, पुर्जोंकी चाल चल पड़ी। धीरे धीरे एक देशसे दूसरे देश तक माल पहुंचने लगा।

भारतवर्षके उद्योगधन्धोंका वर्णन किया जा चुका है, अब सम्पत्तिके विनिमयका, व्यापार वाणिज्यका यहां वर्णन करना उचित होगा। व्यापार वाणिज्य दो प्रकारके हैं—देशी व्यापार (Inland Trade) और विदेशी व्यापार (Foreign Trade)। 'देशी व्यापार' में देशकी सीमाके भीतरकी खरीद-बिक्री, वनिज व्यापारका वर्णन रहेगा। पर देशसे बाहर गये माल तथा विदेशसे आये मालकी खरीद-बिक्रीको 'विदेशी व्यापार' कहते हैं। व्यापारका पूरा परिचय देनेके लिये सरकारका उससे सम्बन्ध, तथा व्यापारके साधनका—बंक, महाजन, सड़क, रेल, स्टीमर,—डाक, तार इत्यादि—भी परिचय देना होगा।

भारतके विदेशी व्यापारका इतिहास—पं० मदन-मोहन मालवीय जीने औद्योगिक कमिशनकी रिपोर्ट में स्वतन्त्र

नोट लिखते हुए कहा है कि ईस्वी सनके तीन हजार वर्ष पहले भी भारत और वाविलके परस्पर व्यापारका प्रमाण पाया जाता है। मिसर देशमें कब्रोंके भीतरसे निकले हुए मम्मियोंको हिन्दुस्तानी मलमलमें लपेटा हुआ पाया गया है; यह ईस्वी सनके पूर्व दो हजार वर्षोंसे कमकी वात नहीं है। * इसमें सन्देह नहीं कि इसके पहले भी भारत और चीन, साइवीरियासे व्यापार होता था, चीन साइवीरियाकी चीजें खुश्की राहसे पंजाव आया करती थीं। इसके उपरान्त पश्चिमीय सीमाके देशोंसे वनिज-व्यापार होने लगा। धीरे धीरे यह व्यापार वढ़ता गया और सिन्धु, जैहूं (Oxus) या हिन्दूकुश तथा कास्पियन अथवा व्लैकसी (काले समुद्र) की राह भारतवर्ष और योरपका सम्वन्ध स्थापित हो गया। राह कठिन थी, असवाव ढोनेमें वड़ी मुश्किलें होती थीं, इस कारण कम वजनके कीमती माल ही वाहर जाते थे। धीरे धीरे ईस्वी सनके सात सौ वर्ष पहले समुद्री राहसे फारसकी खाड़ी और चीन तक नावोंका आना जाना शुरू हो गया था। खाड़ीके मुहाने पर ऊंटोंके कारवान पर मसोपोटेमिया होते हुए सीरिया और मिसर तक देशी चीजें पहुंच जाती थीं। चावल, चन्दन, 'मयूर'का व्यापार होता था। ईस्वी सनके आरम्भ-कालमें यह व्यापार वहुत कुछ वढ़ चुका था, क्योंकि उस समयके लिखे एक ग्रन्थसे विदित होता है कि भारतवर्ष, मसाला,

* Report p. 295.

कीमती पत्थर, मलमल तथा रूईके अन्य कपड़े भेजने लगा था। बदलेमें सोना, चांदी, तांबा, पीतल, जस्ता इत्यादि धातु आया करते थे। इस समय व्यापार अवश्य ही बढ़ गया होगा नहीं तो प्रसिद्ध रोमन इतिहास लेखक प्लायनी (Pliny) को यह लिखनेकी जरूरत नहीं होती कि योरपको प्रति वर्ष कमसे कम साढ़े पांच करोड़ 'सेसटर्स' (अर्थात् ४५८ हजार पाउण्ड) का सोना चांदी भारत भेजना पड़ता है!

हिन्दूकुशकी राह धीरे धीरे चीन योरपकी सड़कमें मिल गयी और अच्छी तरह जारी रही, क्योंकि धर्मयुद्धों (Crusades) के कारण सीरियावाली सड़क बन्द हो गयी थी। १४५३ तक (इसी साल कुस्तुनतुनिया तुर्कोंके हाथ आया) इस रास्तेसे व्यापार बखूबी होता रहा, पर तुर्कोंके समयमें बन्द होगया; बुगदादके खलीफाओंकी हारके बादसे सीरियावाली राह भी बिल्कुल बन्द हो गयी। धीरे धीरे पूर्वीय भूमध्यसागर, और मिसर तुर्कोंके हाथ आगये तथा भारत और वेनिसका व्यापार बन्द हो गया। अब तुर्कोंने उनका स्थान लिया।

इधर पश्चिम योरपवाले भारत तथा पूर्वके साथ व्यापार करनेको छटपटा रहे थे। पोर्चुगीज़ धीरे धीरे दक्षिण आफ्रिकाकी ओर आगे बढ़नेका साहस करते गये, यहां तक कि एक दिन (१४९८) उत्तमाशा अन्तरीप लांघकर वह मालावार (कालीकट) तक पहुंच गये। इन लोगोंने लड़ झगड़ कर अरबोंके हाथसे व्यापार छीना, गोआमें कोठी खोली तथा मलक्का जीत

कर पूर्वीय व्यापार पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया। इस समय मसाले, जवाहिरात, दवादारु, रंग, इत्र फुलेल, कपड़े लत्ते बाहर जाते थे तथा सोना, चांदी, लोहे, कांचके वरतन आते थे।

पोर्चुगालकी यह समृद्धि दूसरे देशोंसे नहीं देखी गयी; देखते देखते डच, अंगरेजी और फरासीसी कम्पनियां खुलीं। पोर्चुगीजोंका व्यापार डच लोगोंने ले लिया, और अङ्गरेजी कम्पनीसे बहुत दिनों तक झगड़ते रहे। अङ्गरेजी कम्पनीको पूर्वीय द्वीपपुञ्जसे निकल आना पड़ा सही, पर भारतवर्षमें उसकी अच्छी नींव जम गयी। समुद्र किनारेमें तो कोठियां थीं ही, अंगरेजी कम्पनीने भीतर देशमें भी जगह जगहपर कोठियां खोलीं, कुछ दिनों तक भारत वर्षमें फरासीसियों और अंगरेजोंके बीचमें झगड़ा रहा, पर अन्तमें अंगरेज ही जीतमें रहे। कम्पनीने धीरे धीरे व्यापार छोड़ कर राज्य करना ही प्रधान काम बना लिया। १८३३ में कम्पनीसे व्यापार छूटा, और १८५७ में राज्य भी उसके हाथसे गया; इसी समयसे महारानी विक्टोरियाने राज्यभार अपने हाथों लिया।

पुराने समयसे लेकर पोर्चुगीजोंके आनेतक केवल समुद्री किनारों (विशेष कर मालावार किनारे) से ही व्यापार होता था, वहीं की चीजें बाहर जाया करती थीं, भीतर देशकी बनी चीजोंको समुद्र किनारे तक लानेके लिये यथेष्ट साधन न थे। उस समयके जहाज छोटे होते थे और राह लम्बी, इसलिये कम वजनके कीमती मालको ही ले जानेमें लाभ था। पोर्चुगीजों,

और उनके वाद डच, अङ्गरेजोंने भीतर देशमें कोठियां खोली थीं पर इन कारणोंसे व्यापारकी विशेष वृद्धि नहीं हो सकी। ईस्ट-इंडिया कम्पनीको ही व्यापार करनेका पूर्ण स्वत्व था, दूसरे लोग स्वतन्त्रतासे व्यापार नहीं कर पाते थे—यह भी व्यापारके संकुचित होनेका एक कारण था। पर इससे व्यापारके लाभमें कमी नहीं होती थी, १६८२ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनीने सैकड़े १५० का मुनाफा वांटा था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनीके समयमें अठारहवीं, और उन्नीसवीं सदियोंमें नये नये माल भेजे गये; रेशम (कच्चा और तैयार माल) की रफ्तनी वढ़ी, पर छींट और मलमलके व्यापारको धक्का पहुंचा। क्योंकि इस समय विलायत (लंकाशायर) में भी कलके करघे चलने लगे थे, स्टीमकी शक्तिने सव वात ही वदल दी थी। सूतीमाल वाहर जानेके वदले विलायती कपड़ोंकी आमदनी वढ़ने लगी थी, कलोंके वने सस्ते मालने देशी जुलाहोंको नुकसान पहुंचाना आरम्भ कर दिया था। हां, नीलके रंगकी रफ्तनी वहुत वढ़ी थी, खांड भी वाहर जाया करती थी, पर जवसे 'वेस्ट इण्डीज़' के गुलामोंको स्वतन्त्रता मिली तवसे खांड मंदी पड़ गयी। इतना सव कुछ होते हुए भी व्यापारकी वैसी वृद्धि नहीं हुई। यद्यपि उन्नीसवीं सदीमें कम्पनीका राज्य तो स्थापित हो चुका था, तथापि व्यापारकी पूरी सुविधायें नहीं थीं। फौजी कामोंके लिये पक्की सड़कें तो वनाई गई थीं, पर इन्हें भीतर देहातों तक पहुंचानेके लिये वही पुरानी कच्ची सड़कें थीं जो

बरसातमें डूब जाती थीं। इन सड़कों पर बैलगाड़ियां, या लदने बैल, और खच्चर टट्टू ही माल लादते थे। जहां बड़ी बड़ी नदियां थीं वहां नावोंसे भी काम लिया जाता था। बन्दरगाहोंमें पहुंचने पर भी मुश्किलें होती थीं, उस समय तक अच्छे गुदाम, डक वगैरह नहीं बने थे, ढाल उभारमें बहुत सा माल नुकसान हो जाता था। सफर भी बहुत लम्बा था क्योंकि उत्तमाशा अन्तरीप लांघकर योरप जानेमें १०० दिनसे भी ऊपर समय लग जाता था। इससे केवल वैसी चीज़ें बाहर जा सकती थीं जिनके इतने दिनोंमें सड़ने, गलने, या घुनने बीझनेका डर नहीं था। बन्दरोंमें माल पहुंचाने और वहांसे योरप ले जानेका खर्चा अधिक पड़नेके कारण मंहगे माल ही जा सकते थे। सस्ती चीज़ों पर पड़ता ही नहीं बैठता था।

सिपाही विद्रोहने एक नया युग लाकर उपस्थित कर दिया, कम्पनीके साथ साथ पुरानी व्यवस्थाका अन्त हुआ। कलकत्ते और बम्बईसे जो रेल लाइनें खुलीं उन्होंने युगान्तर ला दिया। गदरके कारण सरकारपर अधिक कर्ज़ हो गया था, इसलिये नयी आमदनीकी फिक्र हुई। और देशकी पैदावार तथा व्यापार की वृद्धि करनेकी जरूरत समझी गयी। रेलका खूब प्रचार किया गया, नयी नयी सड़कें खोली गयीं, डाक तारका अच्छा इन्तजाम किया गया, कृषिकी उपज बढ़ानेके लिये नहरें निकाली गयीं। बन्दरोंमें माल ढाल उभारके लिये अच्छे प्रबन्ध किये गये। सारांश यह कि विदेशी और देशी व्यापारकी उन्नति करनेके लिये कोई

बात उठा नहीं रखी गयी। जबतक रेलका पूरा प्रचार नहीं होता था तबतक विलायती मालका देहातोंमें पहुंचना असम्भव था, और न देशी गल्ले या तेलहन का ही बाहर जाना मुमकिन था। अब रेलोंके प्रचारसे बन्दरोंमें अधिक माल रफ्तनीके लिये पहुंचने लगे, पर सफर वही सौ दिनका रहा। अन्तको १८६९में स्वेज़की नहर खुल गयी, और तीन महीनेका सफर तीन हफ्तेमें तय होने लगा। अब विदेशी और देशी व्यापारकी बेरोक टोक तरक्की होनेमें देर न लगी। १८७०-८० के व्यापारसे इसका पूरा सबूत मिलता है।

इधर चुंगी और टैक्स भी कम होते गये। गदरके बाद सरकारने बाहरसे आनेवाले माल पर सैकड़े २० का कर लगाया था, और कलकत्ते, बम्बई इत्यादि बन्दरगाहोंमें ये कर वसूल किये जाते थे। धीरे धीरे सरकारको पता लगा कि कर अधिक होनेके कारण विदेशी माल यथेष्ट परिमाणमें आने नहीं पाते हैं। इस लिये कर धीरे धीरे घटाया गया, यहां तक कि १८८२ में कुछ चीजों (अस्त्र, शस्त्र, शराब, नमक, अफीम) को छोड़ कर शेप विदेशी चीजोंको मुफ्त आने दिया जाने लगा। उसी तरह मालकी रफ्तनीपरका कर भी उठाया गया, १८९० में चावलको छोड़ शेष द्रव्य बिना कर जाने लगे। यह तो विदेशी व्यापार की बात हुई। देशके अन्दर भी एक जगहसे दूसरी जगह माल ले जानेमें चुंगी देनी पड़ती थी। जब तक देशमें छोटे छोटे राज्य फैले हुए थे तबतक हर राज्यकी सीमा पर चुंगीवाले

बैठते थे, जब उनकी जगह पर कम्पनीका राज्य हुआ तब भी यही हालत बनी रही। अटकसे लेकर सम्बलपुर तक चुंगीवाले अपनी सीमा पर मौजूद थे, सीमाके इस पार उसपर जानेवाले माल पर कर बैठाये जाते थे। जगह जगह पर सड़कोंके किनारे इनकी चौकी थी, वहां मुसाफिरों और व्यापारियोंसे कर वसूला जाता था, हर किसीकी गठरी खोल कर देखी जाती थी। इन चुंगीवालोंके डण्डों और हथकण्डोंसे लोगोंको बड़ा कष्ट पहुंचता था। जिन लोगोंने युक्तप्रान्तके शहरोंमें म्युनिसिपलकी चुंगी दी है और अपने बक्स, गठरियां खुलवायी हैं,या जिन्हें कलकत्ता जाते समय लिलुआ स्टेशनमें अफीम या गांजेके सन्देह पर आबकारी वालोंको बक्स खोलने देनेका सौभाग्य हुआ है उन्हें इस कष्ट, और असुविधाका पूरा ज्ञान होगा। कम्पनीके समयमें नमक, चीनी इत्यादि आवश्यक द्रव्योंपर इसी तरह चुंगी बैठायी जाती थी। लोगोंको तो कष्ट होता ही था, व्यापारको भी इससे बड़ा धक्का पहुंचता था। सरकारने इस असुविधाको समझकर धीरे धीरे, १८७६ तक इस कुप्रबन्धको उठा दिया। देशी राज्य भी इस प्रकारके करको उठाते जा रहे हैं, म्युनिसिपलटियां भी चुंगी उठा रही हैं।

अब वाणिज्यकी उन्नतिके मार्गमें सिर्फ एक कांटा रह गया। हिन्दुस्तानमें चांदीका सिक्का है, पर विदेश योरपमें सोनेका सिक्का चलता है। विदेशमें खरीद बिक्री सोनेके सिक्केमें और देशमें रुपयेमें होती है। १८७३ ई० से चांदी सस्ती होने लगी,

इस कारण एक गिन्नीके बदले अधिक रुपये मिलने लगे ; जहां किसी समयमें एक पाउण्डमें केवल दस चांदीके सिक्के मिलते थे, वहां चांदी सस्ती होनेसे १५-१६ चांदीके सिक्के मिलने लगे। चांदीका भाव इस तरह बराबर गिरता ही गया ; और रुपया सस्ता होता गया। इसने व्यापारको बड़ा नुकसान पहुंचाया। कुछ दिनों तक मालकी रफ्तनी तो बढ़ी और आमदनी कमती गयी। पर आमदनी कम होनेसे फिर रफतनी पर धक्का पहुंचना स्वाभाविक ही था। इधर सरकारको न मालूम कितनी मुश्किलें हुईं, रुपयेका भाव घटते रहनेसे आमदनीका ठीक अन्दाज़ा लगाना कठिन हो गया ; आमदनी कमते रहनेसे खर्चका भी घटाना लाजिम था। पर कुछ ऐसे खर्च थे जिनका करना आवश्यक था। जैसे विलायती कर्ज़का सूद देना, भारत सचिवके दफतरका खर्च भेजना, विलायतमें छुट्टियों पर गये हुए या पेन्शन पानेवाले सरकारी अफसरोंको तनखाह भेजना, रेल नहर फौज़के लिये सामान मंगाना इत्यादि। ये खर्च तो करने ही पड़ते थे, और इनमें सोनेके सिक्के ही व्यवहार किये जाते थे, क्योंकि विलायतमें चांदीके सिक्के नहीं लिये जाते। जबतक चांदी मंहगी थी तबतक १० रुपयोंमें एक पाउण्ड मिलता था, पर अब तो कभी १५, कभी १६, कभी १७ रुपये खर्च करने पर एक सोनेका पाउण्ड मिलता था। इससे भारत सरकारको डेवढ़ा खर्च करना पड़ता था जिससे टैक्स बढ़ानेकी नौबत आई। अधिक टैक्स देनेके लिये प्रजाने भी अधिक उपज बेची, व्यापार बढ़ाया।

पर व्यापारको फिर चांदीकी मन्दीने सताया। अन्तमें सरकारको चांदी और सोनेका भाव १५=१ करना पड़ा, जो हालतक चला जाता था। तबसे व्यापारी निश्चिन्त थे। *

पुराने जमानेसे आजतक सोना चांदीका आना जारी है। सभ्यदेशवाले इस प्रकार सोना चांदीका आना (इनकी रफ्तनीसे आमदनीका अधिक होना) बुरा समझते हैं। पर हिन्दुस्तानमें यह अबतक जारी है; इसकी आमदनीको रोकने तथा उसके बदलेमें मालकी आमदनीको बढ़ानेका प्रयत्न किया जाता है; भारतसचिव 'कौन्सिल बिल' वगैरह बेचकर इसको थोड़ा बहुत रोकते हैं। पर जबतक भारतसे रफ्तनीकी अपेक्षा आमदनी कम रहेगी, तथा जबतक सोने चांदीको गाड़कर या अन्य रूपमें रखनेकी चाल जारी रहेगी तबतक यह नहीं रुक सकता। विदेशसे जितना माल आता है उससे कहीं अधिक माल हमलोगोंको बाहर भेजना पड़ता है, पर यह हमारे ऋणी होनेके कारण ही है। हमलोगोंने जो विलायतसे ऋण लिया है उसके सूदमें माल असबाब ही भेजते हैं। बाहरसे जो माल आते हैं उनमें सूती माल, धातू, कलपुर्जे, चीनी और नमक ही अधिक हैं। यहांसे बाहर जाने वाले मालमेंसे नील, रेशम, छींट, हाथीदांत वगैरह तो बहुत दिन हुए कि प्रायः बन्द हो गये। इधर हालमें चीनी, लाह, कुसुम, अफीमने भी उनका साथ दिया। अब उनकी जगह गल्ले, तेलहन, रूई, जूट, चाय, चमड़ेने ली है।

* विदेशी व्यापारका भुगतान और करेन्सी कमिशनवाला अध्याय देखिये।

भारतका विदेशी व्यापार

	आमदनी	रफ्तनी
१८३५ से दस वर्षोंका औसत	९·७२ करोड़ रु०	१३·७३ करोड़ रु०
१८४५ से ,, ,, ,,	१४·०५ ,, ,,	१८·७५ ,, ,,
१८५५ से ,, ,, ,,	३७·४३ ,, ,,	३९·४३ ,, ,,
१८६५ से ,, ,, ,,	४४·७९ ,, ,,	५६·६१ ,, ,,
१८७५ से ,, ,, ,,	५७·५४ ,, ,,	७४·४९ ,, ,,
१८८५ से ,, ,, ,,	८३·२६ ,, ,,	१०२·६६ ,, ,,
१८९५ से ,, ,, ,,	१०५·७० ,, ,,	१३०·९६ ,, ,,
१९१०-११	१७३·४४ ,, ,,	२१७·०८ ,, ,,
१९१३-१४	२३४·७४ ,, ,,	२५६·०९ ,, ,,

इस हिसावमें सरकारी, गैर सरकारी खरीद, सोने चांदी की आमदनी रफ्तनी सव शामिल हैं। जो विदेशी माल फिरसे वाहर भेज दिया जाता है उसकी रकम आमदनीमेंसे घटा दी गयी है और रफ्तनीमें जोड़ दी गयी हैं। इन अंकोंसे स्पष्ट है कि सिपाही विद्रोह (१८५७) के वादसे ज्यों ज्यों रेल नहरका प्रचार वढ़ा है त्यों त्यों व्यापारकी भी वृद्धि होती गयी है। १९१३-१४ में तो आमदनी रफ्तनीका मूल्य प्रायः ४९१ करोड़ रुपयों तक पहुंच गया था। इसमें एक और भी ध्यान देने योग्य वात है। इस व्यापारमें आमदनीसे रफ्तनी हमेशा अधिक रही है; इसका विशेष कारण तो 'होम चार्ज' अर्थात् भारत सचिवके आफिसका खर्च, विलायती कर्जका सूद, कर्मचारियोंकी पेन्शन, रेल नहरके सामान-का मूल्य तो है ही, पर इनके अतिरिक्त हिन्दुस्तानमें व्यवसाय करनेवाली गोरी कम्पनियों आदिका सालाना नफा भी एक कारण है। भारतवर्ष जितनेका माल भेजता है उसके वदलेमें

या तो माल खरीदता है या अफसरों वगैरहसे काम लेता है और शेषके बदलेमें नक़द् सोना चांदी मंगाया करता है।

विदेशी व्यापारका अर्थ—जिस तरह धनकी वृद्धि और व्यक्तियोंके सुभीतेके लिये श्रमविभाग और धनके विनिमयकी सृष्टि हुई है उसी तरह, कहा जाता है कि विदेशी व्यापार (अन्तर्जातिक) व्यापार खड़ा किया गया है। जिस तरह श्रमविभागके स्थापित होनेसे मनुष्य, मनमाफिक रोजगार चुन लेता है, जिसकी जैसी प्रकृति होती है वह वैसे ही काममें नियुक्त हो जाता है और इस तरह अधिकसे अधिक सम्पत्तिका उपार्जन करता है, तथा उसके बाद विनिमयकी सहायतासे अपने कमाये हुए धनसे सुख प्राप्त करता है, उसी तरह अन्तर्जातिक व्यापारसे संसारव्यापी श्रमविभाग स्थापित हो जाता है, जिस देशको जिस प्रकारके धनकी उत्पत्ति करनेका प्रचुर साधन मिलता है वह वैसे ही धनकी सृष्टि करता है। इस तरह वह देश अन्य देशकी (जिसे वैसे साधन नसीब न हों) अपेक्षा कम खर्चमें, कम मेहनतसे अधिक धनकी उत्पत्तिकर लेता है और फिर उसी सम्पत्तिको विनिमयकी सहायतासे, संसारके बाजारमें बेचता है। जिस तरह व्यक्ति अपनी चीज़को मंहगे बाजारमें बेचता है और जरूरतकी चीज़ोंको सस्ते बाजारमें खरीदता है उसी तरह एक देश दूसरे देशको तभी माल भेजता है जब कि उसे पूरा मूल्य मिलता है, तथा दूसरे देशसे तभी माल खरीदता है जब कि उसे वैसा करनेमें लाभ बोध होता है। इस प्रबन्धसे दोनों पक्षका लाभ है। यदि

यह प्रथा दो देशोंकी तरह सारे संसारमें फैल जाय तो सारे संसारका लाभ होगा ; जहां जिस चीज़के बनानेमें सुभीता होगा वहां वही चीज बढ़िया और सस्ती बनेगी ; एक स्थानमें सिर्फ उतनी चीज़ें बनेंगी जितनी कि सुभीतेसे बन सकती हैं, शेष चीजें दूसरी जगहसे आयेंगी। उस समय सारा संसार मानों एक बाजार हो जायगा।

यह आदर्श प्रबन्ध तभी पूर्ण रूपसे लाभकारी होगा जब कि सारा संसार एक प्रगाढ़-मित्रताके सूत्रमें बंध जायगा, देश देशमें प्रभेद न माना जायगा; सब कोई एक विश्वब्रह्माण्ड व्यापी पुरुष-के अंग हो जांयगे। उस समय उद्देश्यकी भिन्नता नहीं हो सकती, एक दूसरेका शत्रु नहीं बन सकता। जिस प्रकार एक शरीरके अंगोंमें भेद भाव नहीं हो सकता—हाथ, पैरसे नहीं झगड़ सकता है, उसी प्रकार संसारमें देश देशका झगड़ा नहीं रहेगा, सारे संसारमें शान्तिका ही राज्य होगा। पर जबतक ऐसा न हो, जबतक भिन्न 'जातीय' राष्ट्र बने रहेंगे, जबतक एक जाति दूसरेको दबा कर शक्तिशालिनी बननेकी इच्छा रखती रहेगी, जबतक बड़ा राष्ट्र छोटे राष्ट्रको हड़प जानेकी चेष्टा करता रहेगा, तबतक इस प्रकारके अवैध अन्तर्जातिक वाणिज्यसे उभय पक्षको समान लाभ न होगा, एक दूसरेको दबानेकी चेष्टा करता रहेगा, और मौका पाकर एक दूसरेका अनिष्ट करके ही छोड़ेगा। इस स्वार्थ मूलक अवैध प्रथाकी कमज़ोरी जातीय राष्ट्रोंके पर-स्परके युद्धके समय और भी स्पष्ट हो जाती है। यदि अन्तर्जातिक

श्रमविभागको पूर्ण रूपसे स्वीकार कर लिया जाय तथा पृथ्वी पर जगह जगह पर वैसे ही व्यवसाय होने लगें जिन्हें करनेमें पूरा लाभ है तो फल यह होगा कि एक जगहमें दो चार चीजें उपजेंगी या बनेंगी शेष दूसरी दूसरी जगहोंसे आयेंगी। उदाहरणार्थ, एक देश कृषिप्रधान होगा तो दूसरा व्यवसायी। अब कृषिप्रधान देश अपनी फसल व्यवसायीके हाथ बेचेगा और व्यवसायी उससे उपयोगी चीजें तैयार करेगा। दोनों देश एक दूसरे पर निर्भर करते रहेंगे। अब अगर मान लें कि दोनोंमें जातीय विद्वेषके कारण लड़ाई छिड़ गयी, या एक तीसरे देशकी लड़ाईके कारण इन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध टूट गया। तब फल क्या होगा? फल यही होगा कि दोनों देशोंमें महाकष्ट होगा, कहीं तो कृषिजात द्रव्य मंहगे हो जायंगे और कहीं व्यवसाय-जात द्रव्य। दोनों देशोंमें हाहाकार मच जायगा; यही इनकी लड़ाईके खतम होनेका भी प्रधान कारण होगा, जो देश जितने अधिक दिनोंतक दूसरेकी मदद्के बिना ठहर सकेगा वही अन्तको जीतेगा। इस महायुद्धमें भी यही हुआ। अवैध अन्तर्जातिक व्यापारकी पोल खुल गई। सारे संसारको पता लग गया कि भेदभाव भरित जातीय राष्ट्रोंके जमानेमें ऐसा व्यापार उचित नहीं है। जो 'जातीय राष्ट्र' अपने जीवनके परमावश्यक द्रव्योंको आप नहीं बना सकता है वरन् उनके लिये दूसरोंका मुंह ताकता है वह अवश्यही गिरता है। जर्मनी क्यों गिरा; आस्ट्रिया क्यों हारा, ब्रिटिश साम्राज्य को क्यों झंझट झेलने पड़े? सबका वही एक उत्तर है। अन्त-

जातिक व्यापारके नतीजे भारत भी भोग रहा है। लड़ाईके जमानेमें जब एक एक चीज़को हमलोग तरसते थे, जब लोहा, कपड़ा, औषधि इत्यादि आवश्यक चीज़ें कई गुना दाम देकर भी नहीं पाते थे, तब यही कहते थे कि केवल कृषिमें लगकर और सब कुछ छोड़कर भारतने अवश्य ही बुरा किया। भारत क्यों, ब्रिटिश साम्राज्यने भी साम्राज्य सभामें यही राय ठहरायी। उन लोगोंने भी स्वीकार किया कि साम्राज्यको सब अंगोंसे पूरा करना चाहिये, उसे सब बातोंमें दुनियाके अन्य राष्ट्रोंसे स्वतन्त्र बनाना चाहिये कि जिसमें किसी भी चीज़के लिये उसे दूसरे राष्ट्रका मुंह न ताकना पड़े। अतएव सिद्धान्त यह ठहरता है कि इस जातीय राष्ट्रके जमानेमें प्रत्येक राष्ट्रको अपने जीवनके अत्यन्त आवश्यकीय द्रव्योंके बनानेका पूरा प्रबन्ध सबसे पहले करना चाहिये, फिर उसके बाद उन धन्धोंकी ओर जाना चाहिये कि जिसमें उन्हें बहुत लाभ है, वे इन चीज़ोंको दूसरे देशोंमें ले जा कर बेच सकते हैं और बदलेमें वहांकी अच्छी चीजें ला सकते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार यह कहना कभी उचित नहीं है कि एशिया केवल कच्चा माल उपजाने और उसके बदलेमें योरप का तैयार माल खरीदनेके लिये ही उपयुक्त है, तथा पश्चिमीय देशोंका प्रधान तथा उचित कार्य एशियाका कच्चा माल खरीदना और उसके लिये उपयोगी द्रव्य बनाना ही है।

व्यापार नीति—पुराने समयमें 'अज्ञात कुलशील' के साथ व्यवहार करनेकी रीति नहीं थी। विदेशियोंके साथ व्यापार

करनेमें एक पक्ष दूसरेको ठगनेकी भरपूर चेष्टा करता था। एक ज़माने तक विदेशी व्यापारका अर्थ यही था कि जहांतक बन पड़े विदेशसे बहुमूल्य पदार्थोंको लाकर अपने देशको भर दो। उस समय बहुमूल्य पदार्थोंका अर्थ सोना चांदी माना जाता था। इस कारण विदेशी व्यापार तभी सफल समझा जाता था जब कि विदेशसे सोना चांदी प्रचुर परिमाणमें आया करता था। पर धीरे धीरे मनुष्यसमाजकी घनिष्ठता बढ़ने लगी, लोग दूर दूरतक पहुंचने लगे और नयी जातियों, नये देशोंसे सम्बन्ध स्थापित करने लगे। उस समय कहा जाने लगा कि प्रकृतिने जो सामग्रियां दी हैं उनका लाभ मनुष्यमात्रको उठाना चाहिये, उनको इस तरह व्यवहारमें लाना चाहिये कि सारी दुनियाको, सम्पूर्ण मनुष्यसमाजको, लाभ पहुंचे। यदि एक देश प्रकृतिकी उदारता से प्रचुर शस्य पैदा करता है तो उसका फल दूसरे देशको भी मिलना चाहिये, उसके बदलेमें यह देश अपने व्यवसाय, उद्योग धन्धेसे उसकी सहायता करेगा। यह कहना कि एक देशकी चीजें उसी देशकी सीमाके भीतर रह जावें, उसके बाहर न जाने पावें; नदीके इसपारके लोग तो प्रचुर शस्य उत्पन्नकर मजेमें दिन बितायें और नदीके उसपारके लोग अन्य राष्ट्रमें रहने के कारण अकालसे, अन्न कष्टसे, सदैव ग्रस्त और त्रस्त रहें, कभी न्याय्य नहीं है। प्रकृतिने कभी पृथ्वीको पृथक् स्वतन्त्र कोठरियोंमें विभक्त नहीं किया था; प्रकृतिका राज्य तो अखण्ड है, उसमें विचरण करनेका सबको समान अधिकार है। इस नीतिका फल

यह हुआ कि अन्तर्जातिक व्यापारका द्वार खोल दिया गया, सब कोई, सब जातिवाले आपसमें बेरोक टोक व्यापार करने लगे। देशी मालके बाहर जाने और विदेशी मालके देशमें आनेमें कोई रुकावट न रही; एक देश दूसरे देशके साथ मनमाना व्यापार करने लगा। जहां जिस बातकी सुविधा रही वहां वैसा ही व्यवसाय चलने लगा, उष्ण प्रधान देश कृषिमें और शीत प्रधान देश उद्योग धन्धेमें बढ़ चला।

इसी नीतिके अनुसार हालतक काम चलता रहा; सभ्य जातियां अवैध व्यापार (Free Trade) को मानने लगीं। परन्तु राष्ट्रीय संगठनके कारण, मनुष्योंके भिन्न भिन्न राष्ट्रमें रहनेके कारण मनुष्य जातिमें एक प्रकारकी विभिन्नता आ गयी है; फ्रान्स देशमें फ्रेञ्च सरकारके अधीन रहनेके कारण फरासीसी लोग अपने पड़ोसी बेलजियन या इटालियनसे भिन्न हो गये हैं, क्योंकि ये लोग अपना अपना राष्ट्र संगठन कर बेलजियन या इटालियन सरकारके अधीन रहते हैं। फ्रांसीसी, बेलजियन और इटालियन यद्यपि पड़ोसी हैं तथापि भिन्न भिन्न राष्ट्रमें रहनेके कारण एक दूसरेको विदेशी समझते हैं; एकका स्वार्थ दूसरेके स्वार्थसे भिन्न हो गया है। प्रत्येक जातिका अपना २ स्वतन्त्र राष्ट्रीय संगठन ही इसका कारण है। इस राष्ट्रीय संगठनने प्रत्येक जातिको यह सिखलाया है कि जातियोंका मरना जीना, उदय अस्त अपने ही पर निर्भर करता है, दूसरेका सहारा अवश्य ही बुरा है। प्रत्येक जातिको उचित है कि अपने पैरोंपर

खड़े होना सीखे, अपनी जरूरतकी चीज़ें आप बनावे, यदि किसी चीज़के बनानेमें अड़चनें हों, सामान न मिलते हों तो उन अभावोंकी पूर्त्ति कर अपने देशको सब प्रकारसे स्वतन्त्र बनानेकी चेष्टा करे। व्यापारनीतिको भी ऐसा रूप दे कि देशके सर्वाङ्गपूर्ण होनेमें कोई कसर न रहे। अवैध व्यापार-नीति अवश्य ही इस सर्वाङ्गीण उन्नतिमें बाधा पहुंचाती है; यह देशमें उन धन्धोंको नहीं होने देती जिनकी जड़ जमानेमें बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है; इनके लिये विदेशका मुंह ताकना ही पड़ता है। पर यदि अवैध नीति उठा देवें, यदि देशमें उन्हीं चीजोंको आने दें कि जिनके आनेसे देशी धन्धोंको नुकसान नहीं पहुंच सकता है तथा जिनसे नुकसान है उसका आना रोक देवें और उनको देशमें ही बना लेनेका पूरा प्रयत्न करें तो देश अपने पैरोंपर खड़ा हो सकता है; लड़ाई छिड़ जानेपर भी देशको तकलीफ नहीं पहुंच सकती है। आजकल इसी नीतिका अवलम्बन किया जा रहा है; अवैध व्यापारको लोग धीरे धीरे छोड़ रहे हैं। इस लड़ाईने तो अवैध व्यापारको और भी धक्का पहुंचाया है।

अन्तर्जातिक व्यापार बेरोक टोक हो या उसमें अड़चनें डाली जायं, देशके लिये वैध व्यापार नीति अच्छी है या अवैध इस पर बहुत कुछ वाद विवाद हो चुका है। सम्पत्तिशास्त्रका विरला ही कोई विषय है जिसपर इतनी बहस हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि केवल वैध व्यापार (Protection) की नीति कबूल

करनेसे ही किसी देशके उद्योगधन्धे नहीं बढ़ चलते और न अवैध (free trade) व्यापार चल पड़नेसे ही दुनियाका दुख मिट जायगा। यह सच है कि अन्तर्जातिक व्यापार बिल्कुल बुरी चीज नहीं है; यदि दूसरे देशोंके साथ व्यापारिक सम्बन्ध न स्थापित किया जाय तो देशका फालतू माल बाहर न जा सके, देशकी रफ्तनी बन्द हो जाय, और फालतू चीजें या तो बरबाद हो जावें या बिल्कुल सस्ती हो जावें। देश देशके साथ प्रतियोगिता होते रहनेसे देशका पराक्रम, देशकी कारीगरी, देशकी कर्मण्यता बनी रहती है, देशके कारीगर आलसी नहीं होने पाते। परन्तु देशोंके बीच अप्रतिबद्ध व्यापार (Free Trade) तभी पूर्ण रूपसे सफल हो सकता है जब कि सारी दुनिया एकता, मित्रताके सूत्रमें बंध जाय; देशाभिमान, या स्वदेश प्रेमके स्थानमें विश्वप्रेमको जगह मिल जाय, एक देश दूसरे देशको दबानेकी चेष्टा छोड़ दे; सम्पूर्ण मनुष्य समाज एक ही विश्वव्यापी साम्राज्यकी प्रजा बन जायं। जबतक मनुष्य समाज इस अवस्थाको नहीं पहुंचता तबतक देश काल पात्रके अनुसार व्यापार नीतिका निश्चय करना ही ठीक होगा। जो देश अपने उद्योगधन्धोंकी उन्नति कर चुका है, और हर साल बहुत सा तैयार माल बाहर भेजता है उसको उचित है कि अवैध व्यापार की नीतिका अवलम्बन करे। यदि वह ऐसा न करेगा तो उसके कल कारखानोंके लिये बाहरसे कच्चा माल न आ सकेगा और न उनका बना माल ही विदेशी बाजारमें जाकर बिक सकेगा। पर

जिस देशने अपने धन्धोंकी तरक्की नहीं की है, जहां पर प्रकृति-सम्भूत पदार्थ योंही बेकार पड़े हैं वहांके लिये अवैध वाणिज्य कभी अच्छा नहीं है। उसे अपनी चीजोंको आप तैयार करना सीखना चाहिये, प्रकृतिके उपहारको व्यवहारोपयोगी बनानेके लिये धन्धा खड़ा करना चाहिये। इस कार्यमें वैधव्यापार बड़ी सहायता पहुंचावेगा। नये धन्धोंको बाहरवालोंकी चढ़ा-ऊपरीसे बचायेगा और देशके धनकी वृद्धि करेगा।

भारतकी व्यापारनीति—जबसे ईस्ट इंडिया कम्पनीने राज्य आरम्भ किया तबसे विलायत और भारतवर्षके बीचका वाणिज्य भी खूब बढ़ा। आरम्भमें तो भारतका ही हाथ ऊपर था, क्योंकि यहांके उद्योग धन्धे उन्नतिके शिखर पर थे, विलायत इनकी बराबरी नहीं कर सकता था। इस कारण विलायतको अपने धन्धोंको बचाने और बढ़ानेके लिये हिन्दुस्तानी माल पर कर बैठाना पड़ता था। इस तरह जब धीरे धीरे विला-यती धन्धोंने खूब तरक्की कर ली, तब उन लोगोंको तैयार माल को बेचने और कच्चे मालको खरीदनेके लिए नये बाजारोंकी जरूरत पड़ी। भारतवर्ष और उपनिवेशोंसे ये अभाव दूर हो सकते थे। पर यह तभी सम्भव था जब कि, जैसा कि ऊपर कहा गया है, उन्मुक्त द्वार—अवैध व्यापार वाली नीतिका अव-लम्बन किया जाता। अतएव विलायतके सम्पत्तिशालियोंने इस नीतिकी उपयोगिताको खूब अच्छी तरह दर्शाया और धीरे २ सम्पूर्ण ब्रिटिश साम्राज्यमें अवैध व्यापार नीतिका अवलम्बन

किया गया। इस उन्मुक्तद्वार व्यापारके प्रभावसे वा ५
खूब वृद्धि हुई ; भारतवर्ष और इंगलैंड, दोनों देशोंके ८
आमदनी, रफतनीका परिमाण वहुत कुछ वढ़ गया। परिमाण
तो वढ़ा पर व्यापारका स्वरूप विल्कुल वदल गया। उल्टी गङ्गा
वह चली। अव इंगलैंड तैयार माल वाहर भेजने लगा, और
भारतवर्षसे तैयार मालके वदले कच्चे मालकी ही रफतनी होने
लगी, अवैध व्यापारवालोंने व्यापारका आकार वढ़ता देखकर
प्रसन्नता प्रकट की, उसे अपनी नीतिकी सफलताका सूचक माना
और वात भी वैसी ही थी, इस नीतिके अनुसार तो सारा संसार
ही एक साम्राज्यका अंग था। परन्तु राष्ट्रिय अभ्युदयकी दृष्टिसे
इसका फल अच्छा नहीं हुआ, राष्ट्रोंकी सर्वांगीण उन्नति नहीं
हुई। इंगलैंडने उद्योगधन्धेकी तरक्की की, पर उसे कच्चे मालके
लिए दूसरे देशोंका मुंह ताकना पड़ा, और भारतवर्ष तो अपने
उद्योगधन्धोंको खो कर केवल कृषक वन गया। भारतकी जो
रफतनी वढ़ी वह केवल कच्चे माल की थी, भारतके उद्योगधन्धे
प्रायः वन्द ही हो गये।

ब्रिटिश भारतवर्षमें प्रारंभसे उन्मुक्त द्वारकी नीति चली आयी
है, विदेशी मालके आने और देशी मालके वाहर जानेमें किसी
प्रकारकी वाधा नहीं रही है। जव जव विलायती मालपर टैक्स
वैठाया गया है तव तव देशमें वननेवाले वैसे माल पर भी कर
लगाया गया है। उदाहरण स्वरूप सूती मालको लीजिये। जव
सरकारको अधिक रुपयोंकी जरूरत हुई तव विलायती सूती माल

पर टैक्स बैठाना निश्चय हुआ, पर केवल विलायती माल पर ही टैक्स बैठानेसे उन्मुक्त द्वारकी नीतिका विरोध होता था। इस कारण देशी मिलोंके कपड़े पर भी उतना ही टैक्स बैठाया गया, और एक हिसाबसे देशी, विदेशी कपड़ोंकी अवस्था बराबर कर दी गयी।

भारत सरकार अवैधव्यापार नीतिका समर्थन करती रही है, अंगरेज व्यापारियोंने भी इसे अच्छा बताया है। पर देशी व्यापारियों और देशके नेताओंने भारतकी साम्पत्तिक अवस्थापर विचार करते हुए, हमेशा यही कहा है कि वैध नीतिका अवलम्बन करना ही उचित है, इस प्रकारकी सहायता बिना पाये देशी पुराने धन्धे कभी सम्हल नहीं सकते और न नये धन्धे ही खड़े हो सकते हैं। पिछले ३०-४० वर्षोंमें स्वाधीन जातियोंने अपने साम्पत्तिक अभ्युदयके लिए जो जो उपाय किये हैं, उनसे सम्पत्तिशास्त्रके सिद्धान्तोंका जैसा कुछ परिवर्त्तन हुआ है उसे देशी 'नेता' लोग पूर्णरूपसे परिचित हैं। इन सबके अनुभवसे नेताओंने यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि भारतवर्षके लिए उन्मुक्तद्वारकी नीति लाभदायक नहीं। स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे, सुब्रह्मण्य ऐय्यर, रमेशचन्द्रदत्त जी० भी० जोशी, गोपालकृष्ण गोखले प्रभृति दूरदर्शी विद्वान नेताओंने वैध व्यापार नीतिको ही अच्छा बताया था। गोपालकृष्ण गोखलेने, जिनका सिद्धान्त इन सब नेताओंसे बिल्कुल मिलता था, १९०७ में, लखनऊमें कहा था कि सरकारको चाहिये कि

उचित वैध नीतिका अवलम्बन कर ऐसा प्रबन्ध करे कि भारतमें नये धन्धे खड़े हो सकें। जबतक ये धन्धे अपने पैरोंपर खड़े न हो सकें तबतक सरकारको उचित है कि वैधनीतिकी सहायतासे उनकी रक्षा करे। अमरिकाने यही किया है, फ्रान्स, जर्मनीमें भी यही हो रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि यदि सावधानीसे वैधनीतिका प्रयोग न किया जाय तो लाभके बदले हानि होती है। चन्द उद्योगधन्धेवालोंके खजाने भरनेके लिये सारे देशको नुकसान उठाना पड़ता है, देशमें नये नये धन्धे चारों ओर फैलने नहीं पाते, कुछ धनसेठोंके हाथमें उद्योगधन्धे चले जाते हैं और वे लोग मनमाना दाम बैठा कर खूब धन कमाते हैं। संयुक्तराज अमरिकामें यही हो रहा है, वहांके बड़े बड़े 'ट्रस्ट'—चीनी, लोहे, और किरोसिन तेलके भीमकाय कारखाने—इसीके फल हैं। इसके जवाबमें स्वर्गीय श्रीयुत गोखले महाराजने मार्च, १९११ में, बड़े लाटकी व्यवस्थापिका सभामें कहा था कि वैधनीति दो प्रकार की हो सकती है। उचित नीति तो वह है जिससे नये धन्धों या बढ़ते हुए रोजगारको पूरी उन्नति करनेमें उपयुक्त सहायता दी जाती है। पर इस बात पर ध्यान रखा जाता है कि नये धन्धेवाले कहीं अपनी निजी तरक्कीके ख्यालसे शेष समाजको हानि न पहुंचा सके। अनुचित रीति वह होगी जिसके कारण बड़े बड़े कारबारियोंको 'गुट्ट' बनालेनेका पूरा अवसर मिल जाता है और शेष समाज अन्तमें हानि उठाता है। भारतवर्षमें भी वैधनीति

का अवलम्बन करते हुए इन बातोंपर विशेष ध्यान देना पड़ेगा। केवल विदेशी माल पर टैक्स लगाने और उसकी आमदनी रोकनेसे ही काम न बन जायगा। उसके साथ साथ देशमें देशी आदमियों द्वारा, देशी पूंजीसे, देशी कारखाने खोलनेका भी प्रयत्न करना पड़ेगा। यदि इसके लिये देशमें उचित शिक्षा की कमी हो तो व्यावहारिक शिक्षा देनी पड़ेगी, देशी लोगोंको कारबारमें लग जानेके लिये प्रलोभन देना पड़ेगा। यदि ये दोनों काम साथ साथ न हुए तो देशको लाभके बदले बड़ा नुकसान पहुंचेगा। विदेशी कारबारी अपने अपने देशसे पूंजी लाकर हिन्दुस्तानमें ही कारखाने खोलने लगेंगे, तथा वैधनीतिकी सहायतासे मनमाना दाम चढ़ा कर रुपया कमायेंगे; क्योंकि उस समय तो टैक्सके कारण बाहरसे बेरोकटोक मालका आना सम्भव न होगा, देशी लोगोंको झखमार कर, लाचार होकर उन्हीं विदेशी पूंजीके 'विदेशी हिन्दुस्तानी' कारखानोंसे ही माल खरीदना पड़ेगा, चाहे माल सस्ता पड़े या मंहगा। भारतवर्षमें आज कल व्यावहारिक शिक्षाकी जैसी कमी है, यहांके लोगोंमें कारबार खोलनेकी बुद्धि का जैसा अभाव है उसका लक्ष्य कर मि० अलफ्रेड चैटरटनने कहा है कि "मैं आप लोगोंसे इस बात पर विचार करनेका अनुरोध करता हूं कि यद्यपि वैधनीति न्याय्य है तथापि आप उसके योग्य नहीं हुए हैं। आप लोग विदेशी मालका आना तो टैक्स बैठा कर बन्द कर देंगे, पर विदेशी कारबारियोंको कहां तक बन्द कर सकेंगे? वे तो यहीं आकर, कारखाना खोल कर, माल

तैयार करेंगे और आपके हाथ वेचेंगे। आपमें तो इतनी शक्ति और योग्यता नहीं है कि आप खुद ही उन चीजोंको बनाने लगें और विदेशी कारखाने वालोंको हिन्दुस्तानमें कारखाना खोलनेका अवसर न दें।" *

भारत सरकारके व्यापार मन्त्री, सर विलयम क्लार्कने भी २१ मार्च १९१६ में बड़े लाटकी व्यवस्थापिका सभाको सम्बोधन करते हुए कहा था कि क्या आप लोग यह निश्चय बता सकते हैं कि वैध-व्यापारके स्वीकार करनेसे ही हम लोगोंका अभिप्राय सिद्ध हो जायगा? आजकल तो हम लोगोंका यही अभिप्राय है कि देशके धन्धोंकी पूंजी, अखत्यार और इन्तजाम सब कुछ देशी लोगोंके ही हाथमें रहे। भारतवासियोंका अपने देशके उद्योगधन्धोंकी उन्नतिमें योगदान भारतवर्ष और ब्रिटिश साम्राज्य दोनोंके लिये लाभदायक है! पर क्या हम लोग कह सकते हैं कि सिर्फ वैधनीतिसे ही देशकी पूरी उन्नति हो जायगी? क्या इससे यह सम्भव नहीं है कि वैधनीतिकी अड़चनोंसे बचनेके लिये विदेशी कारबारी दूर देशसे माल न भेजकर हिन्दुस्तानमें ही आकर अपनी पूंजीसे अपना निजका कारखाना खोल दें,

---

* What I would submit for your consideration is that even if protection were desirable, you are not ready for it.........You might exclude British manufacturers, but you can not exclude the British manufacturer."—Mr. Chatterton. Quoted in the Modern Review, Sept. 1915. Page 265.

और भारतवासियोंको अधिक मूल्य पर अपना माल बेचें ? ऐसा तो अन्य देशोंमें भी बहुधा होता आया है। *

सरकारी, गैर सरकारी सब लोगोंने स्वीकार किया है कि देशकी उन्नतिके लिये देशी पूंजीसे, देशी लोगों द्वारा ही देशमें कम्पनियां खुलनी चाहियें। जिसमें इन लोगोंके उद्योगकी सफलता हो उसके लिये देशी नेताओंने वैध व्यापारकी नीतिको अच्छा बताया है। वे जब वैधनीतिका समर्थन करते हैं तब उनका आशय यह कभी नहीं रहता है कि विदेशी मालपर, चाहे वह किसी प्रकारका क्यों न हो, एक सिरेसे टैक्स बैठा दिया जाय। वे यही चाहते हैं कि जो चीज़ें हिन्दुस्तानमें बन सकती हैं, जिनको बनानेके लिये देशमें प्रचुर द्रव्य पड़े हुए हैं, अथवा जो चीज़ें पुराने जमानेसे यहां बनती आई हैं पर आजकल विदेशी

---

* Can we say that if protection were established in India, it would in effect secure the object we have in mind to-day, namely, the building up of industries where the capital, control and management should be in the hands of Indians ? That, if course, is the special object which we all have in view. It is of immence importanc alike to India herself and to the Empire as a whole, that Indians should take a large share in the industrial development of their country.........But can we be sure that protection would in itself necessarily bring about this end ? Might it not menly mean that the manufactuier who now competes with you from a distance, would transfer his activities to India and compete with you within your own boundaries ? That has been the case not infrequently in other countries." Sir William Clarke in the Imperial Legislative Council, 21. 3. 1916.

कारखानोंकी चढ़ा ऊपरीके कारण बाजारोंमें उनके मुकाबलेमें बिक नहीं सकती हैं, उन सबको वैधनीतिसे सहायता पहुंचानी चाहिये। इस सहायताके लिये बहुत सावधानीसे चीज़ें चुननी पड़ेंगी, जो चीज़ें हिन्दुस्तानमें बन ही नहीं सकती हैं उन पर टैक्स बैठानेसे कोई लाभ न होगा। वैसे द्रव्योंका बेरोकटोक आने देना ही अच्छा है। और जब देशी धन्धे चल निकलें तो उन टैक्सोंको हटा देना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा टैक्स बैठानेसे चीज़ें कुछ दिनोंके लिये अवश्यही मंहगी हो जायंगी और व्यवहार करनेवालोंको अधिक मूल्य देना पड़ेगा। पर आगे चलकर देशमें धनकी वृद्धि होगी इस नातेसे कुछ दिनों तक अधिक मूल्य देना कोई बुरी बात नहीं है। इस स्वार्थ-त्यागके लिये देशको अवश्य तैयार रहना चाहिये। साथ ही साथ वैधनीतिके अन्तिम अभीष्टकी सिद्धिके लिये दूसरा प्रयत्न भी करना चाहिये। यदि वे दोनों प्रबन्ध साथ साथ नहीं किये गये तो केवल टैक्स बैठानेसे ही नये धन्धे न खड़े हो सकेंगे। इसके लिये देशमें व्यावहारिक शिक्षाका प्रचार, लोगोंमें परिश्रम करनेकी चाह बढ़ानेकी चेष्टा, नये नये आविष्कारों और खोज करनेके लिये प्रयोगशालाओं और पूंजी इकट्ठी करनेके लिये नये नये बङ्कोंकी जरूरत है। इन सब कामोंमें सरकारको ही आगे बढ़ना चाहिये। नये कारखानोंके लिए रेलका भाड़ा कम कर, कभी उन्हें धनकी सहायता (Bounty, Subsidy) देकर, उनके बनाये मालको खरीदकर, नये नये कारखाने (Pioneer Fact--

ories) खोल कर भी सरकार उद्योगधन्धोंको सहायता पहुंचा सकती है।

बम्बई औद्योगिक कान्फरेन्सके सभापति सर दोराब ताताने कहा था कि "मुझे अवैध व्यापारकी शिक्षा दी गयी है; मेरी संगति भी अवैध नीतिवालोंकी रही है। पर तोभी मैं यह स्वीकार करता हूं कि सिवा इंगलैंडके और किसी भी राष्ट्रने इस नीतिको स्वीकार नहीं किया है और इंगलैंडने भी उसे तभी स्वीकार किया जब कि वह उद्योगधन्धोंमें और सब देशोंसे बहुत आगे बढ़ चुका था। इस कारण यदि कोई यह प्रस्ताव करे कि भारतवर्षमें भी वैध नीतिका थोड़ा बहुत प्रयोग किया जाय तो मैं उसका विरोध नहीं करूंगा।......पर साथ ही साथ मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि केवल टैक्स बैठा देनेसे ही नये धन्धे नहीं खड़े हो जायंगे। लार्ड कर्जनके समयमें जर्मन राज्यकी सहायता पानेवाले चुकन्दरकी खांड़पर हम लोगोंने टैक्स बैठाया था, पर उससे देशी खांड़का व्यवसाय ऊपर नहीं उठ सका। इससे मेरी राय है कि वैधनीतिकी अपेक्षा शिक्षा, खोज इत्यादि चीजोंकी आवश्यकता है जिसमें उद्योगधन्धे खड़े हो सकें।" फरवरी, १९१८ के इंडियन रिव्यूमें एक लेखकने लिखा है कि सम्पत्तिशास्त्रके सबसे बड़े ज्ञाता, डा० मार्शलकी राय है कि हिन्दुस्तानमें अत्यन्त आवश्यकीय धन्धोंको बचानेके लिये कुछ दिनोंतक वैधव्यापारकी नीतिका अवलम्बन किया जा सकता है।

इस लड़ाईने यह बात स्पष्ट कर दी है कि किसी भी राष्ट्रको

अपनी जरूरतकी चीज़ोंके लिये अन्य राष्ट्रपर भरोसा नहीं रखना चाहिये ; हर देशमें आवश्यक द्रव्योंका बनाना जरूरी है। इन नये सिद्धान्तोंके प्रभावसे भारतवर्ष भी नहीं बचने पाया है। युद्ध समाप्त हो जानेपर सरकारकी व्यापारनीति कैसी होनी चाहिये इसपर परामर्श देनेके लिए, १९१७ में, प्रान्तीय सरकारों और वणिक सभाओं (Chambers of Commerce) को लिखा गया था। दिल्लीमें वणिक सभाओंकी एक बैठक भी हुई थी। वहां सब किसीकी रायसे निश्चित हुआ था कि भविष्यमें भारतकी व्यापार-नीति अवश्य बदलनी पड़ेगी। अवैध व्यापारकी नीतिको छोड़ना होगा; जो देश हिन्दुस्तानी मालपर टैक्स बैठाता है उसके मालपर हिन्दुस्तानमें भी टैक्स बैठाया जायगा ; ब्रिटिश साम्राज्यमें बने मालके लिये अन्य राष्ट्रोंके मालको छोड़ना पड़ेगा। इसपर टीका करते हुए इंगलिशमैनके सम्पादकने लिखा था * कि अब यह मान लिया जा सकता है कि अवैध व्यापारनीतिके ग्रेट ब्रिटेन और भारतके धन्धोंपरके सत्यानाशी प्रभावका अन्त हो गया। यह तो वर्षोंसे स्पष्ट हो गया था कि अवैध व्यापार

---

* "It may be taken for granted therefore that the disastrous domination of Free Trade over the industries of Great Britain and India is at an end..............."Again. "It has been patent for many years past, to all but the blind adherents of the Cobden Tradition, that Free Trade is a hopeless handicap to India." The Englishman, June 27, 1917.

† "The industrial deficiencies described show the national necessity of establishing certain 'Key' industries."—Report p. 274.

भारतवर्षको बहुत बड़ा धक्का पहुंचा रहा है। पर यह बात अर्थ-मतके अन्य विश्वासियोंको सूझती ही नहीं है।* बङ्गाल वणिक सभाने इस सम्बन्धमें राय दी है कि भारतमें आवश्यक द्रव्योंको बनानेका पूरा प्रबन्ध करना चाहिये। औद्योगिक कमिशनने भी यही कहा है। वणिक सभाकी रायमें सीमेंट, रसायन, कपास, आटा, जूट, चमड़ा, खनिज धन, तेल, कागज, लोहा, इस्पात, चीनी और ऊन आवश्यक द्रव्य समझे गये हैं। इनके व्यवसायोंको सुरक्षित रखना सरकारका काम है। कमसे कम कागजके विषयमें कहा गया है कि विदेशी कागजपर टैक्स बैठानेसे देशमें कागजका व्यवसाय दृढ़ हो जायगा। भारत सचिव चेम्बरलेनने विदेशी सूती मालपर टैक्स बैठाकर इस बदलती हुई नीतिका समर्थन किया था। गत वर्ष चमड़ेकी रफ्तनीपर टैक्स बैठा कर इस परिवर्तित नीतिको और भी पुष्ट कर दिया गया था।

अबतक भारत सरकार उद्योगधन्धोंसे अलग रहा करती थी; देशके धन्धोंकी तरक्की करनेमें सरकारको विशेष योगदान देना चाहिये इस नीतिको स्वीकार नहीं किया जाता था। लोगोंको व्यवसायकी शिक्षा देनेके लिये जब कभी प्रान्तीय सरकार कारखाने (Pioneer Factories) खोलती भी थी तो भारत सचिव उसका प्रतिवाद करते थे। पर औद्योगिक कमिशनने इस उदासीनताका विरोध किया है। उसकी रायसे अब सरकारने भी इस कर्त्तव्यको स्वीकार किया है। *

---

* "It is important to note that the constructive proposals

१९१७में कलकत्तेकी 'खाद्य द्रव्य प्रदर्शिनी' खोलते हुए बङ्गाल-के गवर्नरने कहा था कि "मैं पुरानी चालका, व्यवसायमें सरकार-की निर्लिप्तताका, कभी प्रशंसक नहीं था। मैं इस बातमें सहमत हूं कि सरकारको देशके व्यापार धन्धोंकी तरक्की करनेमें यथा-शक्ति प्रयत्न करना चाहिये। *" उसी तरह १९१७ में मद्रासकी औद्योगिक प्रदर्शनी खोलते हुए बड़े लाट चेम्सफ़र्डने भी कहा था कि "उद्योगधन्धोंके प्रति राष्ट्रोंकी जो उदासीनतावाली नीति रहा करती थी वह अब बिल्कुल ख़तम हो गयी, उसका अन्त कभीका हो गया।"† भारत सरकारने जो कलकत्ता विश्व-विद्यालयके मिंटोप्रोफेसर मि० हमिल्टनको जापानकी औद्योगिक अवस्थाकी जांच करनेको भेजा था उन्होंने भी सरकारको धन्धोंकी सहायता करनेकी राय दी थी। पर इतने पर भी यह अवश्य

---

depend upon the acceptance of two principles:—that in future Government must play an active part in the industrial development of the country, with the aim of making India quite self-contained in respect of men and material,............" official Summary of the Indian Commission Report

* I never was an admirer of the Manchester School of Political Economy myself and I agree that Government should do as much as can be done to assist the trade and industry of the country.' Lord Ronaldshay at the Calcutta Food Products Exhibition, 1917.

† I was anxious to emphasise the very great importance I attach to industrial development and to express my thankfulness that the old *Laissez faire* policy with regard to industries is dead and buried." Lord Chelmsford's Speech at the Madras Industrial Exhibition. Decr. 1917.

स्पष्ट कर देना होगा कि भारत सरकार अब भी अवैध व्यापार नीतिका ही स्वीकार करती है।

व्यापार नीतिका परिणाम—भारत सरकार आजतक जिस नीतिपर चलती रही है उससे भारतके देशी, विदेशी व्यापारका आयतन बहुत कुछ बढ़ गया है। जैसा कि लिखा जा चुका है, १८३५में औसत ६·७२ करोड़ रुपयोंका माल बाहरसे आया था और १३·७३ करोड़का माल बाहर गया था। पर वही व्यापार बढ़ते बढ़ते १९१३-१४ में कहांसे कहां पहुंच गया! १९१३-१४ में भारतमें आये मालकी कीमत २३४·७४ करोड़ और यहांसे विदेश गये मालकी कीमत २५६·०६ करोड़ रुपये थी। इस आयतन-वृद्धिमें व्यापार नीतिके अतिरिक्त रेल, तार, स्टीमर, सड़क, नहर, बङ्क इत्यादिने भी बहुत सहायता पहुंचायी है। इन सबके कारण व्यापारकी वृद्धि तो अवश्य हुई है पर साथ ही साथ व्यापारका रूप भी बदल गया है। भारतवर्ष जिन चीजोंकी रफतनी करता है वे सब कृषि-जात द्रव्य हैं; कृषि और प्रकृतिकी कृपासे जैसी चीज़ें मिलती हैं, वे उसी हालतमें रेल, स्टीमरके सहारे विदेश भेज दी जाती हैं; उन कच्चे मालोंसे उद्योगधन्धोंके सहारे 'तैयार माल' भेजनेकी चेष्टा बहुत कम होती है। जैसे तेल न भेजकर तेलहन बाहर भेजा जाता है; चमड़ेके मालके स्थानमें कच्चा चमड़ा ही बेच दिया जाता है; खानोंके तैयार मालकी जगह पर खनिज द्रव्य ही रवाना कर दिये जाते हैं। पर बाहरसे जो चीज़ें आती हैं उनमें प्रायः सबके सब बने बनाये तैयार माल

हैं। विदेशसे तेलहनके बदले तेल, वार्निश, पेंट इत्यादि तैयार माल मंगाये जाते हैं, कच्चे चमड़ोंकी जगह पर जूते, साज़ इत्यादि आते हैं; रूईके स्थानमें सूती माल, खनिज द्रव्योंके स्थानमें लोहे, पीतलके सामान, कलपुर्ज़े आया करते हैं। इस व्यापारनीतिका एक फल और भी हुआ है। उन्मुक्तद्वारके कारण भारतकी चीजें सारी दुनियामें फैलती जा रही हैं, और उसी तरह सारी दुनियाकी उन्नतिशील जातियोंको भी अपनी चीज़ोंको भारतवर्षमें बेचनेका अवसर मिलता रहा है। भारतवर्ष कृषिप्रधान होनेके कारण दुनियाके बाजारमें सिर्फ कृषिजात द्रव्य उपस्थित कर सका है, पर उन्नतिशील देशोंने नये नये ढङ्गकी, नये फैशनकी चटकीली भड़कीली चीजें पहुंचाई हैं। जब अनावृष्टि या अतिवृष्टि होती है तब भारतवर्षसे रफ्तनी कम हो जाती है, और जब बहुत अच्छी फसल होती है तब भी पूरा दाम नहीं मिलता। क्योंकि जिस तरह हो सस्ते मंहगे दरपर माल बेचना ही पड़ता है, अगर न बेचें तो अनाज सड़ जायगा या उसमें कीड़े लग जायंगे। जब तक भारतवर्ष कृषक बना रहेगा तबतक उसको ऐसी असुविधायें बनी ही रहेंगी।

१९१३-१४ में २३४'७४ करोड़ रुपयोंका माल आया था, उसमेंसे आठ करोड़का सरकारी माल और ४३'४४ करोड़का सोना चांदी था। शेष १८३'२५ करोड़का ग़ैर सरकारी माल था। इसी तरह २५६'१२ करोड़ रुपयोंका माल भारतसे बाहर गया, जिसमें ७'०८ करोड़का सोना चांदी, '१३ करोड़का सरकारी

माल, ४'६८ करोड़का विलायती माल और २४४'२३ करोड़का खालिस देशी माल था। अब देखिये कि इसमें कितनेका तैयार माल और कितनेका कच्चा माल था :—

आमदनी रफ्तनी (१९१३।१४) का मिलान

		आमदनी	रफ्तनी
खाने पीनेकी चीजें, तम्बाकू इत्यादि	करोड़ रुपया	२४'६६	६४'७७
कच्चा माल	,, ,,	१०'५५	१२२'४६
तय्यार माल	,, ,,	१४५'१५	५४'५९
फुटकर	,, ,,	२'८७	२'४०
	,, ,,	१८३'२४	२४४'२२

हमलोग ब्रिटिश साम्राज्यसे जितना माल खरीदते हैं उससे कहीं कम माल उनके हाथ बेचते हैं, पर अन्य राष्ट्रोंसे जितना माल मंगाते हैं उससे कहीं अधिक उनके हाथ बेचते हैं। १९१३-१४ में हमलोगोंने सैकड़े ७० माल ब्रिटिश साम्राज्यसे और कुल ३० फी सदी शेष दुनियासे खरीदा और सैकड़े ३८ माल ब्रिटिश साम्राज्यके हाथ तथा शेष सैकड़े ६२ अन्य राष्ट्रोंको बेचा। उस साल १२८ करोड़का माल ब्रिटिश साम्राज्यसे और ५५'१ करोड़का माल अन्य राष्ट्रोंसे आया था, पर अन्य राष्ट्रोंने १५४'४६ करोड़ और ब्रिटिश साम्राज्यने ६४'४ करोड़का माल हमसे खरीदा था।

नीचे दिये गये नक्शेसे पता लगेगा कि किस देशसे भारतका कितना व्यापार होता है :—

नाम देश	आमदनीका फी सैकड़ा		रफ्तनीका फी सैकड़ा	
	लड़ाईके पहलेका औसत	१८-१९	लड़ाईके पहलेका औसत	१८-१९
युनाइटेडकिंगडम	६२'८	४५'५	२५'१	२८'५
जापान	२'५	१९'८	७'५	११'६
संयुक्तराज्य (अमरिका)	३'१	९'५	७'५	१३'१
जावा	६'४	६'७	१'३	१'४
फ्रान्स	१'५	१'७	६'६	३'५
इटली	१'०	'५	३'२	३'८

१९१८-१९ में बाहरसे आये हुए मालमेंसे सैकड़े ५८ ब्रिटिश साम्राज्यसे, ३२ मित्रराज्योंसे, और शेष १० अन्य राज्योंसे आये थे। उसी तरह रफ्तनीका सैकड़े ५२ ब्रिटिश साम्राज्यमें ३५ मित्र राष्ट्रोंमें और शेष १३ अन्य राष्ट्रोंमें गया।

भारतवर्षका व्यापारिक सम्बन्ध सारी दुनियासे है—किसीसे अधिक और किसीसे कम। योरपसे सबसे अधिक व्यापार होता है, उसके बाद एशियासे। कुल व्यापारका सैकड़े ६७ (१९१३-१४) योरपसे, २१ एशियासे, ८ अमरिकासे, ३ आफ्रिकासे और १ आस्ट्रेलेशियासे था। योरपसे अधिक माल आता भी है और वहीं अधिक माल जाता भी है। इसके बाद एशियाका स्थान है। आफ्रिकासे जो माल आता है वह दिनों दिन घटता ही जाता है। जबसे मोरिशसकी खांड़की जगह जावाने ली है तबसे यह और भी कम हो गया है। पर भारतसे आफ्रिका जानेवाले मालका परिमाण बढ़ता जाता है और आशा है कि लड़ाईके बाद से और भी बढ़ेगा ; जर्मन उपनिवेशोंमें भारतवासियोंकी संख्या बढ़नेके साथ ही साथ बम्बई और आफ्रिकाका व्यापार भी बढ़

आयगा। अस्ट्रेलियाका व्यापार बहुत नहीं बढ़ सकता, वहांकी चीजोंकी मांग यहां नहीं है। अमरिकाके मालकी आमदनी घटती जाती थी, न्यूयार्कके किरोसिन तेलको बर्माके तेलसे धक्का पहुंचा था। पर लड़ाईके बादसे आमरिकासे व्यापार बढ़ गया है, उसने जर्मनोंको जगह बहुत कुछ ली है। यद्यपि हिन्दुस्तान योरपसे ही ज्यादा माल खरीदता है, पर वहां उतना माल नहीं भेजता। इसके कच्चे मालकी हर जगह तलाश होती है, इस कारण भारतवर्षकी रफ्तनी दूर दूरतक फैली हुई है। भारतवर्ष अपनी चीजोंके अलावा विदेशी चीजोंको भी आसपासके देशोंमें पहुंचाया करता है, पर अब धीरे धीरे उन देशोंमें भी अन्य राष्ट्रोंसे सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया है, इससे ऐसी रफ्तनी कम हो रही है। तो भी आशा की जाती है कि बम्बई, कराचीका ईरान, मसोपोटामिया, अरब, पूर्वीय आफ्रिका इत्यादि देशोंके साथका व्यापार भविष्यमें बढ़ेगा।

जबसे इंगलैंड और भारतवर्षका सम्बन्ध दृढ़ हुआ है तबसे भारतका व्यापार अधिकांशमें इंगलैंडके साथ ही होता रहा है। ईस्ट इंडिया कम्पनीने विशेप प्रयत्नकर आमदनी रफ्तनी अपने कब्जेमें कर रखी थी। लोग जबतक उत्तमाशा अन्तरीप लांघकर योरप जाते रहे तबतक और किसी योरोपीय देशको हिन्दुस्तानसे सम्बन्ध जोड़नेका मौका न मिला। सब कोई अपना माल इङ्गलैंड भेजते थे, और इङ्गलैंड उन्हें अपने जहाजोंपर लादकर भारतवर्ष पहुंचाता था; उसी तरह अंगरेजी जहाज भारतवर्षका

माल विलायत पहुंचाते थे। और वहांसे अन्य योरोपीय राष्ट्र अपनी जरूरतके लिये हिन्दुस्तानी माल खरीद ले जाते थे। परन्तु जबसे स्वेज़की नहर खुली है तबसे इसका रूप ही बदल गया है। अब तो इटली, फ्रान्स, स्पेन, बेलजियम, हालैंड, जर्मनी, आस्ट्रिया, स्कैनडिनोविया इत्यादि राष्ट्रोंने भारतसे सीधा व्यापार करना शुरू किया है; अब तो उन लोगोंने भारतीय व्यापार बढ़ानेके लिये, सहायता देकर अपने अपने देशमें बड़ी बड़ी जहाज कम्पनियां खड़ी की हैं। योरपकी तरह जापान और अमरिकाने भी सीधा सम्बन्ध जोड़ लिया है। जापानने जो निजकी दो जहाज कम्पनियां खोलकर भारतसे व्यापार करना आरम्भ कर दिया है उससे उसे बहुत बड़ा लाभ हुआ है। लड़ाईके समयमें जब कि जर्मनी, आस्ट्रियासे सम्बन्ध बिल्कुल टूट गया था और इङ्गलैंड तथा मित्रराज्योंको लड़ाईके सामान ढोनेसे फुरसत नहीं थी, उस समय जापानी और अमरिकन स्टीमरोंने अपने भारतीय व्यापारको कई गुना बढ़ा डाला!

इङ्गलैंडसे जरूरतकी प्रायः सब किस्मकी चीजें थोड़ी बहुत अवश्य आती हैं। इनमें कपड़े और सूत, धातु, कलपुर्जे, रेलके सामान, धातुओंके बरतन इत्यादि, कपड़ेलत्ते, और ऊनी माल— ये सात चीजें प्रधान हैं। ये सब चीज़ें ऐसी हैं कि इनको बनानेमें इङ्गलैंडको सबसे अधिक सुभीता है; दूसरे देशवाले यहां तक आसानीसे पहुंचा नहीं सकते। इधर कुछ दिनोंसे जर्मनी और बेलजियमने लोहे और ईस्पातके सस्ते सामान भेजने

शुरू किये थे। इस कारण वैसी चीजोंकी खपत बढ़ चली थी, पर उससे विलायती मालकी आमदनी नहीं रुकी। विलायत इनके बदलेमें गेहूं, जौ, चमड़ा, खाल, रूई, बिनौला, तेलहन, जूट, चाय, लाह इत्यादि चीजें, मंगाता है। इङ्गलैंडके अतिरिक्त ब्रिटिश साम्राज्यमें आस्ट्रेलिया स्लीपर और घोड़ा भेजता है और बदलेमें जूटके बोरे खरीदता है। हांगकांगवाले अफीम और सूत मंगाते हैं। स्ट्रेटसेटिलमेंटवाले टीन, सुपारी इत्यादि भेजकर चावल, कपड़ा इत्यादि चीज़ें लेते हैं। लंकावाले मसाला भेजकर चावल कोयला इत्यादि सामान खरीदते हैं। मोरिशससे चीनीकी आमदनी बहुत कम हो गयी है। कनाडावाले चाय और जूट खरीदते हैं।

जर्मनोंने यह खूब अच्छी तरह पता लगाया था कि सस्ती, भड़कीली चीज़ें हिन्दुस्तानमें खूब बिकेंगी। उन्होंने अपने तजरुबे, हुनर और सायंसकी सहायतासे बहुत ही सस्ती चीज़ें तैयार कीं। धीरे धीरे अपने जहाजोंपर लादकर चुकन्दरकी खांड़, कृत्रिम रंग और नील, लोहा, ईस्पातका सस्ता सामान, सस्ता ऊनी माल इत्यादि चीज़ें भेजनी शुरू कर दीं और यहांसे रूई, जूट, चमड़ा, खाल, तेलहन, चावल इत्यादि खरीदकर भेजना शुरू कर दिया। बेलजियमने भी बहुत सा सस्ता लोहा वगैरह भेजना आरम्भ किया था। उसी तरह आस्ट्रियाके शीशेके बरतन, लम्प वगैरह खूब आने लगे थे। रूस किसी समयमें बहुत ज्यादा किरोसिन तेल भेजता था, पर अब वह बर्म्माके तेलके कारण बहुत कम हो गया था। लड़ाई छिड़ जानेसे जापान और अमरिकाने जर्मनी

आस्ट्रियाका स्थान ले लिया। इन देशोंकी जहाज कम्पनीने इसमें अमूल्य सहायता दी। इस समय अन्य राष्ट्रोंमें सबसे अधिक माल इन दोनोंके ही आते हैं। जापान सूती, रेशमी माल, मोजे गंजी, दियासलाई और शीशेके बरतन, चूड़ियां, शराब इत्यादि अधिक परिमाणमें भेजता है और बदलेमें रूई, जूट, लोहा, चमड़ा इत्यादि चीज़ें लेता है। जापानने सस्ती चीज़ें बनाने और बाजारमें पहुंचानेमें कमाल कर दिखाया है। आजकल तो कोई भी ऐसी जरूरतकी चीज नहीं है जो जापानसे नहीं आती है। जापानकी तरह अमरिका संयुक्तराज्यने भी जर्मनीकी जगह लेनेकी खूब कोशिश की है। वहां सस्ते लोहे और ईस्पात तथा मोटर गाड़ियां बहुत ज्यादा आ रही हैं। बदलेमें जूट, चमड़े भेजे जाते हैं।

कुछ प्रधान प्रधान देशोंके साथ कितना व्यापार वाणिज्य होता है उसका विवरण नीचे दिया जाता है :—

नाम देश			भारतमें आया		भारतसे बाहर गया	
सन्			१३-१४	१८-१९	१३-१४	१८-१९
युनाइटेड किंगडम	करोड़	रु०	११७'५८	७६'९५	५८'३५	६१'२१
बेलजियन	,,	,,	४'२५	×	१२'१०	×
आस्ट्रिया हंगरी	,,	,,	४'२९	×	१०'०	×
फ्रान्स	,,	,,	२'६९	१'८४	१७'७२	८'९४
जर्मनी	,,	,,	१२'६६	×	२६'४२	+
इटली	,,	,,	२'१९	'९१	७'८९	९'६१
युनाइटेड स्टेट्स	,,	,,	४'७९	१६'०५	२१'८५	३३'१५
जापान	,,	,,	४'७८	३३'४५	२२'६९	२९'४०
जावा	,,	,,	१०.७४	११.१०	१'९४	३'५२

सीमाकी राहसे विदेशी व्यापार—समुद्रकी राहसे जो

विदेशी व्यापार होता है उसके अतिरिक्त भी बहुत सा विदेशी व्यापार सीमाके पार निकटवर्त्ती राज्योंके साथ हुआ करता है। भारतकी यह सीमा बड़ी लम्बी चौड़ी है, बलोचिस्तानसे लेकर श्याम राज्य तक फैली हुई है। पर इस व्यापारके शीघ्र बढ़नेकी आशा नहीं है। क्योंकि इन देशोंकी पूरी उन्नति होनेमें देर है। यदि उन्नति भी हुई तो भी राहकी कठिनाई बनी ही रहेगी। ईरान और श्यामसे व्यापार बढ़ानेमें रास्तेकी कठिनाई दूर हो सकती है। पर हिन्दुकुश, हिमालय और बर्म्मा चीनकी सीमा दुर्गम बनी ही रहेगी। कहीं तो रास्ते कठिन हैं, पहाड़ी और जङ्गलसे भरे हैं; कहीं साल भरमें कुछ ही महीने बर्फ गलकर रास्ते बन जाते हैं। कहीं जैसे बर्म्मा और चीनकी सीमापर—पहाड़ी और जङ्गलके अतिरिक्त जङ्गली मनुष्यों और डकैतोंके मारे राह चलना ही कठिन है। ऊंट, खच्चर, टट्टू, याक, भेंड़, बकरी, और मनुष्योंपर लादकर ही यह व्यापार अबतक चलाया जा रहा है। प्रकृति की कठिनाइयोंके साथ साथ शासकोंकी ओरसे भी अड़चनें डाली जाती हैं। कहीं तो खाद्य द्रव्योंकी रफ्तनी ही रोक दी जाती है, कहीं राजाकी आज्ञा बिना कोई माल ही बाहर नहीं भेज सकता; कहीं मालकी आमदनी रफ्तनी पर इतना ज्यादा कर बैठा दिया जाता है कि व्यापारियोंका माल ही नहीं बिकता। फिर भी जो कुछ व्यापार होता भी है उसका पूरा पूरा हिसाब नहीं बताया जा सकता। क्योंकि बहुत सी राहों पर तो हिसाब लिखनेवाले ही नहीं हैं, और जहां सरकारी चौकियां हैं भी वहां

व्यापारी पूरा पूरा पता नहीं वताते। विशेषकर सोने चांदीका तो निश्चय मूल्य कभी नहीं वताया जाता है। काश्मीर और शान राज्योंके साथ जो भारतवर्षका व्यापार होता है उसे विदेशी व्यापार नहीं कह सकते, पर तो भी सरकारी रिपोर्टमें इसे विदेशी व्यापार कहकर ही वर्णन करते आये हैं।

भारतवर्षकी सीमाके निकटवर्त्ती राज्योंके साथ जो व्यापार होता है उसका कुल मूल्य १९१३-१४ में २१'४४ करोड़ और १६-१७ में २३'५० और १९१८-१९ में ३०'८ करोड़ रुपया था। इसमें १९१३-१४ में, १२'०१ करोड़की आमद और ९'४२ करोड़की रफ्तनी हुई थी। लड़ाईके कारण तिव्वत और शानराज्यों से अधिक माल आये, इस कारण १९१६-१७ में कुल १२'८६ करोड़की आमद हुई और १०'६३ करोड़की रफ्तनी हुई।

पश्चिमोत्तर सीमापर अफगानिस्तान, दीर, स्वात, वजौर, मध्य एशिया और ईरानसे व्यापार होता है। उत्तर और उत्तर-पूर्वमें नेपाल, तिव्वत, सिक्किम और भूटानसे, तथा पूर्वीय सीमा पर शान राज्य, पश्चिम-चीन, श्याम और करीनीसे व्यापारिक सम्वन्ध है। सवसे अधिक व्यापार नेपालसे होता है, उसके वाद क्रमशः शानराज्य और अफग़ानिस्तानका नम्वर है। नेपाल-से विशेष कर चावल, तेलहन, घी, चाय, गाय वैल, भेंड़ वकरे आया करते हैं, वदलेमें कपड़े, चीनी, नमक, धातुके वने वर्त्तन इत्यादि जाया करते हैं। शानराज्योंसे घोड़े, टट्टू, खच्चर; स्याम और करीनीसे लकड़ी, तिव्वतसे पश्म और ऊन, आफगानि-

स्तानसे ऊन, फल इत्यादि सामान आते हैं। बदलेमें सूती कपड़े, चाय, चीनी, नमक, मसाला, धातुके वर्त्तन जाया करते हैं।

भारतका आभ्यन्तरिक व्यापार--इस व्यापारमें दो प्रकारके काम होते हैं। एक तो देशमें उपजे या बने द्रव्योंको एक स्थानसे दूसरे स्थान पर पहुंचाना या इन चीजोंको विदेश भेजनेके लिए कलकत्ता, बम्बई, करांची इत्यादि बड़े बड़े बन्दरगाहोंमें ले जाना। दूसरा काम कलकत्ता, बम्बई जैसे बन्दरगाहोंमें आये हुए विदेशी मालको देश भरमें फैलाना।

जिस समय कम्पनीने भारतका राज्य लिया उस समय आभ्यन्तरिक व्यापारकी दशा शोचनीय हो रही थी। सड़कें खराब थी; राहमें राहजन, चोर डकैत और ठगोंका डर था। दूर दूरका व्यापार बड़ी मुश्किलोंसे होता था। इस कारण लोग अपनी जरूरतकी चीज़ें अपने गांवोमें ही उपजा या बना लेते थे गांवके बाहरकी दुनियासे बहुत कम सम्बन्ध रखते थे। गांवों में अगर कोई चीजें न मिलीं, या जरूरतसे ज्यादा उपजीं या बनी तो उन्हें आसपासके 'हाटों' में बेचा खरीदा जाता था। पर्व त्यौहारपर जो खास खास स्थानोंमें 'मेले' लगते थे वहांसे जरूरतकी चीज़ें खरीदी जाती थीं।

इतनी अड़चनोंके कारण व्यापारका पूर्ण विकाश नहीं हो सकता था। देहातोंमें चीजें जहांकी तहीं पड़ी रह जाती थीं, या बहुत ही सस्ते दामपर बिकती थीं, और हर इलाकेमें थोड़ी थोड़ी सब किस्मकी चीज़ें उपजानी या बनानी पड़ती थीं, नहीं

तो जीवन-निर्वाह कठिन हो जाता था। पर जबसे देशमें शान्तिका वास हुआ है, जबसे ठगी डकैती बन्द हुई है और सड़कें, रेल लाइनें खुली हैं तथा चुंगी, महसूल वसूलने० चौकियां उठा दी गयी हैं तबसे आभ्यन्तरिक व्यापारकी वृद्धि हुई है। अब इसकी जरूरत नहीं रही कि प्रत्येक गां- सब आवश्यक चीज़ें बोई या बनायी जायं, अब तो जहां जि प्रकारकी खेती फैल सकती है वहां, उस इलाकेमें, उसी खा चीज़की खेती पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इसीसे बंगाल का जूट सारे भारतवर्ष क्या दुनिया भरमें पहुंचाया जाता है, इसी कारण अब मध्यभारत, मध्यप्रदेश, सिन्ध, पंजाब, बम्बई इत्यादि प्रान्तोंमें कपासकी खेती बढ़ाई जा सकी है, खास खास इलाकोंमें तेलहनकी खेतीकी सफलता भी इसी कारणसे हुई है। अब यह जरूरी नहीं है कि किसान लोग सिर्फ अपने लिये या अपने छोटे इलाकेके लिये ही अन्न उपजावें। अब तो चाहे जैसा अन्न हो खुशीसे उपजा सकते हैं, और उसे सड़क, रेल, स्टीमर से दुनियामें चाहे जहां पहुंचा सकते हैं। उसी तरह अपनी जरूरतकी चीज़ें भी चाहे जहांसे मंगा लेते हैं।*

इस उलट फेरका एक फल यह भी हुआ है कि पुराने बाजारों, मण्डियोंकी प्रधानता जाती रही है। पुरानी शाही सड़कों या बड़ी बड़ी नदियोंके किनारे जो बाजार बसे हुए थे वे अब उखड़ गये। अब तो रेल लाइनोंके किनारे नये बाजार बसते जाते हैं,

* Report of the Indian Industrial Commission, Chap. I.

अब तो कलकत्ता, चटगांव, रंगून, मद्रास, बम्बई, कराची जैसे बन्दरगाहोंकी तरक्की होती जाती है, क्योंकि देश भरका माल यहीं लाया जाता और यहींसे विदेश रवाना होता है। उसी तरह विदेशी माल भी यहीं उतरते हैं और यहींसे देश भरमें फैलते हैं।

इस व्यापारकी बाग बड़ी बड़ी एजेन्सी कम्पनियोंके हाथमें है। इनके प्रधान आफिस तो प्रायः विदेशमें हैं, पर कलकत्ते, बम्बई, कराची जैसे बड़े बड़े बन्दरगाहोंमें भी इनकी प्रधान शाखायें हैं। कभी कभी मुफस्सिल शहरोंमें भी छोटी छोटी शाखायें खोल दी जाती हैं। ये एजेन्सी कम्पनियां देशके बड़े बड़े कारखानों, मिलों, खानोंका प्रबन्ध करती हैं। इन्हीं लोगोंके हाथसे देशी मालकी रफ्तनी और विदेशी मालकी आमदनी होती है। इन्हीं एजेन्सियोंसे खरीद कर हमारे बड़े बड़े व्यापारी कपड़ा लत्ता, लोहा पीतल इत्यादि सब तरहका सामान देश भरमें पहुंचाते हैं। और इन्हीं एजेन्सियोंके हाथसे देशका गल्ला, तेलहन इत्यादि बाहर भेजते हैं। ये कम्पनियां देशके उद्योगधन्धोंपर विशेष ध्यान न देकर केवल व्यापार पर ही भरोसा करती हैं। देशके गल्ले, तेलहन, जूट इत्यादिको खरीदकर बाहर भेजना और विदेशी कपड़े लत्ते इत्यादिको मंगाकर देशमें बेचना ही इनका काम है। इस प्रकारके व्यापारमें जोखिम कम है और लाभ यथेष्ट है, पर उद्योगधन्धोंको खोलने और चलानेमें बड़ी जोखिम है इसीसे एजेन्सियां व्यापारकी ओर ही झुकती रही हैं। *

Ind. Com. Report, Chap. II.

कराची, कलकत्ता, मद्रास, चटगांव, रंगून इत्यादि बन्दरगाहोंमें प्रायः जितनी एजेन्सियां हैं सब विदेशी हैं। बड़ेसे बड़े मारवाड़ी या बंगाली व्यापारी इन्हीं गोरी एजेन्सियोंसे माल खरीदते वेचते हैं, सीधे विलायतसे वहुत कम लोगोंका सम्बन्ध है। केवल वम्बईमें पारसियोंने गोरी कम्पनियोंके टक्करकी एजेन्सियां खोल रखी हैं। एजेन्सियोंके नीचेका जो व्यापार है वह प्रायः सब देशी आदमियोंके हाथमें है। मारवाड़ी लोगोंने इस प्रकारके व्यापारमें बड़ी प्रवीणता दिखाई है; इसमें इनके समान साहस रखनेवाली और दूसरी कोई कौम नजर नहीं आती। भारतवर्षके कोने कोने तकमें इन लोगोंने कारवार फैला रखा है। इनके अतिरिक्त प्रान्त विशेषमें विशेष विशेष जातियोंने प्रवीणता दिखाई है। जैसे वम्बई हातेमें पारसियोंके अतिरिक्त लोहाने, वानी, भाटिये, वोहरे, मेमन, खोजे लोगोंने, पंजावमें खत्रियों, मुसलमानोंने, विहार, युक्तप्रान्तमें वनियों (वैश्यों) ने, वंगालमें ब्राह्मणोंने, तथा मद्रासमें चेट्टी और कोमाटियोंने।

इस देशके आभ्यन्तरिक व्यापारमें एक विशेषता यह है कि यहां पर 'वीचवाले'-दलाल (Middle men) वहुत हैं। जो कृषक अन्न उपजाता है और जो एजेन्सीवाले माल विदेश भेजते हैं इन दोनोंके वीचमें कमसे कम तीन दर्जेके वीचवाले व्यापारी हैं। एक तो वह जो किसानोंसे माल खरीद कर लदने वैल, घोड़े या वैलगाड़ियोंपर माल लादकर रेल किनारेके वाजारों तक पहुंचाता है, दूसरा वह जो रेल किनारे पर दूकान या आढ़त

खोल कर वैठता है और पहलेसे माल खरीदकर कलकत्ता चालान करता है। कलकत्तेवाले यह चालान खरीदकर राली ब्रादर्स जैसे बड़े कारवारियोंके हाथ माल बेचते हैं, ये लोग ही मालको विदेश भेजते हैं, ये तीनों कुछ न कुछ नफा अवश्य ही उठाते हैं, पर यदि किसान लोग 'सहयोग समितियां' खोलकर सीधे कलकत्तेकी एजेन्सियोंके हाथ माल बेचें तो सब लाभ उनके हाथ ही रह जाय।

भारतके आभ्यन्तरिक व्यापारपर दृष्टि डालनेसे पता चलता है कि इस व्यापारका रुख बन्दरगाहोंकी ओर फिरा हुआ है। देहातोंमें खर्चसे जो कुछ बच गया वह रेल किनारेके बाजारोंमें पहुंचा; वहांसे वह माल या तो दूसरे दूसरे बाजारोंमें खर्च होनेके लिये चला गया, या कलकत्ते, बम्बई, कराची जैसे बन्दरगाहोंकी ओर दौड़ा। इन बन्दरगाहोंमें जानेके दो अभिप्राय हैं। एक तो जहाजोंपर माल विदेश भेजना, या देशमें ही एक बन्दरगाहसे दूसरे बन्दरगाह रवाना करना। दूसरा वहींकी मिलोंमें माल तैयार करानेके लिये कच्चा माल रखना। क्योंकि कलकत्ते बम्बईमें देशी माल रवाना करने और विदेशी माल जाहाजोंपरसे उतारनेके अलावे देशी कच्चे मालसे कपड़ा बीनने, या जूटके बोरे तैयार करनेके लिये भी बहुत सी मिलें खुली हैं। इन कारणोंसे आभ्यन्तरिक व्यापारका बहुत बड़ा हिस्सा इन बन्दरगाहोंसे ही सम्बन्ध रखता है।

कलकत्तेसे बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा, आसाम और युक्तप्रान्त

का घनिष्ठ सम्बन्ध है, मध्यप्रदेश, राजपुताना और पंजावके साथ भी थोड़ा बहुत व्यापार होता है। कलकत्तेसे जो माल बाहर बङ्गाल, बिहार, ऊड़ीसा, युक्तप्रान्त इत्यादि प्रदेशोंमें आता है उसका अधिकांश समुद्रकी राहसे आया हुआ विदेशी माल ही होता है, इसमें सूती चीजें, धातुके सामान, किरोसिन तेल, चीनी प्रधान हैं। यहांसे रेलका बहुत सा विलायती सामान, नमक, चट्टी, बोरा, चावल धान, कोयला कोक भी आसपासके बाजारोंमें रेल द्वारा भेजा जाता है। बङ्गाल, बिहारकी खानोंसे निकले हुए कोयले कलकत्ता रवाना कर दिये जाते हैं, और वहींसे सम्पूर्ण बङ्गाल और आसाममें फैल जाते हैं। जूटका व्यवसाय तो कलकत्तेका खास व्यवसाय है, यह आसपासके इलाकोंसे कच्चा जूट मंगाकर अपनी मिलोंमें बोरे चट्टी बनाता है और फिर उन्हें रेलसे सम्पूर्ण उत्तर और मध्यभारतमें पहुंचाता है। बङ्गाल विहार, ऊड़ीसा, आसाम, युक्तप्रान्त, मध्यप्रदेश और पंजावसे गल्ले, तेलहन और चमड़े कलकत्ता भेजे जाते हैं, बङ्गाल, बिहार का कोयला; आसामकी चाय; बङ्गाल, बिहार, ऊड़ीसा और आसामका जूट भी कलकत्ता जाया करता है। कलकत्तेके बन्दरगाहमें काम बढ़ता जाता है, इस कारण पूर्व बङ्गाल आसामकी आमद और रफ्तनीके लिये चटगांवके बन्दरगांहकी उन्नति की जा रही है।

बम्बईके बन्दरगाहसे, रेलद्वारा, कोयला, कोक, कपास, चावल, लोहेका सामान, रेलकी चीजें, खांड़, देशी सूती कपड़े

आसपासके इलाकोंमें भेजे जाते हैं। यह बन्दरगाह बम्बई प्रेसिडेन्सी, निज़ाम राज्य, बरार, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, राजपुतानाको विदेशी और देशी माल पहुंचाता है। इन इलाकोंके तेलहन, कपास, गल्ले, अफीम और मध्यप्रदेशके खनिज धन भी यहीं आया करते हैं।

कराचीमें पंजाब, बलोचिस्तान और युक्तप्रान्तके गल्ले, ऊन, पशम, कपास वगैरह पहुंचते हैं। वहां बम्बईके सूती माल, विलायती कपड़े, चीनी, धातुके सामान समुद्रकी राहसे आते हैं। इधर इसकी बड़ी तरक्की हो रही है ; पंजाब, युक्तप्रान्त और राजपुताना और कराचीके बीच सीधी रेल लाइनें खोलनेका विचार हो रहा है।

मद्रास हातेमें कोई आठ बन्दरगाह हैं जो प्रान्त भरमें व्यापार फैलाते हैं। इनका थोड़ा बहुत व्यापार मैसूर, हैदराबादके साथ भी है। विलायती कपड़ों, धातुकी चीजों और मसालोंको प्रान्त भरमें फैलाना तथा देशी रूई, चमड़े, गल्लेको बाहर भेजना तथा देशमें ही एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुंचाना इनका काम है।

रंगूनसे चावल, लकड़ी, चमड़ा, पेट्रोलियम, रबर बाहर जाते हैं और सूती कपड़े, रेशम, धातु, मछली, चीनी, वगैरह विदेशी माल देश भरमें पहुंचाये जाते हैं ?

भारतवर्षके बन्दगाहोंमें भी आपसमें व्यापार हुआ करता है। बर्मासे बङ्गाल और मद्रासका, बङ्गालसे मद्रास बम्बईका, और बम्बईसे गुजरातके देशी राज्यों और कराचीका व्यापार हुआ

करता है। बर्म्मासे चावल पेट्रोलियम और लकड़ी बङ्गाल और मद्रास भेजी जाती है। बर्म्माके किरोसिन तेलका सबसे बड़ा बाजार बंगालमें है। बंगाल (कलकत्ते) से बोरे, चट्टी और कोयलेकी रफ्तनी होती है। यह जहाजों द्वारा बर्म्मा, मद्रास बम्बई, सिन्ध तक पहुंचाया जाता है। हालसे लोहेकी रफ्तनी भी बढ़ती जाती है। बंगाल बहुत सा चावल भी भेजता है। पर बर्म्मासे कम। बम्बईके बन्दरगाहसे जहाजों पर लादकर बहुतसे देशी कपड़े गुजरात और सिन्ध भेजे जाते हैं। बम्बईमें जहाज द्वारा बहुत सी कपास काठियावाड़, कच्छसे और गल्ला मद्रास बर्म्मासे भी आया करता है। मद्रास जहाजों पर लादकर मूंगफली और उसका तेल बंगाल, बम्बई भेजता है तथा बदलेमें गल्ला मंगाता है।

दूसरा अध्याय

मार्ग और वाहन

इनका व्यापारसे सम्बन्ध—इनका भेद।

इनका व्यापारसे सम्बन्ध--व्यापार-वणिज्यका घटना बढ़ना मार्ग और वाहनपर निर्भर करता है। पुराने जमानेमें जब कारीगर कोई चीज़ बनाता था तब अपनी बस्ती या आस पासके खरीदारों पर ही लक्ष्य रखता था और इसी लिये थोड़ा माल तैयार करता था। क्यों? इसका कारण यही था कि उस समय माल ढोनेके लिये न सस्ते वाहन और न सुगम रास्ते ही थे। दूर देशका जाना मानो जान हथेलीपर रखकर काम करना था; समय अधिक लगता था तथा जानकी भी जोखिम थी। रास्ते कठिन और दुर्गम थे, जो बरसातमें कई महीनोंके लिये बन्द हो जाते थे। जब राहें खुल जाती थीं तब भी चोर, डकैतोंकी कमी नहीं रहती थी। दस बीस आदमियोंका जबतक झुंड न बन लेता था तबतक मुसाफिर आगे न बढ़ते थे। यह तो बिहारके बूढ़े पुराने लोगोंके सामनेकी बात है कि लोग जगन्नाथ की यात्राको 'स्वर्गयात्रा' ही समझते थे। लोग पुरी दर्शन करने

को निकलनेके पहले अपना वसीयतनामा लिख लेते थे; घरसे निकलनेके समय सम्पूर्ण परिवारके लोग रो देते थे, यात्रीके फिर आनेकी आशा कोई नहीं करता था।

व्यापारियोंकी कठिनाइयोंका तो ठिकाना ही न था। माल ढोनेके लिए बैल, घोड़े या भैंसोंकी गाड़ियां चलाई जाती थीं, पर राह पक्की न होनेके कारण 'तीन मीलका सफर तेरह दिनमें' तै होता था। पग पग पर इन गाड़ियोंका कीचड़में अटक जाना तो मामूली बात थी। कभी कभी भीड़ अधिक और राह तङ्ग होनेके कारण कई दिनों तक एक ही पड़ाव पर रह जाना पड़ता था। गाड़ियोंके अतिरिक्त लदने बैल, घोड़े, खच्चर, ऊंट, भेंड़, बकरे भी माल ढोते थे। इतना सब कुछ रहते हुए भी व्यापार बढ़ नहीं सकता था, क्योंकि माल ढोनेमें खर्च बहुत ज्यादा पड़ जाता था। हां, जहां बड़ी बड़ी नदियां थीं वहां नदीकी राहसे नावपर व्यापार हुआ करता था। नाववाले दूर दूरतक चले जाते थे, कभी कभी जहाजों पर बैठकर समुद्र पार भी पहुंचते थे। पर चाहे स्थलमार्गसे हो, या जलमार्गसे, व्यापारका आकार बहुत थोड़ा रहता था, कीमती पर हलकी चीज़ें ही ज्यादा पसन्द की जाती थीं, सस्ती वजनी चीज़ें या सड़ गल जानेवाले पदार्थ जहांके तहां पड़े रह जाते थे। मार्गकी कठिनाई और सुगम वाहनके अभावसे कहीं तो द्रव्योंकी प्रचुरता और कहीं दरिद्रता बनी रहती थी; कहींके लोग सस्तेसे सस्ते दामपर माल खरीदते थे और पास हीके लोग अकालके मारे जान देते थे। इन

चीजोंको एक जगहसे दूसरी जगह पहुंचानेवाला सुगम उपाय ही नहीं मालूम था।

आजकल हमलोग वेल्सका कोयला, या अस्ट्रेलियाकी लकड़ी, या ब्राजिलका गेहूं मंगाते हैं और खर्च करते हैं। और दाम भी देशी, घरके पास उपजनेवाले, गेहूं, लकड़ी या कोयलेसे अधिक नहीं देते, कभी कभी तो ६-७ हजार मील दूरसे आये हुए माल घरके बने मालसे भी सस्ते पड़ जाते हैं। जापान पांच हजार मील दूर हिन्दुस्तानसे कपास खरीद कर अपने यहां ले जाता है; उसके कपड़े बना कर फिर उसे पांच हजार मील दूर बम्बई भेजता है और वहीं, बम्बईके बाजारमें, देशी मिलोंके बने कपड़ोंसे सस्ता या उसी भाव पर उन्हें बेचता है! यह सब क्योंकर सम्भव हो सका है? सिर्फ माल ढोनेकी सुगम रीतिके आविष्कारके कारण। नहीं तो क्या बैलगाड़ी पर या खच्चर, ऊंटों पर लादकर वेल्सका कोयला बम्बईकी मिलोंमें पहुंचाया जा सकता था? यदि यह सम्भव भी होता तब भी बम्बईमें इस कोयलेका दाम 'कोहेनूर' से कभी कम न होता। यदि यह सुगम रीति न निकली होती तो क्या कलकत्तेमें घर बैठे कुलू या क्वेटा के ताज़े सेब, नाशपाती, अंगूर मिल जाते और फिर भी मंहगे न पड़ते? कभी नहीं, यह अन्यथा किसी तरह सम्भव नहीं था। जबसे "जेम्स वाट" ने वाष्प-संचालित इंजिनका संशोधन किया तबसे आजतक न मालूम कितने आविष्कार हुए। राह सुगम करनेकी कोई न कोई नई तरकीब निकालनेकी धुन बराबर बनी

रही है, क्योंकि इसके विना न व्यापार वाणिज्य ही बढ़ सकता था और न सभ्यता ही फैल सकती थी। निरन्तर परिश्रम करते करते आज मनुष्यने जल, थल और आकाश सब पर विजय पाई है। जमीनपर, पानीके ऊपर, पानीके नीचे, हवापर—हर जगह मनुष्य अपने यानोंको तेज़ीके साथ चला सकता है और साथ ही साथ भारीसे भारी माल भी ढो सकता है। अब ज्ञान विज्ञानके फैलनेमें देर न लगेगी, मानव समाजके एक हो जानेमें बाधा न रहेगी। अब आप शौकसे बाबा नारदकी तरह, दुनिया भरमें घूम फिर सकेंगे, जहां तहां जा आ सकेंगे।

इनका भेद-वाणिज्य व्यापारके तीन मार्ग हैं—स्थलमार्ग जलमार्ग और आकाश मार्ग। स्थलमार्गमें कच्ची पक्की सड़कों पर गाड़ियां या बैल घोड़े माल ढोते हैं, या सड़कों पर लोहे की रेल बिछा कर उन पर रेल गाड़ियां दौड़ाई जाती हैं। कहीं कहीं जमीनके अन्दर (tube) और ऊपर (Clevator) से भी रेल चलाई जाती है। जलमार्ग पर नाव, स्टीमर, लोहे, काठ या 'कंक्रीट' के बड़े बड़े जहाज चलते हैं। इस लड़ाईके समयमें जर्मनोंने पनडुब्बियोंसे—जो पानीके नीचे नीचे चलती हैं—माल ढोनेका यत्न किया था। क्या ताज्जुब है कि यह भी कुछ दिनोंमें सरल हो जाय। आकाश मार्गसे हवाई जहाजोंपर मुसाफिरोंके चलने, चिट्ठियां पहुंचाने और माल ढोनेमें दिक्कत न रही। बरस दो बरसके अन्दर ही हर जगह हर शहरमें भलेमानुस आकाशसे उतरते दिखाई देने लगेंगे; आकाश मार्गसे आपकी चिट्ठियां

आयंगी, आपके कपड़े-लत्ते, छाते जूतेके पारसल उतरा करेंगे। अब 'मेघदूत' की जरूरत नहीं रहेगी, आप स्वयं तीन घण्टोंमें, कलकत्तेसे चलकर दार्जिलिङ्गमें रहनेवाले मित्रसे जा मिलेंगे।

आकाश और स्थल मार्गसे सम्बन्ध कहांतक रहेगा कहा नहीं जा सकता; परन्तु जल और स्थल मार्गमें तो चोली दामनका साथ है; एकके विना दूसरेका काम ही नहीं चल सकता। यदि बैल या घोड़े गाड़ियों परसे, या नावोंसे माल रेलमें न पहुंचाये जायं तो रेल गाड़ी भूखी रह जायं। फिर रेलसे माल जहाजोंपर न पहुंचाये जायं तो जहाज खाली रह जायं, समुद्रका प्रशस्त मार्ग ही सूना पड़ जाय। इसीसे कहते हैं कि तीनोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो देश इन तीनोंकी तरक्की साथ साथ करता है उसकी ही सर्वाङ्गीण उन्नति होती है। जहांकी रेल बड़े बड़े शहरोंसे होती हुई बन्दरगाहों तक पहुंच कर रह जाती है वहां रफ्तनी और विदेशी माल की आमद तो बढ़ जाती है, पर देशके भीतरी व्यवसाय और वाणिज्यका प्रसार नहीं होता।

तीसरा अध्याय
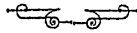
स्थल और जल-मार्ग

रास्ते—रेल प्रचारका इतिहास—रेलमें लगी हुई पूंजी इत्यादि—रेलवे नीति—वर्त्तमान व्यवस्थासे हानि—जल-मार्ग।

रास्ते—व्यापारियोंको जब माल बाजार ले जाना होता तब वे सबसे सुगम रास्ते पसन्द करते हैं। पहले पहल नदी-की राह ही सबसे सस्ती समझी जाती थी; नदियोंके किनारे ही बड़ेसे बड़े शहर बसे हैं; नदियोंके पास ही सबसे पहले बस्ती बसी थी। तभी तो हितोपदेशमें कहा गया है कि जहां नदी नहीं है वहां बसना ही उचित नहीं है। धीरे धीरे नदीके किनारेके शहरोंका भीतर देहातसे सम्बन्ध हो जाता है। दोनोंके परस्परके व्यापारके लिये रास्ते बनने लगते हैं; शहरोंमें स्थल और जल मार्गोंका 'जंकशन' बन जाता है। गंगा किनारेके प्रयाग, बनारस, पटना इत्यादि पुराने शहर इसीके प्रमाण हैं। यह कोई जरूरी बात नहीं है कि रास्ते सीधे हों; पर सच तो यह है कि जहांसे सुगमता होती है, जिसमें होकर कम कठिनाइयां पड़ती हैं, बड़े बड़े दुर्गम पहाड़ लांघने, सघन जंगल या बड़े बड़े रेगिस्तान अथवा दलदल पार करनेकी जरूरत नहीं होती है वहां होकर ही राह

निकल पड़ती है। पर जब आबादी बढ़ने लगती है तब जंगल, पहाड़, रेगिस्तान, दलदल सब जगह बस्ती बस जाती है, उस समय अच्छी खराब हर जगहसे रास्ते निकालने पड़ते हैं। इनके अतिरिक्त फौजी कामोंके लिये भी रास्ते बनाने पड़ते हैं जिसमें कि देशमें शान्ति रक्षा करने, शत्रुओंके आक्रमणको रोकनेमें सुविधा हो।

आजकल भारतवर्षमें जितनी सड़कें हैं उनमें से कुछ तो दूर दूर तक चली गयी हैं और कुछ पास हीकी बस्तीमें जाकर खतम हो जाती हैं; कुछ सड़कें पक्की हैं और कुछ कच्ची; कहीं दोनों किनारे वृक्ष लगा दिये गये हैं कि पथिकोंको राह चलनेमें सुगमता हो और कहीं साफ मैदान है। कुछ सड़कें ऊंची हैं और बारहों महीने खुली रहती हैं, कुछ बरसातमें बेकाम हो जाती हैं, और कुछ तो सिर्फ दो चार महीनोंके लिये फसल लादनेके लिये खोल दी जाती हैं। कहीं बरसाती नदियोंपर पुल बंधे हुए हैं और कहीं बरसातमें नाव पर और खुश्कीके दिनोंमें पैदल ही नदियां पार कर ली जाती हैं।

भारतवर्षकी सड़कोंके विषयमें हालहीमें एक अंगरेज लेखकने बड़ा अच्छा लेख लिखा है। यहां उसका सारांश उद्धृत किया जाता है।* लेखक युद्धके समय मसोपोटामियासे छुट्टीपर भारतवर्ष आया था, और मोटरपर बिहार तथा युक्तप्रान्तका अच्छा

* Sir William Geary in the Spectator, quoted by the Statesman. Decr. 29, 1918.

सफर किया था। सफर करने पर उसे पता लगा कि कुछ सड़कें ऐसी हैं जो किसी समयमें अच्छी हालतमें थीं पर अब वरसोंसे बिगड़ी पड़ी हैं। जो हैं भी उनमें वरसातके कारण जगह जगह पर खाइयां वन जाती हैं और महीनों तक ज्यों की त्यों पड़ी रहती हैं जिससे राह चलनेवाले मुसाफिरों, गाड़ियोंको वड़ी तकलीफ होती है। लेखकने कहा है कि 'ग्रांड ट्रङ्क रोड' जो सबसे वड़ी सड़क है और कलकत्तेसे लाहौर तक जाती है, बरसातके कारण महीनों तक वेकाम पड़ी रही। कहीं तो नदियों पर पुल बांधे गये हैं और कहीं पुल ही नहीं है, फल यह होता है कि दस पांच मील पर मुसाफिरोंको अवश्य ही उतरना पड़ता है, माल चढ़ाना उतारना पड़ता है। कहीं कहीं तो नदियों पर न पुल है और न नाव ही है। हो सकता है कि चैत वैसाखमें ये नदियां सूख जाती हों और लोग सूखे पैर नदी पार हो जाते हों, पर गाड़ियोंके लिये उस खाई और रेतको पारकर निकलना नेपोलियनके 'आल्पस' पार करनेसे भी कठिन होगा। अवश्य ही गंगा जमुना जैसी बड़ी वड़ी नदियों पर सिर्फ इसी कामके लिये पुल बांधना लाभदायक नहीं है, पर छोटी छोटी नदियोंको बांध देना तो परम आवश्यक है। जहां रेलके लिये वड़ी नदियां बांधी गयी हैं वहां उसी पुल परसे बैल गाड़ियोंका रास्ता खोलना आवश्यक ही नहीं लाभदायक भी है। यह निश्चित है कि दस पांच मील अच्छे रास्तेके बाद अवश्य ही कुछ दूरतक वहुत खराव रास्ते मिलते हैं और फिर अच्छे तथा उनके बाद फिर खराब रास्ते। इसका

फल यह होता है कि खराब रास्तोंके कारण अच्छे रास्तोंसे भी लाभ नहीं उठाया जा सकता है। जिलों या 'सब-डिविजन' के सदर मुकामोंसे कुछ दूर तक तो रास्ते अच्छे रहते हैं फिर आगे जाकर खराब हो जाते हैं क्योंकि वे अब दूसरे जिलेके इलाकेमें चले जाते हैं। जबतक दो जिलोंमें इस कामके लिये परस्पर सम्बन्ध न होगा, जबतक प्रान्त भरके लिये अथवा सम्पूर्ण भारत वर्षके लिये अच्छी अच्छी सड़कोंको बनाये रखनेके लिये एक केन्द्रीय विभाग न स्थापित होगा तबतक ये अभाव बने ही रहेंगे।

यह तो एक नये आदमी की राय है। हमलोगोंको तो यह दिन रात ही अनुभव करना पड़ता है ; जिन्हें दिन रात खुश्कीसे सफर करना पड़ता है उन्हें तो सड़कोंके गुणदोषका पूरा ज्ञान हो जाता है। सड़कोंकी दुर्दशाका एक कारण रेलका प्रसार है। जबसे रेलकी लाइनें खुली हैं तबसे देशव्यापी सड़कोंकी आवश्यकता जाती रही है, तबसे ही उनकी दुर्दशा शुरू होती है। लोग समझने लगते हैं कि रेल खुल जानेसे रास्तोंकी जरूरत ही नहीं रहती। सरकारकी ओरसे भी कुछ ऐसा ही दिखाया जाता है। आजकल तो सड़कें जिलेके बोर्ड या म्युनिसिपलटियोंके हाथमें छोड़ दी गयी हैं। इन संस्थाओंका लक्ष्य अपने इलाके भरमें ही रहता है, उसके बाहर नहीं जाने पाता। जिलेके अन्दर भी सदर मुकाम और 'सब-डिविजन' के केन्द्रके बीच सम्बन्ध बनाये रखनेके लिये सड़कें अच्छी हालतमें रखी जाती हैं, उनपर कंकड़ और रोड़े बिछाये जाते हैं, दोनों तरफ सायादार पेड़ भी लगाये जाते हैं।

ऐसा करते हुए 'बोर्ड' के कर्मचारियोंका विशेष लक्ष्य इसी ब
पर रहता है कि कहीं अफसरोंको गश्त करनेमें तकलीफ न हो
इन सदर सड़कोंको छोड़ दूसरी सड़कोंपर वैसी कृपा कभी
नहीं दिखाई जाती ; वैसी सड़कें तो विरली ही पक्की बनाई ज
हैं। बरसातके दिनोंमें इन कच्ची सड़कोंपर गरीब बैलगाड़ियों का
अटक जाना तो एक मामूली दृश्य है। जबसे अफसरोंको गश्त
करनेके लिये मोटर गाड़ियां या मोटर साइकिलें मिलने लगी हैं
तबसे सदर सड़कों पर एक और नई चाल निकल पड़ी है। बैल-
गाड़ियोंसे पक्की सड़कें खराब हो जाती हैं, मोटरोंके टायर फूट
जाते हैं, और सवारोंको झोंके लग कर उनकी नाजुक
पसलियोंमें दर्द हो जाता है इस लिये बैल गाड़ीवाले क्या
बरसात क्या गर्मी किसी समय पक्की सड़कसे नहीं जाने पाते, वे
नीची कच्ची सड़क पर ही गाड़ी हांकते हैं। इन पक्की सड़कोंसे
व्यापारको कोई भी लाभ नहीं पहुंचता। इसके अलावा हर दो
चार मील पर छोटी बड़ी नदियां मिलती हैं उनसे भी राह चलने
वालोंको असुविधा होती है। जहां बड़ी नदियां हैं, जहां बारहों
महीने पूरा जल रहता है वहां नाव, स्टीमरका प्रबन्ध करना तो
आवश्यक ही है। पर बरसाती नदियों पर भी पुल बांधना वैसा
ही जरूरी है। जबतक यह न होगा, वाणिज्य-व्यापार फैल नहीं
सकता। उचित तो यह है कि प्रधान प्रधान मंडियोंको जहांसे
रेल जाती हो, केन्द्र बनाकर इलाके भरमें लम्बी चौड़ी और पक्की
सड़कें खोल दी जायं, गांव गांवको इन सड़कों द्वारा मंडियोंसे

सम्बन्ध करा दें, और बीचकी नदियां बांध दी जायं। और तब माल ढोने या मुसाफिरोंको पहुंचानेके लिये स्टीम या मोटरकी शक्तिसे चलनेवाली हल्की गाड़ियोंका प्रचार बढ़ाया जाय। ऐसा करनेपर देशके वाणिज्यकी बड़ी उन्नति होगी। किसान अपनी उपज बड़ी आसानीसे बाजार ला सकेगा और दूर दूरके बाजारमें बेचकर लाभ उठावेगा। उसी तरह उनके बदलेमें अपनी जरूरतकी चीज़ें भी इन बाजारोंसे खरीद कर कम खर्च पर देहात ले जा सकेगा। जबतक रेल, सड़क, नदी इन तीनोंकी बराबर तरक्की न होगी, तीनों पर साथ साथ लक्ष्य न रखा जायगा तबतक देशका न आभ्यन्तरिक और न विदेशी व्यापार ही बढ़ सकेगा।

रेल प्रचारका इतिहास—लार्ड डलहौसीके समयमें पहली रेल गाड़ी चली। तबसे आजतक रेलकी तीन अवस्थायें हुई हैं। जब लार्ड डलहौसी दूर दूरके देशी राज्योंको कम्पनीके राज्यमें मिला चुके तब इस विस्तृत राज्यको दृढ़ करने, एकताके सूत्रमें बांधने और वाणिज्य व्यापारको बढ़ानेके लिये उपाय ढूंढने लगे। उसी समय डाक, तारके साथ साथ रेल खोलनेका भी विचार किया गया, कम्पनीके विस्तृत राज्यको इस लोहेके बन्धनमें बांधनेका ही निश्चय हुआ। पर रेल खोलता कौन? हमलोगोंको तो मालूम ही नहीं था कि रेल किस चिड़ियाका नाम है; और मालूम रहने पर भी निश्चय है कि उस समय लोग इस धन्धेमें पूंजी नहीं लगाते। विलायतवाले इसमें पूंजी लगा सकते थे, पर वहांकी जनताको भारतवर्षकी अवस्थाका पूरा ज्ञान नहीं था।

उन लोगोंने तो सुन रखा था कि भारतवर्षमें मूसलाधार वृष्टि हुआ करती है, जोरोंकी बाढ़ आया करती है; जंगलोंमें गैंड़े, भैंसे, हाथी इत्यादि पशुओंका उपद्रव बना रहता है और ऊपरसे सूर्यकी तेज किरणें पड़ा करती हैं। भला ऐसे देशमें रेलकी लाइनें कैसे खुलें? बहुत कुछ जांच पड़ताल की गयी; अन्तको मि० सिम्स नामक एक व्यक्तिने भारतकी अवस्था देखकर राय दी कि रेलका खोलना असम्भव नहीं है। विलायती पूंजीवालोंने रेलमें धन लगाना निश्चय किया, पर साथ ही यह भी शर्त्त कराना चाहा कि पूंजी लगाने पर लाभ भी खूब उठाने दिया जाय, अन्तमें १८४६ में ईस्ट इंडियन रेलवे और ग्रेट इंडियन पेनिनसुला रेलवे कम्पनियोंके साथ सरकारकी ओरसे शर्त्तनामे लिखे गये और १८५३ में पहली रेल खुली। सरकारको यह शर्त्त करनी पड़ी कि वह रेल लाइनके लिये जमीन मुफ्त देगी और खर्च देकर जो बचत रहेगी उसमेंसे, सबसे पहले, पूंजी पर, सैकड़े साढ़े चार, पौने पांच या पांचके हिसाबसे व्याज निकाल देना पड़ेगा। यदि इसके लिये काफी बचत न हो तो सरकार अपनी ओरसे रुपये देकर रेल कम्पनीके साझीदारोंको शर्त्तनामेमें ठीक किये गये सूदकी रकमको पूरा कर देगी। और यदि बचत बहुत ज्यादा हुई, और साझीदारोंको पूरा सूद दे देने पर भी रुपया फाजिल गया तो उसमें से आधा कम्पनी और आधेमें से उस घटीका बदला दिया जायगा जिसको सरकारने अपनी तरफसे पूरा किया होगा।

साथ ही यह भी. शर्त्त की गयी कि कम्पनियां हर तरहसे सरकारकी देख रेखमें रहेंगी। कैसी और किस तरहकी रेल लाइन बनेगी, कैसे डब्बे और इञ्जिन रखे जायंगे, कब और कितनी गाड़ियां दिन रातमें किस चाल (Speed) से चला करेंगी, भाड़े और महसूलका निर्ख क्या होगा, खर्च किस हिसाबसे किया जायगा, हिसाब कैसे रखा जायगा—इत्यादि। बातोंपर सरकारका पूरा अधिकार रहेगा, कम्पनियां सरकारकी अनुमति विना इन बातोंका फैसला न कर सकेंगी। यों तो कम्पनियोंके साथ ९९ सालका पट्टा लिखा गया था और पट्टेकी मयाद पूरी होने पर दाम देकर सरकार लाइन खरीद सकती थी ; पर यदि चाहे तो सरकार २५ या ५० वर्षमें भी लाइन खरीद सकती थी, या यदि खुद कम्पनियां चाहें तो लागत लेकर सरकारको लाइन सौंप भी सकती थीं।

इस शर्त्तनामेका फल यह हुआ कि रेल खोलनेके लिये काफी रुपये मिलने लगे और धीरे धीरे ईस्ट इण्डियन, ग्रेट इण्डियन पेनिनसुला, वम्बे वड़ोदा-सेन्ट्रल इण्डिया इत्यादि कई कम्पनियां खुल गयीं। पर इसमें एक बड़ा दोष यह था कि कम्पनियां बहुत ही फजूल खर्च करने लगती थीं। कम्पनियोंको इसकी परवाह थोड़े ही थी कि खर्च कम हो, उन्हें तो पूंजीपर सैकड़े पांचका नफा अवश्यम्भावी था; उसके लिये तो भारत सरकार खुद जामिन थी। कम्पनी जितनी अधिक पूंजी लगाती थी उतना ही अधिक लाभ उठाती थी। इसलिये लाइन बनानेमें एककी जगह दस

खर्च किया जाने लगा, रुपया पानीकी तरह बहाया गया। सरकारी इञ्जिनियरोंके हजार कोशिश करनेपर भी फिजूल खर्ची कम नहीं हुई * ज्यों ज्यों रेलोंमें अधिक पूंजी लगती गयी त्यों त्यों सरकारका दायित्व भी बढ़ता गया। चांदीका भाव गिर जानेसे यह भार और भी गुरुतर हो गया, क्योंकि रेल कम्पनियोंका मुनाफा सोनेके सिक्कोंमें ही देना पड़ता था। यही हालत कुछ दिनों तक बनी रही; धीरे धीरे ऐसी कम्पनियोंकी संख्या भी दोसे छ हो गयी।

सरकार १८६२ से बराबर इसी कोशिशमें थी कि कम्पनियां अपनी जिम्मेदारीपर रेल खोलें। सरकारकी तरफसे जमीनकी मदद हो तथा प्रत्येक मील रेल लाइनके लिये १०० पा० की सहायता बीस वर्षों तक मिलती रहे। दो एक छोटी मोटी कम्पनियां इन शर्तों पर खुलीं भी, पर काम न कर सकीं, अन्त को उनके साथ भी सरकारकी तरफसे पूंजी पर सैकड़े पांचके मुनाफेका शर्त्तनामा लिखा गया। जब सब तरहसे सरकारका प्रयत्न निष्फल गया तब १८६९में रेलवे नीतिका परिवर्त्तन किया गया।

इस नीति परिवर्तनसे रेलवे इतिहासकी दूसरी अवस्थाका आरम्भ हुआ।

इसी जमानेमें उस समयकी कई बड़ी बड़ी रेल कम्पनियोंके

* B. A. Barker, J. C. S., on Railway Policy in India. (Indian Journal of Economics, Vol, I. P. 436.)

साथ कुछ नये शर्त किये गये। अबसे रेल कम्पनियोंका हिसाब हर छठे महीने होने लगा, और सैकड़े पांचका मुनाफा देनेपर जो कुछ बच जाता था उसका आधा सरकारको और आधा कम्पनियोंको मिलने लगा। सरकारका घटी पूरी करनेमें कुछ लगा हो या नहीं, सैकड़े पांचसे अधिक मुनाफा होनेसे ही उसका आधा सरकारको मिलने लगा। इसी समय यह भी निश्चय हुआ कि अबसे सरकार ही अपने नाम, कम सूद पर, कर्ज लेकर जहां तक हो सकेगा कम खर्चमें रेल लाइन बनायगी। १८६६ से १८८० तक इसी तरह सरकारकी ओरसे ही लाइन खुलती रही इण्डस भैली, पंजाब नार्दर्न, राजपुताना मालवा, नार्दर्न बंगाल, रंगून इरावदी भैली, और तिर्हुतकी लाइनें इसी समय सरकारकी ओरसे खुलीं।

इस तरह रेल आरम्भ होनेसे १८७६ तकके कोई पचीस वर्षोंमें कम्पनियोंकी तरफसे ६७८·७२ लाख पा० की पूंजीसे ६१२८ मील तथा २३६·६५ ला० पा० की पूंजीसे २१७५ मील रेल सरकारकी ओर खोली गयी।

१८८० में जो 'दुर्भिक्ष कमिशन' बैठा था उसने सलाह दी कि कमसे कम पांच हजार मील रेल होजानेसे दुर्भिक्ष भय जाता रहेगा। इसलिये जहांतक हो सके शीघ्र ही इतनी लाइन खोल दी जाय। पर सरकारने देखा कि यदि निश्चित समयके भीतर ही इतनी लाइनके लिये कर्ज लिया जायगा तो सूद बहुत ज्यादा देना पड़ेगा, इसलिये साथ साथ कम्पनियोंको भी रेल

खोलने दिया जाय। कई कम्पनियां खुलीं, पर सरकारी सहायता बिना चल नहीं सकीं, उनके साथ भी सरकारने शर्त्तनामा लिखा, पर यह पुराने शर्त्तनामोंसे अधिक लाभ दायक रहा।

परन्तु १८७९ से ९२ तक बड़ी अस्थिरता रही। सरकार आज कोई नई रेल लाइन खरीदती थी तो कल अपनी निजकी लाइन किसी कम्पनीके हाथ बेचती थी; परसों अपनी लाइनका प्रबन्ध गैरसरकारी कम्पनीके हाथ सौंपती थी और फिर चौथे दिन किसी कम्पनीकी रेल लाइनके प्रबन्धका पट्टा लेती थी। बारह वर्षों तक यही अस्थिरता बनी रही; इसी बीचमें दो कमिटियां भी विचारके लिये पार्लिमेंटकी ओरसे बैठाई गयीं। अन्तमें यही निश्चय ठहरा कि भारतवर्षमें सरकारी और गैरसरकारी दोनों प्रकारकी रेल लाइनोंको यथेष्ट स्थान है।

रेलकी तीसरी या वर्त्तमान अवस्थाका वर्णन करते हुए १९०७ में मैंके कमिटीने कहा था कि आजकल सरकारका यही सिद्धान्त है कि सरकार रेल लाइनोंको तो खरीदे, पर उसका प्रबन्ध गैर सरकारी कम्पनियोंको दे देवे। ये कम्पनियां प्रबन्ध करती रहेंगी और बदलेमें सरकार और कम्पनी दोनों आपसमें नफा बांट लिया करेंगी। सरकार इस नीतिको अभी बदलना नहीं चाहती। अब सरकार निजकी लाइन नहीं खोलती, पर गैर सरकारी कम्पनियोंको मुफ्त जमीन, या लकड़ी, या ईंधन या कुछ नकद रुपयोंकी सहायता दिया करती है। सारांश यह कि सरकारने शुरूमें गैर सरकारी कम्पनियोंको रेल खोलने और

प्रवन्ध करने दिया, फिर कुछ दिनों तक सरकारी और गैर सरकारी रेलोंका जमाना रहा, अन्तमें सरकारी रेलका गैर सर-कारी प्रवन्ध या गैर सरकारी रेल तथा गैर सरकारी प्रवन्ध पर अन्तिम सिद्धान्त स्थिर हुआ।

सरकारका रेलोंसे वर्त्तमान सम्बन्ध—आजकल दो प्रकारकी 'गरांटी' कम्पनियां है, एक तो वे जो १८६६ तक खुल चुकी थीं, और दूसरी जो १८८० के बाद खुली थीं। पहलीकी अपेक्षा दूसरीके शर्त्तनामे अधिक लाभ दायक हैं। भारत सरकार को ७३०८ मील रेलोंके अलावा जो उसकी निजकी सम्पत्ति है और जिनका वह स्वयं प्रवन्ध भी करती है, १६१०७ मील रेल और है जो सरकारकी सम्पत्ति तो है पर उसका प्रवन्ध ऊपर लिखे गये दोनों प्रकारकी कम्पनियोंके हाथ है। ये लाइनें सरकारको हैं, उनमें अधिकांश पूंजी भी सरकारकी ही है। जब और अधिक पूंजीकी जरूरत होती है तो सरकार खुद अपनी पूंजी लगाती है या कम्पनियोंको लगानेके लिए कहती है। शर्त्तनामेंमें जो शरह कायम हुई उतना ही मुनाफा कम्पनियोंको मिला करता है, शेषका अधिकांश सरकार ही पाती है। इन शर्त्तनामोंकी मयाद भारत सचिवकी इच्छानुसार खतम हो सकती है।

कम्पनियोंके प्रवन्धमें सरकार नीचे लिखे अनुसार हस्तक्षेप करती है:—

कम्पनियोंको रेल लाइन अच्छी हालतमें रखना होगा; काफी इञ्जिन डब्बे वगैरह मौजूद रहेंगे, यथेष्ट कर्मचारी रखने होंगे।

सर्व साधारणकी सुविधाके लिये या रेल लाइनके सुप्रबन्धके लिये भारत सचिव जिन सुधारोंके लिये कहेंगे, करना होगा।

कब कितनी माल और मुसाफिर गाड़ियां चलेंगी इसकी अनुमति भारतसचिव देंगे। कमसे कम और अधिकसे अधिक कितना महसूल बैठाया जा सकता है इसका भी निश्चय भारत सचिव करेंगे। कम्पनियोंके हिसाबकी जांच सरकारी निरीक्षक करेंगे।

कम्पनीकी लाइनकी जांच सरकारकी ओरसे हुआ करेगी।

कम्पनी जो खर्च करेगी उसकी मंजूरी सरकारसे लेनी पड़ेगी।

इनके अलावा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, देशी राज्योंकी भी रेल लाइनें हैं। दो—बंगाल नार्थ वेस्टर्न और रुहेलखंड कुमाऊं—गैर सरकारी लाइनें भी हैं। इन सबपर सरकारी निरीक्षण है। १९३२ में इन्हें सरकार चाहे तो खरीद सकती है।

रेलमें लगी हुई पूंजी इत्यादि—सन १९१८-१९ में कुल ३६६१६ मील * रेल भारतवर्षमें फैली हुई थी, इसमेंसे २६४१५ मील रेल सरकारकी और शेष गैर-सरकारी कम्पनियों, डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों, और देशी राज्यों की थी। सरकारी रेलमें से ७३०८ मील रेलका प्रबन्ध स्वयं सरकार करती थी, और शेषके प्रबन्ध-

*सन् १९१८-१९ में कुल ३६६१६ मील रेल खुली हुई थी और २०९८ मील रेल बन रही थी। कुल पूंजीका ५५९'७४ करोड़ रुपया तो खुली हुई रेल लाइनोंमें खर्च हो चुका था, ४'८७ करोड़ रुपया उस साल बननेवाली रेलोंमें खर्च हो रहा था और ५९ लाख रुपया खुदरा खर्च हुआ था।

का ठेका गैर सरकारी कम्पनियोंको दिया गया था। यहां की रेल-लाइनोंकी चौड़ाई चार प्रकारकी है—कुछ तो ५॥ फीट, कुछ ३ फीट ३$\frac{3}{8}$ इञ्च, कुछ २॥ फीट और कुछ २ फीट चौड़ी हैं। १९१८-१९तक सरकारी, गैरसरकारी रेलोंके खोलनेमें सब तरहसे ५५५'२२ करोड़ रु० लगाना पड़ा था। सिर्फ गैर सरकारी लाइनों, ब्राञ्च लाइनों, डिस्ट्रिक्टबोर्ड या देशी राज्योंकी लाइनोंमें ६९ करोड़ रुपयेकी पूंजी लगी हुई थी। उस साल सरकारी रेलोंने कुल ७६। करोड़ तथा गैर सरकारी रेलोंने ९'९३ करोड़ रुपया कमाया, जिसमें से क्रमशः ३७ करोड़ और ४'९७ करोड़ रुपयोंका खर्च बाद देकर ३९'१ करोड़ और ४'९५ करोड़ रुपयोंकी आय हुई। सरकारी रेलोंके लिये लिये गये कर्ज वगैरहका सूद तथा दूसरा खर्च बाद देकर भी सरकारको रेलोंसे १६'२८ करोड़ रुपयोंकी आमदनी हुई। इधर १९०० ई० से ही सरकारको रेलोंसे लाभ होने लगा है; नहीं तो बराबर घाटा ही रहा। १८५० से १९१० तक सब तरहसे कोई ४१ करोड़ रुपयोंका नुकसान रहा। पर इधर कुछ दिनोंसे अच्छा लाभ होने लगा है; हिसाबसे पता चलता है कि १९१५-१६ तक यह घाटा बिल्कुल पूरा हो गया था।

रेलवे नीति—सरकारकी रेलवे नीतिकी समय समय पर आलोचना होती रही है। विदेशी व्यवसायी तथा देशी नेता दोनोंने सरकारकी नीतिपर आक्षेप किये हैं। विदेशी वणिकोंका कहना है कि सरकार रेलोंमें यथेष्ट रुपये नहीं लगाती,

जितनी चाहिए उतनी रेल लाइनें नहीं खोली जातीं। इधर देशी नेताओंका कहना है कि इतनी जल्दी न की जावे, धीरे धीरे लाइनें बढ़ाई जावें। कुछ दिनोंसे देशी नेताओंने एक और बात पर जोर देना शुरू कर दिया है। उन्होंने बड़े लाटकी कौन्सिलमें भी इस विषयपर दोबार (१६१४ और १६१५ में) प्रस्ताव उपस्थित किये हैं। इनका कहना है कि सरकारी रेल लाइनोंके प्रबन्धका जो ठेका विलायती कम्पनियोंको दिया गया है उससे देशको हानि पहुंच रही है। उचित है कि ज्यों ज्यों पट्टा पूरा होता जाय त्यों त्यों रेलोंका प्रबन्ध सरकार अपने हाथमें लेती जाय। भारत-सचिवने अब प्रस्ताव किया है कि लड़ाई खतम होनेके बाद जितना जल्द हो सकेगा एक कमिटी द्वारा इन प्रश्नों पर विचार किया जायगा। १६२०-२१ में ऐसी कमिटी बैठनेवाली है।

रेलवेके बिना आजकल किसी भी देशका काम नहीं चल सकता, यह सभ्य देशोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। व्यवसाय वाणिज्यकी वृद्धि करने, विद्या, एकता और जातीयताका प्रचार करनेके लिये सरकारको उचित है कि स्वयं रेल खोले। अमरिका, योरप दोनों महादेशोंमें बहुधा राष्ट्रकी ओरसे ही रेल खोली जाती है। जहां सरकार ऐसा नहीं करती है वहां गैर सरकारी कम्पनियोंको विविध रूपसे सहायता देकर रेल खुलवाती है। इस सहायताका रूप और परिमाण देशकी आर्थिक अवस्था पर निर्भर करता है। यदि रेलोंके अधिक प्रचारसे देशी धन्धोंके फैलनेमें बाधा पहुंचती हो तो उनका वैसा प्रचार रोका जाता है।

अथवा यदि देशकी आर्थिक अवस्था ही अच्छी नहीं है तो सहायता कहांसे दी जायगी! जैसा कि पं० मदनमोहन मालवीय जीने औद्योगिक कमिशनकी रिपोर्टमें लाट डलहौसीके लिखे मन्तव्योंके अवतरणसे सिद्ध किया है। भारतमें रेलोंका प्रचार विशेषकर वाणिज्य व्यापारकी वृद्धिके लिये ही हुआ था। और जैसा कि औद्योगिक कमिशनने अपनी रिपोर्टमें स्वीकार किया है, फल भी वैसा ही हुआ है। इस रेलवे-नीतिने भारतवर्षके कच्चे मालकी रफ्तनी और विदेशी तैयार मालकी आमदको बढ़ानेमें बड़ी सहायता पहुंचायी है। पर देशके नये धन्धोंको वैसा लाभ नहीं पहुंचा है। यह सब देख सुनकर सर दिनशा वाचा और गोपालकृष्ण गोखलेने रेल बढ़ानेमें इस तरह रुपया खर्च करनेका विरोध किया था। १६०० तक रेलोंमें लगी पूंजीसे नफेके बदले घाटा ही रहा करता था, पर तोभी नई रेल खुलती ही रहती थी। कहा जाता था कि बीस हजार मील रेलवे हो जानेपर दुर्भिक्षका भय कम हो जायगा। जब इतनी रेल खुल चुकी तो फिर और अधिककी मांग होने लगी। कभी कभी भारत सरकारने इस तरह रेलोंमें कर्ज लेकर पूंजी लगानेका विरोध भी किया, पर उसे भारतसचिवकी आज्ञासे रेल बढ़ानी ही पड़ी। देशी नेता कहते ही रह गये कि नहरोंमें अधिक रुपये खर्च हों, अथवा अन्य आवश्यकीय कामोंमें रुपये लगाये जायं पर हुआ कुछ भी नहीं, रेलोंमें अधिक धन व्यय होता ही गया। इसमें न भारत सरकारकी ही बात रखी

गयी, न देशी नेताओंकी। हां, विलायती व्यवसायियोंकी बात अलबत्ता रही।

रेलोंमें जो पूंजी लगाई जाती है उसके लिये या तो विलायतमें कर्ज लेना पड़ता है या हिन्दुस्तानमें। दो और उपाय हैं:— सरकारी आयकी सालाना बचतसे अथवा 'गोल्ड स्टैंडर्ड रिजर्व' से। सालाना बचत या 'रिजर्व' को रेलमें लगाना कभी उचित नहीं है। जब कर्ज ही लेना है तो देशी महाजनोंसे ही लेना चाहिये, इसमें यदि कुछ अधिक सूद भी देना पड़े तो वैसा नुकसान नहीं है; विदेशी महाजनोंको जो सूद भेजना पड़ता है वह तो देशसे बाहर चला जाता है, देशी महाजनोंको दिया गया सूद देशमें ही रह जाता है।

रेलोंके सम्बन्धमें एक और महत्त्वकी बात पर विचार करना है। रेल, राष्ट्रकी सम्पत्ति हो या साधारण कम्पनियों की? लड़ाईके पहले तक इस विषयमें मतभेद था। फ्रान्स, प्रुशिया, स्विटजरलैंड, बेलजियम इत्यादि देशोंमें रेल राष्ट्रकी सम्पत्ति मानी जाती थी। अब जापानने भी इसे स्वीकार किया है। इस लड़ाईके अनुभवने इंगलैंड और संयुक्तराज्य-अमरिकाके सिद्धान्तोंको भी बदल दिया है। यहां भी रेलों पर राष्ट्रके अधिकार बढ़ानेकी चर्चा हो रही है। विलायतके मन्त्री चर्चिलने तो सूचना दी है कि अब रेलोंको सरकार खरीद लेगी।* पर

* Mr. Harold Cox in the Sunday Times, quoted by the Statesman Jan, 15, 19.19

भारतकी बात इन सबसे निराली है। यहांकी रेलोंमें प्रायः सरकारी पूंजी ही लगी हुई है; ३६'६ हजार मीलमें से प्रायः २६ हजार मील रेल तो सरकारकी है; शेषमें से कुछ डिस्ट्रिक्ट बोर्डों और देशी राज्योंकी है। खास कम्पनीकी रेलें बहुत कम हैं। यहां तो रेलों पर सरकारी अधिकार है ही। पर अधिकार रहते हुए भी इनका प्रबन्ध कम्पनियोंके हाथ है, उनको ही इनके प्रबन्धका ठेका दिया गया है। २६ हजार मील सरकारी रेलमें से १८॥० हजार मीलका प्रबन्ध कम्पनियां करती हैं और केवल सवासात हजारका सरकार। इस प्रबन्धको बदलनेके लिये ही बड़े लाटकी कौन्सिलमें दो बार प्रस्ताव किये जा चुके हैं। कहा गया है कि कम्पनीके हाथ रेल रहनेसे देशको हानि पहुंचती है, उसके बदलेमें सरकारको ही प्रबन्ध करना चाहिए। अभी उस दिन 'पायनियर' ने लिखा था कि अनुमान किया जाता है कि पट्टा पूरा होने पर ये लाइनें सरकारके प्रबन्धमें चली जायंगी। कमसे कम इन कम्पनियोंका आफिस तो विलायतसे उठकर हिन्दुस्तान अवश्य चला आयगा।

वर्त्तमान व्यवस्थासे हानि*—जैसा कि लिखा जा चुका है इन रेलोंमें सरकारी पूंजी लगाई गई है। इसके लिये कर्ज लेना पड़ा है जिसका सूद हरसाल बाहर भेजना पड़ता है। अब इन रेलोंका प्रबन्ध भी विदेशी कम्पनियोंको दे देनेके कारण प्रायः

Speeches of Sir Ibrahim Rahimatoola and Pt. M. M. Malaviya in the Imperial Legislative Council, March 24, 15.

एक करोड़ रुपयोंका सालाना मुनाफा भी बाहर भेजना पड़ता है। यदि सरकार ही इन रेलोंका प्रबन्ध करती तो यह धन उसे ही मिल जाता। ये रुपये शासनकार्य शिक्षाप्रचार अथवा देश सुधारमें खर्च हो सकते थे। यदि रेलोंका प्रबन्ध सरकारके हाथ रहेगा तो वह देशभरके व्यापार और धन्धोंकी उन्नतिका यत्न करेगी। पर कम्पनियां ऐसा नहीं कर सकतीं। उनकी सदा यही चेष्टा रहती है कि किस तरह एक कम्पनी दूसरी कम्पनीकी अपेक्षा अधिक धन कमाये। प्रत्येक कम्पनी, कहीं भाड़ा कम करके, कहीं बढ़ा कर, कहीं प्रलोभन देकर सब काम अपनी ओर ही खींचनेका प्रयत्न करती रहती है। भाड़ा कम करनेकी जरूरत है या नहीं, भाड़ा कम करनेसे विदेशी खरीदारोंको तो लाभ हो सकता है, पर साथ ही देशी धन्धोंको भी नुकसान पहुंच सकता है इसका विचार वे नहीं करतीं। कम्पनियोंको सिर्फ अधिक माल ढोने और अधिक लाभ करनेका ही ख्याल बना रहता है। इस काममें जहाज कम्पनियोंने भी रेल कम्पनियोंका साथ दिया है। वे भी विदेश जानेवाले कच्चे माल और बाहरसे आनेवाले तैयार मालपर रेलोंकी तरह, भाड़ा कम रखती हैं। जो रेल कम्पनी जहाज कम्पनीके साथ ऐसा बन्दोबस्त कर सकती है उसीकी लाइनसे अधिक माल या तो बन्दरगाहोंकी तरफ जहाजोंके लिये रवाना होता रहता है या जहाजोंका विदेशी माल व्यवहार होनेके लिये देशमें आता रहता है। ऐसे बन्दोबस्तोंका फल यह हुआ है बन्दरगाहोंसे बाहर

जानेवाले माल पर अथवा बाहरसे आनेवाले विदेशी मालपर भाड़ा बहुत कम रखा गया है, इसी कारण देशका सब माल बन्दरगाहोंकी ओर ही दौड़ता रहता है। यदि उस कच्चे मालको आप बाहर न जाने देकर देशी कारखानोंमें ले जाना चाहें तो बहुत ज्यादा भाड़ा देना पड़ेगा। इन कम्पनियोंके कारण देशी कच्चे मालकी रफ्तनी बेहद्द बढ़ गयी है; इधर तो माल विदेश चले जा रहे हैं और उधर देशी कारखानोंको माल ही नहीं मिलते। उदाहरण स्वरूप चमड़ोंका व्यवसाय लीजिये। मान लीजिये कि पटना स्टेशनसे दो कम्पनियोंके पास—एक कलकत्तेमें और एक कानपुरमें—चमड़ा चलान किया जा रहा है। क्योंकि कलकत्तेवाली कम्पनी विदेश योरप (हैम्बर्ग) को चमड़े भेजती है इस लिये कलकत्तेके चलानपर जिस दरसे भाड़ा देना पड़ेगा कानपुरपर उसकी दूनी दर लगेगी। ऐसी हालतमें चमड़े कलकत्तेसे हैम्बर्ग जायंगे या कानपुरके देशी कारखानोंमें? लाला हरकिशन लालाने बांकीपुरवाली वक्तृतामें कहा था कि कम्पनियोंकी इस नीतिके कारण मुझे जब पंजाबसे सूरत रूई भेजनेका मौका लगता था तब मैं उसे पहले सीधा बम्बई रवाना करता था। फिर बम्बईसे लौटा कर माल सूरत पहुंचाता था। और इतना करने पर भी भाड़ा अधिक नहीं पड़ता था, क्योंकि पंजाबसे सूरतका किराया बम्बईके किरायेसे कहीं अधिक था। कच्चे मालकी रफ्तनीको जैसी सहायता दी जाती है वैसी सहायता तैयार मालको रफ्तनीको नहीं मिलती। यदि आप तेलहन विदेश

भेजना चाहें तो सस्तेमें भेज सकेंगे, पर तेल भेजनेके लिये बहुत ज्यादा भाड़ा देना पड़ेगा। ऐसी अवस्थामें तेलका रोजगार क्योंकर बढ़ सकता है? इस प्रभेदको देखकर औद्योगिक कमीशनने राय दी है कि रेल कम्पनियोंको उचित है कि भाड़ोंका निर्ख बराबर ही रखें चाहे माल विदेश जाते हों या देशमें खर्च होते हों।

फिर मान लीजिये कि आपके पास बहुत सी तीसी है जिसे आप विदेश भेजना चाहते हैं। आपके यहांसे बम्बईका बन्दर ही नजदीक पड़ता है इसलिये आप वहीं माल भेजना चाहेंगे। परन्तु बम्बई जानेके लिये आपका माल कुछ दूर तक ईस्ट इण्डियन रेलवे और शेष जी० आई० पी० रेलवेकी लाइनोंसे होता हुआ जायगा। दोनों लाइनें यद्यपि सरकारी हैं तथापि पृथक् पृथक् कम्पनियोंके प्रबन्धमें हैं। ईस्ट इण्डियन कम्पनी चाहती है कि कुल माल उसकी गाड़ियोंपर ही लदे और वे बम्बईकी ओर न जाकर कलकत्ते जाया करें। इसलिये यदि आप माल कलकत्ते भेजना चाहें तो रेल कम्पनी कम भाड़ा लेगी। पर यदि उसे बम्बई भेजना चाहेंगे तो वह यथा सम्भव बाधा डालेगी। बम्बई जानेके लिये ईस्ट इंण्डिया कम्पनीकी गाड़ियोंपर जितनी दूरतक चलना अनिवार्य है सिर्फ उतनी ही दूरके लिये कम्पनी इतना अधिक भाड़ा वसूल कर लेगी कि लाचारीसे आपको या तो नफेसे हाथ धोना पड़ेगा या समीपस्थ बम्बईका मोह छोड़ना पड़ेगा। यदि सब लाइनें सरकारके प्रबन्धमें होतीं तो ऐसा न होता।

विदेशसे आनेवाले मालको ढोनेके लिये भी कम्पनियोंके

बीच चढ़ा ऊपरी रहा करती है। माल हमारे ही बन्दरगाहमें उतरे और हमारी लाइनोंसे हो कर ही प्रान्तोंके बाजारोंमें फैले। इसके लिये कम्पनियां सस्तीसे सस्ता भाड़ा लेती हैं। जिसने सबसे कम भाड़ा लिया उसके बन्दरगाहमें ही जहाजसे माल उतारे गये। इस घुड़दौड़में देशी व्यवसायोंका ही दिवाला होता है, विदेशी मालवाले तो सस्ते भाड़ेसे लाभ ही उठाते हैं। देखिये जबसे रेल कम्पनियोंने आपसमें झगड़ कर चीनीका भाड़ा कम कर दिया तबसे विदेशी चीनीकी आमद भी बहुत बढ़ गई है तथा साथ ही देशी खांडका व्यवसाय कम होता गया है।

जो कम्पनियां देशी रेलोंका प्रबन्ध कर रही हैं उन सबका स्वार्थ अलग है; प्रबन्ध पृथक् है। इसलिये सब कोई अपना निजका लाभ देखती हैं, देशके लाभपर ध्यान नहीं दे सकतीं। कलकत्तेसे बम्बई जानेके लिये नागपुरका रास्ता नजदीक पड़ता है, पर अधिक व्यापार ईस्ट इण्डियन रेलवे ही खींचती रहती है, यद्यपि उसकी दूरी अधिक है। उसी तरह कलकत्तेसे उत्तर-भारत और पंजाब जानेके लिये अवध रुहेलखण्ड रेल ही सुगम है। पर तोभी सब व्यवसाय ईस्ट इण्डियन रेलसे ही हुआ करता है। घुमावके रास्तेसे माल ले जानेमें अधिक समय लगता है, रुपया खर्च होता है, रेलके डब्बे अधिक घिसते हैं, एक लाइन पर तो कामकी भीड़ रहती है और दूसरीमें काम ही नहीं इत्यादि असुविधाओंके रहते हुए भी सब काम जबरदस्त कम्पनीके हाथमें ही रह जाता है, दूसरी कम्पनी मुंह ताकती रहती हैं।

और तिस पर भी सब रेल सरकारी हैं, कम्पनियां ठेकेदार मात्र हैं?

सरकार हर साल बहुत सा धन लाइनोंकी उन्नतिमें, नये नये इञ्जिन, डब्बे खरीदनेमें खर्च करती है। इतनेपर भी व्यापारियोंकी शिकायत बनी ही रहती है; डब्बोंके लिये पुकार होती रहती है। परन्तु सचमुचमें डब्बोंकी जितनी कमी है उससे कहीं अधिक प्रबन्धकी कमी है। अब देखिये कि ईस्ट इण्डियन रेलवेके इलाकेमें कोयले की खाने हैं। इसलिये इसने ही कोयला ढोनेका पूरा अधिकार ले रखा है। पंजाबवालोंको विहारका कोयला मंगानेमें मुगलसराय सहारनपुरकी राह सीधी पड़ती है, पर ईस्ट इण्डियन रेलवे वैसा नहीं होने देती। सब कोयला गाजियाबाद अम्बाले होकर ही जाता है जिससे सफर लम्बा हो जाता है। डब्बे अधिक दिनोंतक फंसे रह जाते है, ज्यादा दूर चलनेसे घिसते भी अधिक हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि जब पञ्जाबसे कोयला पहुंचा कर ये डब्बे पूरब लौटते हैं तो खाली लौटते हैं। ठीक उसी समय अवध रुहेलखण्डके डब्बे भी कलकत्तेसे गल्ला पहुंचा कर खाली खाली पच्छिमको लौटते रहते हैं। यदि दोनों लाइनें एक प्रबन्धमें होतीं तो दोनों तरफसे डब्बोंके खाली लौटनेका मौका न लगता; डब्बे व्यर्थ घिसने नहीं पाते। लोगोंने सलाह दी है कि एक सरकारी विभाग द्वारा डब्बोंका प्रबन्ध किया जाय। अभी उस दिन रेलवे कान्फरेन्सके सभापतिने भी इन डब्बोंके एकत्रीकरण और केन्द्रीयशासनकी सलाह दी थी।

सैकड़े नब्बेसे भी अधिक मुसाफिर तीसरे दर्जेमें सफर करते हैं; उनसे ही अधिक आय भी है पर तोभी कम्पनियां इन मुसाफिरोंका ख्याल नहीं करती। कम्पनियोंका प्रधान आफिस विलायतमें है, वहां तक हम लोगोंकी पुकार पहुंच ही नहीं सकती। कम्पनियां यद्यपि हिन्दुस्तानमें रेल चलाती हैं तथापि ऊंची पदवियोंपर देशी सज्जनोंको बहुत ही कम रखती हैं। इन कारणोंसे भी कम्पनियोंके हाथसे प्रबन्ध ले लेनेकी सलाह दी जा रही है। भारत सरकारके रेलवे बोर्डका रेल कम्पनियोंपर बहुत कुछ अधिकार है सही, पर वह यथेष्ट नहीं है। कम्पनियां विलायतमें ही भारत सचिव द्वारा बहुत सा काम करा लिया करती हैं। इन सब बातोंका विचार करते हुए देशी नेताओंने तथा सर गिलफर्ड मोलेसवर्थ जैसे सहृदय अङ्गरेज महानुभावोंने सलाह दी है कि रेलोंका प्रबन्ध सरकार द्वारा होना ही अच्छा है।

रेलोंके सम्बन्धमें और भी दो एक बातें विचारने योग्य हैं। पहले पहल जब रेल खुली तो बड़े बड़े शहरों और व्यापारकी मण्डियोंसे होती हुई गयी। पर इन मण्डियोंमें माल कहांसे आयेंगे, अथवा यहांके माल भीतर देहातोंमें किस तरह फैलेंगे इस पर ध्यान नहीं दिया गया। सड़क और नदी दोनों ही इस उन्नतिकी दौड़में पीछे रह गयीं। रेलोंके साथ साथ उनकी उन्नति नहीं हुई। इसीसे रेलोंसे भी यथेष्ट लाभ नहीं पहुंचा। तब धीरे धीरे कम्पनियों अथवा डिस्ट्रिक्ट-बोर्डोंकी सहायतासे 'ब्रांच लाइन' खोलनेकी चाल निकली। पर अबतक उसकी पूरी

उन्नति नहीं हुई है, क्योंकि बड़ी लाइनोंसे ब्रांच लाइनोंका प्रायः विरोध हो जाया करता है। इस विरोधको दूर करने तथा जगह जगह पर शाखा रेल खोलनेकी बड़ी आवश्यकता है। ऐसा करनेसे सुविधा पाकर स्थान स्थानपर नये धन्धे खड़े हो सकेंगे; फिर सब धन्धोंको बम्बई, कलकत्ते जैसे घने शहरोंमें ही इकट्ठा करनेकी जरूरत नहीं रहेगी। देशमें जो छोटी बड़ी कई किस्मकी लाइनें हैं उस असामञ्जस्यको भी धीरे धीरे दूर कर देना चाहिये। इस पार्थक्यसे व्यापारको बड़ा धक्का पहुंचता है। जब देशमें रेल खोलनेका विचार किया गया था तब रेलके सामान बनानेका भी प्रबन्ध करना मुनासिब था। पर ऐसा नहीं कर इङ्गलैण्ड स्काटलैंडसे ही सामान आते रहे। लड़ाईके समयमें विलायती माल बन्द हो जानेसे बड़ा कष्ट हुआ था। इस समय ताता कम्पनीने रेलका सामान बना कर बड़ी सहायता पहुंचायी। उचित है कि धीरे धीरे सब सामान देशमें ही बनाये जायं। रेलके डब्बे बनानेके लिये एक कम्पनी खुल गयी है। भविष्यमें हमारी रेलोंको बड़े महत्वका काम करना पड़ेगा। बसरा मसोपोटामियाकी रेल जल्द खुल जायगी, डिबरू-सैदिया होते हुए चीनकी रेलसे हमारा सम्बन्ध हो जाना असम्भव नहीं है। उस हालतमें स्थल मार्गसे ही योरप और एशियाके बीच बहुत सा व्यापार होने लगेगा। उस व्यापारका केन्द्र भारतवर्ष ही होगा। हम लोगोंको अभीसे इसके लिये तैयार रहना चाहिये। १९१९-२० के बजटके अनुसार नयी रेल लाइन खोलने,

पुरानी लाइनोंकी तरक्की करने, नये डब्बे, इञ्जिन खरीदनेमें कुल २'४२ करोड़ पाउण्ड खर्च किया जायगा।

जलमार्ग—जलमार्गसे व्यापार करनेकी चाल सबसे पुरानी और सस्ती है। नाव डोंगियोंपर बैठ कर छोटी नदियोंके किनारे व्यापार करते करते लोगोंने समुद्र पार करनेका साहस प्राप्त किया, तब तो बड़े जहाज दूर दूरका सफर करने लगे। आजकलका अन्तर्जातिक व्यापार जहाज द्वारा ही होता है। योरप, अमेरिकाका विश्वव्यापी व्यापार जहाजोंसे ही चलता है। जो देश जितने अधिक जहाज रखता है उसका व्यापार भी उतना ही अधिक है। आजतक संसारके व्यापारमें इंगलैंडका ही पहला स्थान रहा है, इसका कारण उसकी नौ-शक्ति है। जबसे जर्मनी, अमरिका और जापानने अपनी नौ-शक्ति बढ़ाई है तबसे उनका व्यापार भी बढ़ा है। यदि जापानकी दो कम्पनियां निजके जहाजों पर माल न ढोती होतीं तो इस समय जापान और भारतवर्षका व्यापार इतना बड़ा कभी नहीं हो सकता। जहां लड़ाईके पहले कुल १३० जापानी जहाज भारतवर्षसे व्यापार करते थे वहां १९१८-१९ में ६२६ जापानी जहाज आये और गये।

किसी समय भारतवर्ष भी समुद्री व्यापार अपने जहाजों पर ही करता था; ईस्ट इंडिया कम्पनीके जमानेमें भी हिन्दुस्तानके बने जहाज योरप तक जाया करते थे। पर अब तो कुछ नहीं है, पुराने जमानेकी स्मृति भर रह गयी है। हां, कुछ हिन्दुस्तानी 'लश्कर' जहाजों पर काम करते हैं। इस समय

प्रायः सभी सभ्य देश अपने जहाजसे भारतसे व्यापार करते हैं। अपने देशकी चीजोंको यहां पहुंचाना और भारतकी चीजोंको अपने यहां ले जाना यही उन जहाजोंका काम है। नई कम्पनियोंके लिये पुरानी कम्पनियोंका सामना करना कठिन है, यह देख कर प्रत्येक देशकी सरकार अपनी २ कम्पनियोंको आर्थिक सहायता देती है। इस झगड़ेमें जहाजके भाड़े कम किये जाते हैं। भारतवर्षमें अपने जहाज नहीं हैं इस कारण चीन इत्यादि पूर्वीय देशोंका व्यापार हाथसे निकलता जा रहा है। जहां हम लोगोंको संघाईका १२ रुपया भाड़ा देना पड़ता है वहां जापानी लोग भारतवर्षसे जापान तकका सिर्फ ८॥ रुपया ही भाड़ा खर्च करते हैं।

अब यह निश्चय है कि भविष्यमें भारतवर्षके उद्योगधन्धे खूब बढ़ेंगे; उसे आफ्रिका, मेसोपोटामिया, ईरान इत्यादि देशोंके साथ व्यापार बढ़ानेका बहुत बड़ा अवसर मिलेगा। इसके लिये हम लोगोंको जहाजोंकी बड़ी आवश्यकता होगी, इनके बिना किसी प्रकार व्यापार बढ़ नहीं सकता। देशमें भी समुद्रके किनारे किनारे व्यापार बढ़ानेके लिये जहाजोंकी जरूरत है। इसके लिये दो चीजोंकी जरूरत है पहले तो देशमें जहाजोंका बनाना और दूसरे देशी युवकोंको जहाज चलानेकी विद्या सिखाना। म्युनिशन बोर्डने मेसोपोटामिया भेजनेके लिये कलकत्ता, रंगून, बम्बई, कराचीमें जहाज बनानेके अड्डे खोले थे, वहां बहुतसे अच्छे स्टीमर भी तैयार किये गये थे। आशा की जाती है

कि सरकार अब लड़ाई बन्द होनेपर भी एक स्थायी विभाग खोलकर देशमें जहाज बनानेका व्यवसाय बढ़ावेगी। ताता कम्पनीने भी जहाजके सामान बनानेकी अभिलाषा प्रकट की है। देशमें जहाज बनानेके द्रव्योंकी कमी नहीं है, केवल उद्योगकी आवश्यकता है। जहाजी शिक्षाकी उपयोगिता समय समय पर दिखाई जा रही है, पर बम्बईके मा० मुहम्मद युसुफ ईस्माईलके छोटेसे स्कूलको छोड़ अबतक कोई प्रबन्ध नहीं हुआ है। इस साल जहाजकी दो तीन नयी कम्पनियां देशी लोगोंने खोली हैं।

देशके भीतर भी बहुत सी बड़ी बड़ी नदियां हैं जिनपर बहुत सा व्यापार हुआ करता है। पर जबसे रेलें खुलने लगी है तबसे इन नदियोंकी अवनति हो रही है। रेलवालोंने सोच रखा है कि नदियोंसे व्यापारको कोई लाभ नहीं हो सकता, ये तो रेलके मार्गके कांटे हैं; इन्हें पुल बांध कर दूर कर देना चाहिये। और म्युनि-सिपलिटियोंने समझ रखा है कि नदियां क्या हैं मानों प्रकृतिकी बनायी नालियां हैं, शहरोंके गलीज़ और पैनालोंके पानी बहा ले जानेके लिये 'ड्रेन' हैं। अब तो नदियोंका व्यापार रेलोंपर चला गया है, नदियां छोड़ दी गयी हैं; मिट्टी भरते भरते इनकी राह भी खराब हो गयी। नदियोंकी गहराई कम होकर वे उथली हो गयीं, इसीसे बरसातके दिनोंमें प्रति वर्ष बंगाल बिहारमें जहां नदियां अधिक हैं,--बाढ़ें आती रहती हैं, जिनसे जान और माल-का बेहद नुकसान होता है, यह अवस्था बड़ी ही शोचनीय है। कई आदमियोंने औद्योगिक कमिशनके सामने इस उदासीनताका

विरोध किया था। उन्होंने बताया था कि आसाम-बंगाल रेल सिर्फ इसीलिये खोली गयी है कि जिसमें नदियोंका व्यापार रेलों पर चला जाय; परन्तु इतना होते हुए भी उस रेलसे नुकसान ही होता रहा है। रेलों और नदियोंके झगड़ोंको दूर करना नितान्त आवश्यक है, दोनोंको परस्पर मिलकर काम करना चाहिये। बंगाल, बिहार, उड़ीसा और युक्तप्रान्तके लिये एक संयुक्त विभागकी बड़ी आवश्यकता है जो नदियोंकी रक्षा करे, उनकी उन्नतिका प्रबन्ध करे, उनकी राह रुकने न दे तथा जिस तरह हो सके नदियोंके व्यापारको बढ़ावे। जहां जरूरत हो बड़ी बड़ी नहरें निकाल कर राह सीधी कर दी जाय। कुछ सज्जनोंने तो नदियोंमें बांध बांध कर (locks) उनकी उपयोगिता बढ़ानेकी सलाह दी है; कोई कोई नदियोंकी गहराई बढ़ानेकी भी सलाह देते हैं।

चौथा अध्याय

सिक्के बंक इत्यादि

सिक्केसे लाभ--भारतका आभ्यन्तरिक विनिमय सिक्के--नोट--हुंडी पुरजे--विदेशी व्यापारका भुगतान और करेन्सी कमिशन--बंक।

सिक्केसे लाभ--जैसा कि इस खण्डके आरम्भमें कहा गया है, सम्पत्तिकी सृष्टिके बाद ही उसके विनिमयकी आवश्यकता होती है। अब अगर चीजोंको चीजों हीसे बदलें तो कष्ट भी होगा और समय भी बहुत सा व्यर्थ जायगा। मान लीजिये कि आपके पास चावल है, पर जूतेका अभाव है। आप अपने चावलके बदलेमें जूता लेना चाहते हैं। आप ढूंढ़ कर एक मोचीके पास गये और उसे चावलके बदले जूता देनेको कहा। मान लें कि उसके पास आपके सौभाग्यसे, जूते मौजूद हैं जो आपको पसन्द भी आये, पर मोचीको इस समय चावलकी जरूरत नहीं, वह कपड़ा लेना चाहता है। तब आप क्या करेंगे? आप या तो चावल चाहनेवाले मोचीको ढूंढ़ निकालेंगे या चावल चाहनेवाले जुलाहेका पता लगायंगे। और तब कपड़ेके बदले फिर जूता लेंगे। देखिये सिर्फ जूतेके लिये आपको कहां कहां भटकना पड़ा, कितना परिश्रम करना पड़ा, कितना समय व्यर्थ

खोना पड़ा। पर यदि दुनियाकी सब चीजोंके मूल्यका एक 'दर्शक' कायम कर दिया जाय तो लेन देनमें कितना सुभीता हो। इसी मूल्य-दर्शनके लिये सिक्केकी सृष्टि हुई है। आपके चावलका मूल्य, मोचीके जूतेका मूल्य, जुलाहेके कपड़ेका मूल्य—इसी तरह दुनियाकी सारी चीजोंका मूल्य वही 'सिक्का' बताता है। सिक्का क्या है मानों पदार्थोंके मूल्यका 'सार्टिफिकेट' है। आपके एक मन चावलका मूल्य पांच रुपया, मोचीके एक जोड़े जूतेका मूल्य पांच रुपया और जुलाहेके एक थान कपड़ेका मूल्य पांच रुपया—अर्थात् ये पांच रुपये—ये पांच सिक्के बताते हैं कि वे एक मन चावल वा एक जोड़े जूते वा एक थान कपड़े या इसी तरहके मूल्यके अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंकी सनद हैं। जब सिक्का सारी दुनियांकी चीजोंकी सनद है तो फिर उसे लेनेसे कोई क्यों इन्कार करेगा? जिसे जिस चीज़की जरूरत होती है वह वही चीज़ इस सिक्केके बदलेमें पाता है। इसी लिये सब कोई इस सिक्केका इतना आदर करते हैं। अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि 'अदल-बदल' करनेकी तकलीफसे बचनेके लिए सिक्कोंकी जरूरत होती है। आसानीसे पदार्थोंका विनिमय होने लगनेसे वाणिज्य-व्यापारकी वृद्धि होती है। अतएव हर देश, हर जातिको इस सिक्केकी जरूरत पड़ती है।

सभ्य संसारने अनुभवसे स्थिर किया है कि सिक्केका काम चलानेके लिये—पदार्थोंका मूल्य दर्शाने, विनिमय साधनमें मध्यस्थ बननेके लिये—सोने, चांदी और तांबे ये तीनों धातु ही

उपयोगी हैं। आजकल इनके अतिरिक्त बड़ी बड़ी रकमोंकी खरीद्-विक्रीके लिये कागजका ही उपयोग होता है, क्योंकि कागज सस्ते पड़ते हैं, और सुगम भी होते हैं। तरह तरहके छोटे बड़े सिक्कोंके बनानेका काम राष्ट्र (सरकार) का है, क्योंकि उसकी बनाई चीज़को सब कोई सहजमें स्वीकार कर लेते हैं।

भारतका आभ्यन्तरिक विनिमय सिक्के—भारतवर्षमें बहुत पुराने जमानेसे चांदी, सोने और तांबेके सिक्के चलते आये हैं। पुरानेसे पुराने खंडहरोंको खोदनेपर भी सिक्के मिले हैं। पर पुराने जमानेमें मुश्किल यह थी कि देश छोटे छोटे राज्योंमें बंटा हुआ था, प्रत्येक राजा अपनी इच्छाके अनुसार ही सिक्के तैयार कराता है। इस कारण देशमें तरह तरहके सिक्के चलते थे। जब ईस्ट इंडिया कम्पनीका राज्य स्थापित हुआ था उस समय ९९४ किस्मके सोने चांदीके सिक्के हिन्दुस्तानमें चल रहे थे। इससे वाणिज्यको बड़ी हानि पहुंचती थी, एक जगहसे दूसरी जगह माल भेजनेमें वैसी ही दिक्कतें होती थीं जैसी कि आजकल एक तौल—एक बांटके न होनेके कारण होती है। यह सब देख कर कम्पनीने समूचे भारतवर्षके लिये एक सिक्का जारी किया। और वह सिक्का चांदीका था। चांदीके एक रुपयेकी दो अठन्नियां, या चार चवन्नियां, या आठ दुअन्नियां, या १६ एकन्नियां, या ३२ तांबेके डबल पैसे, या ६४ तांबेके पैसे, या १२८ अधेले, या १९२ पाइयां मिलती हैं। सरकारने चांदीके एक सिक्केका यही मूल्य निर्द्धारित किया है, और ये सब सिक्के

ही देशकी टकसालोंमें ढाले जाते हैं। यहां सोनेके सिक्के नहीं ढाले जाते थे, पर अब थोड़े दिनोंसे बम्बईकी टकसालमें सोनेके (मोहर) ढलने लगे हैं। अब डबल पैसे नहीं ढलते। १९०६ से तांबेके पैसे, अधेले और पाइयोंकी जगह ब्रोन्जके पैसे इत्यादि ढलने लगे हैं। १९०७ में पहले पहल निकलकी एकन्नी बनी; १९१८ में निकलकी दुअन्नी भी बनी है। अब तो निकलकी चवन्नी, अठन्नी भी ढलने लगी है।

इन सोने चांदी और निकल, ब्रौंजके सिक्कोंका चलन सम्पूर्ण ब्रिटिश भारतमें है। इनके सहारे सब प्रकारके व्यवहार हुआ करते हैं। सरकारी टैक्स वसूल करना हो या नौकर चाकरको वेतन देना हो अथवा बाजारमें चाहे जैसी चीज़ खरीदनी हो आप इन सिक्कोंकी सहायतासे खरीद सकते हैं। वाणिज्य-व्यापार उद्योगधन्धे सब इन सिक्कोंकी सहायतासे चलते हैं।

नोट—पर वाणिज्य व्यवसाय करते करते देखा गया कि सिर्फ सोने चांदीके सिक्कोंसे काम नहीं चलता। सोनेचांदीके सिक्कोंको ढालनेमें खर्च भी होता है, सोना चांदी खरीदनेमें धन देना पड़ता है। और फिर बड़ी बड़ी रकमोंको एक जगहसे दूसरी जगह भेजनेमें खर्च और जोखिम है। मान लें कि कलकत्तेके व्यापारीने कानपुरसे एक लाखका गल्ला मंगाया। अब अगर कुल एक लाख की रकम सोने या चांदीके सिक्कोंमें भेजनी पड़े तो उतने सिक्के चाहियें, सन्दूकमें बन्दकर कमसे कम रेल भाड़ा देकर कानपुर रवाना करना चाहिये। फिर इतना करने

पर भी जोखिम है, कहीं रेलमें चोरी न हो जाय। अब वहां कानपुर पहुंचनेपर सिक्कोंकी जांच परख होगी, खरे खोटे सिक्के पह-चानकर निकालने पड़ेंगे, इत्यादि—पर यदि कागजके सिक्के चलते हों, अगर कागजके नोट मिलें तो एक ही लिफाफेमें भरकर आप एक लाखकी रकम कानपुर रवाना कर सकेंगे। खर्च भी कम होगा और उतनी जोखिम भी न रहेगी। यह काम आजकल नोट, हुंडी, पुरजे, 'चेक, ड्राफ्ट' इत्यादिसे लिया जाता है। जिस देशमें व्यापार व्यवसायने जितनी उन्नति की है उस देशमें धातुओंके सिक्कोंका चलन उतना कम हो गया है, और साथ ही साथ कागजी सिक्कों या सिक्कोंका काम करनेवाली हुंडी इत्यादिका परिमाण भी उतना ही बढ़ गया है। सब काममें धातुके सिक्कोंका ही व्यावहार करते रहनेसे वे सिक्के घिस जाते हैं, इससे भी नुकसान होता है। इन सब कारणोंसे आजकल कागजी सिक्कोंका ही प्रचार बढ़ाया जा रहा है। भारतमें भी धीरे धीरे इसकी चाल बढ़ती जाती है।

कागजी सिक्कों—नोटोंका प्रचार या तो सरकार करती है या बङ्क। आजकल भारतमें सरकार ही कागजी नोटोंको निका-लती है। नियम है कि जितनी कीमतके नोट निकाले जायं उतनी कीमतके सोने चांदी, और कम्पनी कागज सरकारी खजाने (करेन्सी आफिस) में अवश्य मौजूद रहें। यदि ऐसा न किया जायगा तो नोटवालोंको बदलेमें रुपये कहांसे दिये जायंगे? और फिर यदि बदलेमें रुपये देनेको हमारी सरकार हर वक्त हर

समय तैयार न रहे तो नोट चलें क्योंकर ? ये नोट तो व्यापार व्यवसायकी सुविधाके लिये, रुपयोंको घिसनेसे बचानेके लिये तथा हमलोगोंमें कागजी रुपयोंकी आदत डालनेके लिये निकाले जाते हैं। कलकत्ता, कानपुर, लाहोर, मद्रास, बम्बई, कराची, रंगून—इन सात आफिसोंसे नोट चलाये जाते हैं और इन्हीं सात आफिसोंसे नोटके बदलेमें रुपया हर समय मिलता है। भारत वर्षमें जब नोटको जरूरत होती है तब नोटके हेड कमिश्नर भारत सचिवको सूचना देते हैं। वे 'बङ्क आफ इंगलैंड' के यहां नोट छपवाकर हिन्दुस्तान भेज देते हैं। इस समय एक, अढ़ाई, पांच, दस, पचास, सौ, पांच सौ, हजार, दस हजार रुपयोंके नोट प्रचलित हैं। बीस रुपयोंके नोट अब नहीं चलाये जाते। दिसम्बर, १६१७ से एक रुपयेवाले, तथा जनवरी, १६१८ से अढ़ाई रुपयेवाले नोट चलने लगे हैं। तीस जून, १६१८ तक पौने तीन करोड़ रुपयोंके एक रुपयेवाले नोट निकल चुके थे। सौ रुपयों तकके नोट सम्पूर्ण ब्रिटिश भारतमें बेरोक टोक चलते हैं, पर उससे अधिक मूल्यवाले नोट अपने अपने इलाकों भरमें ही बेरोक टोक चल सकते हैं।

यह कहा गया है कि सरकार प्रत्येक नोटके बदलेमें उसके मूल्यका रुपया देनेको सदा प्रस्तुत रहती है। इसलिये जब नोट चलाया जाता है तब उसी कीमतका सोना या चांदी करेन्सी आफिसके खजाने (करन्सी रिजर्व)में रख लिया जाता है। १८६२ में जब सरकारने पहले पहल नोट जारी किया तो नियम बनाया

कि नोटके बदलेमें चांदी सोने तथा अधिकसे अधिक चार करोड़ रुपयोंकी लागतके कम्पनी कागज रह सकेंगे। बहुत दिनों तक नोट विभागका यह 'रिजर्व' हिन्दुस्तानमें ही रहा और उसका अधिकांश चांदीमें ही रखा गया। क्योंकि यह रिजर्व हिन्दुस्तान-में चलनेवाले नोटोंके लिये था और यहां चांदीका ही अधिक व्यवहार होता रहा है। धीरे धीरे नोट विभागको काम करते हुए दो बातोंका अनुभव हुआ है। एक तो यह कि इस रिजर्व-में अधिक परिमाणमें कम्पनी कागज रखा जा सकता है तथा दूसरी यह कि इस रिजर्वका एक हिस्सा विलायतमें, भारत सचिवके पास भी रह सकता है। वे इसी धनसे चांदी खरीद कर भारतकी टकसालोंमें ढलनेके लिये भेजा करेंगे। ज्यों ज्यों प्रचलित नोटोंकी संख्या बढ़ती गयी है त्यों त्यों अमानतमें कम्पनी कागजका अंश भी बढ़ता गया है। ३१, मार्च १६१५ को अमा-नतका यह अंश १४ करोड़का था जिसमेंसे १० करोड़ हिन्दुस्तान में और ४ करोड़ विलायतमें कम्पनी कागजोंमें लगाया गया था, १६१३ वाले करेन्सी कमिशनकी रायके अनुसार ३१, मार्च १६१६ को इस अमानतमें २० करोड़के कम्पनी कागज थे, जिनका आधा हिन्दुस्तानमें और आधा विलायतमें था।

लड़ाईके जमानेसे इस अमानतमें कम्पनी कागजोंकी तादाद और भी बढ़ा दी गयी है। १६१८ के कानूनसे कुल ८६ करोड़ तकके कम्पनी कागज इस अमानतमें रखे जा सकते हैं, पर यह व्यवस्था सन्धि होनेके केवल ६ महीनों तक ही रहेगी। अमानत

में कम्पनी कागजके बढ़ जानेपर भी हिन्दुस्तानमें वही १० करोड़ के कागज रखे गये थे शेष कागज विलायतमें ही थे। इस विलायती अमानतके सोने या कागजसे हिन्दुस्तानी नोट विभागको वैसा कुछ लाभ नहीं हुआ। इसकी सहायतासे भारत सचिव बहुत कम चांदी खरीद सके। और अमानतके हिन्दुस्तानी विभागमें चांदीके बहुत कम हो जाने और नोटके बढ़ जानेके कारण कागजी नोटोंका मूल्य कम होने लगा, बाजारोंमें नोट भुनानेपर बट्टा लगने लगा। प्रचलित नोटोंकी संख्याका इस तरह बढ़ाना और साथ ही साथ अमानतमें चांदीका इतना कम कर देना कभी उचित नहीं है। साथ ही यह भी स्मरण रहे कि ये नोट हिन्दुस्तानमें चलते हैं, जिस समय ये भुनाये जायंगे उस समय इनके बदलेमें हिन्दुस्तानमें ही रुपया देना पड़ेगा, इस लिये नोट विभागकी अमानत की अगर कहीं जरूरत है तो हिन्दुस्तानमें, विलायतमें नहीं। विलायतमें सिर्फ वही अंश रह सकता है जो चांदी खरीदनेके लिये यथेष्ट है, अधिक नहीं। पर यथार्थमें, जैसा कि नीचे दिये नक़शोंसे स्पष्ट होगा, अवस्था ठीक उल्टी है, विलायतमें अमानतका आधेसे भी अधिक हिस्सा पड़ा हुआ है।

चलते हुए नोट

	मार्च, १९१४	मार्च, १९१८
कुल नोट करोड़ रु०	६६'११	९९'७९
सरकारी खजानोंमें अमानत नोट ,, ,,	९'९३	५'५१
शेष नोट जो बाजारमें जारी थे ,, ,,	५६'१८	९४'२८

टकसालोंमें ढले सिक्के

	१९१३-१४	१९१६-१७
रुपये—संख्या लाख	१२१३'६१	२९८९
अठन्नी ,, ,,	४५'४८	६०'७८
चवन्नी ,, ,,	२०६'३५	१३१'७८
दुअन्नी ,, ,,	२२२'०१	१९७'८७
जोड़ ,, ,,	१६८७'४५	३३७९'४३
निकलकी अन्नियां संख्या-लाख	४६३'२०	३९०'८७
कुलकी कीमत करोड़ रुपया	१३'४४६४	३१'०१५०.

नोट विभागकी अमानत (रिजर्व)

	हिन्दुस्तानमें		विलायतमें	
	मार्च १९१४	मार्च १९१८	मार्च १९१४	मार्च १९१८
सोना करोड़ रु०	२२'४३	२६'८५	९'१५	'६७
चांदी ,, ,,	२०'५३	१०'८०	×	×
कम्पनी कागज ,, ,,	१०'००	१०'००	४'००	५१'४८
	५२'९६	४७'६५	१३'१५	५२'१५

ऊपर दिये गये नक्शोंसे स्पष्ट होता है कि लड़ाईके जमानेमें वहुत से सिक्के ढालने पड़े थे। वाजारोंमें नोटकी चलती वढ़ रही है; इसमें १, ५ और १० के नोटोंने वड़ी लोकप्रियता प्राप्त की है। अक्टोबर, १९१७ में तो ११४ करोड़ रुपयोंसे भी अधिकके नोट हिन्दुस्तानमें मौजूद थे। इतनेके नोट अवतक कभी नहीं तैयार हुए थे। नोट विभागकी अमानतमें कम्पनी कागजका अंश वहुत कुछ वढ़ गया है; मार्च, १९१८ में प्रायः ६१॥० करोड़के कम्पनी कागज इस विभागमें मौजूद थे।

१६१८ के अस्थायी कानून बनानेके बाद भी अवस्था पूर्ववत् ही बनी रही, नये सिक्कोंकी मांग बढ़ती ही गयी। पर चांदीकी मंहगी और बहुत ही कम मिलनेके कारण नये सिक्कोंका ढालना अत्यन्त कठिन हो गया था। दुअन्नी, चवन्नी, अठन्नी निकलकी बनी, पर तो भी चांदीकी जरूरत बनी ही रही। तब प्रचलित नोटकी तादाद बढ़ानी पड़ी ; फिर इन नये नोटोंके बदले अमानतमें कम्पनी कागजकी तादाद भी बढ़ानी पड़ी क्योंकि सोना चांदीका मिलना कठिन था। मार्च, १६१६ के कानूनसे १०० करोड़ और सितम्बर, १६१६ के कानूनसे १२० करोड़ रुपयोंको कीमतके कम्पनी कागजोंको नोट (पेपर करेन्सी) विभागकी अमानतमें रखनेकी व्यवस्था की गयी।

इस समय सिक्कोंकी मांग बढ़नेके कई कारण हैं। इस विश्व-व्यापी समरमें लड़ाईके देशोंको लाखों करोड़ोंका रोजाना खर्च था, इतना खर्च शान्तिके दिनोंमें कभी नहीं होता था। इस खर्चके लिये इन सरकारोंकी ओरसे सिक्के और विशेप कर कागज ही चलाये जाते थे। इनके फिर समाजमें फैल जानेसे प्रचलित सिक्कों और नोटोंकी संख्या बढ़ गयी और इसी कारण वस्तुओं-का मूल्य भी बढ़ गया, एक ही वस्तुके विनिमयमें एककी जगह दो सिक्के दिये जाने लगे। इन्हीं कारणोंसे भारतमें भी मूल्य की वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त यहां और भी कई कारण हैं। लड़ाईके जमानेमें भारत सरकारने अपने लिये तथा ब्रिटिश सरकारके लिये लाखों करोड़ोंका सामान खरीदा था, यहांसे

बहुत सा गेहूं, चावल, चमड़ा, लोहा वगैरह सामान बाहर भेजा गया था। इसका मूल्य भारत सरकारने कुछ तो रुपये और नोटोंमें दिया और कुछ 'ट्रेजरी बिल' बेच कर जिनका ३, ६, ६, १२ महीनोंमें भुगतान होता था। समय पूरा होने पर इन बिलोंका भुगतान या तो रुपयोंमें हुआ, या फिर नया 'बिल' बेच कर किया गया। इस तरह सितम्बर, १६१६ में कोई ५० करोड़के 'ट्रेजरीबिल' भारतमें चल रहे थे। विलायत सरकारने भी जो माल खरीदा था उसका मूल्य भी कम्पनी कागज या 'ट्रेजरीबिल' में ही वसूल किया, क्योंकि उस समय सोना-चांदी का विदेश भेजना विलायत सरकारने कानून द्वारा बन्द कर दिया था। इसका फल यह हुआ कि विलायतमें भारत सचिवके पास तो इन कागजोंका ढेर लग गया और इधर भारत सरकार को दाम चुकाते चुकाते नाकों दम आ गया। भारत सरकारकी दिक्कतोंका यहीं अन्त न हुआ। यह तो मालूम ही है कि सरकारी मालके अतिरिक्त बहुत सा गैर सरकारी माल भी विदेश जाया करता है। इधर कितने दिनोंसे यहां मालकी आमदनीकी अपेक्षा रफ्तनी ही अधिक होती रही है। यदि मामूली समय होता तो फाजिल रफ्तनीके बदले सोना चांदी विदेशसे आ जाती पर यह तो आजकल हो नहीं रहा है। इस लिए जब विलायतके व्यापारियोंको मालका मूल्य भेजना रहता है तब वे लोग भारत सचिवके पास जाते हैं और उन्हें नकद मूल्य देकर 'कौन्सिल बिल' खरीदकर भारत भेज देते हैं। इन्ही 'बिलों' को दिखाकर

भारत सरकारके खजानोंसे यहांके व्यापारियोंको रुपया मिल जाता है। इसका भी यही फल होता है कि भारत सचिवके पास तो नकद माल जमता जाता है और इधर भारत सरकारकी दिक्कतें बढ़ती जाती है। इन्हीं कारणोंसे भारत सरकारको रुपयोंकी जरूरत हदसे ज्यादा हो रही है; सितम्बर, १६१६ में भारत सरकारके अर्थ सचिवने कहा था कि आजकल भारत सरकारको जितनी आमदनी होती है उससे कहीं २० करोड़ अधिकका खर्च रहता है। इस देनको चुकानेके लिये उन्हें 'ट्रेजरी बिल' वेचकर या प्रेसिडेन्सी बङ्कोंसे कर्ज लेकर काम चलाना पड़ता है। परन्तु इस प्रवन्धसे बहुत दिनों तक काम नहीं चल सकता; ३,६ या ६ महीनोंमें इन 'बिलों' का दाम चुकाना ही पड़ेगा, दरकार होनेपर प्रेसिडेन्सी बंकोंको रुपया लौटाना ही पड़ेगा। उत्तम प्रवन्ध तो तभी हो कि भारत सचिवके पास रखी हुई अमानतसे चांदी खरीदकर भारतकी टकसालोंमें रुपया ढाला जाय और सोना चांदीकी आमदनी बेरोक टोक कर दी जाय। पर बाजारमें चांदीका अकाल है और फिर कोई देश सोना चांदी बाहर नहीं जाने देना चाहता। बड़ी कोशिशोंसे अमरिकामें सोना खरीदा जा रहा है, पर वह भी यथेष्ट नहीं है और उसके पहुंचनेमें देर भी लगती है, पर यहां ट्रेजरी बिलों या अन्य मदोंका भुगतान तो रुक नहीं सकता, यही सब देख सुनकर भारतके अर्थ सचिवने (१६१६ में) कानून द्वारा निश्चय कराया है कि जबतक सिक्कोंकी कमी नये नोटोंको निकाल कर पूरी की जाय।

इन्हीं सब कारणोंसे, देखते देखते, प्रचलित नोटोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है। जहां १९१४ में कुल ६६ करोड़के नोट चल रहे थे, वहां जुलाई, १९१८ में नोटोंका मूल्य ११५ करोड़ और सितम्बर, १९१८ में १३४ करोड़, सितम्बर १९१९ में १६९ करोड़ तथा दिसम्बर १९१९ में १८२ करोड़ तक पहुंच गया। पर अमानतमें सोना चांदीकी तादाद इस तरह नहीं बढ़ी केवल कम्पनी कागजोंकी अमानत ही बढ़ती गयी, तिसपर भी ये कागज भारत सचिवके यहां ही अमानत हैं, हिन्दुस्तानमें नहीं। इस तरह कागजी सिक्कों-की तादाद बढ़ाना मुनासिब नहीं तिस पर भी जब कि इनकी अमानतमें नकद सोना चांदी बहुत कम हो। बाजारमें कागजी सिक्कोंकी चाह उसी समयतक है जबतक कि इनके बदलेमें चांदीके सिक्के बेरोक टोक मिलते रहते हैं; जहां इसमें रुकावट हुई कि लोग इन कागजोंको कौड़ियोंको भी न पूछेंगे। इधर जबसे नोटकी तादाद बढ़ रही है और अमानतमें नकद सोना चांदी घट रही है तबसे लोगोंको इसी बातकी चिन्ता है। इस लिये सितम्बर १९१९ के कानूनसे यह भी निश्चय हुआ है कि अबसे अमरिकामें खरीदे गये और वहांसे रवाना किये गये सोनेकी रकम भी इसी अमानतमें समझी जायगी। जबसे यह नया कानून बना है तबसे इस अमानतकी अवस्था इस प्रकार है :—

नोट विभागकी अमानत।

३०, दिसम्बर १९१९,

कुल नोट जो बाजारमें थे	१८२८८१४६२५

अमानतमें :—

हिन्दुस्तानमें :—	रु०
चांदीके सिक्के	३०३३०४१०९
सोना और सोनेका सिक्का	२९९०७०७८३
चांदी	१४२१२०३४१
इङ्गलैण्डमें :—	
सोना और सोनेका सिक्का	२०९०८०००
इङ्गलैण्ड़से आ रहा था :—	
सोना और सोनेका सिक्का	४८९३१८९०
अमरिका संयुक्त राज्यसे आ रहा था	९२०००००

कम्पनी कागज :—

हिन्दुस्तानमें	१७०२९९९४६
विलायतमें	८२४९८७५५६

हुंडी-पुरजे-जिस तरह एक जगहसे दूसरी जगह पर सुरक्षित रीतिसे सिक्का भेजनेके लिये 'नोट' का व्यवहार होता है, उसी तरह व्यापारी लोग अपनी सुगमताके लिये हुंडी पुरजेका व्यवहार करते हैं। उदाहरणके लिये कलकत्ते और भागलपुरका दृष्टान्त लीजिये। भागलपुरसे बहुत सा गल्ला कलकत्ते भेजा जाता है और कलकत्तेसे बहुत सा विलायती कपड़ा भागलपुर आया करता है। मान लें कि कलकत्तेके व्यापारियोंने भागलपुरसे और भागलपुरके व्यापारियोंने कलकत्तेसे पांच लाखका माल मंगाया। इसके लिये कलकत्तेवालोंको भागलपुरमें रुपये देने हैं और भागलपुरवालोंको कलकत्तेमें। पर वास्तवमें कहींसे नकद

रुपया न भेजा जायगा ; कागज पत्रसे ही दोनों जगहोंका हिसाव चुक जायगा। कलकत्तेके व्यापारी वहीं पर वनारसीप्रसाद मुरलीधरकी दूकानमें रुपया जमाकर भागलपुरकी हुंडी करावेंगे। फिर यह हुंडी भागलपुरके गल्लेके व्यापारीको, जिसके यहांसे कलकत्तेवालेने गल्ला खरीदा था, भेज देंगे। अव यह भागलपुरका गल्लेका व्यापारी वनारसीप्रसाद मुरलीधरजीकी भागलपुरवाली गद्दीसे हुंडीके वदलेमें रुपया ले आवेगा। उसी तरह भागलपुरका व्यापारी जिसने कलकत्तेसे कपड़ा मंगाया है, हुंडीका काम करनेवाली भागलपुरकी किसी कोठीमें जिनकी गद्दी कलकत्तेमें भी है, रुपया जमा कर कलकत्तेपर हुंडी करा लेगा। और उसी हुंडीको कलकत्तेके कपड़ेके व्यापारीको भेज देगा। यह व्यापारी इसी हुंडीको दिखाकर कलकत्तेकी गद्दीसे अपनी पूरी रकम पा जायगा। इसी तरह दोनों जगहका काम कागजों द्वारा ही चल जायगा, नक़द रुपयोंको भेजनेकी जरूरत नहीं होगी।

यह हुण्डी एक वड़े महत्वकी दस्तावेज है, इससे वनिज व्यापारको वड़ा लाभ पहुंचता है। हुंडी दो प्रकार की होती है—'नाम जोग' और दूसरी 'शाहजोग'। नाम जोग हुंडीके रुपये उसे ही मिलते हैं जिसके नाम हुंडी लिखी जाती है। परन्तु 'शाहजोग, हुंडीमें नाम लिखनेकी जरूरत नहीं होती। यह 'शाहजोग' हुंडी वाजार भावसे वेची खरीदी जा सकती है, चाहे वह कहीं की हो और किसीके भी नाम की हो। ऐसी हुंडियोंसे

व्यापारियोंको बड़ा सुभीता होता है। हुंडीके रुपये कब दिये जायंगे इसका भी उल्लेख हुंडीमें ही रहता है। इस हिसाबसे हुंडी दो प्रकारकी होती है—दर्शनी और मुद्दती। 'दर्शनी' हुंडी-के रुपये हुंडी दिखानेसे उसी दिन मिल जाते हैं। 'मुद्दती' के रुपये मुद्दत पूरी होनेपर मिलते हैं। यह मुद्दत ४-६-७-१५-३० दिन आदि—उसी हुंडीपर लिखी होती है। हुंडी देने या लेनेके मेहन-ताने भी लगते हैं। इस मेहनतानेको 'हुंडावन' या 'हुंडियावन' कहते हैं। यदि कलकत्तेके बाजारमें नक्द सिक्के कम हों और हुंडी भुगतान चाहनेवाले अधिक हों तो 'हुंडावन' अधिक लगेगा; यदि रुपये (सिक्के) अधिक हों और भुगतान चाहनेवाले कम, तो हुंडावन भी कम लगेगा। भाव तेज रहने पर १००) की हुंडीके लिये १०१) तक खर्च करने पड़ते हैं; इससे अधिक खर्च नहीं हो सकता। क्योंकि एक रुपयेके खर्चमें आप रुपया मनिआर्डर कर डाक द्वारा भेज सकते हैं। उसी तरह भाव मन्दा रहनेपर १०० की हुंडी ९९॥।≶)को भी मिल सकती है। मान लें कि बनारसी-प्रसाद मुरलीधरजीकी भागलपुर वाली कोठीमें नक्द रुपये बेकार पड़े हैं। यदि भागलपुरमें हुंडीका भुगतान चाहनेवाले लोग अधिक हों, यदि बनारसीप्रसादजीकी कोठी पर रुपयेकी मांग अधिक हो, उस समय यदि आप कलकत्तेपर हुंडी करानेके लिये भागलपुर की कोठी पर रुपया जमा करें तो आपको ९९॥।≶) देनेपर ही १००) की हुंडी लिख दी जायगी।

विदेशी व्यापारका भुगतान और करेन्सी कमीशन—

जहां भारतवर्षसे बहुत सा माल बाहर विदेश जाया करता है, वहां विदेशसे भी बहुत सा माल यहां आता है। जहां विदेश-वालोंको हमारी चीजोंका दाम भेजना पड़ता है, वहां हमलोगोंको भी विदेशी मालकी कीमत बाहर भेजनी पड़ती है। अब यहां यह देखना है, कि इस व्यापारका भुगतान किस तरह होता है, एक देश, दूसरे देशको किस तरह खरीदी हुई चीजोंका मूल्य भेजता है। यदि प्रत्येक व्यापारी, खरीदी हुई चीज़का नकद दाम भेजा करे, तो एक ही समयमें करोड़ों रुपये भारत आते रहेंगे और यहांसे करोड़ों गिन्नियां विलायत जाती रहेंगी। यदि यही हालत रहती, तो १९१३-१४ में २४८८८ लाख रुपये भारतमें आते और १८३२५ लाख रुपयोंकी गिन्नियां भारतसे विदेश जातीं ; क्योंकि उस साल भारतकी कुल रफ्तनी (गैर-सरकारी) २४८८८ लाख रुपयोंको और आमदनी १८३२५ लाख रुपयोंकी हुई थी। इस प्रबन्धसे इतनी बड़ी रकमको भेजने और मंगानेमें झंझट तो है ही; पर इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी मुश्किलें हैं। सबसे बड़ी मुश्किल तो दो देशोंके सिक्कोंके पर-स्पर मूल्यका निर्णय करना है। हिन्दुस्तानका चांदीका सिक्का (रुपया) विलायतमें नहीं चलता;—वहां इसके १६ आने नहीं मिलेंगे। उसी तरह विलायतका 'सावरेन' यहां नहीं चलता। विलायतमें यहांके सिक्कोंका उतना ही दाम मिलेगा जितना कि उस सिक्केमें दी गयी चांदीकी कीमत है। अब आपको मालूम है कि लड़ाईके पहले बहुत दिनोंसे चांदीका भाव घट रहा था।

इससे व्यापारियोंकी कठिनाई और भी बढ़ गयी थी। मान लें कि विलायतके किसी 'फर्म' ने भारतवर्षसे तीसी खरीदी, दर दस शिलिङ्ग मन ठहराई गयी, उसने देखा कि चांदीके भावके अनुसार दस शिलिङ्गके लिये ७॥) रुपये हिन्दुस्तानमें देनेसे दाम चुकता हो जायगा; पर दाम वसूल करनेके समय चांदी मंदी पड़ गयी, और दस शिलिङ्गके ७॥) की जगह आठ रुपये देने पड़े। विलायतके व्यापारीको यह आठ आना अधिक देना पड़ गया। उसी तरह आपने विलायतसे कपड़ेकी गांठ मंगायी। दाम १०० पाउण्ड ठहराया गया। बाजार भावसे हिसाब करके देखने पर मालूम हुआ कि १५००) रुपये देनेसे १०० पा० मिल जायंगे; पर यदि बीचमें चांदी सस्ती हो जाय, तो १५००) में १०० पा० न मिलेंगे, उसके लिये १५५०) खर्चने पड़ेंगे, तब विलायतके 'फर्म' का देन भुगतान पायगा।

सारांश यह कि भारतके विदेशी व्यापारके भुगतानमें दो मुश्किलें हैं—एक तो नकद रुपयोंका भेजना, दूसरा चांदीकी कीमतका बदलना। पहली अड़चनको दूर करनेके लिये विदेशी हुंडी-पुरज़े (Bill of Exchange) चलते हैं, और दूसरीके लिये भारत सरकारने चांदीके सिक्कोंकी कीमत ठीक कर दी थी, वह १५ रुपयोंके बदलेमें एक 'सावरन' देनेके लिये प्रस्तुत थी।

जैसा कि लिख चुके हैं, १९१३-१४ में २४८८८ लाख रुपयोंका माल बाहर गया और १८३२५ लाख रुपयोंका माल बाहरसे यहां मंगाया गया। अब यह देखना चाहिये कि इसका भुग-

तान किस तरह हुआ। भारतवर्षके जिन व्यापारियोंने माल विदेश रवाना किया था, उन लोगोंने अपनी कीमतके लिये उन खरीदारोंपर बिल बनाये इस बिलको 'बिल आफ एक्सचेंज' कहते हैं; और ये दो प्रकारके—डी—ए, डी—पी—(Documents on Acceptance and Documents on Payment) होते हैं। यहांके व्यापारी इन बिलों (हुंडियों) को कलकत्ते, बम्बई आदि स्थानोंके एक्सचेंज-बंकोंके हाथ बेचकर अपना रुपया वसूल कर लेंगे। एक्सचेंज बंकवाले इन हुंडियोंको अपने विलायतके आफिसोंमें भेजकर वहांके व्यापारियोंसे रुपया वसूल कर लेंगे। यदि ये हुंडी-पुरजे मुद्दती हुए तो मुद्दत पूरी होने पर रुपये मिलेंगे, या नहीं तो तुरन्त रुपये मिल जायंगे। उसी तरह विलायतके जिन व्यापारियोंने अपना माल भारतवर्ष भेजा है, वे लोग भी भारतके खरीदारोंके नाम 'बिल' बनाते हैं, और उन बिलोंको फिर एक्सचेंज बंकोंके विलायती आफिसोंमें बेच कर रकम वसूल कर लेते हैं। एक्सचेंज बंकवाले फिर उन्हीं हुंडि-योंको हिन्दुस्तान भेजकर यहांके विलायती मालके खरीदारोंसे रुपया वसूल कर लेते हैं। इसी तरह एक्सचेंज बंकोंका कागजी धन कभी विलायतकी ओर जाता रहता है और कभी हिन्दुस्तान आता रहता है। इन्हीं बंकोंकी सहायतासे विदेशी व्यापारका भुगतान हुआ करता है, नकद रुपयोंके भेजनेकी जरूरत नहीं पड़ती।

यदि मालकी आमदनी और रफतनी बराबर होतीं तो हुंडी

पुरजोंके द्वारा ही भुगतान पूरा हो जाता ; परन्तु हमलोग जितने-का माल वाहर भेजते हैं, उतनेका माल वाहरसे नहीं मंगाते। १३-१४ में २४८८८ लाख रुपयोंका माल वाहर भेजा और सिर्फ १८३२५ लाख रुपयोंका माल वाहरसे मंगाया। हमलोगोंने २४८८८ लाख रुपयोंका विल (हुंडी) विदेशी खरीदारों पर किया; पर वे लोग सिर्फ १८३२५ लाखकी हुंडी हमलोगों पर कर सके। इतनी रकम तो एक्सचेंज वङ्कोंके हाथसे भुगतान हो सकी ; पर शेष ६५६३ (२४८८८-१८३२५=६५६३) लाख रुपये तो हमलोगोंके वाकी रह ही गये। अव इस मालके वदलेमें विदेशी व्यापारियोंको नकद सोना-चांदी ही भेजना पड़ेगा।

इस अवस्थामें भारतसचिव विदेशी व्यापारकी सहायता करते हैं। उन्हें अपने तथा अपने दफ्तरके खर्चके लिये, भारत-सरकारके विलायत-प्रवासी कर्मचारियोंके मुशाहरे और पेन्शनके लिये, विलायतके महाजनोंसे लिये गये कर्जके सूदके लिये, विला-यतसे सामान खरीदनेके लिये, हिन्दुस्तानी टकसालोंमें रुपया ढालनेके लिये चांदी खरीदने आदि कामोंके लिये हर साल वहुत वड़ी रकम हिन्दुस्तानसे मंगानेकी जरूरत पड़ती है। इधर तो विलायती खरीदार हिन्दुस्तानी मालकी कीमत भेजनेके लिये सिक्के तलाश करते हैं और उधर, भारतसचिव, अपनी और भारत सरकारकी जरूरतोंके लिये वहुत सा धन हिन्दुस्तानसे मंगाते हैं। अव अगर कोई ऐसा उपाय किया जाय, जिससे उभय पक्षको सिक्का भेजनेका खर्च न देना पड़े तो व्यापारको वड़ा लाभ हो।

यह सब सोच विचार कर भारतसचिवने लंडनमें भारत सरकारके नाम हुंडी लिखना आरम्भ किया। इस 'हुंडी' को 'कौंसिल बिल' कहते हैं। जिन विलायती व्यापारियोंको भारतके महाजनोंके पास सिक्का भेजना रहता है, वे भारतसचिवको सिक्का देकर उसके बदलेमें 'हुंडी' लिखा लिया करते हैं। यह हुंडी (Council Bill) हिन्दुस्थानी व्यापारियोंको भेज दी जाती है और व्यापारी लोग कलकत्ता, बम्बई, मद्रासके सरकारी खजानोंसे हुंडी दिखाकर नकद रुपया ले जाते हैं। अब भारतसचिव विलायती महाजनोंके दिये धनसे अपनी सरकारका खर्च चलाते हैं। इस तरह १६१३-१४ में भारतसचिवने ४६६० लाख रुपयोंकी हुंडियां बेंची; पर इतनेसे ही व्यापारका भुगतान पूरा न हो सका। इस लिये विदेशी खरीदारोंको उस साल ११३४ लाख रुपयोंकी कीमतके सोनेके सिक्के (सावरेन), ११६८ लाखका सोना, ६२४ लाखकी चांदी और ११२ लाखके कम्पनी कागज भी भेजने पड़े। विदेशी व्यापारका कुल हिसाब एक ही वर्षमें—१२ महीनोंमें ही, चुक जाना सम्भव नहीं है; एक वर्षका हिसाब दूसरे तीसरे वर्ष भी चला जा सकता है। १६१३-१४ में पिछले तीन वर्षका भी बकाया (११६५ लाख रु०) वसूल हुआ था।

यह तो हुआ उस अवस्थाका वर्णन जब कि भारतके विदेशी व्यापारमें आमदनीसे अधिक रफ्तनी हुआ करती है। साधारणतः तो ऐसी ही अवस्था रहा करती है; परन्तु कभी कभी, अकाल, अनावृष्टिके कारण यहांकी रफ्तनी घट जाती है;

हमलोग जितनेका माल भेजते हैं, उससे कहीं अधिकका माल बाहरसे मंगाते हैं। उस समय उल्टी गंगा वह चलती है और हिन्दुस्तानी व्यापारी विलायत भेजनेके लिये गिन्नियां ढूंढ़ते हैं। इस अवस्थामें भारतसचिवकी तरह भारत सरकार भी व्यापारकी सहायता करनेको उद्यत होती है। वह भारत सचिवके नाम हुंडियां लिखती है, और विलायतके व्यापारी लोग भारत सचिवसे गिन्नियां ले लेते हैं।

१८९८ में फौलरकी अध्यक्षतामें जो करेन्सी कमिटी बैठी थी, उसने सलाह दी थी कि अबसे 'गोल्डस्टैण्डर्ड रिजर्व' (स्वर्ण भण्डार) नामकी एक अमानत खोल दी जाय; जिसमें चांदीके सिक्के ढालनेसे जो आमदनी होती रहती है वह जमा कर दी जाय। जब चांदी सस्ती थी तब फी सौ ढले हुए सिक्कोंपर सरकारको प्रायः चालीसकी बचत रहती थी। कहा गया था कि जब भारतके विदेशी व्यापारमें रफ्तनीसे आमदनी अधिक हो जायगी, उस समय विदेशी व्यापारके भुगतानके लिये सोनेके सिक्कोंकी बड़ी जरूरत होगी, सोना महंगा हो जायगा, चांदीका भाव गिर जायगा। उस हालतमें इस 'रिजर्व' की अमानतसे सोना देकर व्यापारकी सहायता की जायगी, चांदीके सिक्कोंका भाव गिरनेसे बचाया जायगा।

तबसे आजतक इस 'रिजर्व' के विषयमें वादविवाद होता रहा है। कोई इसके मूल अभिप्रायके विषयमें झगड़ता है, कोई इस अमानतमें कितना सोना और कितनी चांदी रहनी चाहिये

इसीके लिये वादविवाद करता है, कोई कहता है कि यह रकम हिन्दुस्तानमें रहे और कोई इसको लंडनमें रखनेका पक्षपाती है। यह अमानत कितनी बड़ी हो, इसपर भी मतभेद रहा है। भारतके अर्थसचिव भी इसके साथ मनमाना व्यवहार करते आये हैं। सर एडवर्ड लाने इस अमानतको पहले पहल लण्डनके बाजारमें सूदपर लगाया। फिर सर एडवर्ड बेकरने इस अमानतमें छः करोड़का चांदीका सिक्का रखा। 'मैके कमिटीके' कहनेसे १९०७ में इस अमानतका डेढ़ करोड़ रुपया रेल बनानेमें खर्च कर दिया गया! इसी तरह मनमानी होती रही। अन्तमें १९०७-८ में अकालके कारण विदेशी व्यापारमें रफ्तनीकी अपेक्षा आमदनी अधिक हुई, विदेश भेजनेके लिये सोनेकी मांग बढ़ी। भारत सरकार पहले तो पशोपेशमें पड़ी, डरते-डरते थोड़ा थोड़ा सोना निकाला ; क्योंकि यहां सोना बहुत कम था। अन्तको भारतसचिवके नाम विलायतपर हुंडी लिखी जाने लगी। भारतसचिवके यहां 'पेपर करेन्सी' तथा 'गोल्डस्टैण्डर्ड' की अमानतोंसे हुंडीका भुगतान होता रहा। इसके बाद ही "चेम्बरलेन कमिशन" बैठाया गया। कमिशनने राय दी कि 'स्टैण्डर्ड रिजर्व,' जहांतक हो, बढ़नेको छोड़ दिया जाय, रुपया ढालनेसे जितना नफा हो, सब इसी अमानतमें रखा जाय और अमानतमें जहांतक हो सोना ही मौजूद रहे, हिन्दुस्तानमें इस अमानतकी जो चांदी है, उठा दी जाय। सब अमानत लण्डनमें ही रहे, इसको रेल वगैरहके लिये कभी खर्च न किया जाय और

जब भारत सरकारको विलायतपर हुंडी लिखनी हो तो एक रुपयेकी दर १ शिलिङ्ग $३\frac{२८}{३२}$ पेन्सके बराबर हो। लड़ाई छिड़ते ही इस अमानतकी जो चांदी हिन्दुस्तानमें रहती थी, उसको उठा दिया गया।

अब यह अमानत बराबर लण्डनमें ही रहती है। जब जरूरत नहीं रहती है तब भारतसचिव इसमेंसे बहुत सा सोना लण्डनके दलालोंको कम सूदपर, थोड़ी मुद्दतके लिये, कर्ज दे देते हैं। ज्यों ज्यों दिन बीतता जाता है, त्यों-त्यों यह अमानत बढ़ती जाती है। ३१ मार्च, १९०६ में यह अमानत १२४'५१ लाख पा० के बराबर थी, ३१ मार्च, १९१५ में २६७'३४ लाख और ३१ मार्च, १९१७ में ३४४०५३ लाख पा० तक पहुंच गयी थी। ३१ दिसम्बर, १९१९ को इस अमानतकी यह अवस्था थी :—

हिन्दुस्तानमें सोना पा०

बंक आफ इङ्गलैण्डमें नक़द सोना	९६९
विलायती कम्पनी कागज (३०, सितम्बर, १९१९ का बाजार दाम)	२९९९३८२६
विलायती कम्पनी कागज (जो उसके बाद खरीदा गया)	६८०५८७८
कुल जोड़—	पा० ३६८००७७३

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, सरकारने कानून द्वारा निश्चय कर दिया था, कि एक रुपयेके बदलेमें एक शिलिंग चार पेन्स (अर्थात् १५ रु० के एक पाउण्ड) मिला करेंगे। जब चांदीका मूल्य रोज घटता बढ़ता रहता था, तब विदेशी

व्यापारकी सहायता करनेके लिये ऐसी व्यवस्था करनी पड़ी थी। बाजारमें एक रुपयेके बदले एक शिलिंग चार पेन्सका सोना मिले वा न मिले; पर विदेशसे व्यापार करनेवाले व्यापारीको भारत सरकार एक रुपयेके बदले एक शिलिंग चार पेन्स देनेको सदा प्रस्तुत रहती थी। उसी तरह विलायतमें भारत सचिव प्रत्येक व्यापारीको एक पाउण्डके बदलेमें १५ रु० देनेको तैयार रहते थे। हो सकता है कि किसी समय चांदी सस्ती हो जाय और बाजारमें एक रुपयेके एक शिलिंग चार पेन्स न मिलकर सिर्फ एक शिलिंग दो पेन्स ही मिलें, उस हालतमें भी भारत सरकार वही एक शिलिंग चार पेन्स देती थी; पर ऐसा करनेसे उसे जो नुकसान होता था, वह नुकसान उसी "गोल्ड स्टैंडर्ड रिजर्व" की अमानतसे पूरा कर किया जाता था; क्योंकि इसकी सृष्टि इसी अभिप्रायसे हुई थी। उसी तरह जब चांदी महंगी हो जायगी, उस समय बाजारमें एक रुपयेके बदले एक शिलिंग चार पेन्ससे अधिक सोना मिलेगा; अर्थात् एक पाउण्डके बदले बाजारमें १५ रुपयेसे कम मिलेंगे; पर भारत सरकार बदलेमें वही १५ रुपया देनेको प्रस्तुत रहेगी।

इधर लड़ाईके जमानेसे चांदी बहुत ही महंगी हो गयी है। एक तोले चांदीके लिये अठारह बीस आने खर्चने पड़ते हैं। ऐसी हालतमें एक पाउण्डके बदलेमें १५ रु० देनेसे बड़ा नुकसान होता है। इधर कई वर्षोंसे भारतने जितनेका माल बाहरसे मंगाया है, उससे कहीं अधिकका माल बाहर भेजा है। इस कारण

इस फालतू रफ्तनीकी कीमत भेजनेके लिये विलायती व्यापारियोंको रुपयोंकी बड़ा चाह रहती है। पर चांदी महंगी है; इसलिये भारत सचिवने एक पाउण्डके १५) देना अस्वीकार किया है। इसी कारण ज्यों ज्यों चांदी महंगी होती गयी है, त्यों त्यों रुपयेके बदलेमें अधिक अधिक शिलिंग पेन्स मिलने लगे हैं। भारत सचिवने २६ अगस्त, १६१७ को एक शिलिंग पांच पेन्स, १४ अप्रैल, १६१८ को एक शिलिंग ६ पेन्स, १३ मई, १६१६ को एक शिलिंग आठ पेन्स, १२ अगस्त, १६१६ को एक शिलिंग दस पेन्स, १६ सितम्बर, १६१६ को दो शिलिंग तथा २५ नवम्बर,१६१६ को दो शिलिंग दो पेन्सके बदले चांदीका एक रुपया वेचा था। और फरवरी १६२० में एक रुपयेके बदलेमें दो शिलिंग ग्यारह पेन्स हो कर अब २ शिलिंग ३॥ पेन्स मिलते हैं। इस तरह शिलिंग सस्ता होनेका एक और कारण है। लड़ाईके जमानेमें विलायतकी सरकारने सोनेका सिक्का (सावरेन) न निकाल कर बहुत सा एक एक पाउण्डका नोट (ब्रैडबरी नोट) चलाया था। धीरे धीरे ये कागजी पाउण्ड इतने अधिक हो गये और सोनेके पाउण्ड इतने कम हो गये कि एक कागजी पाउण्डके बदले एक 'सोनेका पाउण्ड' मिलना असम्भव हो गया और कागजी पाउण्डका दाम गिर गया। जहां लड़ाईके पहले एक सोनेके पाउण्डके बदलेमें हिन्दुस्तानी १५ चांदीके रुपये मिलते थे और अमेरिकन पांच 'डालर' सिक्के मिलते थे वहां अब इस सस्ते कागजी पाउण्डके बदलेमें कुल सातसे

भी कम हिन्दुस्तानी रुपये और साढ़े तीन अमेरिकन डालर मिलते हैं।

चांदीकी महंगी, विलायती कागजी सावरेनकी सस्ती और हिन्दुस्तानी आमदनीकी अपेक्षा रफ्तनी अधिक होनेके कारण विदेशी व्यापारके भुगतानमें अस्थिरता हो रही थी; चांदीके रुपये और कागजी 'सावरेन'के परस्परका मूल्य ठीक नहीं हो रहा था, एक रुपयेका दाम १६ पेन्ससे बढ़ते बढ़ते तीस पेन्सतक चढ़ गया था। इन बातोंके निर्णय करनेके लिये सरकारने एक 'करेन्सी कमीशन' बैठाया था, जिसकी रिपोर्ट फरवरी, १६२० में प्रकाशित हुई है। रिपोर्टकी निम्न लिखित बातोंको भारतसचिव और सरकारने स्वीकार किया है;—

(१) भारतके चांदीके सिक्केमें जिस वज़नकी जितनी चांदी रहती आई है, उतनी ही चांदी भविष्यमें भी रहेगी।

(२) इस चांदीके सिक्केका मूल्य बाजारमें ११·३ ग्रेन बढ़िया सोनेके बराबर होगा। यह वजन सोनेके 'सावरेन'के दसवें हिस्से के बराबर है।

(३) अब एक सोनेके सावरेनके बदलेमें १५ चांदीके रुपये न मिलकर केवल दस चांदीके रुपये मिला करेंगे।

(४) जितना जल्द हो सकेगा, चांदी सोनेकी आमदनी रफ्तनी बेरोकटोक कर दी जायगी, चांदीकी आमदनीपरका टैक्स उठा दिया जायगा।

(५) बम्बईकी टकसालमें सोनेके सिक्के ढलने लगेंगे, और

टकसालमें सोनेके बदलेमें सोनेके सिक्के बेरोकटोक मिला करेंगे।

(६) अब सोनेके सावरेनके बदले रुपया देनेके लिये सरकार बाध्य न होगी।

इस रिपोर्टके अनुसार एक चांदीके रुपयेके बदलेमें ११.३ ग्रेन खालिस सोना मिलेगा, अर्थात् दस ऐसे रुपयोंके बदलेमें जितना खालिस सोना मिलेगा, उतना ही सोना एक 'सोनेके सावरेन' में पाया जाताहै, अर्थात् एक 'सोनेका सावरेन' दस चांदीके रुपयोंके बराबर होगा; परन्तु जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, इंगलैंडमें आजकल 'सोनेका सावरेन'—अलभ्य हो रहा है, 'कागजी सावरेन' (ब्रैडबेरी) की ही भरमार है, इस कारण ये कागजी सिक्के बहुत सस्ते हो गये हैं। ऐसे एक कागजी सिक्केसे आप बाजारमें दस चांदीके रुपयोंके बराबर (११.३ × १० ग्रेन) सोना कभी नहीं खरीद सकते। जबतक ऐसा नहीं होता, तबतक ये कागजी सावरेन दस चांदीके रुपयोंके बराबर नहीं हो सकते; इसीलिये उस दिन (फरवरी १६२० के पहले सप्ताहमें) ये 'कागजी सावरेन' कुल ७$\frac{३}{११}$ रुपयोंके दर बिक गये।

बैंक—बंकोंकी प्रथा हिन्दुस्तानके लिये नयी है; पर महाजनीकी चाल तो बहुत पुरानी है। महाजनी और बैंकिंग (बंकोंके काम) में बहुत थोड़ा अन्तर है। महाजन अपने घरकी पूंजी कर्ज लगाता है, और बंक कम सूदपर कर्ज लेकर अधिक सूदपर कर्ज

देता है। बंककी जड़ साख है; साख—विश्वासके भरोसे ही बंक चलता है। पर दोनों—महाजन और बंक सिक्केके व्यापारी हैं। जिस तरह अन्य व्यापारी कपड़ा, गल्ला, किराना इत्यादि की खरीद-बिक्री करते हैं उसी तरह बंकवाले सिक्के अथवा सिक्कोंके प्रतिनिधि नोट, हुंडी-पुरजे, चेक इत्यादिकी खरीद बिक्री करते हैं।

बंकवाले धनसंचय करने, तथा संचित धनको उत्पादक श्रमोंमें लगानेमें सहायता करते हैं। तथा अपनी साखके बल एक हजार रुपयेसे दस हजार रुपयेका काम लेते हैं। आपके पास कुछ रुपये हैं, खर्च करनेके बाद कुछ बचत हुई है। आप उन रुपयोंको साधारणतः घरमें ही रख छोड़ते हैं; वह रुपया बेकाम पड़ा रहता है। सम्भव है कि वह खो जाय, चोरी जाय, बरबाद हो जाय या खर्च हो जाय। बंकवाले कहते हैं कि आप वे रुपये हमारे पास अमानत (डिपाजिट) रख दें। बदलेमें आपको सूद मिलता रहेगा तथा जब आप कहेंगे आपका रुपया लौटा दिया जायगा। आप जितनी बड़ी मुद्दतके लिये रुपया बंकोंके पास छोड़ देंगे उतना अधिक सूद दिया जायगा। इससे आपका रुपया सुरक्षित भी रहा, जरूरत पर आपका काम भी हर्ज न हुआ तथा नफेमें आपको सूद भी मिलता गया। इधर बंकवालोंने भी आपके रुपयेसे लाभ उठाया। उन्होंने हमारे, आपके और इसी तरह सब 'डिपाजिटरों' (अमानत रखनेवालों) के रुपयोंको फिरसे उत्पादक श्रमोंमें, कर्ज चाहनेवाले व्यक्तियों, व्यापारियों, धन्धे-

वालोंको कुछ अधिक सूदपर कर्ज दिया। अगर अमानत वालोंको सैकड़े ४) मिला तो व्यापारियोंसे सैकड़े ६) लेकर कर्ज दिया। यही दो रुपया सैकड़ा वंकवालोंको खर्च और लाभके लिये वच गया। आप नहीं जानते कि किस व्यक्तिको रुपया कर्ज देना चाहिये और किसको नहीं। आपको मालूम नहीं हो सकता है कि कव किस व्यापारी या धन्धेवालोंको कर्ज दिया जा सकता है और कव नहीं। पर वंकवाले इसकी पूरी जानकारी रखते हैं और इसीसे लाभ उठाते हैं।

यदि वंक न हो तो देशका धन छितराया हुआ बेकाम पड़ा रहे, वड़े वड़े धन्धे या रोजगार असम्भव हो जायं। पर वंकवाले छोटे वड़े सब किसीकी बचतको इकट्ठा करते हैं, और फिर उन्हें आवश्यकतानुसार रोजगार-धन्धोंमें लगा कर देशकी सम्पत्ति बढ़ाते हैं। यदि ये न रहें तो देशकी साम्पत्तिक उन्नति रुक जाय। उत्पादक श्रमों-नये रोजगारोंमें लगानेके लिये रुपये न मिलें।

भारतवर्षकी अवस्था कुछ ऐसी ही है; यहां वंकोंका प्रचार नया है। लोगोंने जो कुछ रुपया लगाया है वह व्यापार, धन्धोंमें नहीं। दो एक इलाकोंको छोड़—दो एक धन्धों-कपड़े, चमड़े, और खानोंको छोड़ दूसरे धन्धोंमें रुपया नहीं लगाया जाता है। नये नये धन्धोंके लिये रुपयोंकी वड़ी मांग रहती है; उन्हें ढूंढ़ने पर भी रुपया नहीं मिलता। हां, इधर कुछ दिनोंसे नये धन्धे खड़े किये गये हैं,—कुल्टी और जमशेदपुरके लोहे,

ईस्पातके कारखानोंमें रुपया लगाया गया है; सीमेंट मिट्टी बनाने, पानीसे बिजली निकालनेके लिये कई बड़ी बड़ी कम्पनियां खोली गयी हैं। लोहे ईस्पातके कारखानोंको बढ़ाने, उनके आनुषंगिक पदार्थोंको तैयार करने, देशमें कल पुर्जोंके ढालने, इंजिन बायलर तैयार करनेके बड़े बड़े कारखानोंको खोलनेका विचार हो रहा है सही। पर तोभी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उद्योग धन्धोंके लिये—विशेष कर छोटे छोटे कारबारोंके लिये यथेष्ट पूंजी नहीं मिलती।

इसका कारण यह नहीं है कि देशमें रुपये बिलकुल नहीं है। देशमें रुपये मिल सकते हैं, और हरसाल कुछ न कुछ बढ़ते ही हैं। लोगोंको मालूम होगा कि पहले जहां सरकार दो चार करोड़से अधिक कर्ज हिन्दुस्तानमें नहीं पा सकती थी, वहीं लड़ाईके जमानेमें कोशिश करनेसे सालमें ४०-५० करोड तकका कर्ज मिल गया। भारतमें रुपया है सही, पर वह तितर बितर हो रहा है; उसे इकट्ठा कर उत्पादक श्रमोंमें लगानेके लिये यथेष्ट साधन नहीं हैं। देहातोंमें तो बंक हैं ही नहीं, देहाती (कोअपरे-टिव) बंकका तो अभी आरम्भ ही हुआ है। मुफस्सिलके शहरोंमें कहीं कहीं बंकोंकी शाखायें मिल जाती हैं। पर उनसे यथेष्ट लाभ नहीं होता। छोटे छोटे रोजगारियों या किसानोंका तो उनसे कोई लाभ ही नहीं होता। देहातों या मुफस्सिलके शहरोंमें किसानों, रोजगारियों, दूकानदारों और व्यापारियोंको महाजनसे ही कारबार करना पड़ता है। पर यह महाजन भी

बहुधा गरीब ही होता है, यह भी दूसरे बड़े महाजनसे रुपये कर्ज लेता है, तथा बहुत कड़े सूदपर रुपया लगाता है। इस तरह देखा जाता है कि इन स्थानोंका बिल्कुल कारबार नकद रुपयोंसे ही होता है ; साखसे कोई लाभ नहीं उठाया जाता है। यहांका धन बिल्कुल असंगठित रूपमें पड़ा हुआ है ; सिक्कोंसे बहुत ही कम काम लिया जाता है, उन्हें बहुधा बेकार ही पड़ा रखना पड़ता है। इसके लिये नये बंकोंकी जरूरत है। पर नये बंकोंको खोलनेके पहले लोगोंको बंककी शिक्षा देनी पड़ेगी। नहीं तो जैसे तैसे लोगोंके हाथ बंकका संचालन-भार सौंप देनेसे नुकसान होगा। आनन्दका विषय है कि 'ताता इंडस्ट्रियल बंक' के अधिकारियोंने युवकोंको 'बैंकिंग' को शिक्षा देनेका प्रबन्ध किया है। नये बंकोंकी संख्या बढ़नेसे लोग जमीन खरीदने, गहना गढ़ाने या पोस्ट आफिस सेविंग बंकमें रुपया जमा करनेकी आदत कम कर देंगे। नये नये धन्धोंके लिये रुपये मिल सकेंगे।

इस समय भारतवर्षमें तीन प्रधान श्रेणियोंके बंक हैं:—कलकत्ता, बम्बई, मद्रासके प्रेसिडेन्सी बंक; एक्सचेंज बंक; इंडियन ज्वायंटस्टाक बंक। एक्सचेंज बंकोंके प्रधान आफिस विदेशमें हैं, यहां उनकी शाखायें हैं। भारतमें बंकोंके प्रधान आफिसोंकी संख्या ३१ दिसम्बर, १९१९ में ७१ तथा सब प्रकारकी शाखाओंकी संख्या २६७ थी। इनके अतिरिक्त डाक घरोंके सेविंगबङ्क और कोअपरेटिव बंक तथा देशी महाजन लोग भी हैं।

व्यापार व्यवसायके बड़े बड़े केन्द्रोंमें बंकोंका प्रचार बढ़ रहा है; लोग इनकी उपयोगिता स्वीकार कर इनके साथ अधिक कारबार करने लगे हैं। नीचे दिये गये नक्शोंसे पता लगेगा कि बङ्कोंका प्रचार कितना बढ़ता जाता है :—

भारतवर्षके बंक

प्रेसिडेन्सी बंक

	पूंजी	रिजर्व	डिपाजिट	नकद कैश
३१ दिसम्बर, १९०५ लाख रु०	३६०	२६३'३७	२५३८'२८	८२३'०
,, ,, १९१३ ,,	३७५	३७२'०७	४२२७'१६	१५३७'७५
,, ,, १९१६ ,,	३७५	३६०'९९	४९९१'४५	१७२९'२५
१५ अक्टोबर १९१९ ,,	३७५	३५७'००	७५८८'९५	२८१९'२०

देशी ज्वायंट स्टाक बंक

(जिनकी पूंजी पांच लाखसे अधिक है)

	पूंजी	रिजर्व	डिपाजिट	नकद कैश
३१ दिसम्बर १९०५ लाख रु०	८४'५७	७७'८२	११९८'९२	१७३'५०
,, ,, १९१३ ,,	२३१'३३	१३२'९४	२२५९'१९	४००'१७
,, ,, १९१६ ,,	२८७'३६	१७२'६६	२४७१'०५	६०३'४९

देशी ज्वायंट स्टाक बंक

(जिनकी पूंजी एक लाख और पांच लाखके भीतर हैं)

	पूंजी	रिजर्व	डिपाजिट	नकद कैश
३१ दिसम्बर १९१३ ,,	३९'१४	११'३५	१५१'१५	२४'९५
,, ,, १९१६ ,,	५१'७७	११'५०	१०१'२३	१६'७६

भारतवर्षमें एक्सचेंज बंकोंकी जितनी शाखायें हैं वे विदेशी व्यापारके लहने पावनेका कारबार करनेके अतिरिक्त मामूली 'बैंकिंग' का काम भी करती हैं। इन बंकोंमें भी देशके कारबारी रुपया जमा करते हैं। इन बंकोंकी भारतीय शाखाओंमें जितने रुपये देशी कारबारियोंने जमा किये थे वे इस प्रकार थे :—

३१ दिसम्बर, १९०५ को १७०४'४५ लाख, ३१ दिसम्बर,

१९१३ को ३१०३·५४ लाख और ३१ दिसम्बर, १९१६ को ३८०३·८८ लाख रुपया।

बंकोंके डिपाजिटसे पता लगता है कि व्यवसायी लोग बंकों पर कितना विश्वास करते हैं तथा उनसे कितना काम लेते हैं। प्रेसिडेन्सी बंकोंके पास सरकारी रुपये भी रहते हैं; ये बंक सरकारका भी काम करते हैं। यदि इन बंकोंसे सरकारी डिपाजिट निकाल दें तो केवल गैर सरकारी अमानत (डिपाजिट) ही रह जायगी। अब देखिये सब प्रकारके बंकोंमें कितना डिपाजिट रखा जाता है।

बंकोंमें गैरसरकारी डिपाजिट

सन्		१९०५	१९१३	१९१६
प्रेसिडेन्सी बंक	लाख रु०	२२२६·३७	२६४८·५०	४४७०·८७
एक्सचेंज बंक	,,	१७०४·४५	३१०३·५४	३८०३·८८
देशी ज्वायंटस्टाक बंक	,,	११९८·९२	२४१०·३४	२५७२·२८
		५१२९·७४	८१६२·३८	१०८४७·०३

औद्योगिक कमिशनके सामने बहुतसे गवाहोंने कहा था कि यहांके बंकोंसे व्यापार व्यवसायको पूरी सहायता नहीं मिलती। कमसे कम उद्योगधन्धोंको तो रुपयोंके लिये बड़ी कठिनता रहती है। प्रेसिडेन्सी बङ्कोंसे धन्धोंके लिये मकान और कलपुर्जोंकी जामिनी पर ज्यादा दिनके लिये कर्ज नहीं मिल सकते। यहांका कानून ऐसा नहीं करने देता। बड़े बड़े कारबारियोंको तो कलकत्ते, बम्बईमें दूसरे दूसरे बङ्कोंसे आसानीसे रुपये मिल जाते हैं। परन्तु छोटे छोटे व्यवसायियोंको, विशेष कर हिन्दु-

स्तानी व्यवसायियोंको रुपये बड़ी मुश्किलोंसे मिलते हैं। जिन बङ्कोंके योरोपियन संचालक हैं उन बङ्कोंसे हिन्दुस्तानी कारबारियोंको शीघ्र कर्ज नहीं मिलते हैं। हिन्दुस्तानी कारबारी अपनी अवस्थाका पूरा परिचय देकर इन योरोपियन संचालकोंको सन्तुष्ट करनेमें असमर्थ रहते हैं। इससे इन्हें बड़ी हानि उठानी पड़ती है। बहुतसे गवाहोंने राय दी थी कि प्रेसिडेन्सी बंकोंमें कमसे कम एक हिन्दुस्तानी संचालक अवश्य रहा करें।

उद्योग धन्धोंकी कठिनाई देखकर लोगोंने सलाह दी है कि 'इंडस्ट्रियल बंक' खोले जायं, जिनका काम उद्योगधन्धोंको कर्ज देना होगा। ये बंक धन्धोंकी सहायता कर सकेंगे, उन्हें अधिक दिनों तक कर्ज दे सकेंगे, नये नये धन्धोंके चल निकलनेमें सहायता पहुंचायंगे। जर्मनी और जापानमें ऐसे बंक मौजूद हैं। ताता कम्पनीने भी ऐसा बंक हालमें खोला है। औद्योगिक कमिशनने राय दी है कि सरकार शीघ्र ही ऐसा कमिशन बैठावे जिसका काम बंकोंके विषयका पूरा पूरा निर्णय करना हो। परन्तु जबतक यह न हो तबतक छोटे छोटे व्यवसायियोंकी सहायता करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये कमिशनने राय दी है कि अपनी जामिनी पर सरकार इन कारखानोंको बंकोंसे कर्ज दिलवाया करे। बड़े बड़े नये कारखानोंको सरकारसे भी सहायता दी जा सकती है, इन्हें रुपया कर्ज देकर, इनके बनाये मालको खरीदकर, इन कम्पनियोंके शेयर खरीदकर, या इनके मुनाफेकी शरह ठीक कर सहायता पहुंचा सकती है। छोटे

छोटे व्यवसायियोंको रुपया कर्ज देकर, या किश्तपर कल-पुरजे देकर सहायता पहुंचा सकती है।

सरकार प्रेसिडेन्सी बंकोंमें तो बहुत सा रुपया डिपाजिट रखती है, पर उसके अलावा भी अपने लेन देनके लिये हर जिले और सब-डिविजनमें खजाना खोले हुए है। २७० जिलों और कोई १५०० ताल्लुकोंमें सरकारी खजाने हैं। यहींसे सरकारी लेन-देन हुआ करता है। कभी कभी इन सरकारी खजानोंमें करोड़ों रुपया पड़ा रहता है, खास कर फसलके दिनोंमें तो यह अमानत और भी बढ़ जाती है। ठीक इसी समय बाजारमें रुपयोंकी बड़ी मांग रहती है। व्यापारी लोग जूट, कपास, तेल-हन, गल्ला, खरीदनेके नकद रुपये ढूंढ़ते फिरते हैं। बंकोंसे ७), ८), ९) रु० सैकड़े सूदपर रुपया कर्ज लेते हैं। और ठीक उसी समय किसान अपना माल बेचकर सरकारको लगान या जमीं-दारोंको मालगुजारी अदा करते हैं। फल यह होता है कि सरकारी खजानोंमें भी ठीक उसी समय रुपये भर जाते हैं। इधर बाजारमें रुपयोंकी तंगी, और उधर सरकारी खजानोंमें रुपयोंकी बहुतायत। इससे बंकों और व्यापारियोंकी राय है कि सरकार ऐसे ऐसे मौकों पर अपने खजानेमें रुपयोंको न रख कर फालतू रुपये थोड़े समयके लिये कम सूदपर, तथा अच्छी जामिनी पर, बाजारोंमें प्रेसिडेन्सी बंकोंके जरिये लगाया करे। ऐसा करनेसे फसलके समयकी दिक्कतें जाती रहेंगी, और माल भी पूरे दामपर बिक सकेगा। चेम्बरलेन कमिशनने भी ऐसी ही कुछ

राय दी थी। अभी लड़ाईके समयमें भी जब रुपयोंकी बड़ी तंगी हुई तो भारत सचिवने सरकारको जरूरत पड़ने पर, बाजार दरसे कम सूदपर, तीनों प्रेसिडेन्सी बंकोंको तीस लाख पाउण्ड तक कर्ज देनेकी आज्ञा दी थी। इससे बंकोंको बड़ा सहारा मिला। उसी तरह जब १९१७-१८ में रूईकी फसल खरीदनेके लिये रुपयोंकी तंगी हुई तो सरकारने पेपर करेन्सी रिजर्वमें से ४० लाख पाउण्ड तक कर्ज देनेका वचन दिया था।*

इन तीनों प्रेसिडेन्सी बंकोंके यहां जो सरकारी रुपया डिपाजिट किया जाता है उसकी तादाद हर साल बढ़ती जाती है। ये डिपाजिट बिना सूद ही बंकोंमें जमा रहते हैं।

प्रेसिडेन्सी बंकोंके यहां सरकारी डिपाजिट इस प्रकार थे :—

३० जून १९१२ में ४४० लाख, ३० जून १९१४ में ५८० लाख, ३० जून १९१६ में ७१४ लाख, ३० जून १९१७ में २२६३ लाख, ३० जून १९१९ में ७८३ लाख ; ३१ अगस्त १९१९ में ९७५ लाख रुपया।

सरकारी खजानेके अलावा पेपर करेन्सी रिजर्व और गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्वमें भी बहुत सा रुपया जमा रहता है। इनका कुछ अंश तो हिन्दुस्तानमें सरकारी खजानोंमें जमा रहता है और कुछ अंश विलायतमें भारतसचिवके खजानेमें रहता है। वहां विलायतमें कभी कभी भारतसचिव इन रुपयोंको व्यापारियों,

---

* See C. J. Hamilton's article in the Bengal Economic Journal Vol II, no 1.

और दलालोंके हाथ उधार देते हैं ; ये उधार बहुत ही थोड़े समयके लिये और अच्छी जामिनी पर लगाये जाते हैं। भारतके कारवारियोंका कहना है कि यदि सरकार इन रुपयोंको भारतमें भी कर्ज देने लगे तो देशकी पूंजी बढ़ जाय और उद्योग धन्धोंको बहुत ही लाभ पहुंचे।

आजकल भारत सरकार ऐसा बहुत सा काम करती है जो दूसरे देशमें सरकारी बंक द्वारा हुआ करता है। जैसे नोट चलाना, खजानोंका प्रबन्ध करना, पेपर करेन्सी और गोल्ड स्टैंडर्ड रिजर्वकी अमानतोंका इन्तजाम करना, 'कौन्सिल बिल' बेचना इत्यादि। ऐसे ऐसे काम दूसरे देशमें सरकारी बंक ही किया करते हैं। इसीलिये ५०-६० वर्षोंसे कहा जा रहा है कि भारतवर्षमें सरकारकी ओरसे एक ऐसा बङ्क खुले जिसकी शाखा प्रत्येक जिले और ताल्लुकेमें हो, और सरकार जिले जिलेके खजानोंमें रुपया न रखकर इन्हीं बङ्कोंमें रखा करे। इसके कई लाभ हैं। सबसे पहले तो मशहूर मशहूर जगहोंमें बङ्क खुल जायंगे ; फिर सरकारी खजाने उठ जायंगे, उनके उठनेसे सरकारी खजानोंके फालतू रुपये बाजारमें कर्ज दिये जा सकेंगे। सम्पूर्ण भारतमें सूदकी दर एक हो जायगी। फिर भारतसचिवको लंडन बाजारमें रुपये कर्ज लगानेकी जरूरत न रहेगी, ये रुपये भारतके बाजारोंमें ही कर्ज लगाये जायंगे जिससे भारतके व्यापार-व्यवसायको बहुत बड़ा लाभ होगा। देशी ज्वायंट स्टाक कम्पनियोंकी दशा सुधर कर उनकी उपयोगिता और लोकप्रियता बढ़ेगी ;

देशी कारवारको पूंजीके लिये आजकलके जैसा भटकना न पड़ेगा, नोट विभागका प्रबन्ध करने और चांदी खरीदनेके लिये सरकारी अफसरोंकी जरूरत न रहेगी।

सरकारने भी स्वीकार किया है कि एक भारतवर्षीय बङ्ककी जरूरत है, पर वह बङ्क, जिसका नाम शायद "इम्पीरियल बङ्क आफ इंडिया" होगा, गैर सरकारी ही होगा, सरकारी नहीं। यह तीनों प्रेसिडेन्सी बङ्कोंके संयोगसे खुलेगा, और इसके प्रबन्धमें सरकारका भी अधिकार होगा। यह बङ्क धीरे धीरे सरकारका भी सब काम करने लगेगा। पांच वर्षों में कोई १०० जिलों और ताल्लुकोंमें इसकी शाखायें खुलेंगी, और वहांकी सरकारी ट्रेजरियोंका काम भी इनसे ही लिया जायगा, सरकारी अमानत यहीं रहा करेगी। पर नोट विभाग या गोल्ड स्टैंडर्ड रिजर्वका काम इन्हें अभी नहीं सौंपा जायगा। प्रेसिडेन्सी बंकोंने इसको मंजूर कर लिया है, सिर्फ भारतसचिवकी अनुमतिकी देर है।

पांचवां अध्याय

उपसंहार

भारतकी आर्थिक अवस्थाका दिग्दर्शन—पहली कमजोरी—दूसरी कमजोरी—तीसरी कमजोरी—चौथी कमजोरी—हमारी औद्योगिक हीनता—हमारी बाधायें—फैक्टरियां और स्वतन्त्र कारीगर।

भारतकी आर्थिक अवस्थाका दिग्दर्शन—ईश्वरकी कृपासे यह संसारव्यापी महायुद्ध समाप्त हो गया; इन चारपांच वर्षोंसे धन और जनकी जो आहुति हो रही थी उसका अन्त हुआ; पर इसके परिणाम अवतक वर्त्तमान हैं और अभी वहुत दिनोंतक रहेंगे। इसके राजनीतिक परिणामोंसे हमें यहां मतलव नहीं है; इस महायुद्धके आर्थिक परिणामोंसे, विशेष कर भारतवर्षसे सम्वन्ध रखनेवाले प्रश्नोंका कुछ उल्लेख किया जायगा।

इस महायुद्धने वता दिया है कि जो देश सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है, जो सव तरहसे तैयार नहीं रहता, जो अपनी अवस्थाका परिवर्त्तन नहीं कर सकता है और शान्तिकी व्यवस्था वदलकर युद्धकी व्यवस्था तथा युद्धकी व्यवस्था वदलकर शान्तिकी व्यवस्था अनायास ही नहीं कर सकता है, वह धोखा खाता है। उसे

नुकसानी उठानी पड़ती है; होश सम्हालतेसम्हालते उसे लाखों करोड़ोंकी क्षति हो जाती है। जब लड़ाई शुरू हुई तब भारतवर्ष-के उद्योगधन्धोंकी अवस्था शोचनीय थी। वह बहुत सा कच्चा माल बाहर भेजकर बदलेमें हर तरहकी जरूरी चीजें विदेशसे मंगा लिया करता था और इस तरह बहुत बड़ा व्यापार कर रहा था सही; पर साथ ही साथ उसे एक मामूली कील सूई या पेंच बनाने तककी शक्ति नहीं थी। इसमें वह बिलकुल निःसहाय था; दूसरों की मेहरबानीसे ही सभ्य संसारकी चीजें व्यवहार कर सभ्य कहलाता था। पर जब लड़ाई छिड़ी और बाहरसे माल-का आना बन्द हो गया, तब तो इसकी अवस्था एकदम करुणा-जनक हो गयी। बेचारा बुड्ढा भारतवर्ष, पहनने ओढ़ने, खाने पीने, दवादारू, ऐश-आरामकी चीजोंके लिये तरसने लगा; चारों ओर हाहाकार मच गया। जिनके पास धन था, उन्होंने तो एककी जगह तीन खर्चकर किसी तरह काम चलाया, पर जो गरीब थे वे मामूलीसे भी मामूली चीजोंको तरसते रहे और तरस रहे हैं। न मालूम और कितने दिनोंतक तरसा करेंगे। फिर इन्हीं गरीबों-की संख्या अनगिनत है, वे ही समाजके सबसे बड़े अंग हैं। भारतवर्षको इतना बड़ा मौका मिला, अपने उद्योगधन्धोंकी उन्नति करनेका इतना बड़ा अवसर हाथ आया; पर फिर भी भारतवर्ष कुछ न कर सका। करे तो क्या करे, लंगड़ा कहीं पहाड़पर चढ़ सकता है या बौना आसमान छू सकता है? मैदान खाली पाकर जापान और अमेरिकाके कारबारियोंने अपने पैर जमायें; उनकी

कृपासे ही आजकल भी दो चार चीजें मिल जाती हैं, नहीं तो मालूम नहीं, कि हमलोग फिर भी किस वर्वर्ताको पहुंच जाते।

इतना सब कुछ होते हुए भी हमलोग पुरानी कहानियोंसे बाज नहीं आते। अब भी हमलोग चन्द्रगुप्त, अशोक या अकबर, शाहजहांके समयके धनकी प्रशंसा कर अपने मनको सन्तोष देते हैं, अब भी ऐतिहासिक समयकी धन सम्पत्तिके वर्णन पढ़ पढ़ कर सुख मानते हैं। और इन्हें पढ़ते पढ़ते कुछ ऐसी धारणा सी बंध गयी है कि भारतवर्षको कभी किसी प्रकारके धन्धेके लिये कच्चे मालका अभाव न होगा, चाहे जिस प्रकारका व्यवसाय क्यों न हो, अनायास ही किया जा सकेगा और वह धंधा विदेशके धंधोंकी प्रतियोगितामें बखूबी टिक भी जायगा, पर यह बड़ा भारी भ्रम है। यह वही कह सकता है जिसे योरोप, अमेरिकाकी शक्ति का पूरा ज्ञान नहीं है, जिसने इन महादेशोंके व्यापार-धन्धों ज्ञान-विज्ञानकी अपरिमित शक्तिका अध्ययन नहीं किया है। अब वे दिन गये, जब हमलोग मनमोदकसे भूख बुझाया करते थे, अपनी प्रशंसा आप करके फूले अंग न समाते थे। इस भावने हमलोगोंका बड़ा नुकसान किया है, उसने हमें बहुत दिनों तक मोहजालमें फंसा रखा था। अब समय है कि हम आंखें खोलकर अपनी चारों ओर देखें और कलेजा थाम कर अपनी हीनदशाका पूरा पूरा और सच्चा ज्ञान प्राप्त करें। देखें, कि कहां कौनसी त्रुटियां हैं, कौन सा धन्धा खड़ा कर सकते हैं और कौन सा नहीं। हमारी प्रकृतिसम्भूत शक्तियां कितनी हैं और कबतक चलेंगी, इत्यादि।

अभी जो औद्योगिक कमीशन बैठा था उसने भारतवर्षकी औद्योगिक शक्तिका बहुत कुछ पता लगाया है; हमारी कमजोरियोंको भी अच्छी तरह दर्शाया है। हमलोग अपनी कमजोरियोंको निम्नलिखित श्रेणियोंमें बांट सकते हैं।

पहली कमजोरी—स्वाभाविक कारणोंसे हो वा ऐतिहासिक कारणोंसे, अथवा दोनोंके संयोगसे, हम लोगोंके चरित्रमें साधारणतः कई दोष पाये जाते हैं। और इनके कारण हमलोग धनोत्पादनमें पश्चिमीय जातियोंका सामना नहीं कर सकते। जिस उद्यम उत्साह और आत्म-विश्वाससे मनुष्यको जीवनमें सफलता प्राप्त होती है, वह हमलोगोंमें नहीं मिलती। हम लोगोंमें शौर्य तथा नेतृत्व शक्तिका अभाव है; हमलोग अपनी शक्तिके भरोसे कोई बड़ा काम सहजहीमें नहीं कर सकते; पर यदि कोई दूसरा व्यक्ति नेता बने, जिम्मेदारी ले तथा कार्य संचालन करे तो हमलोग बखूबी उसकी मातहतीमें काम चलायेंगे। भाग्यपर भरोसा करना, थोड़ेमें सन्तोष कर लेना, हर हालतमें खुश रहना, चाहे ईश्वर जिस अवस्थामें रखे, हमारा स्वाभाविक धर्म्म हो गया है। आखिर संसार तो अनित्यही है, फिर इसके लिये क्यों कष्ट उठावें! राजा रंक, अमीर गरीब, सुखी दुःखी, सबकी तो एक गति है! तब फिर व्यर्थके झंझटोंसे अपने रामको क्या मतलब! —इत्यादि भावोंका अखण्ड राज्य वर्त्तमान है। जबतक हम सारी दुनियांसे अलग थे, तबतक तो किसी तरह निभ गया; पर अब तो वह जमाना नहीं है। अब तो जातियोंकी परस्परकी घुड़-

दौड़का जमाना है, जो आगे रहा, वह जीता, जो पीछे पड़ा, वह हारा और हर तरहसे हीन बनकर रह गया।

"घुड़दौड़में कुदाईकी बाज़ी है आजकल,
तुर्की पै कोई ताजी पै अपने सवार है।
जो हिचकिचाके रह गया सो रह गया इधर,
जिसने लगाई एंड़ सो खन्दकके पार है॥"

आज डेढ़ सौ वर्षसे ब्रिटिश शासनके प्रभावसे, अखण्ड शान्तिका सुख उपभोग करते रहनेसे भी हम आलसियोंका चरित्रदोष कुछ बढ़ सा गया है। एक तो वैसे ही आलसी और दीर्घसूत्री थे। अब मेहनत और जोखिमसे और भी भागने लगे हैं। हाथोंसे परिश्रम करनेके बदले बातोंकी रोटी खाते हैं, वकालत और मियांजीगिरीकी ओर झुकते हैं, उद्योगधन्धोंकी मेहनत और जोखिमसे अलग रह कर व्यापार वाणिज्य करते हैं, और घर बैठे दूसरोंके बनाये मालको बेचकर कमीशनसे दौलत इकट्ठी करते हैं। या उससे भी सरल बङ्कोंमें रुपया जमा कर या कम्पनी कागज खरीद कर सूदखोरी करते हैं। कृषिकर्म जैसे सरल सहज तथा बिना जोखिमके धन्धे करके ही प्रसन्न हो जाते हैं। भला, सौभाग्यसे कहीं कहीं उन्नतिके लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं, देखें, हमलोग अपनी पुरानी आदतोंको कहां तक छोड़ सकते हैं।

दूसरी कमजोरी—हमलोगोंकी दरिद्रता है। नैतिक दृष्टिसे दरिद्रता कोई पाप नहीं है। पर सम्पत्तिशास्त्रके सिद्धान्तोंके

अनुसार दरिद्रता घोर पाप है। इसीके कारण पूंजी नहीं मिलती कि नये धन्धे खड़े किये जायं और एक लगाकर दस पैदा करें, इसी दरिद्रताके कारण औजार नहीं खरीद सकते, कलपुर्जे नहीं ला सकते और फिर इनके अभावमें सम्पत्तिकी पूरी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। इसी दरिद्रताके कारण न हम प्रकृतिके दिये रत्नोंका ही पूर्ण उपभोग कर सकते हैं और न उसकी लायी हुई अड़चनोंको ही दूर करनेकी सामर्थ्य रखते हैं। प्रकृति पानी बरसाती है तो हमारी खेती होती है, और अगर नाराज होकर अतिवृष्टि या अनावृष्टि करती है, तो हम हाथ मलमलकर पछताते हैं, निरुपाय होकर अन्नकष्टसे भूखों मरते हैं। पर यदि हमारे पास पूंजी होती तो हम नहर निकालते, बांध बांधते और इसी तरह हजारों उपाय कर प्रकृतिसे लड़ते। इसी दरिद्रताके कारण न भरपेट खानेको पाते हैं, न कपड़ा पहननेको, जिस कारण न मनमें उत्साह होता है और न देहमें बल, इसीसे हमलोग हैजा, इनफ्लुएञ्जाके शिकार बनते हैं, अविद्याके अंधकारमें पड़े रहते हैं, यही अनर्थकी जड़ है।

दुर्भाग्यसे हमारे दुःखोंका यहीं अन्त नहीं होता। हमलोग तो दरिद्र हैं, पर और देशोंके लोग तो दरिद्र नहीं हैं न, इसी कारण वहांके व्यवसायी हमलोगोंको दरिद्र भी नहीं रहने देते। इनके उद्योग धन्धों; इनकी पूंजीके सामने हम दरिद्रोंकी दरिद्रता भी नहीं टिकने पाती। वे लोग अपनी पूंजी, अपनी विद्या बुद्धिसे हमारा कच्चा माल अधिक मूल्य देकर खरीद ले जाते हैं और

फिर उन्हींको तैयार कर हमारे हाथ वेचते हैं, और इतना सस्ता वेचते हैं कि हमलोग उतना सस्ता कभी वेच ही नहीं सकते। फल यह होता है कि हमारा धन्धा बैठ जाता है। ईख वोनेकी जमीन और ईखकी खेती रहते हुए भी हमारा खांड़का व्यवसाय वैठ गया, नीलका रोजगार मिट्टीमें मिल गया, कपास उपजानेपर भी हम लोगोंको कपड़ा विदेशी पहनना पड़ता है। किमाश्चर्य-मतः परम्!

हमलोग दरिद्र हैं, सिर्फ इतना कहनेसे ही हमारी अवस्थाका पूरा परिचय नहीं मिलेगा। उसको यहां पर और भी स्पष्ट करनेकी जरूरत होगी। समय-समय पर ब्रिटिश भारतकी सालाना आमदनीका हिसाव लगाया गया है, फी आदमी क्या औसत वैठता है, इसका भी पता लगाया गया है। १८७१ में स्वर्गीय दादा भाई नौरोजीने हिसाव लगा कर देखा था कि हम-लोगोंकी औसत आमदनी आदमी पीछे २३ रु० साल है। उसके वाद लार्ड क्रोमरने १८८१ में वताया कि यह आमदनी २७ रु० साल थी; पर पीछे लोगोंने हिसाव करके पता लगाया कि यथार्थमें यह आमदनी इससे कहीं कम थी। लार्ड कर्जनने, न मालूम किस हिसावसे, वताया था कि प्रत्येक भारतवासीकी आय ३० रु० साल है। प्रो० हार्नने अपने एक लेखमें (१९१८ ई० में) वताया है कि १८९१ में यह आय २८ रु०, तथा १९११ में, १८९१ के सिक्केके मूल्यके आधारपर, फी आमदी ३१ रु० थी। यदि इन हिसावोंको ठीक मान लें तो यह अवश्य

कहना पड़ेगा कि भारतकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय है, तथा चालीस वर्षों में इसने कोई सन्तोषजनक उन्नति नहीं की। आज-कल प्रायः डेढ़ आने रोजकी औसत आयपर भारतवासी जीते हैं। भला ऐसी अवस्थामें यदि लाखों आदमी आधा पेट खा कर जीयें, यदि करोड़ोंके तनपर वस्त्र न हो और रहनेको घर न हो तो आश्चर्य क्या? इस अवस्थामें यदि हमलोग घास फूस, टट्टीमिट्टीके मकानोंमें रहें, एक अंधेरी कोठरीमें पशुओंकी तरह दस पांच मर्दऔरत वालवच्चे गुजारा करें, जमीन पर सोयें, अंधेरेमें रहें, मिट्टी या चीनीके वरतनोंमें खांय, तो आश्चर्य्य ही क्या? क्या आपको मालूम है, कि आपका खानसामा जो १५) महीने पाता है, और माली जो १०) महीने पाता है, वह साधारणतः औसत भारतवासीसे क्रमशः ६ गुना और ४ गुना अधिक अमीर है। अव इसीके साथ इङ्गलैंडके लोगोंकी औसत आयका मिलान कीजिये। हिसाव लगानेसे पता चलता है, कि वहांके लोगोंकी औसत आय ४५ पा० है, अर्थात् ६७५ रु० अर्थात् भारत-वर्षके औसतसे २३ गुना अधिक! इतना ही नहीं, यह औसत आय वढ़ती जाती है, प्रायः ७० वर्ष पहले जो आय थी, वह आज पांचगुना अधिक हो गई है; पर भारत वर्षमें चालीस वर्षों में सिर्फ सैकड़े २४, २५ से अधिककी वृद्धि न हो सकी, * इङ्गलैंड

* विद्वानोंने हिसाव लगाया था कि लड़ाईके पहले (१९१३) युनाइटेड किंगडममें फी आदमी ४७ पा० की औसत आमदनी पड़ती थी; पर भारतमें सिर्फ २.५ पा०। जव कि १९०१ से १९११ तकके दस वर्षों में ब्रिटिश साम्राज्यके प्रत्येक अंशमें औसत आमदनी बढ़ी थी वहां भारतकी आमदनी ज्योंकी त्यों रही न घटी।

वालोंने सिर्फ आय बढ़ा कर ही सन्तोष नहीं किया है, वे साथ ही साथ जनसंख्याकी भी वृद्धि करते गये हैं, उनके जीवनका आदर्श भी ऊंचा होता गया है।

हम इस दरिद्रताके कारण बीमारियोंके शिकार बनते हैं; हमारे यहां संक्रामक रोगोंका अड्डा बना रहता है; हमलोग प्लेगमें मरते हैं, अकालसे सताये जाते हैं। हमारी गरीबीके कारण हमारे बच्चे जन्मते ही मर जाते हैं, और जो बचते भी हैं, वे प्रायः लंगड़े और लूले हो कर जीते हैं। बड़े होने पर पूरा धन नहीं पैदाकर सकते तथा बीमार, बेकार और भिखमंगोंकी संख्या बढ़ाते हैं।

तीसरी कमजोरी—हमारा केवल कृषिपर भरोसा करना है; कुछ थोड़ेसे शहरोंको छोड़कर शेष आबादी देहातोंमें ही रहती है; अब भी दो तिहाईसे अधिक लोग कृषिपर ही भरोसा करते हैं। यह हमलोगोंकी कमजोरी है। इतने बड़े देशके लिये जहांकी सभ्यता इतनी पुरानी है, अबतक केवल कृषिकर्मसे निर्वाह करना अनुचित है। अबतक तो मुनासिब था कि भारतवर्षमें लोग कृषिकर्मसे निकलकर उद्योग धन्धोंमें लग गये होते, खेती बारीमें जितना अधिक हो सकता था उतना अधिक कलपुर्जोंकी सहायता ली गयी होती; हमलोग कच्चा माल न भेज कर तैयार माल बाहर भेजते होते; विदेशसे अपने खानेकी चीजें मंगाते। खेतीबारीको प्रधान कर्म बनाना उसी देशके लिये लाभकारी है जो देश नया है, जहांकी जमीन नई है

और जहांकी आवादी वहुत थोड़ी है। दुनियांमें विरला ही कोई देश मिलेगा जहां तीस करोड़से ऊपर लोग वसते हैं, जहां की सभ्यता और आवादी इतनी पुरानी है और तो भी वहांके लोग पुरानी चालपर खेती वारी करके ही जीते हैं। यह दृश्य सारे संसारके लिये अद्भुत है। इसका अर्थ यही है कि भारत-वर्षके लोग गरीव हैं और गरीव रहना भी चाहते हैं। दिन-दिन जनसंख्या वढ़ाते जाते हैं; पर आमदनी नहीं वढ़ाते, उद्योग-धन्धेमें नहीं जाते। खेतीसे जो कुछ थोड़ा वहुत मिल जाता है उसीसे सुख दुःखसे दिन काट कर कालक्षेप करते हैं। जीव-नका आदर्श कितना ही नीचा क्यों न हो जाय, वे खुश ही रहेंगे।

चौथी कमजोरी—लोहे और कोयलेकी कमी है। इसके अभावने भी लड़ाईके समयमें वढ़ियासे वढ़िया सुयोग मिलने पर भी उद्योगधन्धोंको वढ़ने न दिया।

आजकल उद्योग धन्धोंकी वृद्धिके लिये जितने द्रव्योंकी आवश्यकता होती है, उनमेंसे लोहा और कोयला ही सवसे प्रधान है। भारतवर्षमें प्रकृतिदत्त द्रव्योंमें सवसे अधिक इन दोनोंका अभाव ही हानिकारक है। यह तो सव किसी पर विदित है कि इगलैंण्डकी समृद्धि अठारहवीं सदीके मध्यभागसे आरम्भ होती है। उसी समय वहां कोयलेकी खानें खोली गयीं तथा उनके संयोगसे लोहा गलाना आरम्भ हुआ। इस कोय-लेसे उस कृत्रिम शक्तिका भी जो कलोंको चलाती है आविष्कार हुआ। तवसे इङ्गलैण्ड वरावर तरक्की करता रहा है, इसी

कारण इङ्गलैण्ड संसारके देशोंमें सबसे अधिक धनी भी बना रहा है। आजतक उद्योगधन्धोंका दारमदार इन्हीं दो धातुओं पर है। अठारहवीं सदीके बादका इतिहास भी यही प्रमाणित करता है। देखिये, जहां लोहे और कोयलेकी प्रचुरता है, वहां सुखसमृद्धि है, जहां इनका अभाव है, वहां दरिद्रता है। इङ्गलैंडके बाद अमरिका, संयुक्त राज्य और जर्मनीने अपने कोयले और लोहेकी तरक्की की थी, और इसी कारण इनका वाणिज्य व्यापार भी बहुत कुछ बढ़ा था। स्पेन, इटली जैसे देशोंमें इनका अभाव है, इस कारण ये देश योरपमें होते हुए भी, बहुतही गिरी अवस्थामें हैं।

ये बातें नीचे दिये अङ्कोंसे, (जो सर सी० मनीकी बनाई किताब * से ली गयी हैं,) और भी स्पष्ट हो जायगी।

दुनियामें कितना कोयला निकला (१६११)

	लाख टन
युनाइटेड किंगडम	२७२० ,, ,,
अमेरिका संयुक्तराज्य	४४३० ,, ,,
जर्मनी	२३१० ,, ,,
जोड़	६४६० ,, ,,
शेष दुनियांमें	१६४० ,, ,,
कुल जोड़	११४०० ,, ,,

उसी तरह १६१२ में सारी दुनियांमें कुल ७२० लाख टन लोहा (Pig Iron) बना, जिसमेंसे :—

* Sir L. G. Chiozza Money—The Nation's Wealth.

युनाइटेड किंगडममें	८८	लाख टन
अमेरिका-संयुक्त राज्यमें	२६७	,, ,,
तथा जर्मनीमें	१७६	,, ,,
कुल	५६१	लाख टन

लोहा तैयार हुआ। शेषमेंसे फ्रान्स तथा रूसमें ६० लाख टन और बाकी दुनियांमें सिर्फ ७० लाख टन लोहा बना। भला ऐसी अवस्थामें क्या कोई आश्चर्य्य कर सकता है कि इङ्गलैण्ड, अमेरिका-संयुक्तराज्य और जर्मनी सारी दुनियांके व्यापारवाणिज्यको अपने अधिकारमें कर लें ? बस इन्हीं दो खनिज द्रव्योंके हिसाबसे पता लग जाता है, कि कौन देश कितना बड़ा व्यापारी और धनी है।

अब जरा गरीब भारतकी दशाको भी इनसे मिलाकर देखिये। मिलान करनेसे हमलोग अपने पुराने जमानेकी ऐतिहासिक सम्पत्तिकी डींग कभी न मारेंगे। जहां १९११ में इङ्गलैण्डने २७२० लाख टन, संयुक्तराज्य अमेरिकाने ४४३० लाख टन कोयला निकाला था, वहां भारतवर्षने सिर्फ १२७ लाख टन कोयला निकाला, जिसमेंसे भी थोड़ा सा कोयला बाहर विदेश भेज दिया! भला, जो देश दुनियांकी खानोंसे निकले कोयलेका सिर्फ सौवां हिस्सा निकालता है, वह कैसे धनी कहला सकता है ? लड़ाई छिड़नेके कारण, कोयलेकी मांग बढ़ जाने, देशके बाहर मेसोपोटेमिया इत्यादिमें कोयलेकी जरूरत रहने पर भी हमलोग १९१६ में १७२ लाख टनसे अधिक कोयला बाहर

न निकाल सके। लोहे (Pig Iron) की हालत तो और भी हास्यजनक है। अभी हालतक तो हमलोग लोहेका कोई धन्धा ही नहीं करते थे; पर भला हो बङ्गाल आयरन तथा ताता कम्पनियोंका कि जिनके कारण भारतवर्षमें इस धन्धेका नाम लिया जा सकता है। लिखते हुए दुःख होता है कि खानोंके रहते हुए भी हम लोगोंने १९१६ के ऐसे जमानेमें कुल २·४ लाख टन लोहा तैयार किया। देखिये, इङ्गलैण्ड, संयुक्तराज्य अमरिकाकी तुलनामें यह क्या है? समुद्रके सामने एक बून्द पानी!

हमारी औद्योगिक हीनता—एक तो यहां कलोंसे चलनेवाले उद्योगधन्धे हैं ही नहीं, और जो थोड़े बहुत नाम लेनेको हैं भी उनकी दशा शोचनीय और अवस्था अस्वाभाविक है। बढ़ता हुआ विदेशी व्यापार इस हीन दशाको और भी हीनतर बना रहा है। अपने कच्चे मालको व्यवहारोपयोगी बनानेकी जगह भारतवर्ष उन्हें बाहर भेज देता है और उनके बदलेमें तैयार माल मंगा लिया करता है। साधारणतः ऐसा करते हुए उसे किसी तरहका कष्ट नहीं होता। उल्टे विदेशी धन्धेवाले इसमें उसे और भी उत्साह देते हैं; विदेशसे कच्चे मालकी मांग दिनपर दिन बढ़ती जाती है, उनका मूल्य चढ़ता जाता है, और ज्यों ज्यों मूल्य चढ़ता है त्यों त्यों कच्चे माल देश छोड़कर विदेश चले जाते हैं। ऐसी अवस्थामें, इस बेरोक टोक व्यापारके जमानेमें भारतमें धन्धा खड़ा करना और देशी कच्चे मालको बाहर जानेसे रोककर देशमें ही व्यवहार करना तथा विदेशी बढ़िया, सुडौल चिकने

चमकीले, भड़कीले मालकी जगह देशी भद्दी चीजोंका प्रचार बढ़ाना बड़ा कठिन है।

इसके अतिरिक्त एक और भी बड़ी भूल हुई है जिस पर हम लोगोंने कलोंसे चलाये जानेवाले धन्धोंको खड़ा करनेके समय बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया। जहां देशमें लोहा ईस्पातका कारखाना खोलना चाहिये था, जहां लोहा गलाकर, ढालकर कल पुर्जे मशीन इत्यादि बनाना चाहिये था, वहां हमलोगोंने यकायक काटन, जूटको मिलें खोल दीं, रेल लाइनें निकाल दीं। फल यह हुआ कि इनका जीना मरना उन देशों पर लगा रहा जो इन धन्धोंको चलानेके लिये कल पुर्जे, इंजिन, बायलर इत्यादि बना कर देते रहे। अगर उन्होंने देना बन्द कर दिया तो फिर आफत आयी! उसी तरह जहां रासायनिक द्रव्योंका बनाना आरम्भ करना चाहिये था वहां हमलोगोंने कागज, चमड़े इत्यादिकी मिलें खोलीं, और रासायनिक द्रव्योंके लिये विदेश की राह देखी। इसीसे कहते हैं कि हमारा औद्योगिक प्रयत्न अस्वाभाविक हुआ है, हम लोगोंने बिना नींवकी छत खड़ी करनेकी कोशिश की है।

बर्म्माकी खानोंमें जस्ता, सीसा मिलता है, पर हमलोग उसे यहां बनाते ही नहीं। देशमें तांबेकी खानें हैं, पर हालतक कहीं तांवा नहीं बनता था। यहां 'बौक्साइट' की खान है, पर तो भी कोई कारखाना अलुमिनियम नहीं बना सकता। टंगस्टन मिलता है, पर कहीं कड़ा ईस्पात (high speed steel) नहीं बनता। क्रोमाइट है, पर उसे कोई व्यवाहर नहीं करता। फेरोमंगनीज

अभी हालसे थोड़ा बहुत व्यवहारमें आने लगा है। सारी दुनियामें सबसे अधिक यहां अभरक निकालता है पर उसे व्यवहार नहीं करते। त्रवंकोरमें 'मोनाजाइट' मिलता है पर गैस बत्तियों के 'मैंटिल' के लिये विदेश जाना पड़ता है। उसी तरह रासायनिक द्रव्यों, तेजाबों दवादारू, हर चीजके लिये विदेश जाना पड़ता है। रबर रहते हुए भी रबरकी चीजें नहीं बनतीं। टीनकी खानें हैं पर टीनके डब्बे, कनस्टर कोई नहीं बना सकता। तेलहन हैं, पर तेल, पेंट, वार्निश, साबुन इत्यादि बाहरसे ही मंगाने पड़ते हैं। हम लोग कृषिसे जीते हैं, पर खेतीबाड़ीके लिये लाखोंका हल, फाल, कुदाली, फावड़े जैसे सामान बाहरसे मंगाते हैं।

हमारी दुर्दशाका यह तो बहुत ही अस्पष्ट और अपूर्ण चित्र है। जबतक ऐसी हालत रहेगी तबतक उन्नतिकी कैसे आशाकी जा सकती है?

हमारी बाधायें-कलोंसे चलनेवाले जितने धन्धे हैं उनमें कृत्रिमशक्ति उत्पादन करनेके लिये ईंधनकी बड़ी जरूत होती है। इंजिनोंमें कोयले, लकड़ी या तेल जलाये बिना शक्ति उत्पन्न नहीं होगी; और यदि शक्ति उत्पन्न न हुई तो आपकी कलें चल ही नहीं सकतीं। फिर ये ईंधनों सस्ते पड़ने चाहिये; यदि ये मंहगे हुए या दूर देशसे मंगाना पड़ा तो खर्च बढ़ जायगा और कारखाना ही फेल जायगा। इसलिये इनका बड़ा महत्व है।

भारतवर्षके दुर्भाग्यसे ईंधन, विशेषकर पत्थर कोयला, सुभीते से नहीं मिलता। भारतवर्षके दो बड़े बड़े व्यवसाय--काटन और

जूट—कोयलेकी खानोंसे दूर बम्बई, कलकत्तेमें हो रहे हैं। सबसे अधिक और बढ़िया कोयला रानीगञ्ज तथा छोटा नागपुरके इलाकोंमें मिलता है। पर वहांसे कलकत्ता, बम्बई दोनों दूर हैं। कलकत्ता तो किसी तरह काम चला लेता है, पर बम्बई तो कोयलेको मंहगीसे बड़ा नुकसान उठाता है। काटन मिलोंको इससे बड़ी हानि पहुंचती है। अब यह भी सम्भव नहीं है कि काटन मिलें उठाकर छोटा नागपुर पहुंचा दी जायं; पर भविष्यमें यह अवश्य ही करना पड़ेगा कि लोहेके कारखाने छोटा नागपुरके इलाकेमें ही खुलें, क्योंकि वहां लोहा कोयला दोनों पास ही पास मिल जाते हैं। इसी कोयलेके अभावने मद्रासप्रान्तमें कोई बड़ा धन्धा नहीं खड़ा होने दिया है।

पत्थर कोयलेके बाद लकड़ीके कोयलेका स्थान है। पर लकड़ीके कोयलेसे कृत्रिम शक्ति उत्पन्न करनेमें अधिक खर्च पड़ता है, पर यदि लकड़ियोंसे अलकोहल, अलकतरा, 'असिटेट आफ लाइम' इत्यादि द्रव्य चुलाये जायं तो कोयला बहुत सस्ता पड़ेगा और काममें लाया जा सकेगा। मद्रासको इस ओर बहुत ही ध्यान देना चाहिये। यह छोटे छोटे इंजिनोंके लिये काफी हो सकता है।

उसी तरह किरासिन तेल और अलकोहलसे भी ईंधनका काम लिया जा सकता है। पर तेलकी खानें वर्मामें कमजोर होती जाती हैं, नई खानोंका बहुत अच्छा उपयोग नहीं हो सका है। हां, यदि हमलोगोंका जीता हुआ मसोपोटेमिया कब्जेमें रह

गया तो 'परशियन आयल कम्पनी' की खानोंसे बहुत सा तेल मिल सकेगा। इससे बम्बईको बड़ा लाभ होगा। बम्बई इलाके में तो अभीसे रेल इंजिनोंमें किरोसिन तेल जलाया जाने लगा है। इसके अतिरिक्त वनस्पतिसे भी 'अलकोहल' बन सकता है जो ईंधनका काम देगा।

सबसे बड़ी आशा विद्युतशक्तिसे की जा रही है। पहाड़ी नदियों और झरनोंसे बिजली पैदाकर मंसूरी, दार्जिलिङ्ग जैसे इलाकोंमें रोशनी करने, चायके बगीचोंमें कल चलानेका काम जारी है, पर वहां कोई बड़ा कारखाना जारी नहीं हो सकता। सबसे पहले मैसूर दरबारने पानीसे बिजली उत्पन्न कर उसकी शक्तिसे काम लेना शुरू किया था, आजकल इसी शक्तिसे कोई १८ हजार घोड़ोंकी ताकतसे कोलरकी सोनेकी खानोंका काम चलता है। काश्मीर दरबारने भी पानीसे बिजलीकी शक्ति उत्पन्न करनेका कारखाना बनाया है। इन सबसे बड़ा कारखाना ताता कम्पनीका है जो पश्चिम घाटपर बरसने वाले जलको रोक थाम कर लनवलामें बिजली उत्पन्न करता है, और वहांसे कोई ४२ हजार घोड़ोंकी शक्ति बम्बई भेजता है। बम्बईमें इस शक्तिसे बहुत सी काटन मिलें चलती हैं। अन्ध्राघाटोमें इससे भी एक बड़ा कारखाना खोला जा रहा है।

बिजलीकी शक्ति सस्ती पड़ती है और अच्छी होती है। यह कोयलेके धूयें, राखसे शहरको बचाती है। यदि इसका प्रचार बढ़ जाय तो वैसे बहुतसे कारखाने खुल सकें जो आजकल

ईंधनकी मंहगीके कारण नहीं खुल सकते। सरकार यह जांच करा रही है कि कहां कहां ऐसे कारखाने खुल सकते हैं। यदि इसका प्रचार बढ़ गया तो भारतका भाग्य अवश्य ही फिरसे चमक उठेगा।

फैक्टरियां और स्वतन्त्र कारीगर—भारतवर्षमें काटन, जूट इत्यादिकी मिलें खुली हैं, वहां कलों द्वारा काम होता है, लाखोंकी पूंजी लगायी गयी है, सैकड़ों हजारों मजदूर इकट्ठे एक जगह काम करते हैं सही, परन्तु साथ ही साथ देशमें असंख्य स्वतन्त्र कारीगर और हजारों छोटे छोटे कारखाने और व्यवसाय भी हैं, जहां थोड़ी पूंजी लगायी जाती है और कारीगर अपने बालबच्चों समेत सब मिलकर माल तैयार करता है। जैसे मिलों-का कपड़ा बिकते हुए भी करघोंका सूती रेशमी माल बनता है और बिकता है, वैसे ही सैकड़ों किस्मके कारीगर पेशा लोग तरह तरहकी चीजें बनाकर बेचते हैं और फिर साथ ही साथ उसी किस्मकी कलोंकी बनी हुई देशी विदेशी चीजें भी बाजारमें आती हैं और बिकती हैं।

अब बराबर यह प्रश्न उठता रहता है कि इन स्वतन्त्र कारी-गरों और छोटे छोटे व्यवसायों (Cottage industries) की उन्नति की जाय या नहीं ; या उनकी जगहपर बड़ी बड़ी फैक्टरियां खोलकर ही काम चलाया जाय या नहीं। कुछ दिनोंतक लोगोंको फैक्टरियां खोलनेकी धुन सवार थी, लोगोंने सोच रखा था कि मिलों और फैक्टरियोंके जमानेमें छोटे छोटे स्वतन्त्र

कारीगरोंका रहने देना हानिकारक है, फजूल है, तथा युक्तिसंगत भी नहीं है। पर जब लोगोंने देखा कि हजार आफत आनेपर भी स्वतन्त्र कारीगर वा छोटे छोटे स्वतन्त्र व्यवसाय नहीं मिटे, जब देखा गया कि जापानने अपनी तरक्की करने पर भी इन स्वतन्त्र कारीगरों और छोटे छोटे रोजगारोंको जारी ही रखा, जब देखा गया कि फ्रान्स, जर्मनी, इङ्गलैण्डमें भी ऐसे छोटे छोटे स्वतन्त्र व्यवसायी अबतक बने हुए हैं, तब लोगोंके विचार बदल गये। अब सरकारी, गैर-सरकारी सब तरहके मतवादियोंकी रायमें इन छोटे छोटे धन्धोंको जिलाये रखना, उनकी उन्नति करना आवश्यकही नहीं वरन् लाभदायक भी जंचने लगा है। लोग कहते हैं कि ऊन, सूत, रेशमकी बड़ी बड़ी मिलें खुलें, पर करघे भी चलते रहें; टैनरियां और चमड़ेके कारखाने रहें, पर साथ ही साथ मोची भी जूता, चपोड़ा बनाया करें। उसी तरह बढ़ई, मेमार, रंगसाज, लखेरे, ठठेरे, सुनार, लुहार, दर्जी इत्यादि इत्यादि हर तरहके पेशेवरोंको तरक्की करनेका पूरा पूरा मौका दिया जाय। उन्हें अपनी दूकानों या घरोंमें बैठकर ही काम करने दें, उनको घरसे हटाकर फैक्टरियोंमें बैठानेकी जरूरत नहीं है।

पर आवश्यकता है इस बातकी कि ये पेशेवर अपने पेशेकी पूरी जानकारी रखें, मेहनत बचानेवाले तथा सफाईसे काम देनेवाले औजारोंका इस्तेमाल सीखें, बाजारमें कहां किस चीजकी मांग है, किस फैशनकी चीज खूब बिकेगी, कैसा माल बाजारमें बेचनेसे दाम पूरा आयगा इत्यादि बातोंकी अभिज्ञता रखें।

इन सब बातोंके लिये जगह जगहपर कारीगरी सिखानेके लिये वैसे स्कूल हों जहां सच्ची शिक्षा मिले ; आजकल जैसे टेकनिकल या इण्डस्ट्रियल स्कूलोंसे काम नहीं चलेगा। फिर इन्हें सहयोग-समिति या अन्य किसी उपायसे औजार खरीदने, तथा कच्चा माल मोल लेनेमें सहायता दी जाय। उन्हें बाजारोंकी खबर पहुंचायी जाय, कहां, कब और किस फैशनकी चीजकी जरूरत है इसकी सूचना मिले। फिर इनकी बनायी चीजोंको देश, विदेश हर जगह बेचने, इनके प्रचार बढ़ानेका पूरा पूरा उद्योग हो। हर प्रधान शहरमें, बड़े बड़े स्टेशनोंमें ऐसी दूकानें खोली जायं जहां इलाके भरकी अच्छी चीजोंकी प्रदर्शिनी हो, वहां उनकी कीमत, बनानेवालेका नाम, पता इत्यादि बताया जाय, तथा वहींसे, यदि जरूरत हो तो, लोग माल भी खरीद सकें। बड़े बड़े शहरोंमें 'स्वदेशी भाण्डार' खुलें, जहां सब किस्मकी चीजें मिल सकती हों। बम्बईके स्वदेशी स्टोर्स और कलकत्तेके 'बङ्गाल होम इण्ड-स्ट्रीज' की तरहकी दूकानें देश भरमें फैल जायं। ऐसा न करनेसे इन वस्तुओंका प्रचार नहीं बढ़ सकता, इच्छा रहनेपर भी लोग माल नहीं खरीद सकेंगे। फिर देशके बाहर भी ऐसी संस्थायें हों जो देशी मालको नये देशोंमें, नये बाजारोंमें बेचनेका प्रबन्ध करती रहें।

इसकी जरूरत नहीं है कि भारतवर्ष योरप अमरिकाकी तरह बड़े बड़े रोजगार खड़े कर दे और अपने छोटे छोटे धन्धोंको करघों, चरखों, मोची, बढ़ई, जुलाहे, रंगरेज, छीपी वगैरहके

पेशोंको—एकदम उठा दे और उनकी जगह पर मशीनोंसे चलने-वाले भीमकाय मिलों, पुतलीघरोंको जगह जगह कायम कर दे। भारतके लिये ऐसा करना न कभी सम्भव ही है और न अभीष्ट ही है। हम इसके खिलाफ हजार कोशिश क्यों न करें पर कृषि-कर्म हमलोगोंका एक प्रधान कर्म अवश्य ही बना रहेगा, हम इसे छोड़ नहीं सकते, और जबतक इस कृषिकर्ममें हमारे करोड़ों देशवासी लगे रहेंगे तबतक उनके लिये छोटे छोटे रोजगारोंको अवश्य ही जिलाये रखना पड़ेगा। हजार तरक्की करनेपर भी कृषकोंको सालमें तीन चार महीनेकी बेकारी रहेगी ही, उस समय वे क्या करेंगे? अवश्य ही बेकाम नहीं बैठे रहेंगे, घर बैठे कुछ न कुछ धन्धा जरूर करेंगे। यदि इस धन्धेमें उन्हें बाल-बच्चों समेत सब मिल जुलकर काम करनेका मौका मिले और घरबार छोड़कर बाहर न जाना पड़े तो सोनेमें सुगन्ध हो जायगी। यह उनकी प्रकृति और कृषिकर्मके अनुकूल ही होगा। सूत कातने, कपड़ा बुनने, रस्सी बांटने, टोकरी बनाने, रंगने, छापने इत्यादिके रोजगार ऐसे ही हैं,—ऐसे धन्धे कृषिकर्मके साथ साथ बखूबी चल सकते हैं। कृषिकर्मके साथ साथ ऐसे धन्धोंके चलानेका एक और कारण है। एक तो कृषकोंको बहुत छुट्टी रहती है; दूसरे प्रत्येक कृषकके पीछे जमीन इतनी कम पड़ती है कि उससे सम्पूर्ण परिवारका निर्वाह नहीं हो सकता; तीसरे खेती कितनी ही बड़ी क्यों न हो केवल उसीपर निर्भर करना कभी उचित नहीं। जब सूखा पड़ जायगा या फसल बरबाद हो

जायगी तब कृषकोंकी क्या हालत होगी। वे अकालसे कैसे लड़ सकेंगे? इसके लिये अत्यन्त आवश्यक है कि वे कृषिके साथ साथ कृषिसे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे दूसरे रोजगार भी करते रहें। जापान भी यही कर रहा है और भारतवर्षको भी यही करना पड़ेगा, इन छोटे छोटे धन्धोंको सदा जीवित रखना पड़ेगा। एक कृषक देशके लिये इससे भिन्न दूसरा उपाय नहीं है।

यदि भारत चाहे तो भी योरप, अमरिकाकी तरह उद्योग-धन्धोंका संगठन नहीं कर सकता, उसकी आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्थिति ही कुछ ऐसी है। उसकी आर्थिक स्थिति—कृषि प्रधानताने उसे शहरोंको छोड़ गांवोंमें बसा रखा है; बाप, बेटे, भाई, भतीजे, भानजेका सम्मिलित परिवार बना दिया है, गांव भरके परिवारोंको एक प्रकारके सम्बन्ध सूत्रमें बांध रखा है। कृषिसे सम्बन्ध रखनेवाले जो दो चार सरल व्यवसाय हो सकते थे वे श्रेणीभुक्त हो गये हैं, उन व्यवसायियोंकी जाति बन गयी है। पर इन श्रेणियोंमें चढ़ा ऊपरी नहीं है, इनके यहां प्राण-घातिनी प्रतियोगिता नहीं है ; यहां न कोई मालिक है न मजदूर; यहां न 'बेकारी' का प्रश्न उठता है और न बुढ़ापेमें भूखों मरनेका ही डर है ; यहां मालिक मजदूरका हित विरोध नहीं है ; यहां न हड़ताल है और न द्वारावरोध ; यहां न मालिकोंके गुट्टकी जरूरत है और न मजदूरोंके संघकी। जैसी इसकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति सरल है, वैसे ही इसके नैतिक आदर्श भी उच्च हैं। यहां 'सरल जीवन और उच्च भावों' का आदर है। मनुष्य

अपने चरित्रसे बड़ा समझा जाता है, न कि धनसे। भला ऐसा भारत क्योंकर पश्चिमीय आदर्शपर व्यवसायका संगठन कर सकेगा। वहां तो उसे अपनी सरलता छोड़नी पड़ेगी, सन्तोषको तिलांजलि देनी पड़ेगी, एक ही टुकड़े के लिये लड़ते हुए कुत्तोंकी तरह बाप बेटे, भाई भतीजे पुरुष स्त्रीको आपसमें लड़ना पड़ेगा, मालिक मजदूरको 'पोषक और पोष्य' का भाव त्यागना पड़ेगा, दोनों ओरसे दावपेचकी कुश्ती होगी, बली जीतेगा और निर्बलको निर्दयतासे कुचल कर निर्मूल होना पड़ेगा। इस 'योग्यता' की लड़ाईमें असंख्य सैनिक हत और आहत होंगे, हमेशे दोनों ओरसे मोर्चेबन्दी होती रहेगी।

इस पश्चिमी व्यवसायकी दुनियांमें सरल गार्हस्थ जीवनको स्थान न मिलेगा, प्रत्येक परिवारको गांवोंके खुले आकाश और स्निग्ध वायुमण्डलसे विदा हो शहरोंको खाक, धूल और धूयेंका सेवन करना पड़ेगा ; पारिवारिक जीवनकी सम्पूर्णता, सरलता और पवित्रता नष्ट हो जायगी, स्त्री पुरुष अर्थपिशाचोंकी तरह 'अर्थागम' की चिन्तामें मस्त रहेंगे, घर सूना पड़ जायगा, बच्चे मा बापके दर्शनसे वंचित हो जायंगे, उनका पालन पोषण सन्तोष-जनक न होगा, अन्तमें सारे राष्ट्रको क्षतिग्रस्त होना पड़ेगा। ये भावनायें अतिरंजित नहीं हैं, कविकी मन गढ़न्त काव्य रचना नहीं हैं। योरप अमरिकामें ये रोज हो रही हैं, और भीषण, विकराल मूर्त्ति धारण कर चुकी हैं, वहांका समाज धीरे धीरे इनके ग्रासमें जा रहा है क्या भारत भी यही करना चाहता है?

जैसा कि इस अध्यायके आरम्भमें लिखा जा चुका है भारतको कृषि और उससे सम्बन्ध रखनेवाले उद्योगधन्धोंको यथासाध्य उन्नत अवस्थामें रखना होगा, उनकी अवनति करना प्राण गंवाना है। पर इतनेसे बढ़ती हुई अबादीका काम न चलेगा, और न देशकी प्रतिष्ठा, मर्यादा तथा आर्थिक सम्पूर्णताकी ही रक्षा होगी। इसीलिये साथ साथ प्रत्येक अनिवार्य व्यवसायका वृहद्से वृहद् आयोजन करना पड़ेगा। लोहा, ईस्पात, काटन, जूट, चमड़ा इत्यादि इत्यादि धन्धोंको बड़ेसे बड़े आकारमें संगठित करना होगा, जबतक इन दोनोंका सम्मिश्रण न होगा, जबतक दोनोंका यथोचित सम्मेलन न होगा तबतक भारतका भाग्य सूर्य न चमकेगा।

अन्तमें यह लिख देना उचित होगा कि देशके वाणिज्य व्यापार, उद्योगधन्धे, पैदावर इत्यादिका पूरा पूरा वर्णन छपना चाहिए और उसकी सूचना देशके व्यापारियों और रोजगारियोंको मिलनी चाहिए। सरकारके 'स्टेटिसटिकल विभाग' तथा 'कामर्शियल इनटेलिजेन्स' विभागसे ऐसी सूचनायें छपती हैं सही, पर इनसे पूरा काम नहीं चलता, अभी इनमें बड़ी उन्नतिकी आवश्यकता है। सरकारी 'ट्रेड जनरल' को भी अधिक उपयोगी बनाना पड़ेगा। खुशीकी बात है कि लंडनमें एक 'ट्रेड कमिश्नर' नियुक्त किया गया है जो भारतवर्षके विदेशी व्यापारकी निगरानी करता है, देशके मालके प्रचारका प्रयत्न करता है तथा व्यापारियोंको आवश्यक सूचना देकर सहायता देता है। उसकी

सहायताके लिये एक भारतवासी सज्जन भी नियुक्त किये गये हैं। परन्तु आवश्यकता है कि ऐसे दूत और जगह भी रखे जायं; ईस्ट आफ्रिका, मसोपोटामियामें तो अवश्य रहें, ये दूत ऐसे देशोंमें भी रखे जायं जहां देशी माल जाते हों, या जहां देशी मालकी कटतीकी आशा हो। ऐसा न करनेसे देशी व्यापारकी पूरी उन्नति नहीं होगी। जापान अमरिकाने जो भारतका व्यापार बढ़ाया है उसका विशेष कारण उनके भारतमें रहनेवाले दूत ही हैं।

हिन्दी पुस्तक एजेन्सीमाला

१२६, हरिसन रोड, कलकत्ता

प्रिय महाशय,

हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी मालाके स्थायी ग्राहकोंमें मेरा नाम लिखकर कृतार्थ करें। नियम स्वीकार हैं। ॥) प्रवेश फी भेज रहा हूं या पिछले पृष्ठपर निशान की हुई पुस्तकोंके वी० पी० के साथ वसूल कर लें। पुस्तकों पर नियमानुसार कमीशन काट दें।

नाम ....

पता ....

तारीख सन १९२०

मालाका उद्देश्य

भांति भांतिकी उत्तमोत्तम पुस्तकें हिन्दीमें शुद्धता और सफ़ाईसे बढ़िया कागज़ोंपर छापकर सचित्र सुदृढ़, जिल्द सहित सुलभ मूल्यमें घर घर पहुंचाना।

स्थायी ग्राहक होनेके लाभ

१—स्थायी ग्राहकोंसे एजेन्सीकी प्रकाशित पुस्तकोंका मूल्य २५) सैकड़ा कम लिया जाता है। डाकव्यय ग्राहकके जिम्मे।

२—प्रकाशित या प्रकाशित होनेवाली पुस्तकोंमेंसे आप जो चाहें लें। कोई बंधन नहीं है। नयी पुस्तक निकलनेपर घर बैठे पहले सूचना मिलेगी और १० दिन बाद वी० पी०। वी० पी० लौटानेसे डाकव्ययकी हानि ग्राहकके जिम्मे होती है। कोई पुस्तक लेनी न हो तो सूचना पाते ही मनाही लिख भेजें।

३—स्थायी ग्राहक होनेके लिए ऊपरका फ़ार्म भर कर या वैसा ही हाथसे लिखकर भेजें।

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी माला

अबतक निम्नलिखित १४ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं :—

नाम पुस्तक	लेखक	मूल्य
१ सप्तसरोज	"प्रेमचन्द"	॥)
२ महात्मा शेखसादी	"	।≤)
३ धनकुबेरताता	म० द्वि० ग० बी० ए०	।)
४ विवेकवचनावली	श्रीयशोदानन्दजी अखौरी	≤)
५ व्रजभाषा बनाम खड़ी बोली	"वि०" "प०"	≤)
६ सेवासदन	"प्रेमचन्द"	२॥)
७ क० गान्धीके महत्त्वपूर्ण लेख और व्याख्यान	"गान्धी भक्त"	१।)
८ संस्कृत कवियोंकी अनोखी सूझ	पं० जनार्द्दनभट्ट एम० ए०	।≤)
६ लोकरहस्य	एक हिन्दी रसिक	॥≤)
१० खाद	श्रीमुख्तारसिंह वकील	१)
११ प्रेम-पूर्णिमा	"प्रेमचन्द"	२)
१२ आरोग्यसाधन	महात्मा गान्धी	।-)
१३ भारतकी साम्पत्तिक अवस्था	प्रो० राधाकृष्ण झा एम० ए०	॥)
१४ भावचित्रावली (१०० अनोखे चित्र)	धीरेन्द्रनाथ गङ्गोपाध्याय	४)
शीघ्र प्रकाशित होनेवाली हैं :		लगभग
१५ राम बादशाहके छ हुक्मनामे	स्वा० रामतीर्थ	१)
१६ बालगुलिस्तां	पं० नारायण प्र० बेताब	१)
१७ टालस्टायकी कहानियां	टालस्टाय भक्त	१)
१८ रागिणी (उपन्यास)	वा० म० जोशी एम० ए०	३॥)
१६ चरित्रहीन "	श्रीशरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय	३)
२० हिन्दी जेबी कोप	एक प्रसिद्ध विद्वान्	१)

विद्वानोंकी सम्मतियोंका सारांश :—

बङ्ग भाषाके सर्वश्रेष्ठ लेखक उपन्यास सम्राट् श्रीमान् *शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय*—"गल्पें सचमुच बहुत उत्तम और भावपूर्ण हैं। रवीन्द्र बाबूके सिवा और कोई भी बङ्गला लेखक ऐसी अच्छी कहानियां लिख सकता है या नहीं इसमें सन्देह है।"

मि० *आर० पी० ड्यूहर्ट* एम० ए० एफ० आर० जी० एस० आई० सी० डिस्ट्रिक्ट सेशन्स जज गोंडा—"प्रेमचन्द्जीमें कहानियां लिखनेकी ईश्वरीय शक्ति है।"

अमरिका हिन्दुस्थान एसोसियेशन (रवीन्द्र बाबू, लाला लाजपतराय अनेक प्रसिद्ध महानुभव इसके सदस्य हैं) के सभापति *श्रीयुक्त रामकुमारजी खेमका*—"प्रेमचन्द्रजीकी भाषाके लालित्यका विकाश "सप्तसरोज"की विविध कथाओंमें अधिक उत्तमतासे हुआ है। मेरी रायमें "सप्तसरोज" वर्त्तमान हिन्दी साहित्यमें एक नई और सम्मानकी वस्तु है। सप्तसरोजकी तुलना मैं रविबाबूके "गल्प गुच्छ" से अभिमानके साथ कर सकता हूं"।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने "सप्तसरोज"के गुणोंको देखकर इसे अपनी *मध्यमा परीक्षामें* और यू० पी० की टेक्स्ट बुक कमेटीने *इनाम* के लिये रखा है।

माडर्न रिव्यु तथा *सरस्वती* आदि पत्र पत्रिकाओंने भी इन पुस्तकोंकी बहुत सराहना की है।

महात्मा शेखसादी

लेखक—"प्रेमचन्द"जी । दूसरा संस्करण ।

इस पुस्तकमें जगत्प्रसिद्ध महापुरुष शेखसादीका मनोरंजक, और उपदेशप्रद जीवन चरित्र, अनूठा भ्रमणवृत्तान्त, विख्यात ग्रन्थ गुलिस्तां और बोस्तांकी उदाहरणों सहित मार्मिक आलोचना पढ़कर चित्त प्रसन्न हो जायगा। सदा याद रखने योग्य पचासों नीति कथायें और कहावतें चुनकर रखी गयी हैं। इस संस्करणमें ग़ज़ल कसीदे आदि कई नये विषय बढ़ा दिये गये हैं। भाषा सरल और सजीव है। सादीके एक बहुत प्राचीन चित्रसे लेकर एक दर्शनीय चित्र भी दिया गया है। चिकने सफेद कागज पर ब्लू चमकीली स्याहीसे बहुत सुन्दर छपी। जीवन चरित्रोंमें यह पुस्तक आदर्श है। मूल्य ||)

हिन्दीकी विख्यात मासिक पत्रिका "सरस्वती"की सम्मति:—

"·········अच्छी पुस्तक है। इसके पाठसे सादीकी कविता और उनके चरित्रकी महत्ताका यथेष्ट ज्ञान हो सकता है।"

धनकुबेर ताता

लेखक—श्री पं० मन्ननजी द्विवेदी गजपुरी बी० ए०
एम० आर० ए० एस०।

"भारतीय शिल्पके उद्धारकर्त्ता जमशेदजी नसरवानजी ताताकी यह जीवनी अत्यन्त सुन्दर और रोचक ढंगसे लिखी गयी है। इस समय जब कि भारतको शिल्प और वाणिज्यका अनुभव प्राप्त करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है यह जीवनी बड़ा काम देगी। जो लोग भारतमें शिल्पकी उन्नतिके अभिलाषी हैं उन सबको इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।" *लीडर* ६ मार्च सन१९१८।

"सरस्वती"......लेखक महाशयने इसे अच्छी भाषामें लिखा है।·········चरित नायकके चरित को·········मनोरञ्जक और शिक्षा दायक बना दिया है।

इसमें ताताजीका एक सुन्दर हाफटोन चित्र भी है। मू० ।)